समर्पण :

स्वर्गीय पूज्य पिता के चरणों

में

जिनका आशीर्वाद सदा

मेरे साथ रहा है

# अपनी बात

अपने खोज-कार्य को पुस्तक-रूप मे प्रकाशित होते देखकर, मेरे मन मे अनेक स्मृतियाँ जाग्रत हो रही हैं। आज उन सबकी याद मुझे आ रही है जिनका किंचित सहारा, प्रोत्साहन तथा स्नेह और जिनका पुण्य आशीर्वाद मुझे मेरे जीवन मे पग-पग बढा सका है। और जब मैं मुड़कर गत जीवन की ओर देखता हूँ तो लगता है मुझको लेकर मेरे पास अपना जैसा कुछ नहीं है। यदि मेरे जीवन से वह सब कुछ निकाल दिया जाय जो दूसरों के स्नेह और आशीर्वाद का है, तो लगता है मैं शून्य को घेरे हुए परिधि मात्र रह जाऊँगा।

आज मुझे सबसे अधिक उन गुरुजनो का स्मरण आ रहा है जिन्होंने मेरे विद्यार्थी-जीवन के पग-पग पर मुझे सहारा दिया है। उनका स्नेह-पूर्ण प्रोत्साहन ही था जो मेरी विवश निराशाओ मे भी मुझे आशा और आश्वासन देता रहा है। परीक्षाओ मे जब-जब अपनी विवशता और दूसरो के अन्याय के कारण मेरा प्राप्य मुझे नहीं मिला, मेरे उन गुरुजनो ने ममत्वपूर्ण स्नेह के स्वर मे यही कहा था—"अध्ययन और आज की इन परीक्षाओ मे कोई सम्बन्ध नहीं, रघुवश, वाणी के मन्दिर मे साधना ही सच्ची परीक्षा है।" सो सब कुछ तो मैं नही कर सका, लेकिन उनके स्नेह से जो प्रोत्साहन और प्रेरणा मिलती रही थी, उसीके फलस्वरूप मैं इस रास्ते इतना आगे बढ सका हूँ—यह मेरा विश्वास है।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थी-जीवन मे मुझे सबसे अधिक सघर्ष करना पडा है। पर गुरुजनों की कृपा मुझपर रही है और उनका मैं आभारी हूँ। होस्टल-जीवन मे मुझे जो सुविधाएँ प्राप्त थी उसके लिए अपने होस्टल के सेक्रेटरी प० आनन्दीप्रसाद जी दूबे और वार्डन प० देवीप्रसाद जी का मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य दूबे जी के सहज स्वभाव के लिए मेरे मन मे अत्यन्त श्रद्धा है। श्रद्धेय कुलपति प० अमरनाथ झा जी ने समय-समय पर जो सहायता और सुविधाएँ मुझे प्रदान की, उनके बिना मेरा कार्य सम्भव नही था और मैं उनकी उदारता के प्रति अनुगृहीत हूँ। पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा जी ने मेरे कार्य के विषय मे समय-समय पर परामर्श आदि से मुझे सहायता दी है, और उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

पूज्य डा० रामकुमार वर्मा जी के निरीक्षण मे मैंने यह कार्य किया है। और उन्होंने निरन्तर अपना बहुमूल्य समय देकर मेरी सहायता की है। उनके स्नेह और अनुग्रह दोनो के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने जो स्नेह और अपना समय मुझे दिया, वह स्मरणीय है। मैं कई सप्ताह तक शान्तिनिकेतन मे उनके साथ रहकर जो स्नेह और परामर्श पा सका, उसके लिए नही जानता किस प्रकार कृतज्ञता प्रकाशन करूँ।

श्रद्धेया शुभ श्री महादेवी जी ने व्यस्त और अस्वस्थ स्थिति मे भी इसके लिए दो शब्द लिखने का कष्ट उठाया है। उनका जो सहज स्नेह मुझे प्राप्त है, उसके लिए क्या कहूँ। साथ ही इधर कई वर्षों से जो स्नेह और सहयोग मुझे अपने परम आत्मीय और सुहृद् मित्रों, रामलाल, आत्माराम, केशवप्रसाद, गगाप्रसाद पाण्डेय, रामसिंह तोमर और ब्रजमोहन जी से मिलता रहा है—उसका इस अवसर पर स्मरण अनायास ही आ जाना स्वाभाविक है—हम अपने सबधो की निकटता मे ऐसे ही हैं।

इस खोज-कार्य को लेकर कुछ ऐसे आत्मीय मित्रो की स्मृतियाँ भी मेरे मन मे कौंध रही हैं, जो मेरे हर्ष विषाद का कारण हैं। भाई ओम्‌प्रकाश ने यदि मुझे एम० ए० पास करने के बाद प्रोत्साहित न किया होता, तो शायद ही यह कार्य मैं प्रारम्भ कर सकता। बहन सीतारानी और भाई रामानन्द से मिलाने का श्रेय भी इन्हीं का है। इन दोनों ने मेरी आर्थिक कठिनाई के प्रारम्भिक वर्षों मे जो सहायता दी है, उसके बिना मैं इलाहाबाद नही रह सकता था। स्वर्गीय मथुराप्रसाद की याद तो आज मेरे विद्यार्थी-जीवन की सबसे निर्मम कसक है—वे मेरे एम० ए० के सहपाठी थे और उनका स्नेह और हास्य मेरे लिए सबसे सबल प्रेरणा-शक्ति थी।

खोज-कार्य के सम्बन्ध मे श्री पृथ्वीनाथ जी ने पुस्तकालय और पुस्तकों को खोजने मे, श्री 'क्षेम' जी ने पुस्तकों की सूची बनाने में और हमारे लाइब्रेरी के उपाध्यक्ष श्री त्रिवेदी जी तथा श्री मिश्र जी ने जो सौजन्य तथा सहायता दी है उसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इस पुस्तक के छपने का (प्रथम सस्करण) श्रेय भाई हरीमोहन दास और श्री पुरुषोत्तमदास जी टडन को है, उनकी इस कृपा के लिए मैं आभारी हूँ।

फाल्गुन कृष्ण ६, २००८ —रघुवश

## द्वितीय संस्करण

प्रथम सस्करण के समाप्त हो जाने के कई वर्ष बाद यह सस्करण प्रकाशित हो रहा है। पिछली भूलों को सुधारने के प्रयत्न के साथ इसमे परिशिष्ट रूप में तीन अध्याय और जोड दिए गए हैं, जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता कुछ अधिक हो गई है।

१६ अप्रैल, १६६० —रघुवंश

# दो शब्द

दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को प्रथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रहती है। प्रकृति के विविध कोमल-कठिन, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सब से अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मानव जाति का भावजगत् ही नहीं उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।

ऐसी स्थिति में काव्य, जो बुद्धि के मुक्त वातावरण में खिला भावभूमि का फूल है, प्रकृति से रंग रूप पाकर विकसित हो सका तो आश्चर्य नहीं।

हमारे देश की धरती इतनी विराट है कि उसमें प्रकृति की सभी सरल कुटिल रेखाएँ और हल्के गहरे रंग एकत्र मिल जाते हैं। परिणामतः युग विशेष के काव्य में भी प्रकृति की अनमिल रेखाएँ और विरोधी रंगों की स्थिति अनिवार्य है। पर इन विभिन्नताओं के मूल में भारतीय दृष्टि की वह एकता अक्षुण्ण रहती है जो प्रकृति और जीवन को किसी विराट समुद्र के तल और जल के रूप में ग्रहण करने की अभ्यस्त है।

हमारे यहाँ प्रकृति जीवन का वातावरण ही नहीं आकार भी है। हमारी प्रकृति की काव्य-स्थिति में देवता से देवालय तक का अवरोह और देवालय से देवता तक का आरोह दोनों ही मिलते हैं।

सम्पूर्ण वैदिक वाङमय इस प्रकृति देवता के अनेक रूपों की अवतार-कथा है जो इस देश की समृद्ध कल्पना और भाव-वैभव की चित्रशाला है।

वैदिककाल के ऋषि प्राकृतिक शक्तियों से सभीत होने के कारण उनकी अर्चना-वन्दना करते थे, ऐसी धारणा संकीर्ण ही नहीं भ्रान्त भी है। उषा, मरुत, इन्द्र, वरुण जैसे सुन्दर, गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृति रूपों के मानवीकरण में जिस सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्यबोध और भाव की उन्नत भूमि की अपेक्षा रहती है वह अज्ञान-जनित आतंक में दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त मनोविकार और उनकी अभिव्यक्ति ही तो काव्य नहीं कहला सकती। काव्य की कोटि तक पहुँचने के लिए अभिव्यक्ति को कला के द्वार से प्रवेश पाना होता है।

हमारे वैदिक-कालीन प्रकृति-उद्गीय भाव की दृष्टि से इतने गम्भीर और व्यजना की दृष्टि से इतने पूर्ण और कलात्मक हैं कि उन्हें अनुभूत न कहकर स्वत प्रकाशित अथवा अनुभावित कहा गया है।

इस सहज सौन्दर्य-बोध के उपरान्त जो जिज्ञासामूलक चिन्तना जागी वह भी प्रकृति को केन्द्र बना कर घूमती रही। वेदान्त का अद्वैतमूलक सर्ववाद हो या साख्य का द्वैतमूलक पुरुष प्रकृतिवाद सब चिन्तन-सरणियाँ प्रकृति के धरातल पर रह कर महाकाश को छूती रहीं।

उठती गिरती लहरो के साथ उठने गिरने वाले को जैसे सब अवस्थाओं मे जल की तरलता का ही बोध होता रहता है, उसी प्रकार वैदिक काल के अलौकिक प्रकृतिवाद से सस्कृत काव्य की स्नेह सौहार्दमयी सगिनी प्रकृति तक पहुँचने पर भी किसी विशेष अन्तर का बोध न हो यह स्वाभाविक है।

सस्कृत काव्यो के पूर्वार्ध मे प्रकृति ऐसी व्यक्तित्वमती और स्पन्दनशील है कि हम किसी पात्र को एकाकी की भूमिका से नहीं पाते। कालिदास या भवभूति की प्रकृति को जड और मानव भिन्न स्थिति देने के लिए हमे प्रयास करना पडेगा। जिस प्रकार हम पर्वत, वन, निर्झर आदि से शून्य धरती की कल्पना नही कर सकते, उसी प्रकार इन प्रकृति रूपो के बिना मानव की कल्पना हमारे लिए कठिन हो जाती है।

सस्कृत काव्य के उत्तरार्ध की कथा कुछ दूसरी है। भाव के प्रवाह के नीचे बुद्धि का कठोर धरातल अपनी सजल एकता बनाये रहता है, किन्तु उसके रुकते ही वह पकिल और अनमिल दरारो म बँट जाने के लिए विवश है।

हिन्दी काव्य को सस्कृत काव्य की जो परम्परा उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई वह रूढिगत तो हो ही चुकी थी, साथ ही एक ऐस युग को पार कर आई थी जो ससार को दुखमय मानने का दर्शन दे चुका था। जीवन की देशकाल-गत परिस्थितियों ने इस साहित्य-परम्परा को इतना अवकाश नहीं दिया कि वह अपनी कठोर सीमा रेखाओं को कुछ कोमल कर सकती। परन्तु जिस प्रकार जीवन के लिए यह सत्य है कि वह अश-अश मे पराजित होने पर भी सर्वांश मे कभी पराजित नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति भी अपराजित ही रही है। हर नवीन युग की भावभूमि पर वह ऐसे नये रूप मे आविर्भूत होती रहती है जो न सर्वत नवीन है और न पुरातन।

हिन्दी काव्य का मध्ययुग अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों, आदर्शों और परम्पराओ को अपनी वैयक्तिक विशेषता पर सँभाले हुए है। उसने अपने उत्तराधिकार में मिले उपकरणों को अपने पथ का सम्बल मात्र बनाया और जहाँ वे भारी जान पडे वहाँ उनके कुछ अश को नि सकोच फेंक कर आगे पग बढ़ाया। आज वर्तमान के वातायन से उन सुदूर अतीत के यात्रियों पर दृष्टिपात करते ही हमारा मस्तक सम्मान

से नत हो जाता है, प्रतः उनके काव्य की कोई निष्पक्ष विवेचना सहज नहीं। विस्तार की दृष्टि से भी यह कार्य अधिक समय और अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है। दर्शन और भाव की दृष्टि से यह काव्ययुग ऐसा विविध रूपात्मक हो उठा है कि उसकी किसी एक विशेषता के चुनाव में ही जिज्ञासा थक जाती है।

निर्गुण के मुक्त आकाश में सगुणवाद की इतनी सजल रंगीन बदलियाँ घिरी रहती हैं कि पैनी दृष्टि भी न आकाश पर ठहर पाती है और न घटाओं पर स्थिर हो पाती है। साधना के अकूल सिकता-विस्तार में माधुर्य भाव के इतने फूल खिले हुए हैं कि न रुकने वाले कठोर पग भी ठहर-ठहर जाते हैं। अव्यक्त रहस्य पर व्यक्त तत्व ने इतनी रेखाएँ खींच दी हैं कि एक भी नापतोल में दूसरा नपता-तुलता रहता है।

ऐसे युग की प्रकृति और उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में शोध का कार्य विषय की विविधता के कारण एक दिशा में नहीं चल पाता।

भाई रघुवंश जी ने इस युग के काव्य और प्रकृति को अपनी शोध का विषय स्वीकार कर एक नयी दिशा की सफल खोज की है।

शोधमूलक प्रबन्धों के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा रहती है कि उनमें शोध-कर्त्ता का अध्यवसाय मात्र अपेक्षित है, मौलिक प्रतिभा उसके लिए अनावश्यक है। इस धारणा का कारण यहाँ के मौलिक कृती और चिन्तनशील विद्वान के बीच की खाई ही कही जायगी जो विदेशी भाषा के प्राधान्य के कारण बढ़ती ही गई।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक प्रतिभावान साहित्यिक और अध्यवसायी जिज्ञासु हैं, अतः उनके प्रबन्ध में चिन्तन और भाव का अच्छा समन्वय स्वाभाविक हो गया है। हिन्दी के क्षेत्र में आने से पहले संस्कृत ही उनका विषय रहा है, अतः उनके अध्ययन की परिधि अधिक विस्तृत है।

किसी कृति को त्रुटि रहित कहना तो उसके लेखक के भावी विकास का मार्ग रुद्ध कर देना है। विश्वास है कि प्रस्तुत अध्ययन की त्रुटियों में भी विद्वानों को भावी विकास के संकेत मिलेंगे।

प्रयाग, १७.२.४९ —महादेवी

# आमुख

विषय प्रवेश—प्रस्तुत कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व हमारे सामने 'प्रकृति और काव्य' का विषय था। प्रचलित अर्थ में इसे काव्य में प्रकृति चित्रण के रूप में समझा जाता है, पर हमने यह विषय इस रूप में नहीं लिया है। जब हमको हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति कालों को लेकर इस विषय पर खोज करने का अवसर मिला, उस समय भी विषय को प्रचलित अर्थ में नहीं स्वीकार किया गया है। हमने विषय को काव्य में प्रकृति सम्बन्धी अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं रखा है। काव्य को कवि से अलग नहीं किया जा सकता, और कवि के साथ उसकी समस्त परिस्थिति को स्वीकार करना होगा। यही कारण है कि यहाँ प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध कवि की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों के विचार से समझने का प्रयास किया गया है, साथ ही काव्य के सौन्दर्य-बोध (रसात्मक प्रभावशीलता) को भी दृष्टि में रक्खा गया है। विषय की इस विस्तृत सीमा में प्रकृति और काव्य सम्बन्धी अनेक प्रश्न सन्निहित हो गए हैं। प्रस्तुत कार्य में केवल 'ऐसा है' से सन्तुष्ट न रहकर, 'क्यों है ?' और 'कैसे है ?' का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। कार्य के विस्तार से यह स्पष्ट है कि इस विषय से सम्बन्धित इन तीनों प्रश्नों के आधार पर आगे बढ़ा गया है। सम्भव है यह प्रयोग नवीन होने से प्रचलित के अनुरूप न लगता हो, और प्रकृति तथा काव्य की दृष्टि से युग की व्यापक पृष्ठ-भूमि और आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी विस्तृत विवेचनाएँ विचित्र लगती हों। परन्तु विचार करने से यही उचित लगता है कि विषय की यथार्थ विवेचना वैज्ञानिक रीति से इन तीनों ही प्रश्नों को लेकर की जा सकती है।

मानव की मध्य स्थिति—हम अपने प्रस्तुत विषय में जिस प्रकृति और काव्य के विषय पर विचार करने जा रहे हैं, उनके बीच मानव की स्थिति निश्चित है। मानव को लेकर ही इन दोनों का सम्बन्ध सिद्ध है। आगे की विवेचना में हम देखेंगे कि अपनी मध्य-स्थिति के कारण मानव इन दोनों के सम्बन्ध की व्याख्या में अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि प्रथम भाग की विवेचना मानव और प्रकृति के सम्बन्ध से प्रारम्भ होकर प्रकृति और काव्य के सम्बन्ध की ओर अग्रसर हुई है। आगे हम देख सकेंगे कि मानव अपने विकास में प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है, और काव्य मानव के

विकसित मानस की अभिव्यक्ति है। यही प्रकृति और काव्य के सम्बन्धों का आधार है। दूसरे भाग में युग सम्बन्धी अनेक व्याख्याएं इसी दृष्टि से की गई हैं जिनके माध्यम से विषय सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर मिल सका है।

कार्य की सीमा का निर्देश—प्रत्येक क्षेत्र मे जहाँ सिद्धान्त की स्थापना की जाती है दो रीतियाँ काम में लाई जाती हैं: निगमन (Deduction) के द्वारा विशेष सिद्धान्त को साधारण सत्यों के आधार पर स्थापित करते हैं और विगमन (induction) मे साधारण सत्यों के माध्यम से विशेष सिद्धान्तों तक पहुँचते है। इस कार्य में इन दोनो ही रीतियो को प्रयोग मे लाया गया है। कला और साहित्य के क्षेत्र में यह आवश्यक भी है। इनमें साधारण सत्यो की स्थिति अधिक निश्चित नहीं है, यह बहुत कुछ विवेचना और प्रस्तुतीकरण पर निर्भर है। इसी कारण प्रथम भाग में प्रकृति और काव्य के विषय को मानव से सम्बन्धित विभिन्न शास्त्रों के साक्ष्य पर विवेचना की गई है। इस विवेचना में काव्य और प्रकृति के सम्बन्ध को दर्शन, तत्त्ववाद, मानसशास्त्र, मानवशास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र आदि के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है। इस प्रणाली में निगमन का आधार अधिक लिया गया है। दूसरे भाग में निश्चित कालों के काव्य के अध्ययन को प्रस्तुत करके सिद्धान्तो को एकत्र किया गया है, यह विगमन प्रणाली है। अन्य जिन शास्त्रों के सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है वह साधारण सहज बोध के आधार पर ही हो सका है। यह सहज बोध का आधार प्रस्तुत विषय के अनुरूप है, आगे इस पर प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण मे विचार किया गया है।

युग की समस्या—हमारे खोज-कार्य की सीमा में हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति काल स्वीकृत हैं। परन्तु प्रस्तुत विषय की दृष्टि से इन दोनों कालों को अलग मानकर चलना उचित नहीं होगा, ऐसा कार्य के आगे बढ़ने पर समझा गया है। इसलिए इन दोनों को हमने सर्वत्र हिन्दी साहित्य का मध्ययुग माना है। सक्षेप के विचार से अनेक स्थलों पर केवल मध्ययुग कहा गया है। भारतीय मध्ययुग को अलग करने के लिए उसके लिए सर्वदा 'भारतीय मध्ययुग' का प्रयोग किया गया है। भक्तियुग के प्रारम्भ से रीति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती रहती हैं और भक्ति-काव्य की परम्पराएँ बाद तक बराबर चलती रही हैं। यह बहुत कुछ अवसर और सयोग भी हो सकता है कि युग के एक भाग में एक प्रकार के महान् कवि अधिक हुए। राजनीतिक वातावरण का प्रभाव रीति-काल की प्रेरणा के रूप में अवश्य स्वीकार किया जाएगा। परन्तु इन कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण बात इन कालों को मध्ययुग के रूप मे मानने के लिए यह है कि अधिकांश भक्त-कवि साहित्यिक आदर्शों का पालन करते हैं और अधिकाश रीतिकालीन कवि साधक न होकर भी भक्त हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कहा गया है विषय के विचार से इन कालों को एक नाम से कहना अधिक उपयोगी रहा है। ऐसा

करने से एक ही प्रकार की बात को दुबारा कहने से बचा जा सका है और साथ ही कार्य में सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। प्रकृति के विचार से रीति-काल भक्ति-काल के समक्ष बहुत संक्षिप्त हो जाता। इस प्रकार भक्ति-काल तथा रीति-काल के लिए सर्वत्र मध्ययुग का प्रयोग किया गया है।

स्वच्छन्दवाद और प्रकृतिवाद—मध्ययुग के काव्य की प्रवृत्तियो के विषय मे विचार करते समय 'स्वच्छन्दवाद' का प्रयोग हुआ है। यह शब्द अंग्रेजी शब्द 'Romanticism' से बहुत कुछ समता रखते हुए भी बिल्कुल उसी अर्थ मे नही समझा जा सकता है। इसका विभेद बहुत कुछ विवेचना के माध्यम से ही व्यक्त हुआ है। यहाँ यह कह देना ही पर्याप्त है कि इनमें जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति का विषय समान है, पर प्रकृति सम्बन्धी दृष्टि बिन्दुओ का भेद है। आगे की विवेचना मे काव्य में प्रकृति-रूपो की व्याख्या करते समय प्रकृतिवादी रूपो का उल्लेख तुलनात्मक दृष्टि से किया गया है। इस तुलनात्मक अध्ययन से इस युग के काव्य मे प्रकृति के स्थान के प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड सका है और प्रकृतिवादी दृष्टि की उपेक्षा का कारण भी स्पष्ट हो गया है। प्रकृतिवादी या रहस्यवादी साधक का प्रयोग ऐसे ही प्रसगो मे हुआ है जिनका अर्थ उन कवि अथवा रहस्यवादियो से है जिन्होने प्रकृति को अपना माध्यम स्वीकार किया है।

रूपात्मक रूढिवाद—मध्ययुग के काव्य को समझने के लिए एक बात का ज्ञान लेना आवश्यक है। वह है इस युग का रूपात्मक रूढिवाद (Formalism), वस्तुत जिस अर्थ मे हम आज इसे लेते हैं, उस युग के लिए यह ऐसा नही था। वस्तुत भारतीय आदर्शवाद मे जो 'सादृश्य' की भावना स्वर्गीय कल्पना से रूप ग्रहण करती है, उसीका यह परिणाम था। भारतीय कला तथा साहित्य मे परम्परा या परिपाटी आदर्श के रूप में स्वीकृत चली आती थी और उसका अनुकरण साहित्य तथा कला का आदर्श बन गया था। इसी कारण अधिकतर मध्ययुग के काव्य मे लगता है कि किसी एक ही प्रकार (टाइप) का अनुकरण है। किसी युग के काव्य को समझने के लिए उसके वातावरण और आदर्शों को जान लेना आवश्यक है। साधारण आलोचना के ग्रन्थ मे इस बात की स्वतन्त्रता हो सकती है कि हम अपने विचार और आदर्शों से किसी युग पर विचार करें। परन्तु खोज-कार्य मे हमारे सामने युग का प्रत्यक्षीकरण और उसकी वास्तविक प्रवृत्तियो की व्याख्या होनी चाहिए। इसी सिद्धान्त की दृष्टि से प्रस्तुत कार्य मे युग को उसकी भावना के साथ समझने के प्रयास मे उसकी रूपात्मक रूढि-वादिता को स्वीकार किया गया है।

शब्द और शैली—विषय का क्षेत्र नवीन होने के कारण शब्द तथा शैली दोनों की कठिनाइयाँ सामने आई हैं। शब्दों के विषय मे केवल उन्ही नवीन शब्दों को अपनाया

गया है जिनके लिए शब्द नहीं थे अथवा उचित शब्द नहीं मिल सके। नवीन शब्दों को प्रसंग के साथ बोध-गम्य करने का प्रयास किया गया है, फिर भी इस विषय में कुछ कठिनाई अवश्य हो सकती है। *कुछ शब्दों का प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग* किया गया है। इनमें 'विज्ञान' शब्द अधिक महत्त्व पूर्ण है। आइडिया (Idea) के अर्थ में आइडियलिज्म के समानार्थ विज्ञानवाद का प्रयोग हुआ है। इसके प्रचलित अर्थ के लिए भौतिक विज्ञान (Science) शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इसके साथ वैज्ञानिक (Scientist) शब्द को प्रचलित अर्थ में स्वीकार किया गया है। इससे विवेचना में *कोई भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि पहले अर्थ के साथ 'विज्ञानवाद' तथा विज्ञान-तत्त्व तथा* विज्ञानवादी शब्द ही बनते हैं। कुछ शब्दों की सूची ग्रन्थ में सुविधा की दृष्टि से दे दी गई है। शैली की दृष्टि से भी कुछ कठिनाइयां सामने रही हैं। सम्पूर्ण कार्य में सम्भव है कुछ विचार तथा उदाहरण दुहरा गए हों, क्योंकि कार्य के विभाजन की दृष्टि से ऐसा हो सकता था। भरसक ऐसा होने से बचाया गया है, फिर भी इस विषय में त्रुटियों *के लिए क्षमा याचना की जा रही है।*

विषय सम्बन्धी निष्कर्षों को व्याख्या के साथ ही स्पष्ट कर दिया गया है। इसलिए उनको एकत्र करने की आवश्यकता नहीं हुई।

## विषय निर्देशक



### प्रथम भाग

# प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण



द्वितीय प्रकरण

## द्वितीय भाग

# हिन्दी साहित्य का मध्य युग

*(प्रकृति और काव्य)*

### प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण



तृतीय प्रकरण

परिशिष्ट :

प्रथम भाग

# प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण

# प्रकृति का प्रश्न

(रूपात्मक और भावनात्मक)

प्रकृति क्या है—प्रश्न उठता है प्रकृति क्या है ? काव्य के सम्बन्ध को लेकर जिसकी व्याख्या करनी है, वह प्रकृति है क्या ? आवश्यक है कि इस शब्द के प्रयोग की सीमाओं को निर्धारित कर लिया जाय। साथ ही यह भी विचार लेना उचित होगा कि व्यापक अर्थ म प्रकृति शब्द क्या बोध कराता है, परम्परा इसे किस अर्थ म ग्रहण करती है, तथा तत्ववाद मे इसका किस पारिभाषिक अर्थ मे प्रयोग होता है। और इन सबके साथ हमारे निर्धारित अर्थ की सगति भी होनी चाहिए। यहाँ प्रकृति शब्द अगरेजी भाषा के 'नेचर' शब्द के लगभग समान अर्थों म समझा जा सकता है। परन्तु यह 'नेचर' शब्द भी अपने प्रयोगो की विभिन्नता के कारण कम भ्रामक नही है। परम्परा के अर्थ मे समस्त बाह्य जगत् को उसके प्रत्यक्षीकरण की रूपात्मकता मे और उसमे अधिष्ठित चेतना के साथ प्रकृति माना गया है। परन्तु यह तो व्यापक सीमा है, इसके अन्तर्गत कितने की स्तरो को अलग अलग प्रकृति के नाम से कहा जाता है। प्रकृति की अनुप्राणित चेतना को अधिकाश मे किसी दैवी शक्ति के रूप मे माना गया है। बाद में समस्त विवेचना के उपरान्त इसी सहज मान्य अर्थ के निकट हमारे द्वारा प्रयुक्त प्रकृति का अर्थ मिलगा। तत्ववादियो ने प्रकृति का प्रयोग दृश्य जगत् के लिए किया है, और इसके परे किसी अन्य सत्य के लिए भी। इस विषय मे भारतीय तत्त्ववाद मे प्रकृति का प्रयोग दूसरे ही अर्थ मे अधिक हुआ है, जब कि योरप के दर्शन मे प्रमुख प्रवृत्ति पहले अर्थ की ओर ही लगती है। साथ ही योरप मे (कदाचित् जड-चेतन के आधार पर ही) भौतिक-तत्त्व को प्रकृति के रूप मे और विज्ञान-तत्त्व को परम-सत्य के रूप मे भी स्वीकार किया गया है। वैसे प्रकृति को लेकर ही भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व का विभाजन किया जाता है। इस दृष्टि से प्रकृति भी सत्य है। वस्तुत यह भेद प्रकृतिवादी और ईश्वरवादी विचारको के दृष्टिकोण के कारण है। जहाँ तक भौतिकवादियो और विज्ञानवादियो का प्रश्न है वे एक तत्त्व के द्वारा अन्य

तत्त्व की व्याख्या करते हुए भी प्रकृति को स्वीकार करते हैं। इनमे से ईश्वरवादी प्रकृति को ईश्वर का स्वभाव मान कर समन्वय उपस्थित कर लेते हैं और इस सीमा पर उनका मत भारतीय विचार-धारा के समान हो जाता है। भारतीय तत्त्ववाद के क्षेत्र मे एक परम्परा ने पुरुष और प्रकृति की व्याख्या की है। इसके अनुसार प्रकृति पर पुरुष की प्रतिकृति ही बाह्य-जगत् की दृश्यात्मक सत्ता का कारण है। दार्शनिक सीमा मे भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व से समन्वित प्रकृति का रूप हमारे लिए अधिक ग्रहणीय है।[1]

सहज बोध को लेकर यही मान्य है। तत्त्ववाद मे विरोधी विचारो को लेकर दोनों तत्त्वो की एकान्त भिन्नता समझी जा सकती है। परन्तु सहज बुद्धि इसे ग्रहण नही कर सकेगी। उसके लिए तत्त्ववादियो का भौतिक तत्त्व हो अथवा विज्ञान-तत्त्व हो, वह तो उन्हे प्रकृति के चेतन-अचेतन भाव-रूपो मे सोच-समझ सकेगा। वह विज्ञानात्मक आइडिया की व्याप्ति मे विश्व को सचेतन भावमय प्रकृति समझ पाता है और भौतिक पदार्थ के प्रसार मे विश्व को अचेतन रूपमय प्रकृति मानता है। व्यापक अर्थ मे प्रकृति विश्व की सर्जनात्मक प्रतिकृति समझी जाती है। आगे की विवेचना मे देखना है कि इस सहज बोध के दृष्टिकोण ने किस प्रकार दार्शनिको के विभिन्न विरोधी मतवादो को समन्वय का रूप देने का प्रयास किया है। और साथ ही इस समन्वय के आधार को प्रस्तुत करना है जो काव्य जैसे विषय मे आवश्यक है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेनी आवश्यक है। हम आमुख मे प्रकृति और काव्य के मध्य मे मानव की स्थिति की ओर सकेत कर चुके हैं। परन्तु प्रकृति को समस्त सर्जनात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेने पर मानव भी प्रकृति के ही अन्तर्भूत हो जाता है। फिर प्रकृति सम्बन्धी हमारी उलझन कठिन हो जाती है। जब हम, मनस्-युक्त शरीरी, अपने से अलग-थलग किसी प्रकृति का उल्लेख करते हैं तो वह क्या है? परन्तु सहज बोध इस विषय मे अधिक सोच-विचार का अवकाश नही देता है। वह तो मानवीय मनस् को एक धरातल पर स्वीकार करके चलता है। इस धरातल पर मनस् और उसको धारण करने वाले शरीर को (साथ ही जैसा आमुख मे उल्लेख किया गया है मनुष्य के निर्माण-भाग को भी) छोडकर अन्य समस्त सचेतन और अचेतन सृष्टि-प्रसार को प्रकृति स्वीकार किया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि सहज बोध के स्वय-सिद्ध निर्णय को स्वीकार करने के लिए कुछ आधार भी है अथवा यो ही मान लिया जाय। अगले प्रकरण के शरीर और मनस् सम्बन्धी अनुच्छेद मे इस विषय मे

---

१. अगले भाग के आध्यात्मिक साधना में प्रकृति तत्व की प्रकरणों में हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय साधना में इस भावधारा की प्रमुखता रही है।

तत्त्ववादियों और वैज्ञानिकों के मतों की विवेचना की जायगी। लेकिन सहज बोध का मत उपेक्षणीय भी नहीं है।

सहज बोध की दृष्टि—वस्तुतः सहज बोध की दृष्टि हमारे लिए आवश्यक भी है। हमारा विषय साहित्य है, हमारा क्षेत्र काव्य का है। काव्य में तर्क से अधिक अनुभूति मान्य है जो समन्वय के सहज आधार पर ग्रहण की जा सकती है। साथ ही काव्यानुभूति में प्रवेश पाने की शर्त रसज्ञता है विद्या का वैभव नहीं। इसलिए सहज बोध का आधार हमारी विवेचना के लिए अधिक उचित है। देखा जाता है कि वैज्ञानिकों और तत्त्ववादियों का मत अपनी सीमाओं में सत्य होकर भी एक दूसरे का बहुत कुछ विरोधी होता है। तत्त्ववाद के तर्क हमको ऐसे तथ्यों पर पहुँचा देते हैं, जो साधारण व्यक्ति के लिए आश्चर्य का कारण हो सकता है, पर उनके विश्वास की वस्तु नहीं। इस प्रकार के विरोधों को दूर करने के लिए तथा सत्य को बोध-गम्य बनाने के लिए साधारण व्यक्ति के सम्मुख समन्वय का विचार रखना आवश्यक है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए भी सहज बोध के साक्ष्य पर, उसे छोड़ने के पूर्व, विचार कर लेना आवश्यक है। साधारण व्यक्ति और सहज बोध के साक्ष्य का यह तात्पर्य नहीं है कि वह अवैज्ञानिक या अतार्किक मत है अथवा निम्नकोटि की बुद्धि से सम्बन्धित है। इसका अर्थ केवल यह है कि वह सहजग्राही है। पर वह स्वतः भी अपनी सीमा में वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टि है।[1] हमारी विवेचना का विषय काव्य, मानवीय जीवन और समाज के विकास का एक अंग है। इसलिए हमारे विवेचन का आधार सहज बोध के अनुरूप होना ही चाहिए। जहाँ तक मानवीय समस्याओं को समष्टि रूप से समझने का प्रश्न है तत्त्ववाद और भौतिक-विज्ञान एकांगी हैं। एक तो अतिव्याप्ति के दोष से हमारे सामने विरोधी विचारों को उपस्थित करता है जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि और अनुभव की पकड़ में नहीं आ सकते। दूसरा अपनी सीमा में इतना संकुचित है कि उससे हमारी जिज्ञासा को संतोष भी नहीं मिलता और व्यापक प्रश्न भी अधूरे रह जाते हैं। इस कारण हमारी विवेचना का आधार प्रमुखतः सहज बोध

---

१. यहाँ सहज बोध सर्व साधारण से सम्बन्धित नहीं माना जाना चाहिए और न साधारण व्यक्ति का अर्थ जन साधारण से ही लेना चाहिए। इस विषय में स्टाउट का कथन इस प्रकार है—व्यावहारिक योग्यता के लिए जो कुछ सिद्धान्त वस्तुतः अपरिहार्य रूप से निश्चित हैं वे सहज बोध द्वारा स्वीकृत माने जाते हैं। फिर भी दार्शनिक ही अपने उच्च स्तर से तथा अपनी प्रणाली से इसकी उपादेयता का निश्चय कर सकता है। लेकिन जब दार्शनिक इस प्रकार आगे बढ़ता है, वह केवल एकान्त रूप से जन साधारण को सम्बोधित नहीं करता। सहज बोध के नाम पर वह जो कुछ बलपूर्वक कहेगा, व्यापक रूप से मानवीय अनुभवों की तुलनात्मक विवेचना पर ही आधारित होगा।' (माइन्ड ऐन्ड मैटर; प्रथम प्रकरण, कामनसेंस ऐन्ड फिलासफी, पृ० ६)

ही रहेगा। इससे दर्शन और विज्ञान (भौतिक) के सिद्धान्तो के समन्वय का अवसर मिलेगा। साथ ही विवेचना का विषय प्रस्तुत कार्य की परम्परा से अधिक दूर नही हो सकेगा।

विवेचना का क्रम—प्रकृति के स्वरूप के विषय मे विचार करने के पूर्व एक उल्लेख और भी कर देना आवश्यक है। इस प्रकरण की व्याख्या किसी विकासोन्मुखी परम्परा या ऐतिहासिक क्रम का अनुसरण न करके अपने प्रतिपादन के क्रम से चलेगी। ऐसी स्थिति मे दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तो मे विपर्यय हो सकता है। यह भी सम्भव है कि विकास की किसी प्राथमिक स्थिति को बाद मे उठाया जाय और विकास की अन्य कडी का उल्लेख पहले ही कर दिया जाय। यहाँ उद्देश्य विषय की सच्ची और पूर्ण व्याख्या उपस्थित करना है। उसमे कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त या ऐतिहासिक सत्य प्रस्तुत विषय के समर्थन के लिए कही भी उपस्थित हो सकता है।

## भौतिक प्रकृति

यहाँ भौतिक प्रकृति से भौतिक-तत्त्व रूप प्रकृति का अर्थ नही है। इस स्थल पर भौतिक प्रकृति का प्रयोग मनस् के द्वारा प्रत्यक्षीकरण से अनुभूत प्रकृति के रूप से अलग करके समझने के लिए हुआ है। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि द्रष्टा के विचार से अलग करके दृश्य-जगत् का जो रूप हो सकता है, उस पर इस विभाग मे विचार किया जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा सम्भव नहीं है, पर तत्त्ववाद इस प्रकार की विवेचनाओ का अभ्यस्त है। और इन्ही विवेचनाओं की समीक्षा भी यहाँ करनी है। हम देखेंगे कि तत्त्ववादियो की भौतिक-प्रकृति सम्बन्धी विवेचनाओ मे भी प्रकृति मे सन्निहित भाव और रूप का आश्रय लिया गया है। यह सहज बोध के अनुरूप है।

भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व—मिथयुग मानव की प्रवृत्तियो का विकास-युग था। उस समय जैसे मानवीय चेतना प्रकृति के सचेतन क्रोड से मनस् की स्वचेतन स्थिति मे प्रवेश कर चुकी थी। इस युग का अध्ययन मानवीय प्रवृत्तियों तथा भावो के विकास के लिए आवश्यक है। साथ ही मानव की अध्यात्म सम्बन्धी रहस्यात्मक चेतना का मूल भी इसी मे खोजा जा सकता है। परन्तु इस युग के बाद ही, वरन् जब मानव उस युग की स्थिति से अलग हो ही रहा था, वह विश्व रूप प्रकृति के प्रति प्रश्नशील हो उठा। यह सब क्या है, कैसे है और क्यो है। अपने चारो ओर की नाना-रूपात्मक, आकार प्रकारमयी, ध्वनि-नादो से युक्त, प्रवाहित गतिमान् परिवर्तनशील सृष्टि, प्रकृति के प्रति मानव स्वय ही धीरे-धीरे जागरूक हुआ—प्रश्नशील हुआ। इसी आधार पर आगे चलकर सर्जन का दार्शनिक प्रश्न सामने आता है और आदि तत्त्व की खोज होती

है। पूर्व-पश्चिम के अनेक तत्त्ववादियों ने अनेक उत्तर दिए। कोई जल कहता था तो कोई अग्नि। इस व्याख्या के समानान्तर वैदिक-युग के देवताओं की प्रतिद्वन्द्विता का. स्मरण आता है। कभी आदि देव सूर्य हैं तो कभी इन्द्र। इन एक और अनेक भौतिक-तत्त्वों से सम्बन्धित मतवादों के साथ ही वस्तु पदार्थों की तत्त्वतः विज्ञानात्मक स्थिति मानने वाले मत प्रमुख होते गए। जिस प्रकार भौतिक मतवादों में पदार्थ के वस्तु-रूप पर बल दिया गया, उसी प्रकार विज्ञानात्मक मतवादों में पदार्थ के मनस् से सम्बन्धित भावों को लेकर चला गया। मनस् का विज्ञानात्मक स्थिति से सम्बन्ध अगले प्रकरण में अधिक स्पष्ट हो सकेगा। वस्तुतः तत्त्ववाद की दृष्टि में जो भौतिक है वह साधारण अर्थ में प्रकृति का रूप है और जो विज्ञान है वह भाव माना जा सकता है। विज्ञान-वादियों में भी अद्वैत तथा द्वैत का मतभेद चला है। यद्यपि तत्त्ववाद में इस सर्जन के सत्य को लेकर अनेक मत प्रचलित रहे हैं; लेकिन आगे चलकर विज्ञानवादियों और भौतिकवादियों की स्पष्ट विरोधी स्थिति उत्पन्न हो गई। एक विज्ञान तत्त्व के माध्यम से समस्त प्रकृति-सर्जना को समझने का प्रयास करता है, तो दूसरा सर्जन-विकास के आधार पर भौतिक-तत्त्वों द्वारा मनस् की भी व्याख्या करने का दावा रखता है।

भारतीय तत्त्ववाद—भारतीय तत्त्ववाद यूनानी तत्त्ववाद के समान ही प्राचीन है और महान है। वरन भारतीय दर्शन की परम्परा अधिक प्राचीन तथा व्यापक कही जा सकती है। यहाँ इस समस्या से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें तो दोनों ही तत्त्ववादी परपराओं की समीक्षा में सहज बोध के योग्य तथ्यों को देखना और ग्रहण करना है। भारतीय दर्शन में वैदिक काल से ही प्रकृति का प्रश्न मिथ सम्बन्धी रहस्य भावना से हटकर विश्व के रूप में उपस्थित हुआ था। अनेक लोकों के देवता अनेक होकर भी विश्व एक है। यह एकत्व का विश्वास वैदिक ऋषियों को एक परम सत्य की ओर ले गया। सर्जन और विकास दोनों का भाव इसमें मिलता है। वेदों में इन्द्रि-यातीत परावर सत्ता का उल्लेख भी मिलता है जो विज्ञानात्मक कही जा सकती है। साथ ही पृथ्वी और स्वर्ग की भावना प्रारम्भ से ही भौतिक-तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का संकेत देती है। अनन्तर उपनिषद्-काल तक भौतिकवादी वेदों के सप्रपच के साथ निष्प्रपच विश्व की व्याख्या की जाने लगी। आत्मा और विश्वात्मा के रूप में विज्ञान-तत्त्व को अधिक महत्त्व मिला। आत्म-तत्त्व विश्व का अन्तर्तम सर्जनात्मक सत्य माना गया। भौतिक स्थिति विश्व की बाहरी रूपात्मकता है, जिसकी कल्पना से ही ब्रह्म (विश्वात्मा) तक पहुँचा जा सकता है। उपनिषदों के मनीषियों में अद्भुत समन्वय बुद्धि है, और इसी कारण उनमें विरोधी बातों का उल्लेख जान पड़ता है। पर वस्तुतः प्रकृति के भाव और रूप दोनों को लेकर मानव चल सका है। और आत्मवाद के रूप में उपनिषद् चरम विज्ञानवाद तक पहुँचते हैं—'वही तू है और मैं ब्रह्म हूँ।' व्यक्ति

और विश्व दोनो एक हैं, सत्य अमर है। मनुष्य और प्रकृति, फिर इन दोनो तथा परमतत्त्व मे कोई भेद नही है। बौद्ध तत्त्ववाद विश्व के विषय मे नितान्त यथार्थवादी था। विश्व की क्षणिकता, परिवर्तनशीलता पर ही उसका विश्वास था। बाद में बौद्ध तत्त्ववाद के विकास मे भौतिकवाद से विज्ञानवाद की ओर प्रवृत्ति रही है। नागार्जुन के शून्यवाद मे तो विज्ञान-तत्त्व जैसे अपने चरम मे खो जाता है पर वैभाषिको का मत समन्वयवादी रहा है।

भारतीय दर्शन के मध्य-युग मे न्याय-वैशेषिक तत्त्ववादी भौतिकवादी हैं और अनेकवादी यथार्थ पर चलते हैं। इन्होंने आत्मा को एक द्रव्य मात्र माना है, इससे स्पष्ट है कि इन्होने आत्म-तत्त्व को व्यापक तत्त्व स्वीकार किया है। ये अरस्तू के समान सभी तत्त्वो को यथार्थ मानकर चलन के पक्ष मे हैं। इनके साथ ही साख्य-योग के तत्त्ववादी भी अनेक को मानकर चलने वाले यथार्थ को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके मतवाद मे पुरुष की प्रमुखता के रूप मे विज्ञानवादी दृष्टिकोण भी है। निश्चल और निष्क्रिय पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर प्रकृति क्रिया-शील हो उठती है। यह मतवाद प्लेटो के विज्ञानात्मक आइडिया के समकक्ष है। आगे चलकर शकर के अद्वैतवाद मे माया के सिद्धान्त को लेकर समन्वय की चेष्टा है, पर वह ब्रह्म को परमसत्य मानकर विज्ञानवाद की ओर ही अधिक जान पडता है। इस युग मे रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत म प्रमुखत यह समन्वय अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। तर्क और युक्ति के अनुसार शकर का समन्वय अधिक ठीक है, रामानुजाचार्य का मत सहज बोध के लिए अधिक सुगम रहा है। अगले भाग मे हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के काव्य मे इसी समन्वयवाद का आधार रहा है।

यूनानी तत्त्ववाद—यूनान मे, सर्वप्रथम अयोनियन तत्त्वजिज्ञासुओ ने मिथ के आधार के बिना ही विश्व के भौतिक स्वरूप की व्याख्या प्राकृतिक कारणो से करने का प्रयास किया। उनके मत म भौतिक-तत्त्वो की प्रधानता का कारण, चतुर्दिक फैले हुए विश्व के प्रति उनकी जागरूकता तथा अपनी ज्ञान इन्द्रियो के प्रत्यक्ष पर आश्रित होना समझना चाहिए। योरप म इन्होने ही आदि तत्त्व पर विचार किया। इन्होंने समस्त भौतिक विभिन्नता और परिवतन को किसी परम तत्त्व के स्वरूप परिवर्तन के आधार पर सिद्ध किया है। साधारणत परीक्षण से भी यह सिद्ध होता है। एक पदार्थ-तत्त्व दूसरे पदार्थ-तत्त्व म परिवर्तित होता रहता है, इस प्रकार आदि तत्त्व इन वर्तमान रूपो मे परिवर्तित होकर स्थिर है। यह सम्बन्ध गति और प्रवाह को लेकर है। फिर क्रम, व्यवस्था और समवाय क आधार पर दिक् के द्वारा विश्व की व्याख्या करने का प्रयास किया गया।[१] अनन्तर प्रकृति के परिवर्तन और भव-सर्जन पर निरन्तर

१ पाइथागोरस दिक् और सख्या का सिद्धान्त

दीपशिखा की भाँति प्रज्ज्वलित तथा नष्ट होते विश्व की व्याख्या की गई।[1] अभी तक ये सभी मत भौतिकवादी थे और तत्त्ववादियों का ध्यान प्रकृति के भौतिक रूप पर ही सीमित था। बाद में नितान्त परिवर्तन पर अविश्वास किया गया। विश्व का नियम स्थिरता निश्चित हुआ। कुछ भी अन्य नहीं हो सकता, बिलकुल भिन्न वस्तु नहीं हो सकती। परिवर्तन ससीम का होता है, इन्द्रियातीत असीम का नहीं। आदि तत्त्व का सम्मिलन होता है सर्जन नहीं।[2] इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इन्द्रियातीत असीम की कल्पना में ही विज्ञानवाद के बीज सन्निहित हैं। यह मत अपनी व्याख्या में विज्ञानवादी लगकर भी सिद्धान्त की दृष्टि से भौतिकवादी है। इसमें चार आदि तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। परन्तु सर्जन की क्रिया-शक्ति में जो नाम रूप परिवर्तनों की व्याख्या की गई है वह संकलन और विकलन के आधार पर की गई है जो राग-द्वेष के समान भावात्मक माने गए हैं। यह प्रकृति की भावात्मकता ही तो विज्ञानवाद की पृष्ठ-भूमि है।

तत्त्ववाद के क्षेत्र में चाहे वह पाश्चात्य दर्शन हो अथवा भारतीय दर्शन, लगभग एक समान परम्परा मिलती है। पहले विभिन्न मतों का प्रतिपादन होता है, फिर विषम स्थिति के कारण ज्ञान पर सन्देह किया जाने लगता है। ज्ञान पर सन्देह का अर्थ है कि उसके माध्यम से परम सत्य को जानना अविश्वसनीय माना जाता है। अन्त में व्यावहारिक क्षेत्र में ज्ञान को स्वीकार करके समन्वय की चेष्टा की जाती है। सोफियो ने ज्ञान पर सन्देह किया। परन्तु प्लेटो ने विचारात्मक ज्ञान को विश्व के आदि सत्य को समझने के लिए स्वीकार किया और समन्वयवादी मत उपस्थित किया है। वे परमाणुवादी अनेकता के साथ भावात्मक विज्ञान को मानते हैं। प्लेटो का आइडिया विज्ञान मनस् को ही आधार रूप से स्वीकार करता है। लेकिन यह विज्ञानमय आइडिया मनस् ही नहीं वरन परावर असीम है। इस सामान्य से ही विशेष विज्ञान-रूप ग्रहण करते हैं। यह एक प्रकार का प्रतिबिम्बवाद कहा जा सकता है। साथ ही प्लेटो शुद्ध पूर्ण परावर विज्ञान की बाह्य-दृश्यात्मकता के लिए अभावात्मक पदार्थ की कल्पना भी करते हैं। इस प्रकार उनके सिद्धान्त में व्यावहारिक दृष्टि से जैसे भौतिक और विज्ञान दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। *समन्वय की दृष्टि से इन्द्रिय*-प्रत्यक्ष के जगत् को समझने के लिए इस भावात्मक विज्ञान-तत्त्व से भिन्न अभावात्मक तत्त्व स्वीकार करना पड़ा। यह शंकर की माया से भिन्न है, क्योंकि यह अभावात्मक तत्त्व विज्ञान-तत्त्व से निम्न श्रेणी का माना गया है, वैसे सत्य है। अपने आप में यह

---

१. हैराक्लायूटम् : परिवर्तन का सिद्धान्त

२. इम्पोडाक्लीम : स्थिरतावाद

समस्त विशिष्टताओं से शून्य आकारहीन अप्रमाणित और अविचारणीय है। प्रकृति का अस्तित्व इसी अभाव-तत्त्व पर जब विज्ञान-तत्त्व प्रभाव डालता है तभी सम्भव है। जिस प्रकार किरण आतशी शीशे पर पड़कर अनेक में प्रकट होती है, उसी प्रकार विज्ञान-तत्त्व रूप भावात्मक आइडिया भौतिक-तत्त्व रूप अभावात्मकता में अनेक रूप धारण करता है। फिर भी प्लेटो के सिद्धान्त का झुकाव विज्ञानवाद की ओर है और इसी की प्रतिक्रिया अरस्तू के भौतिकवाद में मिलती है।

योरप का मध्ययुग अंधकार का युग था, इसमें दर्शन और विज्ञान दोनों की विचार-धाराओं का लोप रहा। इस युग में केवल धर्म और अध्यात्म का प्रकाश मिलता है। बाद के नवयुग में यूनानी परम्परा के आधार पर दार्शनिक मतों का प्रतिपादन और विकास हुआ है। पर तत्त्ववाद में विज्ञानवादी और भौतिकवादियों की स्थिति लगभग उसी प्रकार रही। साथ-साथ दोनों के समन्वय का प्रयत्न भी हुआ है। विज्ञानवादियों में यदि स्पिनोजा और बार्कले का नाम लिया जा सकता है तो भौतिकवादियों में हाब्स और ह्यूम का उल्लेख किया जा सकता है। हेगल और कान्त ने विज्ञान-तत्त्व के साथ भौतिक-तत्त्व को भी स्वीकृति दी है, इस प्रकार वे समन्वयवादी कहे जा सकते हैं। इस युग में प्रयोगवादी तथा युक्तिवादी आधार पर भी द्वैताद्वैत की प्रतिद्वन्द्विता चलती रही है। इस युग में भौतिक-विज्ञानों के विकास के साथ हमारी अन्तर्दृष्टि भौतिक-पदार्थों में अधिक हो गई है। हमारा मानसिक स्थितियों का ज्ञान भी मानसशास्त्र के सहारे बढ़ गया है। ऐसी स्थिति में दोनों मतों के प्रतिपादक भी हैं और उनका समन्वय करने वाले तत्त्ववादी भी।

**सहज बोध की स्वीकृति**—इन समस्त दार्शनिक तत्त्ववादों की सूत्र-रूप व्याख्या के पश्चात् देखना है कि सहज बोध किस सीमा तक इनको ग्रहण कर सकता है। साधारण व्यक्ति यथार्थ जगत् को स्वीकार करके चलता है। इस यथार्थ के विरुद्ध जब तक पर्याप्त कारण नहीं मिलता वह ऐसा ही करेगा। किसी वृक्ष को देखकर हम वृक्ष ही समझते हैं (आकार-प्रकार, रंग-रूपमय)। परम सत्य न मानकर भी हम सत्य उसे अवश्य मानते हैं। पर इस यथार्थ के प्रति सन्देह करने के कारण हैं। द्रव्य और गुण, इन्द्रियों के विरोधी तथा भ्रामक प्रत्यक्ष इस सन्देह के माध्यम हैं। इन विरोधों को, यथार्थ को अस्वीकार करने के लिए अपर्याप्त भी सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में विश्व को समझने के लिए बहुत-सी अदृश्य आवश्यकताओं की उलझनें उत्पन्न हो जायँगी। इस प्रकार सहज बोध के लिए सामान्य यथार्थ के परे किसी इन्द्रियातीत सत्ता को मानना आवश्यक हो जाता है। सहज बोध के द्वारा साधारण व्यक्ति परिणामवादी होता है। और इस विश्वास से भी यही सिद्ध होता है। परिणामवाद की क्रियात्मक शृंखला भावात्मक विज्ञान-तत्त्व की ओर ले जाती है। साथ ही

उसका क्रमिक विकास भौतिक-विज्ञानो के भविष्य कथन मे सहायक होता है। यद्यपि परिणामवाद मे कारण ही कार्य का परमाग है, इसलिए अधिक दूर तक उसे सत्य नही माना जा सकता है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि प्रत्येक घटना की सकेत देने वाली सत्य स्थिति, किसी विशेष समय मे, अन्य सत्यो से सम्बन्ध रखने वाली सवेतिक घटनाओ के प्रसरित भाग को आत्मसात् किए रहती है। फिर भी परिणाम-वाद से सम्बन्धित विश्वास मे सहज बोध प्रकृति मे भौतिक के साथ किसी अन्य सत्ता को भी स्वीकार करता है। इस प्रकार सहज बोध से हम प्रकृति के रूप और भाव दोनो पक्षो को ग्रहण कर लेते हैं। और यही तत्त्ववादियो के भौतिक-तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का आधार है। ऐसा ही हम ऊपर की विवेचना मे देख चुके हैं।

## दृश्य प्रकृति

**मन और शरीर**—दृश्य जगत् का प्रश्न हमारे सामन उपस्थित हो चुका है। हम निश्चित कर चुके है कि तत्त्ववाद की एक स्थिति एसी है जिसे सहज बोध ग्रहण कर सकता है। इस सीमा पर हम भौतिक प्रकृति को भावात्मक विज्ञान-तत्त्व और रूपात्मक भौतिक-तत्त्वो मे स्वीकार कर चुके हैं। साधारणत जिसे प्रकृति सम्बन्धी भाव और रूप कह सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जब मनस् और वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, तब मनस् का प्रतिबिम्ब वस्तु पर पडने से दृश्य-जगत् की सत्ता मानी जा सकती है। दृश्य-जगत् के सम्बन्ध मे मनस् का महत्त्व अधिक है। मनस् ही द्रष्टा है। यही मनस् मानव के सम्बन्ध मे मानस या मन माना जा सकता है। इस मन के साथ उसके धारण करने वाले शरीर का प्रश्न भी आ जाता है। मन की क्रिया शरीर के आधार पर है। उसकी प्रक्रिया मस्तिष्क पेशियो और स्नायु तन्तुओ से परिचालित है। साधारणत यह स्वीकार किया जाता है। परन्तु शरीर भौतिक तत्त्व है और मन (मनस् का ही रूप होने से) विज्ञान-तत्त्व है। हम इन दोनो ही तत्त्वो को स्वीकार कर चुके है। अब प्रश्न है कि ये विभिन्न तत्त्व क्रियाशील कैसे होते हैं। और इस प्रक्रिया का प्रभाव दृश्यात्मक प्रकृति पर क्या पडता है।

**समानान्तरवाद**—(क) मन और शरीर के सम्बन्ध पर विचार करने वाले तत्त्ववादियों ने विभिन्न प्रकार से इस सम्बन्ध की कल्पना की है। मन और वस्तु को अलग स्वीकार करने वाले विचारका ने मानवीय मानस को मनस्-तत्त्व रूप मन और वस्तु-तत्त्व रूप मस्तिष्क से युक्त माना है। इन दोनो की अलग तथा भिन्न स्थिति के कारण इनम क्रिया प्रतिक्रिया का क्रमिक सम्बन्ध नही स्थापित हो सकता। केवल इनकी पूर्णत समस्थिति स्वीकार की जा सकती है। इनमे से एक मानसिक स्थिति से तथा दूसरी शारीरिक घटना से सम्बन्धित हो सकती है। इसी क्रिया प्रतिक्रिया को

मनस्-भौतिक समानान्तरवाद के नाम से कहा गया है।[१] कुछ तत्त्ववादी भौतिक-विज्ञानो के आधार पर एकान्त प्रक्रियावाद को मानते हैं। इसी प्रकार कुछ विज्ञान-तत्त्व के आधार पर दूसरे भौतिक-तत्त्वो का विकास मानते हैं। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक मत मे, मन से मस्तिष्क परिचालित है और दूसरे मत मे मस्तिष्क की विषमता ही मन की व्याख्या है। परन्तु स्वयं भौतिक विकासवादियो ने जीवन के मानसिक स्तर का कोई समुचित उत्तर नही पाया है। विलियम जेम्स स्वीकार करते हैं कि नैसर्गिक वरण का सिद्धान्त मानसिक विषमताओ और उसके विकास को स्पष्ट नही करता। इस आधार पर भौतिक विकास से उत्पन्न मनस् की कल्पना नही की जा सकती।

सचेतन प्रक्रिया—(ख) समानान्तरवाद मे दोनो तत्त्वो को अलग-अलग माना गया है और उनकी प्रक्रिया मे कार्य-कारण का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, जो उचित नही। मानसिक भावना और इच्छा आदि का पूर्ण विश्लेषण मानस-शास्त्र नही कर सका है। और विभिन्न भौतिक-विज्ञानो के द्वारा जीवन का प्रश्न हल नही हो सका है। ऐसी स्थिति मे यह कहना उचित नही है कि किसी सीमा पर ये दोनो एक दूसरे को स्पर्श कर सकते हैं। अपनी-अपनी घटनात्मक स्थिति मे ये पूर्ण सम्बन्धी हो सकते हैं। भौतिक घटनाएँ किसी स्थान से सम्बन्धित होती हैं और मानसिक घटना किसी मानस के इतिहास मे स्थित। फिर इनमे कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसे सम्भव है। परन्तु इससे यह भी सिद्ध नही कि इन दोनो मे पूर्ण सम्बन्ध नही है। रूपात्मक प्रकृति मन की भावात्मकता से सम्बन्धित है, और शरीर के साथ रूपात्मक स्थिति मे है। इस दृष्टि से भी दोनो के सम्बन्धी होने मे तो कोई विरोध नही हो सकता। डेकार्टे इनको 'लगभग एक तत्त्व' मानते हैं। कुछ तत्त्ववादी मनस् को शारीरिक विकास के माध्यम से समझते हैं। और इन मतवादो से कम से कम यह सिद्ध होता है कि इनमे एक सम्बन्ध स्थापित हो सकता। जिस सहज बोध के स्तर पर हम विवेचना कर रहे हैं उसमे समन्वय की प्रवृत्ति प्रमुख है।

दोनो ओर से—(ग) यद्यपि द्वन्द्वात्मक तत्त्वो मे क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव नही मानी जाती फिर भी सहज बोध के स्तर पर मन और मस्तिष्क के विषय मे इसकी कल्पना की जा सकती है। यदि भौतिक-तत्त्व केवल निम्न कोटि का विज्ञान तत्त्व ही है, अथवा परिणामवाद मे केवल क्रमिक सम्बन्धो की स्थिति भर है, तब तो इनमे क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव ही है। उस समय यह समानान्तर होने के समान है। पर ऊपर हम सिद्ध कर चुके हैं कि अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र मानकर भी इन दोनो मे सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है। यह सचेतन प्रक्रिया का सम्बन्ध है। ऐसा स्वीकार कर

१. सायकोफिजिकल पैरेललिज्म (जेम्स वार्ड से)

लेने पर मानसिक घटनाओं में कुछ शारीरिक घटनाओं का सम्मिलन होता है और उसी प्रकार शारीरिक अवस्थाओं पर मानसिक स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। यही सचेतन-प्रक्रिया है जिसे हम स्वीकार कर सकते हैं। इसके विरोध में स्वत. क्रिया-शक्ति का प्रश्न उठाया जा सकता है, क्योंकि इससे कार्य-कारण स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु स्वत: क्रिया-शक्ति परीक्षण से असफल ठहरती है। मन की सम्पूर्ण चेतना केवल भौतिक-शक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं होती, साथ ही मन की इच्छा-शक्ति को समझने के लिए मस्तिष्क में स्नायु-तन्तुओं की प्रक्रिया प्राप्त नहीं है। इस प्रकार दोनों ओर से सचेतन प्रक्रिया को स्वीकार करके ही हम सहज बोध के साथ तत्त्ववाद और भौतिक-विज्ञानों के मत का संतुलन कर सकते हैं। इससे एक ओर बाह्य रूपात्मक प्रकृति का स्वरूप मानसिक आधार पर स्थापित हो जाता है और दूसरी ओर मनस् के विकास के लिए जो परिवर्तन मानव-इतिहास में हुए हैं उनकी व्याख्या भी हो जाती है। यहाँ हमारी विवेचना का तात्पर्य केवल यह है कि प्रकृति में रूप और भाव जो दो पक्ष स्वीकार किए गए हैं उनको ग्रहण करने के लिए हमारे मन और शरीर की सचेतन-प्रक्रिया आवश्यक है। सहज बोध के स्तर पर हम किसी की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। अगले प्रकरणों में इस बात पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत प्रकृति चित्रों से जो सम्बन्ध हमारे शरीर के स्नायु-तन्तुओं या मस्तिष्क के कोष्ठों से है; अथवा शारीरिक अनुभावों का जो प्रभाव भावनाओं पर पड़ता है, उनका मानव की कलात्मक प्रवृत्ति के विकास में क्या योग रहा है।

**द्रष्टा और दृश्य**—ऊपर की समस्त विवेचना के बाद हम सहज बोध के उस धरातल पर स्थिर होते हैं, जिस पर शरीर से अनुप्राणित मनस् द्रष्टा है और भौतिक जगत् दृश्य है। मन जिस शरीर के सम्बन्ध से सचेतन है उससे एक विशेष स्थिति में सम्बन्धित भी है, साथ ही विश्व की अनेक वस्तुओं को विभिन्न घटनात्मक स्थितियों में पाता है। मन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा भौतिक वस्तुओं का स्थिति-ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु ये स्थितियाँ एक ही समय में अथवा विभिन्न समय में अन्य मन की गोचर विषय हो सकती हैं। शरीर में इन्द्रियों का विभाजन (साधारणत मान्य) भौतिक तत्त्वों के अनुरूप हुआ है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि मन अपनी प्रतिकृति भौतिक तत्त्वों पर इन्द्रियों के माध्यम से ही डालता है। यह एक ही सत्य को कहने की दो भिन्न रीतियाँ हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वस्तु-गुण उनकी स्थितियों के आधार पर हैं अथवा प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर निर्भर है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह इस प्रकार मान्य है। क्रियात्मक प्रवृत्ति के रूप में तन्मात्राओं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और ध्वनि की स्थितियों का बोध मन, नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श आदि ज्ञान, इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है। परन्तु इनके आधार में भौतिक-तत्त्वों के रूप में स्थित पृथ्वी,

जल, अग्नि, वायु और आकाश है। मन केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के आधार पर नहीं चलता। उसमें विचारात्मक अनुमेय के साथ स्मृति तथा संयोग पर आधारित कल्पना का भी स्थान है। बौद्ध दार्शनिकों ने यद्यपि अनात्मवादी होने के कारण चित् को केवल शरीर सम्बन्धी माना; पर उसकी अनुमेय और कल्पना शक्ति को वे भी स्वीकार करते हैं। भारतीय अन्य तत्त्ववादियों ने आत्मा और शरीर की सम्बन्धात्मक स्थिति को ही चित् माना है। यह सहज बोध द्वारा स्वीकृत मन की स्थिति को एक प्रकार से अनुमोदित ही करता है। अगले प्रकरणों में इसी निष्कर्ष के आधार पर हम विचार करेंगे कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और प्रवृत्तियों या भावनाओं के विकास में क्या सम्बन्ध रहा है तथा अनुमान और कल्पना में इनकी क्या स्थिति रहती है। क्योंकि काव्य और प्रकृति का सम्बन्ध इन्हीं को लेकर समझा जा सकता है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के दृश्य-जगत् को मन कल्पनामय भाव-जगत् में ही ग्रहण कर लेता है।

दृश्य-जगत् : प्राथमिक गुण—(क) हम जिस दृश्य जगत् की व्याख्या कर रहे हैं वह केवल वस्तुओं की विभिन्न स्थिति और परिस्थिति है। वस्तु भी वस्तु-तत्त्वों की घटनात्मक स्थितियाँ मात्र हैं। वस्तुत जिनको हम वस्तु के प्राथमिक गुण कहते हैं, वे मन की बाद की विकसित स्थिति की अपेक्षा रखते हैं। पहले वस्तु के माध्यमिक गुणों का सम्पर्क होता है और बोध भी इन्हीं का पहले होता है। वस्तु कहने से ही हमारा तात्पर्य किसी भौतिक घटना की मन के सम्बन्ध की स्थिति है। इसी दृष्टि से पाइथागोरस ने अपने सिद्धान्त में दिक् को महत्त्व दिया है। भारतीय न्याय-वैशेषिक तत्त्ववादियों ने दिक् और काल को गुण न मानकर द्रव्यों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। दिक् और काल का ज्ञान सम्बन्धात्मक है और अनुमान पर स्थिर है। इनको असीम समझना चाहिए। इनका ज्ञान विचार से ही सम्भव है और किसी विशेष स्थिति या विन्दु के सम्बन्ध की सापेक्षता में ही सम्भव हो सकता है। ये दोनों ही अपरिवर्तनशील हैं। जो परिवर्तन जान पड़ता है वह तत्त्वों के परिवर्तन तथा उनकी गतिशीलता से विदित होता है। दिक् काल की स्थिरता के कारण ही कुछ तत्त्ववादियों ने विश्व के प्रश्न के सम्बन्ध में स्थिरवाद चलाया है। इन्होंने भी इनकी विचारात्मक सत्ता को वैशेषिकों की भाँति केवल द्रव्य मान लिया है। परन्तु दिक् काल पर विचार करते समय प्रकृति की गति, उसके परिवर्तन और क्रियात्मक प्रवाह का प्रश्न आ जाता है। जिस प्रकार रेलगाड़ी पर भागते हुए दृश्यों की स्थिरता पर विचार करते समय गाड़ी की गति का ध्यान आ जाता है। इसको किसी न किसी रूप में स्वीकार करके ही चलना पड़ता है। कोई भी तात्त्विक मतवाद इसको अस्वीकार करके नहीं चला है। इस गति और प्रवाह की व्याख्या अनेक प्रकार से अवश्य की गई है। तत्त्वों के संयुक्तीकरण के मतवाद से लेकर विज्ञानवादी आइडिया तथा अद्वैत मतों तक इसका आश्रय लिया गया

है। यथार्थवादी वैशेषिको ने इसको कर्म-पदार्थ के अन्तर्गत माना है। कर्म-पदार्थ मे गति और परिवर्तन को अन्तर्भूत कर लिया गया है। यहाँ इस विवेचना को प्रस्तुत करने का तात्पर्य है। वस्तुओ की स्थिति-परिस्थिति को दिक्-काल की अपेक्षा मे ही समझा जा सकता है। इनके द्वारा विश्व की क्रियात्मक प्रवृत्ति से प्रकृति का कार्य-कारण तथा प्रयोजन ज्ञात होता है। साथ ही दिक्-काल विश्व के प्रश्न मे विज्ञान-तत्त्व की खोज करने की प्रेरणा के आधार भी हैं।

माध्यमिक गुण—(ख) वस्तु के माध्यमिक गुणों को वैशेषिक पदार्थ मानते हैं। सांख्य-योग मे ये तन्मात्राएँ मानी गई हैं। इनको हम पच भूत-तत्त्वों के माध्यम से समझ पाते हैं। दिक्-काल मे स्थित वस्तु का बोध इन्हीं गुणो के आधार पर होता है। सबसे प्रथम रूप ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। कदाचित् इसी कारण अग्नि तत्त्व को और उससे सम्बन्धित सूर्य को अधिक महत्त्व मिला है। गुण के अनुसार दूसरा स्थान शब्दमय आकाश का होना चाहिए। परन्तु यह तत्त्व बाद मे ही स्वीकृत हो सका है, इसका कारण आकाश तत्त्व की सूक्ष्मता है जिससे वह सरलता से बोधगम्य नही है। गन्ध का सम्बन्ध पृथ्वी-तत्त्व से, रस का जल-तत्त्व से और स्पर्श का वायु-तत्त्व से इसी प्रकार माना गया है। यही समवाय का बोध मनस् की शरीर से युक्त विशेष स्थिति है। वैशेषिक इसके विचार को भी पदार्थ स्वीकार करते हैं। अस्ति मे ही नास्ति का प्रश्न सन्निहित है। यद्यपि उसी का एक दूसरा रूप है, पर समवाय से समवाय का विचार भिन्न अवश्य कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिकों ने इसी को अभाव के रूप मे पदार्थों में जोड दिया है। वस्तुत. नागार्जुन के सन्देहवाद और शून्यवाद का आधार भी यही है।

सामान्य और विशेष—(ग) मानसिक प्रक्रिया मे विचार और कल्पना दोनो ही स्थितियो में सयोग और विरोध से काम पडता है जिसका आधार साम्य है। साम्य के लिए सामान्य और विशेष का भेद होना आवश्यक है। द्रव्यो मे रहने वाला नित्य पदार्थ सामान्य है और दृश्य-जगत् मे उसकी विशिष्ट स्थितियाँ ही सामने आती हैं। साथ ही पार्थिव वस्तुओ मे भी सामान्य का भाव और विशेष का सयोग रहता है। वैशेषिकों ने विशेष के अर्थ को द्रव्य की विशिष्टता मे लिया है और इसी कारण उसे नित्य भी माना है। पर यहाँ साधारण अर्थ मे, विशेष को वस्तुओ की विशिष्ट विभिन्नताओ के रूप मे भी लिया जा सकता है। दृश्य-जगत् की कल्पना करने के लिए सामान्य विशेष दोनो का भाव होना आवश्यक है। इसीलिए इनको पदार्थ माना गया है। इस दृश्यात्मक प्रकृति को उपस्थित करने से मानव और प्रकृति का सम्बन्ध स्पष्ट हो सका है। साथ ही एक प्रकार से प्रकृति को समझने की रूपरेखा उपस्थित हो सकी है। यह रूपरेखा काव्य मे प्रकृति के प्रदर्शन को समझने मे भी सहायक हो सकती है।

## आध्यात्मिक प्रकृति

दिक्-काल का छायारूप—प्राथमिक गुणों का उल्लेख किया गया है। इनको मानव अपने शरीर के सम्बन्ध में अथवा अपनी घटनाओं के इतिहास में समझ सका है। इनका प्रसरित रूप सर्वदा इन्द्रियों के लिए भ्रामक ही रहा है। दिक्-काल का सम्बन्धात्मक ज्ञान मानव के मानसिक विकास में बहुत पीछे की बात है। शिशु की अवस्था में यह अब भी परीक्षण का विषय हो सकता है। बच्चों का दिक्-काल सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण और भ्रामक होता है। उनकी मानसिक स्थिति इस प्रकार के सम्बन्धात्मक विचारों के योग्य नहीं होती। परन्तु उनकी भूल को सुधारने के लिए बड़े लोग सदा ही तत्पर रहते हैं। विकास की प्रारम्भिक स्थिति में मानव का ज्ञान दिक् काल के विषय में अपूर्ण था, और उसके पास उसे ठीक करने के लिए क्रमिक अवस्था के अतिरिक्त कोई भी साधन नहीं था। ऐसी स्थिति में असीम दिक्-काल में वह अपने को असहाय पाकर कभी भयभीत और कभी आश्चर्य-चकित हो उठता होगा। मिथ-युग के अध्ययन से हमको यही बात जान भी पड़ती है। मिथ-सम्बन्धी अनेक कहानियों में संकेत भी इसका मिलता है। अन्य विचारात्मक स्थितियों का उसका ज्ञान स्पष्ट नहीं था। इसी कारण वह प्रकृति के दृश्य-जगत् के स्वरूप को प्रत्यक्ष से भिन्न और विरोधी देख कर भयभीत होता था। यह उसकी भावनाओं पर दिक्-काल की अस्पष्टता के प्रभाव का परिणाम था। साथ ही प्रकृति के क्रियाशील क्रम को व्यवस्थित रूप में न देख सकने के कारण ऐसा होना सम्भव है। यह भय, विस्मय का मिथ-युग दिक्-काल की अस्पष्ट-भावना को लेकर चल रहा था, साथ ही जैसा कहा गया है प्रकृति की क्रिया-शक्ति तथा उसके समवाय के प्रति अव्यवस्थित दृष्टिकोण भी रखता था। इसके परिणाम स्वरूप इस युग में भय प्रदान करने वाले देवताओं की पूजा मिलती है और इसी के आधार पर बाद में प्रकृति की शक्ति के प्रतीक विभिन्न देवताओं की स्थापना हुई है।

भ्रमात्मक स्थिति—(क) इस युग में प्रत्यक्ष ज्ञान विभिन्न माध्यमिक गुणों के प्रति स्पष्ट नहीं हो सका था और उसके लिए इनका संयोग स्थापित करना भी कठिन था। इन गुणों में भ्रम तो आज भी हो जाता है। उस समय तो विभिन्न इन्द्रियों के प्रत्यक्षों को समुचित रूप से समझने की भावना भी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकी थी। वस्तुओं के रूप-रंग, तथा उनसे सम्बन्धित ध्वनि, गन्ध, स्वाद आदि को अलग-अलग ग्रहण करके उनका सामञ्जस्य करने में असमर्थ मनस् चकित था। मानव फिर धीरे-धीरे उत्सुकता से समन्वय की ओर बढ़ सका है। परन्तु उसके मन में प्रकृति की रहस्य-भावना की स्थापना उसी समय से हुई है। मानसिक विकास के

क्षेत्र में रहस्य की भावना विज्ञानात्मक ब्रह्म के प्रति उपस्थित हुई है। और यही रहस्य-भावना अध्यात्म की आधार-भूमि है।

प्रकृति का मानवीकरण—(क) प्रारम्भ में मानव समस्त प्रकृति-रूपों को अपने समान देखता था। इस प्रकार आदि काल से वह प्रकृति को मानव रूप में समझने की भूल करता था। वस्तुतः उसको इस भावना की प्रेरणा प्रकृति की सचेतनता से मिली है। चाहे तत्त्ववादी हो या भूत-विज्ञानी अथवा साधारण व्यक्ति ही, किसी की दृष्टि से यह प्रकृति की सचेतनता भ्रामक कहकर टाली नहीं जा सकती। यदि यह समझी नहीं जा सकती, तो इसे भ्रामक सिद्ध करना भी कठिन हो जायगा। इस भ्रम का कारण बताना सहज नहीं होगा। साथ ही प्रकृति के मानवीकरण के युग के आगे उसे सचेतन मानने के विषय में भी प्रश्न उठेगा। पहले ही कहा गया है, मानव के सम्मुख परिवर्त्तन के रूप में विश्व की क्रिया-शक्ति उपस्थित हुई है। यह शक्ति प्रकृति के स्थिर स्वरूप में क्रियोन्मुखी लग सकती है और उसकी क्रियाशीलता में गतिमान भी जान पड़ती है। इसके समान मानव के अन्तर्जगत् में मन की क्रियोन्मुखी स्थिति है और प्रयास तथा उत्सुकता के रूप में क्रिया की वास्तविक स्थिति भी है। बाह्य और अन्तर्जगत् की इसी समरूपता के कारण मानव में प्रकृति को सचेतन देखने की प्रवृत्ति है। फिर वस्तुओं को निश्चित घटनात्मक स्थिति में न समझ पाने से भी यह स्थिति उत्पन्न हुई। मन की यह प्रवृत्ति है कि वह अपरिचित को साम्य के आधार पर समझने का प्रयास करता है। आध्यात्मिक आधार पर जिन प्रकृति शक्तियों को देवत्व प्राप्त हुआ था उनको आगे चलकर मानवीय आकार मिला और साथ ही उनमें मनोभावनाओं की स्थापना भी हुई। अतः आध्यात्मिक साधना के इसी क्रम में क्रियात्मक कारण के रूप में, मानव रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। और इसी से भावात्मक विज्ञान का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए विश्वात्मा (परमात्मा) की स्थापना हुई। दूसरे भाग के आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी प्रकरणों में भारतीय विचार धारा का यहाँ के काव्य के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण में क्या प्रभाव पड़ा है, इस पर विचार किया गया है। यहाँ यही कहना है कि इन सब के मूल में प्रकृति को मानवीय रूप में देखने की, तथा उस पर स्वचेतना के आरोप की आदि प्रवृत्ति है।

भाव-मग्न प्रकृति—(ख) प्रकृति में रूप और भाव के साथ, भयभीत करने वाले और रक्षा करने वाले देवताओं का विकास हुआ है। बाद में एक-देववाद के आधार पर विश्वात्मा की स्थापना हो सकी। तत्त्ववाद में एकेश्वरवाद और विश्वात्मा के स्थान पर ब्रह्म तथा अद्वैत की भावना प्रबल रही है। परन्तु सहज बुद्धि ने विकल्पित रूपों के सहारे ब्रह्म को मानवीय रूप और भावना में समझा है। अगले भाग में हम देखेंगे कि यह व्यावहारिक भी रहा है। आतंक से उत्पन्न उपासना का स्थान

श्रद्धामयी पूजा ने ले लिया। मध्ययुग के देवता वैदिक देवताओं से इसी अर्थ में भिन्न हैं। वैदिक देवता प्रकृति की किसी अधिष्ठित शक्ति के प्रतीक हैं। बाद में उनमें रूप का आरोप हुआ है। परन्तु मध्ययुग के देवता मानवीय विचार और भाव के विशुद्ध रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इनके प्रतीकत्व में इन्हीं दृष्टिकोणों की प्रधानता है। साथ ही इनमें आतंक के स्थान पर श्रद्धा और रक्षा के स्थान पर कल्याण की भावना समन्वित होती गई। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण रुद्र का शिव के रूप में परिवर्तित हो जाना है। भारतीय मध्ययुग के त्रिदेवों में विष्णु और शंकर सर्जन-विनाश क्रिया के प्रतीक हैं। परन्तु ब्रह्मा के पालक रूप में मानव की सामाजिक प्रवृत्ति को स्थान मिला है, जो स्थिरता का प्रतीक स्वीकार किया जा सकता है। अन्य देवताओं में भी प्रकृति के रूप के स्थान पर उसका भाव ही प्रमुख हो गया है। परन्तु हम अगले प्रकरणों में देखेंगे कि मानवीय भावना के विकास में बाह्य दृश्य जगत् का सम्बन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त काव्य तथा कला में इन भावनाओं का प्रमुख हाथ है। और इन देवताओं के रूप-निर्माण में इसी कलात्मक रीति से रूप रंगों का प्रयोग किया जाता है।

**सामाजिक स्तर**—(ग) वैदिक कर्मकाण्डों में प्रधानतया प्रकृति के परिवर्तन, सर्जन, विनाश आदि के प्रतीक हैं। इनमें इन्हीं की प्रतिकृतियाँ सन्निहित हैं। इन प्रतीकों में उस युग के ज्ञानात्मक भ्रमों का समन्वय है। इसी कारण बाद के धार्मिक मतवाद इन प्रतीकों में दार्शनिक सत्य की व्याख्या करने में सफल होते रहे हैं। वस्तुतः धार्मिक अध्यात्म का विकास इसी आधार पर हुआ है। वैदिक यज्ञ कृत्य विश्व सर्जन के क्रम का प्रतीक है। यह अवस्था उस समय की है जब देवता प्रकृति शक्तियों के अधिष्ठाता थे। देवताओं का तत्त्व रूप परिवर्तनशील और गतिमय था। यह विश्व सर्जन और विनाश की ओर संकेत करता था। अन्य अनेक कर्मकाण्डों का प्रतीकार्थ सामाजिक नियमन से सम्बन्धित है जिसका आधार आचरण समझना चाहिए। मानव-समाज के आचरण सम्बन्धी नियमन में प्रकृति का अपना योग है। प्रकृति व्यवस्था, क्रम और सामञ्जस्य का नियम मानव के सामने उपस्थित करती रही है।

भारतीय मध्ययुग में फिर भक्ति और श्रद्धा के साथ पूजा-कृत्यों का विकास हुआ, यद्यपि बौद्ध धर्म में एक बार कर्मकाण्ड का पूर्ण खण्डन किया गया था। मध्ययुग के आचार्यों ने पूजा, अर्चा, पादसेवन, आरती, भोग आदि को दार्शनिक महत्व दिया है। इस आचार के प्रतीकों में प्रकृति के व्यापक तत्त्वों को भावात्मक अर्थ दिया गया है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वे साधना के रूप मात्र हैं। यही कारण है कि मध्ययुग के साधना-काव्य में इस दृष्टि से प्रकृति को कोई स्थान नहीं मिला है। अगले भाग के आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी प्रकरणों में यह स्पष्ट हो सकेगा।

**धार्मिक साधना**—धार्मिक पूजा-कृत्यों में भाव से अधिक रूप को स्थान

मिला है। परन्तु अनुभूति का क्षेत्र भावात्मक है। हम देख चुके हैं कि प्रकृति मे विज्ञान-तत्त्व के साथ आत्म-भावना की स्थापना हुई है। परन्तु दृश्य-प्रकृति हमारे आकर्षण का विषय है। और उसमे कलात्मक सौन्दर्य्य के लिए भी आधार है। इस सौन्दर्य्य के सहारे उसकी भावना मे (जो अपने मनस् का प्रसरण है) तन्मय होना विश्वात्मा के साथ तादात्म्य के समान है। साधना के क्षेत्र मे योग ने अन्तर्मुखी होने की ओर अधिक ध्यान दिया है। परन्तु अन्त करण बाह्य का ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। केवल एकाग्रता के कारण केन्द्रीभूत होकर दृश्यो मे व्यापकता और गभीरता अधिक आ जाती है।[१] योरप के रहस्यवादियो ने ज्ञान के साथ अनुभूति को विशेष स्थान दिया है। इस अनुभूति को भावनामय तादात्म्य माना जा सकता है। जिस चेतना से अनुभूति का सम्बन्ध माना गया है, वह प्रकृति-चेतना के आधार पर विकसित हुई है। कुछ अर्थों मे यह आज भी उसके निकट है। भारतीय भक्ति साधना मे यह चेतना मानवीय भावो के साथ उसके आकार से सम्बन्धित हो गई है। इस प्रकार यह चेतन प्रकृति से अलग हो जाती है। इस विषय की विशेष विवेचना दूसरे भाग के आध्यात्मिक साधना के प्रकरणो के प्रारम्भ मे की जायगी। यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग मे, साधना-काव्य मे प्रकृति को प्रमुख रूप न मिल सकने का बहुत कुछ कारण यह भी है।

योरप मे रहस्यवाद प्रकृति के निकट रह सका है। वहाँ प्रकृति के रहस्यवादी कवि उसकी चेतना के प्रवाह से अधिक तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। अग्रेज़ी साहित्य मे बाह्य-प्रकृति के प्रति अधिक जागरूकता है तथा उसमे अनन्त चेतना मे निमग्न प्रकृति के प्रति आकर्षण भी अधिक है। इस कारण उसके काव्य मे प्रकृति के सम्बन्ध मे इस प्रकार की भावना अधिक सुन्दर रूप से मिलती है। अपने उच्च स्तर पर प्रकृति का यह आकर्षण और सौन्दर्य्य रहस्यवाद की सीमा मे आ सकता है। भारतीय साधना मे प्रकृति के रूपो से प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की तुलना के लिए अगले भाग मे अवसर मिलेगा। यहाँ रहस्यवाद किसी सिद्धान्त विशेष के लिए नही माना गया है। अज्ञात सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की अनुभूति के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

---

१. द्वितीय भाग के तीसरे प्रकरण में सत साधकों के प्रकृति-चित्रों में इस प्रकार के दृश्यों का रूप देखा भी जा सकता है।

## द्वितीय प्रकरण

# प्रकृति के मध्य में मानव

प्रकृति-शृंखला मे—आमुख मे कहा गया है कि प्रकृति और काव्य सम्बन्धी विवेचना मे मानव बीच की कड़ी है। काव्य मानव की अभिव्यक्ति है। इसलिए प्रकृति और काव्य के विषय मे कुछ कहने से पूर्व प्रकृति के मध्य मे मानव की स्थिति को समझ लेना आवश्यक है। विश्व-सर्जना के प्रसार मे मानव का स्थान बहुत अकिंचन लगता है। परन्तु जैसा पिछले प्रकरण में कहा गया है विज्ञानमय मनस्-तत्त्व की स्व-चेतन स्थिति मानव मे है, इस कारण विश्व-चेतना का केन्द्र भी वही है। स्वचेता मानव अहंकार वश आत्मवान् होकर भी अपने से अलग विश्व-सर्जन पर विचार करता है। यह भ्रम है। वह अपने प्रकृति रूप को भूलकर एक अलग स्थिति से विश्व-प्रकृति पर विचार करता है। परन्तु यह भूलना नही चाहिए कि मानव इसी प्रकृति के शृंखला-क्रम की एक कड़ी है। इस प्रकार जब हम मानव और प्रकृति को अलग-अलग समझते हैं, उस समय हमारा दृष्टिकोण मानवीय रहता है। यह मानव की इच्छा-शक्ति के आधार पर प्रयोगात्मक और प्रयोजनात्मक है। यह प्रयोगात्मक दृष्टि विभिन्न सिद्धियो को एकत्रित करके उन्हें सम परिणामो के आधार पर वर्गीकृत करती है। इससे भौतिक-विज्ञानो के क्षेत्र मे मानव के विशेष प्रयोजन की सिद्धि होती है। पर यह दृष्टि हमारे आधार के लिए पर्याप्त नही है, क्योकि जिस आधार पर हम अपने परिणामो तक पहुँचना चाहते हैं वह व्यापक है। यहाँ प्रकृति और काव्य की बात है, काव्य तथा कला मानव की भावात्मकता से सम्बन्धित है। यह प्रकृति भौतिक विज्ञानो के सीमित सत्यो मे सकुंचित होकर अपना पूरा अर्थ व्यक्त नही कर सकती। मानव सचेतन प्रकृति के शृंखला-क्रम मे आ जाता है, ऐसी स्थिति मे मानव और प्रकृति इतने भिन्न नही जितने समझे जाते हैं, वस्तुतः मानव की स्वचेतना (आत्म-चेतना) के विकास मे सचेतन प्रकृति का योग है। इसी को स्पष्ट रूप से उपस्थित करने के लिए आगे क्रम से, विश्व के सर्जनात्मक विकास मे मानव का स्थान, मानव की स्वचेतना मे प्रकृति का

योग तथा उसकी अन्तर्दृष्टि मे प्रकृति के अनुकरणात्मक प्रतिविम्ब का रूप निश्चित किया जायगा।

## सर्जनात्मक विकास मे मानव

विकास के साथ—यूनान मे इलियायितो ने विश्व की परिवर्तनशीलता पर विशेष ध्यान दिया, उसी समय सर्जन के गमन का भी उल्लेख हुआ था। बाद मे पूर्णरूपेण परिवर्तन पर सन्देह किया गया। इस प्रकार विकासवाद के लिए उसी काल मे काफी आधार तैय्यार हो चुका था। गमन के साथ परिवर्तन, परिवर्तन मे पूर्व तत्त्व की स्थिति की स्वीकृति से एक प्रकार विकास का पूरा रूप मिल जाता है। विश्व को आदि तत्त्वो के आधार पर समझने मे भी यही प्रवृत्ति रही है। गमन-शक्ति के प्रवाह मे तत्त्वो का केन्द्रीकरण होता है, फिर विभिन्नता के साथ अनेक-रूपता उपस्थित होती है। अन्त मे निश्चित होकर उनमे एक-रूपता आती जाती है, इस प्रकार विभिन्न-धर्मी सर्जन मे एक-रूपता और क्रम रहता है। विकसनशील विश्व-सर्जन मे अधिकाधिक अनेक-रूपता जान पडती है, पर उसकी सम्बन्धो मे स्थित क्रमिकता भी दृढ होती जाती है। प्रकृति मे एक सचेतन शक्ति-प्रवाह है जो आज के वैज्ञानिक युग मे भी तत्त्ववादियो के आकर्षण का विषय है। यही कारण है कि आधुनिक तत्त्ववाद के क्षेत्र मे दार्शनिक विकासवाद मान्य रहा है। भारतीय तत्त्ववाद मे विकास का रूप इस प्रकार नही मिलता है। पर साख्य के प्रकृति-स्वरूप मे इसी प्रकार का सिद्धान्त सन्निहित है। इसमे प्रलय को सर्जन के समान स्थान दिया गया है। परन्तु जिस प्रकार विकास का अर्थ तत्त्ववाद मे साधारण निर्माण से सम्बन्धित नही है, उसी प्रकार प्रलय का साधारण नाश के अर्थ मे नही लेना चाहिए। सृष्टि के पूर्व प्रकृति अपने तीनो गुणो के सम पर स्थिर रहती है। इस सम का भग होना ही सर्जन-क्रिया है। विषमीकरण सर्जन के मूल मे वर्तमान है। साख्य के अनुसार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति की साम्यावस्था भग हो जाती है। पुरुष स्वय निष्क्रिय होकर भी गमन का कारण होता है जैसे चुम्बक पत्थर गतिमान् हुए विना लोह को गतिशील करता है। पुरुष के सामीप्य मात्र से प्रकृति चचल हो उठती है, और उसको मुक्त करने के लिए ही प्रकृति की सारी परिणमन क्रिया होती है। यह भारतीय विकासवाद का स्वरूप कहा जा सकता है, यद्यपि इसमे विकास की दिशा अधिक प्रत्यक्ष हो गई है। सहजबोध के लिए विश्व के प्रश्न को लेकर किसी न किसी रूप मे विकासवाद मान्य है। यही कारण है कि भारतीय तत्त्ववाद के क्षेत्र मे इस सिद्धान्त की अधिक मान्यता नही है, पर साधारण परम्परा मे इसका अधिक प्रचार रहा है।

चेतना मे दिक्-काल—पर ऐसा नही कहा जा सकता कि विकासवाद

सर्जन के सत्य की पूर्ण व्याख्या है। इसमें मानवीय दृष्टि से सर्जन को व्यक्त किया गया है। परन्तु इसके लिए मानव की स्वचेतना में आधार है। हमारा उद्देश्य मानव को लेकर प्रकृति पर विचार करना है। इस कारण प्रकृति की इस गमनशील चेतना को देख लेना आवश्यक है जो हमारे सामने अनेक क्रमिक सम्बन्धों में प्रकट हो रही है। जिस प्रकृति के गमन का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह दिक् और काल की भावना पर स्थिर है। आकाश की जिस व्यापक असीमता में दिक्-काल की स्थापना की जाती है, वह भी इन्ही के सम्बन्धों से जाना जाता है। इस दिक्-काल का ज्ञान हमारे अनुभव पर निर्भर है जो प्रत्यक्ष-जगत् में हमारा मार्गदर्शक है। यह अनुभव ज्ञान मन की चेतना और एकाग्रता पर निर्भर है। चेतना का अर्थ परिवर्तनों से परिचित होना है और ध्यान की स्थिति का बदल जाना परिवर्तन का भान होना है। इस प्रकार दिक् का छोटा से छोटा बिन्दु हमारी चेतना की एकाग्रता का परिणाम है जो असीम की ओर प्रसरित रहता है। इस प्रसरण का भान भी चेतना को होता रहता है। घटना-क्रम के रूप में काल का अनुभव करने वाली भी चेतना है जो इन्द्रियातीत काल में व्यापक होती जान पड़ती है। अतः गमन का रूप परिवर्तन पर स्थिर है और परिवर्तन हमारी चेतना की दिक्-काल सम्बन्धी भावना पर निर्भर है। आगे हम मानवीय चेतना की इस विशेष स्थिति को अधिक स्पष्ट करेंगे। यहाँ प्रकृति के विकास मार्ग में मानव का स्थान निश्चित कर लेना है।

प्रकृति से अनुरूपता—सहज बोध के स्तर पर प्रकृति में एक से अनेक की प्रवृत्ति के साथ अबाध सचेतन प्रवाह को लेकर विकास को समझा जा सकता है। वस्तुतः इस स्तर पर विकासवाद को छोड़ा नहीं जा सकता। सर्जन की अनेकता में उसका नियमन सन्निहित है, और इसी विभिन्न अनेकता में उसका प्रवाह चल रहा है। प्रत्यक्ष जगत् में यही तो दृष्टिगत होता है। एक बीज सहस्र सहस्र बीजों का रहस्य छिपाये हुए है। यह विकार समान परिस्थितियों में एक ही प्रकार से होता है। एक रस दूसरे रस से मिलकर तीसरे भिन्न रस की सृष्टि करता है। यह नियम प्राणि-जगत् में उसी प्रकार दिखाई देता है जिस प्रकार वनस्पति जगत् में। प्राणि का शरीर केवल बाह्य-जगत् से प्रभाव ही नहीं ग्रहण करता वरन् बाह्य परिवर्तनों के साथ क्रियाशील होने के लिए परिवर्तित भी होता है। बाह्य सम्बन्धों को स्थापित रखने के लिए शरीर में परिवर्तन होते हैं। शरीर जब तक बाह्य-प्रकृति से आन्तरिक अनुरूपता नहीं रखेगा, वह स्थिर नहीं रह सकता। वह अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी, उतना ही अधिक शरीर विकसित होगा। अन्तर और बाह्य की अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी जीवन उतना ही विकसित माना जायगा। मानव के जीवन में यह अनुरूपता बहुत कुछ पूर्ण मानी जा सकती है।

**मानस-विशिष्ट मानव**—प्रथम प्रकरण मे कहा गया है कि विकास-क्रम मे भौतिक-तत्त्व से विज्ञान-तत्त्व की स्थिति नही मानी जा सकती। इसका अर्थ है कि जड से चेतन की उत्पत्ति नही मानी जा सकती। परन्तु विकास पथ पर चेतना भी इन्ही नियमो पर चल रही है, ऐसा साधारणत. बिना विरोध के माना जा सकता है। मानव-शरीर बाह्य-प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम हो सकता है। प्राणि-शरीर मे भिन्नता बाह्य कारण से उत्पन्न होती है और यह विभिन्नता अनुरूप होने के कारण प्रकृति द्वारा चुन ली जाती है। यह विभिन्नता अगली वश-परम्परा मे चलती जाती है। प्रकृतिवादी विकास के क्रम मे एक सेल के जीवधारी से इन्ही शारीरिक विभिन्नताओ के द्वारा सूक्ष्म विविधता वाले मानव-शरीर को भी मानते हैं। परन्तु इस मानव शरीर की उन्नत-स्थिति को स्वीकार कर लेने पर भी मानव के विकास का प्रश्न हल नही हो जाता। मानव की मानसिक विभिन्नता का स्वरूप इस विकास की सबसे बड़ी कठिनाई है। बहुत से विकासवादी इसको शरीर से सम्बन्धित मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप मे समझते हैं और कुछ इसको विशेष विभिन्नताओ के रूप मे स्वीकार करते हैं। परन्तु यह व्याख्या मानस के प्रश्न को समझा सकने मे नितान्त अयोग्य ठहरती है। इन विरोधो को यहाँ उपस्थित करने का कोई कारण नही है। जिस प्रकार पिछले प्रकरण मे उल्लेख कर चुके हैं हम दोनो को स्वतन्त्र मान कर चल सकते हैं। प्रस्तुत प्रसग मे तो यह समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति के जड-चेतन प्रसार मे मानव (शरीर की स्थिति मे) इससे एक रूप होकर भी अपनी मानस-शक्ति के कारण अलग है। आगे हम देखेंगे कि यह मन उसकी स्वचेतना (आत्म-चेतना) को लेकर ही प्रकृति मे व्याप्त मनस्-तत्त्व से अलग है।

## स्वचेतन (आत्म-चेतन) मानव और प्रकृति

**आत्म-चेतना का अर्थ**—मानव की मनस्-चेतना और प्रकृति की सचेतना मे एक प्रमुख भेद है। मानव आत्मवान् स्वचेतनशील है। उसमे मनस् की वह स्थिति है जिसमे वह अपनी चेतना से स्वय परिचित है। हम देखेंगे कि उसकी यह सचेतना प्रकृति से किस सीमा तक सम्बन्धित है। परन्तु इसके पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि मनस् की स्वचेतना का अर्थ क्या है। प्रारम्भ से ही मानव की मानसिक स्थिति स्वचेतना की ओर प्रगतिशील रही है। वह इन्द्रियो के द्वारा प्रारम्भिक प्रवृत्तियो के आधार पर भौतिक-जगत् के प्रत्यक्षो को ग्रहण करता रहा और उसमे ध्यान का रूप एकाग्र तथा स्थिर होता गया। इसके आधार मे उसकी इच्छा-शक्ति थी जो जीवन की समस्त प्रेरणा को प्रयोजन की ओर ले जाती है। प्रारम्भिक मानव की प्रवृत्ति किसी बाह्य-प्रेरणा से ही सवेदनशील होगी। वह उन्हीं प्रेरणाओ को ग्रहण करता होगा जो

उसके जीवन के प्रयोजन से सम्बन्धित रही होगी। दूसरे शब्दों में उसकी इच्छा-शक्ति के माध्यम से प्रकृति के बाह्य-रूप का प्रवेश उसके जीवन में हुआ है। इन प्रभावों को ग्रहण करने में ध्यान के विपर्यय से प्रकृति के रूपों में जो परिवर्तन उपस्थित हुए उन्हीं की क्रमिक निरन्तरता घटना का स्वरूप धारण करती है। इस प्रकार चेतनशील होने का तात्पर्य परिवर्तनों से परिचित होना हुआ, और चेतना का प्रसार घटनाओं की क्रमिक शृंखला में समझना चाहिए। ये घटनाएँ दृश्य-जगत् की हों अथवा ध्वनि-जगत् की, प्रत्येक स्थिति में हमारी चेतना समानता और विभिन्नता के विभाजन द्वारा इच्छा के प्रयोजन की ओर ही बढ़ती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा अनुभव ज्ञान प्रत्येक पग पर सत्यों को विभिन्न और समान मानने में अपना प्रयोजन ही ढूँढता है।

**आत्म-भाव और प्रकृति-चेतना**—मानव मानसिक परिस्थितियों की विभिन्नता और विविधता के साथ अपनी चेतना के विषय में अधिक स्पष्ट होता गया है। उसकी चेतना प्रकृति चेतना का भाग है और उसमें प्रसरित भी है। इस चेतना के बोध के लिए उसमें केवल 'स्व' की भावना विकसित हो जाने की आवश्यकता है। यह 'स्व' की भावना जितनी व्यक्त और व्यापक होगी, उसी के अनुसार चेतना का प्रसार बढ़ता जायगा। सामने फैली हुई प्रकृति का दृश्य-जगत् उसकी अपनी दृष्टि की सीमा है, साथ ही अपने अनुभव के विषय का पूरा ज्ञान उसे तभी हो सकेगा जब उसका अपना 'स्व' स्पष्ट हो जायगा। यहाँ 'स्व' का अर्थ इच्छा के केन्द्र में ध्यान को एकाग्र करने के रूप में समझा जा सकता है। मानसिक विकास के साथ 'स्व' अधिक व्यापक होता गया है। उसका क्षेत्र प्रत्यक्ष बोध से भावना और कल्पना में फैल जाता है। इस क्षेत्र में 'स्व' का प्रसार अधिक व्यापी होकर विषम और विविध हो सका है। इस प्रकार चेतना ही विकास के पथ पर स्वचेतना की स्थिति तक पहुँच सकी है।

**सामाजिक चेतना का अंग**—परन्तु मानव की स्वचेतना के विकास में प्रकृति के साथ समाज का योग भी रहा है। मानव का विकास केवल व्यष्टि में परिसमाप्त नहीं है, उसने समष्टि के समवाय में भी अपना मार्ग ढूँढा है। मानव प्रारम्भ से समाज में रहने की प्रवृत्ति रखता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अनुभव को जान तो नहीं सकता, परन्तु उसका अनुमान लगा सकता है। फिर अपने व्यक्तिगत अनुभवों से तुलना करके किसी एक सिद्धि तक पहुँच सकता है। इस दृष्टि से व्यक्ति की स्वचेतना सामाजिक चेतना का भी एक रूप मानी जा सकती है। और स्वचेतना के इस सामाजिक स्तर तक भौतिक-प्रकृति दो प्रकार से मानी जा सकती है। प्रयोजन से हीन भौतिक क्रम तथा सम्बन्धों में उपस्थित प्रकृति वर्णनात्मक कही जा सकती है। और जब हम प्रकृति को प्रयोजन से युक्त अपनी इच्छा शक्ति के आधार पर देखते हैं, उस समय उसको व्यंजनात्मक कह सकते हैं। प्रकृति में व्यंजना की यह भावना, प्रयोजन का यह स्वरूप,

मानव समाज के व्यक्ति की अपनी इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति मे मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा और अपने प्रयोजन से परिचित है, साथ ही उसी आधार पर समाज के अन्य व्यक्तियो की इच्छा-साधना पर भी विश्वास रखता है। मानव-समाज की स्थिति के विषय मे हमारा विश्वास प्रकृति को समझने के पूर्व का है। इसका तात्पर्य यह नही कि मानव को प्रकृति के सम्पर्क मे आने के पूर्व सामाजिकता का बोध था। प्रकृति का सम्पर्क तो समाज के पूर्व का निश्चय ही है। परन्तु जब मानव ने प्रकृति के विषय मे अपनी कोई धारणा निश्चित की होगी, उस समय उसमे सामाजिक प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास हो चुका था। वह इच्छा और प्रयोजन के सामूहिक प्रयास से परिचित हो चुका था। भारतीय काव्य-शास्त्रो मे इसी दृष्टि से प्रकृति को केवल उद्दीपन-रूप के अन्तर्गत रखा गया है।[1] प्रारम्भिक युग मे मानव को जिस प्रकार अपना जीवन अस्पष्ट लगता था, उसी प्रकार उसका प्रकृति विषयक ज्ञान भी अस्पष्ट था। पहले प्रकृति को अस्पष्ट दिक्-काल की सीमा मे देखकर ही वह प्रकृति की अस्पष्ट सचेतनता की ओर बढ सका होगा। आज की स्थिति मे, सामाजिक चेतना के स्तर पर मानव प्रकृति को अपने समानान्तर देखते हुए व्यजनात्मक रूप मे पाता है। अथवा अपनी चेतना के प्रति वह अधिक सचेष्ट होकर प्रकृति को केवल अपने सामाजिक प्रयोजन का साधन मानकर वर्णनात्मक स्वीकार करता है। इस वर्णनात्मक रूप मे प्रकृति भौतिक-विज्ञानो का विषय रह जाती है। परन्तु सहज बोध के लिए ये दोनो ही रूप मान्य हैं। उसके लिए प्रकृति जड के साथ चेतन है, वर्णनात्मक के साथ प्रयोजनात्मक भी है। परन्तु इस दृष्टिकोण मे सामाजिक प्रवृत्ति फिर भी अन्तर्निहित रहती है। यही कारण है हमको प्रकृति कभी अपने प्रयोजन का विषय लगती है और कभी वह अपने स्वयं प्रयोजन मे मग्न जान पडती है। आगे काव्य मे प्रकृति के रूपो की विवेचना करते समय हम देखेंगे कि इस कथन का क्या महत्त्व है।

**समानान्तर प्रकृति-चेतना**—ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि प्रकृति का ज्ञान हमारी 'स्व' की भावना से प्रभावित है, और उसकी सचेतना हमारी दृष्टि विशेष का प्रभाव है। परन्तु प्रकृति की चेतना मे मानवीय चेतना का आरोप मात्र हो ऐसा नही है। प्रकृति के सचेतन लगने का एक कारण यह अवश्य है कि मानव प्रकृति का ज्ञान अपनी चेतना के द्वारा ही ग्रहण करता है। दूसरे शब्दो मे, जैसा हम आगे विचार करेंगे, प्रकृति की चेतना से उसकी चेतना सिद्ध है। वह अपनी स्वचेतना के प्रसार मे प्रकृति से परिचित होता है और उसकी उसी प्रकार व्याख्या करता है। परन्तु इसके

१. इस भाग के पचम प्रकरण में इस विषय की विवेचना प्रकृति रूपों के भेदों के विषय में की गई है। और दूसरे भाग के प्रथम प्रकरण में भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रकृति के अन्तर्गत भी यह प्रश्न उठाया गया है।

अतिरिक्त प्रकृति का सचेतन स्वरूप मानवीय चेतना के समानान्तर होने से भी सिद्ध है। जब हम कहते हैं कि हम प्रकृति की व्याख्या मानवीय चेतना से प्रभावित होकर करते हैं, उस समय यह निश्चित है कि हम स्वचेतनशील प्राणी हैं। पर समस्त स्थिति को सामने रखकर विचार करने से प्रकृति अपनी सचेतन गतिशीलता में मानवीय स्वचेतना के समानान्तर अधिक लगती है। आगे हम देखेंगे कि मानव की चेतना प्रकृति के सम्पर्क में विकासोन्मुखी थी; और उस समय प्रकृति की समानान्तर चेतना ने उसकी प्रारम्भिक प्रवृत्तियों में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

व्यंजनात्मक तथा प्रयोजनात्मक (क)—प्रकृति में दृश्य आदि माध्यमिक गुण हैं जो मानवीय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार माने जाते हैं। जिस सहज बोध के स्तर पर हम आगे बढ़ रहे हैं उसके अनुसार इन प्रत्यक्षों को उपस्थित करने में प्रकृति का भी योग है। उसी प्रकार दिक्-काल सम्बन्धी भावना प्रकृति सापेक्ष उतनी है जितनी मानव चेतना है। यह तो प्रकृति के वर्णनात्मक स्वरूप की बात हुई। सहज बोध प्रकृति की व्यंजनात्मक भावना को भी मानव चेतना के समानान्तर मान कर चलता है। उसके पास इसके लिए पर्याप्त आधार है। मानसिक चेतना की प्रत्येक स्थिति अपने प्रवाह में निरन्तर गतिशील है, उसका प्रत्यावर्तन भी सम्भव नहीं। प्रकृति में भी यही दिखाई देता है, उसमें आन्तरिक प्रवाह क्रियाशील है जिसमें प्रत्यावर्तन नहीं जान पड़ता। प्रकृति के बाह्य रूप में, सरिता प्रवाहित है उसका जल वापस नहीं लौटता, दिन-रात चले जा रहे हैं न लौटने के लिए, वृक्ष उत्पन्न होता है, बढ़ता है, फूलता-फलता है, नष्ट हो जाता है पर उसकी कोई भी अवस्था लौटकर नहीं आती। मानसिक चेतना में एक स्थिति दूसरी स्थिति को प्रभावित कर उससे एकाकार हो जाती है। प्रकृति में एक अवस्था दूसरी अवस्था से प्रभावित हो उसी से एकाकार हो जाती है और सर्जन-क्रम की अगली स्थिति को प्रभावित करने लगती है। उदाहरण के लिए ध्वनि के स्वर-लय को लिया जा सकता है, ध्वनि की स्वराकार एक तरंग दूसरी को उत्पन्न कर उसी से मिल जाती है और यह तरंग तीसरी तरंग को उत्पन्न करती है। मानसिक चेतना के समान प्रकृति में भी सहायक परिस्थितियों के उपस्थित होने पर निश्चित स्वभाव की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। दिन-रात तथा ऋतु-विपर्यय आदि उसी प्रकार प्रकृति के स्वभाव कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति में सचेतन विकास का रूप भी सन्निहित है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति में मानसिक चेतना की समरूपता बहुत अंशों में मिलती है। यह केवल स्तर भेद के कारण अधिक दूर की लगती है। अतः हम प्रकृति-चेतना के उसी प्रकार भाग हैं जिस प्रकार सामाजिक चेतना के। भेद केवल विकास-क्रम में चेतना के स्तरों को लेकर है।

सत्-चित्-आनन्द—यहाँ हम प्रकृति और मानव के अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब

भाव पर विचार आरम्भ करने के पूर्व इसी के समान भारतीय सिद्धान्त की ओर संकेत कर देना चाहते हैं। भारतीय तत्त्ववाद में इस सिद्धान्त का उल्लेख पहले ही हो चुका था, परन्तु वल्लभाचार्य ने इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। भारतीय तत्त्ववाद में जड़ और जीव का (जिसे स्वचेतन कह चुके हैं) भेद करते हुए सत् का उल्लेख किया गया है। प्रकृति में (यहाँ जड़ प्रकृति से अर्थ है) केवल सत् है और जीव में सत् चित्, परन्तु आनन्द का अभाव दोनों में ही है। आनन्द केवल ब्रह्म की विशेषता है। आगे कहा गया है कि जीव बन्धनों से मुक्त होकर सम स्थिति पर आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस मत को हम सहज रूप से इस प्रकार समझ सकते हैं। प्रकृति चेतना की विस्मृत स्थिति है, और ब्रह्म पूर्ण चेतना की स्थिति। जीव दोनों के मध्य की स्थिति है। वह अपनी स्वचेतना से एक ओर प्रकृति को सचेतनशील करता है, दूसरी ओर स्वचेतना को पूर्ण चेतना की ओर प्रेरित करके आनन्द का सम भी प्राप्त करता है। हमारी विवेचना में प्रकृति की चेतना का जड़त्व तथा मानवीय चेतना का स्व भी इसी ओर संकेत करता है।[1]

## अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब भाव

प्रकृति चेतना से सम स्थापित कर मानव की चेतना पूर्ण मनस्-चेतना की ओर विकसनशील है। प्रकृति का सचेतन सम मानव की स्वचेतना का स्रोत है। और पूर्ण मनस्-चेतना की ओर उसकी प्रगति उसकी आदर्श भावना का रूप है। यही पूर्ण मनस्-चेतना आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्म या ईश्वर आदि का प्रतीक ढूंढ लेती है। मानव अपनी मानसिक चेतना में अधिक ऊँचा उठता जाता है, और वह अपनी स्वचेतना (आत्मा) के पूर्ण विकसित रूप में ब्रह्म प्राप्त करता है जिसका रूप आनन्द कहा जा सकता है। दूसरे भाग के साधना सम्बन्धी प्रकरणों में इस विकास के साथ प्रकृति रूपों की विवेचना उपस्थित की जायगी। यहाँ तो यह दिखाना है कि मानव की इस प्रगति में प्रकृति का किस प्रकार महत्त्वपूर्ण योग रहा है, और प्रकृति की विस्मृत चेतना का सम मानव की चेतना के लिए किस सीमा तक आवश्यक है।

**बाह्य तथा अन्तर्जगत्**—तत्त्ववाद के क्षेत्र में जो कहा गया है वह मानसशास्त्र के आधार पर भी सिद्ध हो जाता है। मन अपनी मानसिक अवस्थाओं में बोध, राग और क्रिया में स्थित है। मन की यह स्थिति किसी न किसी रूप में मानव इतिहास के साथ सम्बन्धित है। इनको विकसित स्थिति में ज्ञान, अनुभूति और चिकीर्षा के रूप में समझा जा सकता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-बोध इन्द्रियों को बाह्य रूप से होता है,

[1] दूसरे भाग के पंचम प्रकरण में वैष्णव साधना के अन्तर्गत प्रकृति के रूपों की विवेचना में इस प्रश्न को लेकर अधिक व्याख्या की गई है।

और वह वस्तु हमारे अन्तः को अनुभूतिशील करती है। परन्तु चिकीर्षा मानव के समस्त मानसिक व्यापारों की प्रेरणा शक्ति है। साधारण प्रत्यक्ष-ज्ञान के धरातल पर हमारे पास दो जगत् हैं, एक अन्तर्जगत् और दूसरा बहिर्जगत्। दोनों ही समान रूप से विस्तार में प्रसरित हैं, इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं। कौन किस पर क्रियाशील है ? कौन किसका अनुकरण है, प्रतिबिम्ब है ? यह तत्त्ववादियों के लिए चक्कर में डालने-वाला प्रश्न है। परन्तु सहज बोध के स्तर पर हम स्वीकार कर चुके हैं कि विश्व में भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व दोनों को मानकर ही चला जा सकता है। साथ ही इसी आधार पर मानस के साथ वस्तु का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। इसलिए साधारण व्यक्ति इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया सरलता से मान सकता है। अन्तर्जगत् मानो बहिर्मुख होकर विस्तृत हो उठा है, और बहिर्जगत् मानो अन्तर्जगत् में एकाग्र हो गया है।[1] परन्तु हम अपनी दृष्टि से ही प्रकृति को देखते हैं। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव में हमारी इच्छा शक्ति की प्रेरणा प्रधान है। परिणाम स्वरूप प्रकृति पर मन की क्रियाशीलता हमारी ही क्रिया का रूप बन जाती है। लेकिन मानसिक ज्ञान और अनुभूति की स्थितियाँ हमको इस प्रक्रिया का भान अवश्य कराती हैं। अन्तर्जगत् जब बहिर्जगत् पर क्रियाशील होता है, हमको वस्तु-ज्ञान होता है। और जब बहिर्जगत् का प्रभाव अन्तर्जगत् ग्रहण करता है, उस समय वस्तु की अनुभूति होती है। इस प्रकार वस्तु से आदान रूप में जो हम ग्रहण करते हैं वह अनुभूति है, और वस्तुजगत् को जो हम प्रदान करते हैं वह वस्तु-ज्ञान है। ऊपर तत्त्ववाद के क्षेत्र में प्रकृति के जिस चेतन(सत्) रूप का उल्लेख किया गया है इससे भी इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। मानव चेतना पर जब प्रकृति की चेतना का प्रभाव पड़ता है, वह अनुभूति के सहारे 'स्व' की ओर गतिशील होता है। और जब मानव की चेतना प्रकृति चेतना के सम्पर्क में आती है उस समय उसका प्रत्यक्ष बोध मात्र होता है। यहाँ मानव और प्रकृति दोनों की चेतना तो सत् के रूप में स्वीकार की गई है, पर मानव का 'स्व' जब चेतना के साथ मिलता है तब उसमें सत् के साथ चित का योग हो जाता है। जैसे किसी पूर्व परिचित को देखकर हम उसको पहिचान लेते है, उसी प्रकार प्रकृति की चेतना (सत्) को मानव चेतना ( सत् अंश) पहिचान लेती है और जब उससे प्रतिबिम्बित होती है वह आत्म-चेतना के पथ पर आगे बढ़ती है। मानसिक चेतना को धारण करने वाला शरीर इसी सत्य को प्रकट करता है। उसमें प्रकृति के साधारण तत्त्वों को समझने के लिए विभिन्न इन्द्रियाँ हैं, या वह विभिन्न इन्द्रियों से प्रकृति को विभिन्न गुणों वाली अनुभव करता है।

---

१. दूसरे भाग के तृतीय प्रकरण में सत साधना में इस प्रकार के प्रकृति रूपों की विवेचना की गई है।

इस प्रकार प्रकृति का प्रत्यक्ष-बोध तो मन उस क्रम के आधार पर करता है, जिसको हमने इन्द्रिय-बोध के नाम से अन्तर्जगत् की बहिर्जगत् पर क्रियाशीलता कहा है और जो प्रभाव प्रकृति हमारे मन या अन्तर्जगत् पर छोड़ती है, वह हमारी अनुभूति का रूप है। परन्तु जब हम इन दोनों, ज्ञान और अनुभूति को प्रकट करना चाहते हैं, उस समय ये फोटो-चित्रों की भाँति उलट जाते हैं और परिवर्तित रूप ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् अनुभूति की अभिव्यक्ति की जाती है और ज्ञान ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः यह एक प्रकार का अनुकरण है, जिसमें मन और प्रकृति एक दूसरे में प्रतिबिम्बित दिखाई देते हैं। अन्त (मन) का अनुकरण करती हुई प्रकृति ज्ञान के रूप में दिखाई देती है और प्रकृति का अनुकरण करता हुआ अन्त अनुभूतिशील हो उठता है।

ज्ञान तथा भाव पक्ष—मानसिक चेतना से युक्त मानव अपने सामने देखता है—'हरी भरी घाटी में कल-कल करती हुई सरिता—किनारे के घने वृक्षों की पंक्ति जो उस पार के ऊँचे पहाड़ों की श्रेणी से मिल सी गई है—।' इस दृश्य को देखने की एकाग्रता के साथ उसकी मन स्थिति में चिकीर्षा निश्चित है और इससे उसके मन में दो प्रक्रियाओं का विकास सम्भव और स्वाभाविक है। रूप आकार आदि के सहारे वह जल, वृक्ष आदि को पहचानता है, इनसे उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पर्वत की दुर्गमता आदि का उसे बोध है, क्योंकि शिकार आदि के प्रसंग में उसके मार्ग में बाधायें उपस्थित होती रहती हैं। यह उसका ज्ञान-पक्ष है। परन्तु साथ ही जल की तरलता, वृक्षों का रंग रूप और पर्वत की विशालता आदि ने उसके हृदय को अनुभूतिशील किया है। और यह उसका अन्तर्मुखी अनुभूति-पक्ष है। परन्तु मानव की इन मानसिक स्थितियों का विकास एकांगी नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार ये तीनों मानसिक स्थितियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, उसी प्रकार प्रकृति के अनुकरणात्मक सम्बन्ध में ज्ञान और अनुभूति का यह रूप एक दूसरे के आश्रित और सम्बन्धित है। इनका अस्तित्व अपने आप में पूर्ण नहीं है। जब तक ज्ञान सामाजिक आधार तक विकसित नहीं हुआ उसको व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु अनुभूति आन्तरिक अनुकरण होने के कारण व्यक्ति में भी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी। इसी कारण मानव के इतिहास में विचारों से पूर्व भावना की अभिव्यक्ति को अवसर मिला है। अभिव्यक्ति की सबसे प्रबल और विकसित शक्ति भाषा का मूल भावना की अभिव्यक्ति में मिलता है। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में भाषा एक भावात्मक अभिव्यक्ति थी, जिस प्रकार नृत्य, संगीत और चित्रकला आदि का ऐतिहासिक स्रोत आदिम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में है। यह प्रारम्भिक अभिव्यक्ति बहिर्संचारियों के रूप में मानसिक अनुकरण की स्वच्छन्द क्रीड़ा मानी जा सकती है। बाद में सामाजिक वातावरण में भाषा अपने विकास के साथ प्रत्यक्ष-बोध से सीधे प्रेरणा न लेकर परप्रत्यक्षों से अधिक

सम्बन्धित होती गई। इस प्रकार वह विचारों के प्रकट करने के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगी। दूसरी ओर भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा की व्यजना का सहारा लेना पडा।[1]

पीडा तथा तोष की वेदना—यहाँ जिस विकार (राग) पर विचार किया गया है वह मानसिक प्रवाह का अग है। यह हमारी सवेदनाओ और भावो के मूल मे तो होता है, पर उनसे एक नही समझा जा सकता। और अभी तक प्रकृति के जिस भावात्मक अनुकरण की बात कही जा रही थी वह भावनाओ को उत्पन्न करने के अर्थ मे नहीं। मानस की इस प्रवृत्ति मे पीडा और तोष की भावना सन्निहित है।[2] परन्तु पीडा और तोष की सवेदना मे तथा अन्य भावो मे समानता नहीं है। केवल भावनाओ मे पीडा और तोष की सवेदना भी सन्निहित होती है। भावना और भावो के विकास मे प्रकृति का क्या हाथ रहा है, इस पर विचार तृतीय प्रकरण मे किया जायगा। यहाँ यह देख लेना आवश्यक है कि पीडा और तोष की संवेदनात्मकता से प्रकृति का क्या सम्बन्ध रहा है। प्रथम तो प्रकृति के मानसिक सम्बन्ध में यह आवश्यक भावना है, साथ ही मानव प्रकृति का अनुकरण भी इसीकी प्रेरणा से करता है। यह पीडा और तोष की सवेदनात्मक भावना मानव के नाद तथा शारीरिक सचलन से अधिक सम्बन्धित है। परन्तु प्रकृति के सचलन तथा नादो के शारीरिक अनुकरण के अतिरिक्त भी प्रकृति के रग-रूप तथा प्रकाश आदि का तोषप्रद (सुखद) प्रभाव मानव पर पडता है। अगले प्रकरणो मे यह समीक्षा की जायगी कि किस प्रकार प्रकृति के प्रारम्भिक सम्पर्कों को, जिनमे मानव की पीडा और तोष की भावना सम्बन्धित थी, कल्पना के धरातल पर कला का रूप मिल सका है। प्रत्यक्ष बोध के धरातल पर इनके साथ तोष की भावना सन्निहित है जो एक सीमा के बाद पीडा मे परिवर्तित हो जाती है। कुछ विद्वानो ने प्रकृति के रूपात्मक (राग) और ध्वन्यात्मक (नाद) सम्पर्कों को रति-भाव से सम्बन्धित मानकर ही तोषात्मक तथा आकर्षक स्वीकार किया है। एक सीमा तक यह सम्भव सत्य है। परन्तु इनमे एक प्रकार का एकाग्रता तथा गम्भीरता सम्बन्धी तोष भी सन्निहित है, जो किसी अन्य भाव की अपेक्षा नही रखता।

प्रत्यक्ष बोध—मानव के प्रत्यक्ष-बोधो के विकास मे स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद का योग उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना दृश्य तथा श्रवण का। इनके बोध मे भी पीडा और तोष की भावना सन्निहित है, परन्तु इनका सयोग सरक्षक, सहज-वृत्ति के साथ अधिक है। साथ ही पूर्वानुराग के अन्तर्गत इन बोधो का कुछ अशो मे महत्त्व

---

१ उपमानों के अलकारिक प्रयोगों में प्रकृति के रूपों की व्यजना का उल्लेख आगे किया गया है।

२ प्रचलित शब्द दु ख-सुख में शारीरिक से अधिक मानसिक बोध होता है।

है। परन्तु श्रवण के बोध, ध्वनि-नाद मे उसकी क्रमिक लय-ताल के साथ गम्भीर एकाग्रता के रूप मे भी तोष की भावना है। उसी प्रकार दृश्य मे रूप, रग, प्रकाश तथा सचलन के बोध के साथ इसी प्रकार की एकाग्र-गम्भीरता से उत्पन्न तोष की सुखानुभूति होती है। यह तोषात्मक सुख समस्त चेतना के अन्य बहिर्भावो से मुक्त हो जाने तथा आन्तरिक आत्मविभोर स्थिति के उत्पन्न होने से होता है। किसी-किसी पाश्चात्य विद्वान ने इस तोष की सवेदना को मूर्च्छना या मादक जैसी स्थिति के समान भी माना है। यह स्थिति भाव को प्रेरणा देने मे सहायक तो हो सकती है, परन्तु अपने आप मे कोई भाव नही हो सकती। इन प्रारम्भिक बोधो की उपयोगिता, उनमे सन्निहित पीडा और तोष की सवेदना के साथ, आज के कला और काव्य के क्षेत्र मे नही जान पडती। परन्तु हमारा इतिहास बताता है कि प्रारम्भिक युग से इन प्रत्यक्ष-बोधो ने मानव-जीवन तथा सस्कृति के विकास मे बहुत कुछ सहायता दी है। और काव्य तथा कला का आधार प्रमुखत यही है। प्रकाश का प्रत्यक्ष-बोध मानव मात्र को अच्छा लगता है। परन्तु प्रारम्भिक युग मे जब मानव अपनी चेतना के विस्तार को आकार और रूप देने का प्रयास कर रहा था, उसके जीवन मे प्रकाश का बहुत महत्त्व था। आत्म-सरक्षण तथा वश विकसन सहज-वृत्तियो के लिए तो इनकी उपयोगिता थी, इसके साथ ही प्रकाश के प्रत्यक्ष-बोधो मे तोष की सुख सवेदना भी सन्निहित रही है। प्रकाश के इस महत्त्व के साक्ष्य मे मानव की सूर्य और अग्नि की पूजा है। इसी के कारण प्रकाश देवत्व की महिमा से पूजित हुआ है। जगमगाते नक्षत्र-मण्डल से युक्त आकाश के प्रति मानव का आकर्षण इसीलिए रहा है। रग-रूपो के प्रति हमारा मोह आज भी वैसा ही बना है। आज की उन्नत सामाजिक स्थिति मे रग रूप के प्रत्यक्ष-बोधो मे कितनी ही प्रवृत्तियो तथा भावनाओ का समन्वय मानसिक स्थिति मे हो चुका है। परन्तु प्रारम्भिक युग से ही रूप रग का यह आकर्षण पूर्वानुराग की तोष-सवेदना के अतिरिक्त किसी अन्य तोष की सुख-सवेदना से सम्बन्धित रहा है। रगो का भान उसकी विविधता पर स्थिर है जो अपने विभिन्न छायातप मे तोष है। इसी प्रकार रूप स्थान की विभिन्न स्थितियो के अनुपात के आधार पर ही स्थिर होता है। इसके प्रति मानव अपनी भ्रमपूर्ण धारणा मे भी तोष प्राप्त करता है। सचलन का आधार दिक्-काल दोनो ही हैं। प्रवाह के एकोन्मुखी सचलन मे तन्मयता की तुष्टि अवश्य रहती है। जिस प्रकार ध्वनि का मानसिक अनुकरण सगीत के स्वरो के लय-ताल पर चलता है, उसी प्रकार सचलन, मानसिक अनुकरण से शारीरिक अनुकरण मे परिवर्तित होकर, हमारे नृत्तो के केन्द्रीभूत सचलन के रूप मे अवतीर्ण हुआ है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का प्रत्यक्ष

१—लेखक के नाटक-सम्बन्धी लेखों में से 'नाटकों की उत्पत्ति' नामक लेख में इस विषय की अधिक विवेचना की गई है (परिजात, जून '४७ ई०)

सम्पर्क मानव की सरक्षण और वश विकसन सहजवृत्तियों के लिए प्रेरक तथा उपयोगी है ही, साथ ही यह सम्पर्क अनुकरणात्मक स्थिति म भी तोष का कारण हो सकता है। यह प्रकृति का अनुकरण शारीरिक या मानसिक दोना ही हो सकता है। प्रारंभिक सहजवृत्तियो के आधार पर आगे चलकर *विभिन्न प्रवृत्तियो तथा भावो का* विकास हुआ है। इस विकास के साथ अनुकरण म सन्निहित तोष की सुखानुभूति का समन्वय चलता रहा। और मानव के काव्य तथा कला के क्षेत्र म इसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण अब भी मिलता है।

परप्रत्यक्ष का स्तर---मानसिक चेतना के विकास मे प्रत्यक्ष बोध के बाद स्मृति और सयोग के आधार पर परप्रत्यक्ष का स्तर आता है। इस स्थिति म परप्रत्यक्षा की स्पष्ट रूपरेखा और उनका अलग अलग सयोग ज्ञान आवश्यक है। इनमें भी सामाजिक विकास के साथ भाव रूप और विचार का भेद हो जाता है। प्रकृति सम्बन्धी परप्रत्यक्ष जब विचारात्मक होते हैं उस समय हमारा सामाजिक दृष्टिकोण प्रमुख होता है और यह हमारे मानवीय प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ मानवीय प्रयोजन का अर्थ सामाजिक प्रयोजन है। इस प्रकार जब हम प्रकृति का विचार करते हैं उस समय उसका कोई स्वरूप हमारे सामने आना आवश्यक नही है। हम कहते हैं मोहन गगा के पुल से उस पार गया, और इस स्थिति मे केवल हमारे प्रयोजन का बोध होता है। इस कथन म गगा के प्रवाह तथा उसके पुल की दृश्यात्मकता से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। जब हम कहते हैं— देवदारु के वनो की लकडी' उस समय हमारे सामने लकडी का सामाजिक उद्देश्य मात्र है। इस प्रकार विचार के तार्किक क्रम म प्रकृति प्रयोजन का विषय मात्र रह जाती है। इसकी ओर इसी प्रकरण के पिछले अनुच्छेदो मे दूसरे प्रकार से सकेत किया जा चुका है। परन्तु भाव रूप परप्रत्यक्षो म हम प्रकृति को फिर सामने पाते हैं इस स्थिति मे प्रकृति अपने रूप रग ध्वनि नाद तथा गन्ध आदि गुणो मे दृश्यमान् हो उठती है। जीवन के साधारण क्रम मे आज इसकी उपयोगिता न भी हो परन्तु विशेष अवसर और स्थितियो म इसका महत्त्व अवश्य है। सामाजिक वातावरण से ऊबकर या थककर मानव अपने जीवन मे प्रकृति के सम्पर्क से आज भी शान्ति चाहता है। इसी प्रकार भाव रूप परप्रत्यक्षो का भी कलात्मक महत्त्व है। इसी रूप म प्रकृति की सुप्त चेतना से सम उपस्थित करने के लिए चित्रकार तूलिका से प्रकृति को रग रूपो म छायातप के सहारे उतारना चाहता है, सगीतकार स्वर और गति की ताल-लय म प्रकृति के स्वर-सचलन का अनुकरण करता है और कवि अपनी भाषा की व्यजना शक्ति द्वारा उसे सप्राण और व्यक्त उपस्थित करता है। पचम प्रकरण म प्रकृति चित्रण के विषय म विभिन्न शैलिया का उल्लेख हुआ है। तथा द्वितीय भाग मे भी चित्रण सम्बन्धी उल्लेखो मे

इस प्रकार की शैलियो का सकेत किया गया है। हम देखेंगे कि इनमे प्रकृति के वर्णनात्मक रूपो की योजना भाव-रूप परप्रत्यक्षो के सहारे ही की गई है।

कल्पना का योग (कला)—प्रकृति के वर्णनात्मक प्रतिबिम्ब को उसके भावात्मक अनुकरण के साथ चित्रित करने के लिए केवल परप्रत्यक्ष ही यथेष्ट नही है। उसके लिए कल्पना का स्वतन्त्र योग भी आवश्यक है। स्मृति और सयोग के आधार पर परप्रत्यक्ष मे न तो प्रत्यक्ष की पूर्णता होती है और न भावात्मक प्रभावशीलता की उतनी शक्ति ही। स्मृति से कल्पना अधिक उन्मुक्त है, उसमे दिक् और काल का सीमित बन्धन नही रहता। प्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष के नियमो मे भी मौलिक अन्तर है, जब कि कल्पना से प्रत्यक्ष की अधिक समानता है। कल्पना मे हम अपने अनुरूप रूप-रग भर लेते हैं और छायातप प्रदान करते हैं। इसी कारण कल्पना का रूप प्रत्यक्ष भावना से अधिक निकट रहता है। तथा वह अधिक स्पष्ट रूप मे उपस्थित होता है। काव्य के प्रकृति चित्रण मे कभी यह कल्पना प्रत्यक्ष से नितान्त भिन्न लगती है। परन्तु अपने कलात्मक सौन्दर्य मे ये चित्र अधिक सुन्दर लगते हैं। इसका कारण प्रत्यक्ष और कल्पना की विभिन्न प्रेरक शक्तियो का होना तो है ही साथ सौन्दर्यानुभूति की अपनी भाव-स्थिति भी है। इसके बारे मे चतुर्थ प्रकरण मे कहा गया है। यहाँ एक बात की ओर ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक है। समाज के विकास के साथ मानव और प्रकृति के सम्बन्धो मे अधिक विषमता आ गई है जिसको हम प्रारम्भिक रूपो के आधार नही समझ सकते। और एकान्त रूप से अन्य भावो के विकास के आधार पर मानव और प्रकृति के सम्बन्ध की व्याख्या भी नही की जा सकती। यह विषय अन्यत्र अधिक विस्तार से उपस्थित किया जायगा, यहाँ तो इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि भौतिक प्रकृति यदि जड है तो चेतन भी है। केवल उसकी चेतना मे स्वानुकरण की चेष्टा अवश्य नही है। मानव स्वचेतनशील प्राणी है और उसमे स्व या आत्मानुकरण की चेतना भी विद्यमान है। वह अपनी चेतना के विकास मे प्रकृति को अपने दृष्टिकोण से देखने का अभ्यस्त हो गया है। उसकी चेतना सामाजिक चेतना की ही अग है। इसलिए अपनी सामाजिक समष्टि मे वह प्रकृति को जड और अपने प्रयोजन का साधन समझता है। परन्तु अपनी व्यक्तिगत चेतना मे वह प्रकृति से अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब के रूप मे सम भी उपस्थित करता है। इस प्रकार प्रकृति मानव के ज्ञान का आधार तो है ही साथ ही उसके अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब मे मानव के सुख-दुख की भावना भी सन्निहित है। यह भावना जैसा हम आगे देखेंगे सामाजिक आधार पर भावो के विकास के साथ अधिक विषम और अस्पष्ट होती गई है।

१—सस्कृत साहित्य में इस प्रकार के अधिक सुन्दर चित्रण मिलेंगे; हिन्दी साहित्य के मध्य-युग में इस प्रकार के कलात्मक चित्रण रूढिवादी ही अधिक हैं, पर इनका नितांत अभाव नहीं है।

## तृतीय प्रकरण

# मानवीय भावों के विकास में प्रकृति

मानवीय अनुभूति—साधारण मानसिक धरातल पर राग या संवेदन हमारी चेतना का अंश है। यह संवेदन बोध के प्रत्यक्षों तथा चिकीर्षा के साथ मिलकर मानसिक जीवन की समस्त अभिव्यक्ति है। मानसिक चेतना के बोधात्मक विकास पर विचार किया गया है—साथ ही प्रत्यक्ष तथा कल्पना के प्रकृति रूपों से सम्बन्धित संवेदनात्मक पक्ष का भी विश्लेषण हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में मानस के भावात्मक पक्ष पर विचार किया जायगा। यह भावना हमारी मानसिक प्रक्रिया के संवेदन पक्ष का ही स्पष्ट और विकसित रूप है। मानव-मानस का विकास केवल शुद्ध प्रत्यक्ष, कल्पना और विचार के सहारे सम्भव नहीं हो सका है। वस्तुतः यदि इसी सरल रीति पर मानवीय मानस का विकास सम्भव होता तो मानस की समस्त विषमता प्रत्यक्षों और विचारों की संख्या में ही निहित रहती। मन की इस प्रकार की विषमता इतिहास में एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास लगभग समान आधार पर चलती आती, क्योंकि मस्तिष्क और प्रकृति का स्वरूप युग युग से वैसा ही चला आ रहा है। मानसिक विषमता का कारण मानस के राग, बोध तथा चिकीर्षा की क्रिया-प्रतिक्रिया है। जीवधारियों की विकास-शृंखला में ज्ञान के सहारे ही मानव का स्थान अलग और श्रेष्ठ है। परन्तु मानव जीवन का प्रमुख तथा महत्वपूर्ण सत्य उसके मानस की विषमता तथा उसकी इच्छा शक्ति की प्रेरणा है। मानस के मानवेतर स्तर पर पशु-पक्षी सभी अपनी प्रमुख सहज-वृत्तियों के सहारे अपने निश्चित स्वभाव की पथ रेखा पर जीवन यापन करते हैं। इनमें जिस प्रकार बोधन इन्द्रियवेदन तक ही सीमित है, उसी प्रकार संवेदन का स्तर भी सहजवृत्ति तथा इच्छा केवल प्रेरणा तक निश्चित है। परन्तु मानव के मानस में इन्द्रियवेदन का जो सम्बन्ध प्रत्यक्ष-बोध से है, वही सम्बन्ध संवेदन का भाव से समझा जा सकता है।[1] जैसा कहा गया है विकास में इन तीनों का प्रति-

१ संवेदनात्मक क्रम में भाव उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रत्यक्ष-बोध विचारात्मक क्रम में। रिबेर, 'दि साइकॉलोजी ऑव दि इमोशन्स' के इन्ट्रोडक्शन से (पृ० १६)

क्रियात्मक सम्बन्ध तो रहा ही है, साथ ही भावात्मक स्थितियों मे विकास के साथ विषमता और दुर्बोधता आती गई है। आज जिन प्रत्यक्ष और विचार बोधो का हम कल्पना मे सहारा लेते हैं, वे सैकड़ो वर्ष पूर्व भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते थे ऐसा नही कहा जा सकता। मानव-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान दोनों से यह सिद्ध नही होता। मानसिक चेतना के इस रूप तक आने मे सवेदनात्मक भावो का महान योग रहा है, और इस सीमा पर मानस की भावात्मकता मे विचार तथा कल्पना की भी अपेक्षा रही है। पिछले प्रकरणो मे मानव की समस्त चेतना का प्रश्न साधारणतः दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे मानवीय भावो पर अपनी विवेचना केन्द्रित करनी है। इस कारण यहाँ मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का अधिक आश्रय लिया गया है। हमारी विवेचना का प्रमुख विषय मनोभावो के विकास मे प्रकृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध देखना है।

## जीवन में संवेदन का स्थान

**सवेदन का व्यापक अर्थ**—सवेदन अपने व्यापक अर्थ मे प्रभावशीलता है। यह विश्व के समस्त जड-चेतन जगत् मे देखी जा सकता है और यही सर्जन की आन्तरिक प्रेरणा शक्ति माना जा सकता है। सृष्टि की क्रिया, गति, उसका सचलन तो कार्य मात्र है पर यह प्रभाव कारण और परिणाम दोनो ही माना जा सकता है। जब तक क्रिया के मूल मे और प्रतिक्रिया के परिणाम मे, किसी प्रभावात्मक शक्ति को नही स्वीकार करते, न्याय-वैशेषिको की समस्त पदार्थ और द्रव्यो की व्याख्या हमारे सम्मुख सृष्टि-सर्जन का रूप उपस्थित नहीं कर सकती। साख्य-योग की प्रकृति पुरुष से बिना प्रभावित हुये (ज्ञान की सीमा मे) महत् की ओर नही बढ सकती। तत्ववाद के क्षेत्र से हटकर हम पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के आधार पर भी इसी निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। एक पदार्थ-तत्त्व जब दूसरे पदार्थ-तत्त्व के साथ क्रियाशील होकर प्रभावित होता है, उस समय एक नवीन पदार्थ-तत्त्व का निर्माण होता है। यही बात रासायनिक प्रतिक्रियाओ मे ऐसे ही घटित होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति जगत् को सवेदनात्मक सिद्ध किया है। और यह तो साधारण अनुभव की बात है—धूप के ताप मे पादप किस प्रकार मुरझा जाते हैं; पानी पाकर लताएँ किस प्रकार लहलहा उठती हैं और छुईमुई लता का सकोच तो वनस्पति-जगत् में नव-वधू जैसी सलज्ज शालीनता का उदाहरण है। जिस सीमा तक जीवन मे अचेतन स्थिति रहती है, उसमें भी शारीरिक प्रभावशीलता रहती है, और इसी को चेतन-स्थिति की भावात्मकता की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। इन्द्रियवेदन मे किसी प्रभाव को ग्रहण करने की तथा प्रतिक्रिया करने की शक्ति होती है। हम जो मानवीय चेतना की स्थिति

में संवेदन तथा भावना की बात कहते हैं वह मानवीय दृष्टि का अपने को प्रधानता देने के कारण ही।

**आकर्षण और उत्क्षेपण** (क)—हम चेतना की पूर्ण विकसित स्थिति के पूर्व, पिंड में दो प्रवृत्तियाँ पाते हैं। एक भौतिक-रासायनिक प्रवृत्ति जो आकर्षण के रूप में मानी जा सकती है, और दूसरी पिंड की आन्तरिक प्रवृत्ति जो उत्क्षेपण कही जा सकती है। ये दोनों हमारे भाव-जगत् के मौलिक आधार के दो सिरे हैं। इस अर्थ में पिंड के जीवन में आकर्षण का महत्त्व शोषण और पोषण क्रिया के रूप में है। यौन सम्बन्धों की *प्रत्यक्ष स्थिति तक यह आकर्षण अवश्य कुछ दूसरे प्रकार का हो जाता* है, और इस स्थिति में निश्चय ही चेतना के कुछ उच्च-स्तर का सम्बन्ध है। इसी प्रकार पिंड के द्वारा अपने आवश्यक तत्त्वों को ग्रहण करने के बाद अन्य अनावश्यक पदार्थ के त्याग-को उत्क्षेपण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पिंड की इसी प्रकार की आन्तरिक प्रभावशील प्रक्रिया के आधार पर हमारी चेतना की सवेदनात्मकता स्थिर है। पिंड शरीर के रूप म इन्द्रिय चेतना को प्राप्त करके अपनी आन्तरिक प्रक्रिया म बढा है। परन्तु इसका अर्थ यहां यह नही लगाना चाहिए कि हम शरीर की आन्तरिक प्रक्रिया के आधार पर मानसिक सवेदना की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ शारीरिक पूर्णता के समानान्तर चेतना के विकास की बात ही कही गई है और प्रारम्भ मे स्वीकार किया गया है कि सहज बोध शरीर और मन को स्वीकार करके चलता है।

**शारीरिक विकास**—शरीर के विकास मे जीव के स्तर को रागात्मक सवेदन के मूल मे जीवन और सरक्षण की सहजवृत्ति पाई जाती है। चेतना के मानसिक स्तर की सम्भावना के पूर्व य सहजवृत्तियाँ शरीर से सम्बन्धित हैं और ये सहज प्रेरणा के अनुरूप अपना कार्य करती रहती हैं। इस स्थिति मे जीवन शारीरिक प्रक्रिया मे स्वय ही अपनी रक्षा का भार वहन करता है, उसमे बाह्य प्रभावो को अपने अनुरूप ग्रहण करने की *तथा उनके अनुसार कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। यह जीवन की* स्थिति निम्नश्रेणी के पशुओं मे ही नहीं वरन् मानव-शरीर के विषय में समझी जा सकती है। मानव-शरीर स्वय पूर्ण आन्तरिक एकता मे स्थिर है और अपनी आन्तरिक वेदनाओं मे क्रियाशील है। यह शरीर की आन्तरिक वेदना की स्थिति मानवीय चेतना से सम्बन्धित अवश्य है पर उसका ही भाग नहीं कही जा सकती। शरीर की आन्तरिक वेदना किसी प्रकार की बाह्य-स्थितियों के प्रभाव का परिणाम नहीं है। कहा जाता है य आन्तरिक वेदनाएँ जीवन की सहजवृत्ति के रूप मे बिना किसी बाह्य कारण के, इन्द्रिय-वेदन के आधार के न होने पर भी, भौतिक पीडन और तोष की अनुभूति का स्रोत हैं। यहाँ दुःख-सुख शब्दों का प्रयोग इस कारण नहीं किया गया है कि इनमें मानसिक पक्ष अधिक है। वस्तुत. ये शब्द अग्रेजी प्लेज़र और पेन के पर्यायवाची

शब्द नही हैं। यहाँ एक वात पर विचार कर लेना आवश्यक है। अभी कहा गया है इस शारीरिक पीडन और तोप की अनुभूति के साथ किसी वाह्य प्रेरक की आवश्यकता नही है। परन्तु प्रश्न है कि क्या किसी प्रकार का वाह्य प्रकृति से इसका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। वस्तुत जीवन की किसी स्थिति मे आन्तरिक-वेदना से सम्बन्धित पीडन और तोप की प्रेरक वाह्य प्रकृति न भी हो, परन्तु इन्द्रिय वेदनाओ की प्रेरणा मे मानव ने जब अपने जीवन मे प्रकृति के कुछ उपकरणो का प्रयोग किया, तब से शारीरिक तोप और पीडन से प्रकृति का सम्बन्ध एक प्रकार से स्थापित हो गया। यद्यपि यह उस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है जो सवेदन का प्रत्यक्ष वाह्य प्रेरकों से होता है। ये वाह्य प्रेरक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ भावो को उत्पन्न करने का भी श्रेय रखते हैं। परन्तु जब वाह्य-प्रेरक के रूप मे प्रयुक्त होने वाले प्रत्यक्षो का सयोग प्रकृति की वस्तु-स्थितियो से होता गया और मानस के विकास के साथ इन्होंने परप्रत्यक्ष तथा कल्पना का रूप ग्रहण कर लिया, तब इनका सम्बन्ध अन्तर्वेदनाओ से भी स्वत हो गया और इस प्रकार अन्तर्वेदनाएँ मानसिक स्तर से अधिक सम्बन्धित हो सकी हैं। वर्तमान मानस-शास्त्री क्षुधा को मानसिक स्तर पर भाव मानते हैं जो इसी प्रकार की सहजवृत्ति पर आधारित है।[1] भूख प्यास के साथ अस्पष्ट भोज्य पदार्थ और पानी की तृष्णा तो होगी ही। आज भोज्य पदार्थ का भूख के साथ और पानी का प्यास के साथ सम्बन्ध अटूट सा है। यही नही विकास की एक स्थिति मे नदी को देखकर प्यासा अपनी तृष्णा को अधिक स्पष्ट रूप से सवेदित करता होगा, और शिकार को देख कर उसकी क्षुधावृत्ति भी सवेदित हो उठती होगी। इसी प्रकार शयन की प्रवृत्ति के साथ आदि मानव के लिए रात्रि का सम्बन्ध तथा अपनी अंधेरी गुफा का रूप अधिक व्यक्त होता गया और उसकी श्रांति के साथ दुर्गम पथ तथा वृक्षो की शीतल छाया का सयोग भी किसी न किसी रूप म होता गया। मिथ शास्त्र के अध्ययन करने वाले विद्वानो ने एक ऐसे समय की कल्पना की है जिसमे मानव अपनी इन अन्तर्वेदनाओ को प्रकृति के हृदयात्मक सयोगो के रूप में ही समझता था। इस स्थिति म वह अपने को प्रकृति से पूर्ण रूप से अलग नही कर सका था।

**सुख-दु ख का सवेदन**—पहले कहा गया है कि सुख-दु ख शब्द मानसिक सवेदन से अधिक सम्बन्धित हैं। शारीरिक तोप और पीडन की अनुभूति आन्तरिक सवेदनात्मक स्थिति कही जा सकती है। यह चेतना के सम और विषम शक्ति प्रवाह से सम्बन्धित सुख-दु ख के समान ही शारीरिक अनुरूपता के सम और विषम शक्ति प्रवाह का द्योतक है। कुछ मानस शास्त्रियो का मत रहा है कि हमारी इन्द्रिय-वेदनाओ मे ही तोप-पीडन की अनुभूतियाँ सन्निहित रहती हैं और ये विशेष प्रकार के स्नायु-तन्तुओं

१ इस विषय पर मेक डूगल का मत देखना चाहिए।

पर निर्भर हैं। परन्तु सर्वमान्य मत इसके विरुद्ध है। इसके अनुसार इन्द्रिय-वेदना के साथ तोप और पीडन की अनुभूति तो मान्य है पर वह उसकी शक्ति, गम्भीरता और समय आदि पर निर्भर है। इसीको इस प्रकार सरलता से समझा जा सकता है। हम देखते हैं, जो इन्द्रिय-वेदना समय की एक सीमा और स्थिति में तोषप्रद विदित होती है, वही परिस्थितियो के बदलने पर पीडक हो सकती है। इस प्रकार प्रत्येक भाव की अनुभूति में सुख-दुःख की सवेदना भी सन्निहित रहती है और सुख-दु ख (तोप और पीडन के रूप मे) स्वय मे कोई भाव नही कहे जा सकते। अभी तक हम जिस तोष और पीडन का उल्लेख कर रहे थे वह शारीरिक अन्तर्वेदनाओ से सम्बन्धित है अथवा इन्द्रिय-वेदनाओ से। इन्द्रिय-वेदन मानस की बहुत प्रारम्भिक स्थिति में विशुद्ध रहते हैं, नही तो वे प्रत्यक्ष बोध का रूप ग्रहण कर लेते हैं। तोप और पीडन की जो सुख-दु खात्मक अनुभूति इन्द्रिय वेदनाओ से सम्बन्धित है, वह प्रत्यक्ष-बोध से भी सम्बन्ध उपस्थित कर लेती है और फिर यह एक स्थिति आगे परप्रत्यक्षीकरण द्वारा विचार और कल्पना से सम्बन्धित हो जाती है। यही सवेदन भावो के विकास मे सौन्दर्य्यानुभूति के मूल मे भी है। यद्यपि सौन्दर्य्यानुभूति मे कितने ही भावो की प्रत्यक्ष-स्थितियो का प्रभाव और सयोग है, जिस पर बाद मे विचार किया जायगा। कोमल-कठोर स्वर, सुगन्ध-दुर्गन्ध, मधुर-कर्कश स्वर, मीठा-तीता स्वाद तथा प्रकाश और रगो के विभिन्न छायातप आदि इन्द्रिय वेदनाओ के साथ सुख-दुखात्मक सवेदन सन्निहित है। बाद मे ये अनुभूतियाँ ही प्रत्यक्षो के आधार पर सौन्दर्यानुभूति के विकास मे सहायक हुई हैं।

सहजवृत्ति का स्तर (ब)—जिन शारीरिक अन्तर्वेदना और इन्द्रिय-वेदना की अनुभूति के बारे मे कहा गया है, इन दोनो का सामूहिक रूप से सरक्षण की सहजवृत्ति से सम्बन्ध है। जिस प्रकार हम यहाँ प्रत्येक स्थिति को अलग-अलग करके उन पर विचार कर रहे हैं, वस्तुत. मानसिक जगत् मे ऐसा होता नही। मानसिक व्यापार समवाय रूप से चलते हैं। परन्तु विवेचना करने का और कोई मार्ग नही है। इस कारण इस सत्य को सदा ध्यान मे रखना चाहिए। यहाँ इन अनुभूतियो का बाह्य प्रकृति की वस्तु-स्थितियो से क्या सम्बन्ध हो सकता है इस पर विचार किया गया है। निम्नश्रेणी के मानसिक स्तर वाले पशु और पक्षियो मे ये दोनों स्थितियाँ पाई जाती हैं और उनके जीवन के लिए इनका सयोग महत्त्वपूर्ण है। इनमे चिकीर्षा की निश्चयात्मक शक्ति नही होती, जिससे किसी उद्देश्य की ओर क्रिया की प्रेरणा हो। ये केवल सहजवृत्तियो से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति मे शारीरिक अन्तर्वेदना से प्रेरित होकर वे भोजन आदि खोजने मे प्रवृत्त होते हैं और उनकी भोजन आदि की खोज मे इन्द्रिय-वेदन की अनुभूति सहायक होती है। उनकी यौन सवन्धी प्रवृत्ति का भी सम्बन्ध इसी प्रकार

इन्द्रिय-वेदन से समझा जा सकता है। इस सत्य का प्रतिपादन पशु-पक्षियो के विशिष्ट रग-रूपो के प्रति आकर्षण से होता है। जानवरो मे उन रग-रूपों का विशेष आकर्षण पाया जाता है जो उन फूल-फल आदि वनस्पतियो अथवा पशुओ से सम्बन्धित है जिन पर वे जीवित रहते है।[1] इस प्रकार की सम्बन्ध-परम्परा मानव-स्तर के मानस मे भी पाई जाती है, क्योकि मानवीय मानस के विकास मे कितने ही रूपो की प्रतिक्रिया चलती आ रही है। फिर भी मूलतः मानवीय मानस मे वस्तुओ के आकार-प्रकार, रूप-रग तथा स्वाद आदि के साथ सुख-दुःख की संवेदना का सम्बन्ध उसकी भोजन आदि सहज वृत्तियो के आधार पर हुआ है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

## प्राथमिक भावों की स्थिति

**प्रवृत्ति का आधार**—ऊपर जिन वेदनाओ की सुख-दुःखात्मक सवेदना मे प्रकृति-रूपो के सम्बन्धो की व्याख्या की गई है, वे भावो की पूर्णता मे अपना स्थान रखती हैं। परन्तु मानसिक विकास के साथ भावो की निश्चित रूप-रेखा सहजवृत्तियो के आधार पर बन सकी है। जीवन के साधारण अनुभव मे हम देखते हैं कि पशु-पक्षियो का जीवन इन सहजवृत्तियो के आधार पर सरलता से चल रहा है। और अपने जीवन की पूर्ण प्रक्रिया मे वह मानव-जीवन के समानान्तर भी है। देखा जाता है जरा से खटके से चिड़िया उड जाती है। उनको आपस मे लडते भी देखा जा सकता है। पशु पक्षियो मे अपने बच्चो के प्रति रक्षात्मक ममता की सहजवृत्ति भी होती है। बहुत से पशुओ मे सहचरण के साथ सहायता देने की सहजवृत्ति भी देखी जाती है। शिकार और भोजन की खोज तो सभी करते हैं। अपने नीड के निर्माण मे अनेक पक्षी कलात्मक सहजवृत्ति का भी परिचय देते हैं। इस प्रकार प्रकृति-जगत् मे पशु पक्षी सहजवृत्तियो के स्वाभाविक आधार पर अपना अस्तित्व स्वत. रक्षित रखते हैं। परन्तु मानव का मानस इन सहजवृत्तियो के आधार पर भावो की विकसित स्थिति को प्राप्त करता है और जैसा पिछले प्रकरण मे कहा गया है उसमे बोध का अश भी समन्वित होता है। पहले सकेत किया गया है मनस्-चेतना मे भावो के साथ सुख दुःख का सवेदन भी सम्मिलित है, जिससे इच्छा शक्ति को प्रेरणा मिलती है। यह इच्छा मानसिक चेतना का एक भाग कहा गया है। आगे इस बात पर विचार किया जायगा कि प्रमुख भावो के विकास मे प्रकृति का क्या योग रहा है और इस प्रकार मानवीय भावो मे प्रकृति का रूप निश्चित किया जा सकेगा। यथासम्भव भावो के इस विकास को क्रमिक रूप से उपस्थित करने का प्रयास किया जायगा। हम अपनी विवेचना मे देखेंगे कि कुछ

---

१. ग्रेट एलन की पुस्तक 'दि कलर सेंस' का 'इन्सेक्ट्स ऐंड फ्लावर' नामक चतुर्थ प्रकरण इस विषय में पठनीय है।

भावों से प्रकृति का सीधा योग है और कुछ से अन्य प्रकार से।[१]

भय—विकास के आदि-युग में हम मानव की प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति के साथ नितान्त अकेला और जीवन-संग्राम में संलग्न पाते हैं। जीवन-यापन की प्राथमिक आवश्यकता के साथ भोजन की खोज सम्बन्धी उसकी सहजवृत्ति निम्नस्तर के जीवों के समान ही होगी। इसके साथ प्रत्यक्ष-बोध और भावात्मक संवेदना का समन्वय किस प्रकार हुआ है यह पहले ही कहा जा चुका है। साथ ही उसे चारों ओर से घेरे हुए प्रकृति का बोध होना आरम्भ हुआ। जीवन संरक्षण के लिए पलायन की प्रवृत्ति ने बाह्य-जगत् के प्रत्यक्ष-बोध के साथ उसमें भय की भावना उत्पन्न की। यह भय का भाव केवल संरक्षण की सहजवृत्ति को लेकर ही हो, ऐसा नहीं है। अपने सामने जगत् के प्रत्यक्ष-बोधों को बिखरा पाकर, उसके आकार-प्रकार, रंग-रूपों तथा नाद ध्वनियों को समन्वित और स्पष्ट रूप-रेखाओं में वह नहीं समझ सका। इस कारण प्रकृति के प्रति उसको एक *अज्ञात भय* का भाव घेरे रहता था। *प्रकृति का अस्पष्ट बोध मानव के भय का कारण था,* यद्यपि जीवन संरक्षण के साथ वह भाव सम्बन्धित रहा है और उससे प्रेरणा भी ग्रहण करता रहा है। प्रत्यक्ष-बोध के इस अस्पष्ट युग में भयभीत मानव अपनी रक्षा के लिए अन्य जीवों से अधिक आकुल विदित होता है। इस बात का साक्ष्य उसके परप्रत्ययों से मिलता है। मिथ-युग के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रारम्भ में भय का कारण बाह्य प्रकृति का अस्पष्ट प्रभाव था। यह कहना भ्रामक है कि ज्ञान से भय उत्पन्न होता है, अपनी प्राथमिक स्थिति में वह अज्ञान से ही सम्बन्धित है।

क्रोध—इसके अनन्तर जीवन यापन और संरक्षण की दूसरी शृंखला आती है, जिसमें संघर्ष या युद्ध की सहजवृत्ति अन्तर्निहित है। पशु भी भोजन अथवा यौन आदि के सम्बन्ध में संघर्ष करते देखे जाते हैं तथा संरक्षण के लिए युद्ध करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी सहजवृत्ति के साथ क्रोध का भाव सम्बन्धित है। मानव में भी क्रोध-भाव का विकास इसी सहजवृत्ति के आधार पर माना जाता है। युद्ध की प्रवृत्ति आक्रमण के रूप में प्रस्तुत होने पर क्रोध के भाव में प्रकट होती है और यह भाव मानवीय मानस के धरातल पर भय तथा कठिनाइयों को अतिक्रमण करने के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार इस भाव का सम्बन्ध बाह्य-प्रकृति के रूपों से सम्भव है। क्योंकि बाह्य वस्तुओं और स्थितियों से उत्पन्न भय की भावना तथा कठिनाइयों के बोध का प्रतिक्रियात्मक भाव क्रोध कहा जा सकता है। इसी से आक्रमण की प्रेरणा भी मिलती है।

सामाजिक भाव—भावों के विकास की इस सीमा तक व्यक्ति और समाज की मानसिक स्थिति की कल्पना स्पष्ट रेखाओं में नहीं की जा सकती। इस सीमा पर

---

१. इसी प्रकार काव्य में उपस्थित प्रकृति रूपों की स्थिति भी है। आगे भय का विवेचना से यह स्पष्ट हो सकेगा।

'ग्रह' की मान्यता मे आत्म-भाव का विकास भी नही माना जा सकता। वस्तुतः समाज की सहजवृत्ति को आत्मवृत्ति से पूर्व का मानना चाहिए; या कम से कम इन्हे समान रूप से विकसित माना जा सकता है। परन्तु मानव-शास्त्र के साथ प्रयोगात्मक मानस-शास्त्र के आधार पर विचार करने पर ये दोनो स्थिति इस क्रम से विदित होती हैं, पर दोनो भाव इस क्रम से विकसित नही माने जा सकते। सामाजिक भाव के विकास मे सहचरण तथा सग्रहेच्छा आदि अनेक सहजवृत्तियो की प्रेरणा रही है। परन्तु सामाजिक भाव में अपत्य-भाव प्रमुख है, इसमें माता-पिता की अपने सतान के सरक्षण की भावना बद्धमूल है और इसके साथ ही कोमलता के भाव का विकास माना जा सकता है, जिसको हम कृपा या दया आदि के मूल मे मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन भावो का सम्बन्ध प्रकृति के प्रभावात्मक रूप से नही है। एकाकीपन और असहायावस्था के भावो मे प्रकृति का किसी प्रकार का सीधा सम्बन्ध नही माना जा सकता। परन्तु व्यापक रूप से प्रकृति एकाकीपन और असहायावस्था, दोनो को वातावरण तथा परिस्थिति का रूप अवश्य प्रदान करती है। इसी प्रकार विकास के उन्नत-क्रम पर सहानुभूति तथा कोमलता आदि भाव प्रकृति की अनुभूति के साथ मिल-जुल गए हैं। और आज उनको अलग करके नही देखा जा सकता। इन समस्त भावो का विकास सहानुभूति के रूप मे व्यापक प्रकृति मे अपने सजातीय की खोज और साथ रहने की प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। मानसिक विकास मे मानव प्रकृति को भी एक स्थिति मे सामाजिक भावो के सम्बन्ध मे देखता है। परन्तु यह बाद की स्थिति है और हम देखेंगे कि काव्य मे इस प्रकृति-रूप का महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है।[१]

**आश्चर्य तथा अद्भुत-भाव**—मानसिक चेतना मे इन भावो के साथ बोधात्मक विकास भी चल रहा था। बोधात्मक प्रत्यक्षो के अधिक स्पष्ट होने से आश्चर्य तथा अद्भुत भावो का विकास हो सका। इस स्थिति मे प्रत्यक्ष-बोधो का विकास एक सीमा तक स्वीकार करना पडता है। क्योकि भय से अलग, स्पष्ट आकार-प्रकार के बोध द्वारा यह भाव उत्पन्न माना जाता है। पहले प्रकृति के आकार-प्रकार, रग-रूप आदि की व्यापक सीमाएँ एक प्रकार का अस्पष्ट सदिग्ध बोध कराती थी। यह मानव की चेतना पर बोझा था। धीरे-धीरे प्रकृति का रूप प्रत्यक्ष रूप-रेखाओ मे तथा स्पष्ट कल्पना-रूपो मे सम्बद्ध होकर आने लगा। पहले जो प्रकृति मानव को भय से आकुल करती थी, अब वह आश्चर्य से स्तब्ध करने लगी। इस प्रकार इस भाव का सम्बन्ध प्रकृति के सीधे रूप से है और ज्ञान की प्रेरक-शक्ति भी यह भाव है। परन्तु इस भाव

१. द्वितीय भाग के प्रथम प्रकरण में उल्लेख किया गया है कि सस्कृत के काव्य शास्त्री प्रकृति में इन भावों के आरोप को भावाभास और रसाभास मानते है। परन्तु प्रकृति पर यह आरोप भी मानवीय मनःस्थिति का परिणाम है, इस कारण उनका यह विचार भ्रामक है।

में जो एक प्रकार का स्वस्थ आह्लाद है यह सुख-संवेदना की तीव्रता पर निर्भर नहीं है। यह सुख-दुःख की सम स्थिति पर अधिक आधारित है। इस सम-स्थिति से उसकी सामान्यता में कोई भेद नहीं पड़ता। इस प्रकार के शान्त-भाव को पाश्चात्य प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार किया है। भारतीय तत्त्ववादियों तथा साहित्याचार्यों ने भी शान्त को रस के अन्तर्गत मानकर यह भाव स्वीकार किया है। आगे प्रकृति के आलंबन तथा उद्दीपन रूपों की व्याख्या करते समय इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। परन्तु इस विषय में यह समझ लेना चाहिए कि विकास में चेतना की यह भाव स्थिति अन्य मानसिक रूपों में मिलती रही है।

**आत्म-भाव या अहंभाव**—प्रारम्भिक युग में 'अहं' की आत्म-भावना को इस प्रकार नहीं विचारा जा सकता जैसा हम आज समझते हैं। परन्तु उसी स्थिति में जीवन संरक्षण और यापन की प्रेरणा में अपने 'अहं' की भावना रक्षित थी। मानस के विकास में *अद्भुत-भाव की प्रेरणा से ज्ञान का ज्यों-ज्यों प्रसार होता गया, उसी* प्रकार 'अहं' की भावना भी स्पष्ट और विकसित होती गई। जब मानव ने भय से कुछ त्राण पाया और क्रोध की प्रेरणा से कठिनाइयों तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, उस समय उसका आत्म-भाव अधिक स्पष्ट हो चुका था। वह आत्म-चेतन के साथ महत्त्वाकांक्षी प्राणी हो गया था। यह आत्म की भावना 'अहं' के रूप में शक्ति-प्रदर्शन और उसी के प्रतिकूल आत्महीनता के रूप में प्रकट होती है। सामाजिक विकास के साथ इस भाव में अधिक विषमता और विभिन्नता बढ़ती गई। परन्तु इसके पूर्व ही प्रकृति-जगत् से इसका सम्बन्ध खोजा जा सकता है। प्रकृति के जिन रूपों को मानव विजित करता था उनके प्रति वह अपने में महत्व का बोध करता था और प्रकृति के जिन रूपों के सामने वह अपने को पराजित तथा असहाय पाता था, उनके प्रति अपने में आत्महीनता की भावना पाता था। मिथ-युग के देवताओं के रूप में हमको इस बात का प्रमाण मिलता है। क्योंकि इस युग में मानव बहुत कुछ देवताओं से भयभीत होकर उनसे अपने को हीन मानता था। आत्म-भावना ने अपने विकास के लिए सामाजिक प्रवृत्तियों का क्षेत्र ही स्वीकार किया है। परन्तु सहानुभूति के प्रसार में मानव प्रकृति को आत्म-भाव से युक्त पाता है या अपने अहं के माध्यम से प्रकृति को देखता है। इस मानसिक स्थिति तक पहुँचने में भाव विषम-स्थिति में ही रहते हैं। काव्य में प्रकृति रूपों की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति सम्बन्धी इस प्रकार के आरोप आते हैं।

**रति-भाव**—यौन विषयक रति-भाव की आधार-भूमि पशुओं की इसी प्रकार की सहजवृत्ति है जो जाति की उन्नति के लिए आवश्यक है। यह सहजवृत्ति अपने मूल रूप में एक विशेष शारीरिक अवस्था में उत्पन्न होती है और उस समय जीव के साधारण मानसिक स्तर पर किसी व्यक्ति विशेष की अपेक्षा नहीं करती है। इसके

लिए प्रतिकूल यौन सम्बन्धी आकर्षण ही यथेष्ट है। इस भाव मे प्रकृति के रूप-रग आकार-प्रकार आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस विषय मे सकेत किण जा चुका है। पशु-पक्षियो और कीडे-मकोडो के जगत् मे इस सहज-वृत्ति के सम्बन्ध मे इनका प्रभाव है साथ ही वनस्पति-जगत् इन रग-रूपो से अपनी उत्पादन क्रिया मे सहायता लेता है। मानवीय मानस के धरातल पर इस भाव के साथ क्रमश' विकास मे अन्य भावो का सयोग होता गया है। आज रति-भाव का जो रूप हमारे सामने है उसमे प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोध की अनुभूति के आधार पर विकसित सौन्दर्य्यानुभूति और सामाजिक सहानुभूति का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उनको अलग रूप से समझना असम्भव है। काव्य मे शृगार के उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के जो व्यापक रूपो का उल्लेख किया जाता है उससे भी यही सिद्ध होता है।[1]

कलात्मक-भाव—पहले मानस-शास्त्री कलात्मक-भाव ( निर्माण ) को अलग प्राथमिक भाव स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु आधुनिक मत से इस प्रकार की सहज-वृत्ति पक्षियो और कीडो मे भी पाई जाती है। इसी सहजवृत्ति का मानव मे भावात्मक विकास हुआ है। अन्य जीव प्रकृति के उपकरणो के अतिरिक्त अपने लिए कुछ निर्माण कार्य करते हैं। इसी प्रकार मानव की कलात्मक भावना ने अपनी अन्य मानसिक शक्तियो से निर्माण-कार्य को अधिकाधिक विकसित किया है। इसकी प्रथम प्रेरणा जीवन की सरक्षण आदि वृत्तियो मे हो सकती है, परन्तु इसके आधार मे प्रकृति के अनुकरण का रूप भी सन्निहित रहा है। बाद मे क्रीडात्मक प्रवृत्ति के साथ सौन्दर्य्यानुभूति के सयोग से मानव ने अपनी निर्माण वृत्ति को कलात्मक भाव मे प्राप्त किया। मानव का यह प्रकृति का क्रीडात्मक अनुकरण मानसिक धरातल पर उसकी अनेक विकसित कलाओ मे देखा जा सकता है।[2]

हास्य भाव—अपनी विषम स्थिति के कारण हास्य-भाव का स्थान भावो के विकास क्रम मे निश्चित नही किया जा सकता। परन्तु वह स्वच्छन्द क्रीडा का एक रूप माना जा सकता है। हम जिस रूप मे हास्य को लेते हैं, उससे वह मूल रूप मे बिल्कुल भिन्न है। बाद मे इसमे बहुत कुछ कल्पना तथा विचार आदि का योग हो गया और अब यह भाव अभ्यन्तरित स्थिति मे अधिक है। परन्तु प्रारम्भिक युग मे यह क्रीडात्मक भाव (हास्य) सचित शक्ति के प्रवाह और उसके निश्चित प्रयोग से सम्बन्धित सुख-सवेदन समझा जा सकता है। इस सवेदनात्मक प्रवृत्ति के आधार पर नृत्य, गान

---

१ प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन विभाव सम्बन्धी रूपों की विवेचना इस भाग के पचम प्रकरण में की गई है। साथ ही द्वितीय भाग में अनेक स्थलों पर इनका उल्लेख किया गया है।

२ लेखक के 'नाट्क की उत्पत्ति' नामक लेख में नृत्य तथा सगीत आदि के विकास का उल्लेख किया गया है। (पारिजात, फरवरी, १९४६)

आदि का विकास माना जाता है, जो इस भावना के वाह्य अनुभावो के रूप मे समझे जा सकते हैं। इस प्रकार इस भावना के साथ भी प्रकृति का अनुकरणात्मक सम्बन्ध है। सचलन, गति, प्रवाह और नाद आदि की सुखानुभूति ने मानव को प्रकृति के अनुकरण के लिए प्रेरित किया होगा। और शक्ति का सचय तथा प्रवाह ही तो हास्य-भाव का मूल है।

## भावों की माध्यमिक तथा अध्यन्तरित स्थितियाँ

विषम स्थिति—जिन भावों का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे जिस रूप मे आज पाए जाते हैं, वह रूप अत्यधिक विषम है। परन्तु इन भावो के प्राथमिक रूप की कल्पना तथा परीक्षा की जा सकती है। पिछली विवेचना मे स्थान-स्थान पर विभिन्न भावो के सम्मिश्रण की तथा अन्य मानसिक स्थितियो के प्रभाव की बात कही गई है। एक भाव दूसरे भाव के साथ मिल जाता है तथा एक दूसरे को प्रभावित भी करता है। भय और क्रोध जैसे प्राथमिक भावो को भी हम उनके प्रारम्भिक रूप मे नही पाते। अन्य भावो तथा अनेक परिस्थितियो के कारण इनमे अनेकरूपता तथा विषमता आ गई है। त्रास और उन्माद आदि भाव इसी प्रकार के है। सामाजिक तथा अह सम्बन्धी भाव तो बहुत पहले से माध्यमिक स्थिति मे आ चुके हैं। एक ओर कारण और स्थितियो मे भेद होता गया, और दूसरी ओर भावो का सम्मिश्रण होता गया है। ऐसी स्थिति मे, भावो मे विषमता और वैचित्र्य बढ़ता गया है। इस प्रकार सामाजिक सहानुभूति से प्रभावित होकर अहकार की शक्ति प्रदर्शन सम्बन्धी महत्त्व की भावना अभिमान का रूप धारण करती है, और इसके प्रतिकूल हीनता की भावना दीनता हो जाती है। सामाजिक सहानुभूति जब अहभाव से प्रभावित होती है उस समय प्रशसा और कृतज्ञता के भाव विकसित होते हैं। साधारणत इन माध्यमिक भावो का सम्बन्ध प्रकृति से नही है। परन्तु भावो के उच्च-स्तर पर आचरणात्मक सत्यो से सम्बन्धित भाव, सौन्दर्य्य भाव से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्य्य-भावना मे आचरणात्मक भावो का आरोप किया जाता है। परन्तु यह प्रकृति और भावो का सीधा सम्बन्ध नहीं हुआ। अन्य प्रकार से माध्यमिक भावो से प्रकृति का सीधा सम्बन्ध सम्भव है। प्रारम्भ मे प्रकृति की अज्ञात-शक्तियो के प्रति जो भय की भावना थी, वही भाव सामाजिक सहानुभूति से मिलकर श्रद्धा के रूप मे व्यक्त होता है और इसी मे जब आत्महीनता का भाव सम्बन्धित हुआ, तो वह आदर का भाव हो गया। परन्तु यहाँ भावात्मक विकास के क्रम मे प्रकृति भावो के प्रेरक कारण के समान नही समझी जा सकती।

धार्मिक भाव—धार्मिक भावो के विकास मे प्रकृति का सम्बन्ध प्रारम्भ

से रहा है। इस समय धार्मिक भाव से हमारा अर्थ उस स्वाभाविक भाव-स्थिति से है जिससे धर्म-सम्बन्धी माध्यमिक भावों का विकास हुआ है। धर्म-सम्बन्धी माध्यमिक भाव का विकास प्रकृति शक्तियों को देवता मानने वाले धर्मों के इतिहास में तथा उनकी मिथ सम्बन्धी रूप-रेखा में स्पष्टतः मिलता है। साधारणतः प्रकृति-देवताओं का अस्तित्व भय के आधार पर माना जाता है, इसका संकेत पीछे किया गया है। आश्चर्य्य भाव के साथ प्रकृति के देवताओं को प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रसरित देखा गया, क्योंकि इस युग में प्रत्यक्ष-बोध अधिक स्पष्ट होकर परप्रत्यक्ष और कल्पना में साकार हो रहे थे। अनन्तर प्रकृति की उपादेयता का अनुभव हो चुकने के बाद इन देवताओं के साथ प्रकृति और मानव के सम्पर्क का भाव भी सम्बन्धित हो गया। अब प्रकृति की शक्तियों का वर्णन देवताओं के रूप में तो होता ही था, साथ ही उनमें उपादेयता का भाव भी सन्निहित हो गया। विकास के मार्ग में जैसे-जैसे सामाजिक और आत्म सम्बन्धी भावों का संयोग होता गया, वैसे ही इन भावों की स्थापना प्रकृति के देवताओं के सम्बन्ध में भी हुई। विचार के क्षेत्र में धर्म दर्शन और तत्त्ववाद की ओर अग्रसर हुआ है, परन्तु भावना के क्षेत्र में धर्म ने देवताओं को मानवीय आकार और भाव प्रदान किए हैं। वैदिक देवताओं का रूप अग्नि, इन्द्र, उषा, वरुण तथा सूर्य्य आदि प्रकृति शक्तियों में समझा जाता था। परन्तु मध्ययुग के देवता मानव आकार, भाव और स्वभाव के प्रतीक माने गए। इन देवताओं में भी एक प्रकार से प्रकृति का आधार रहा है। एक ओर इनकी शक्तियों का प्रसार प्रकृति की व्यापक शक्तियों के समानान्तर रहा है, दूसरे उनके स्थान और रूप के साथ प्रकृति सम्बन्धित रही है। इसका कारण मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रकृति के प्रति सहज जागरूक होना तो है ही, साथ ही इसमें कलात्मक और दार्शनिक प्रकृतिवाद के समन्वय का रूप भी सन्निहित है। वैदिक कर्म-कांड को प्रकृति के अनुकरण का रूपात्मक स्वरूप माना गया है, परन्तु मध्य-युग का कर्मकांड सामाजिक है जिसमें पूजा की समस्त विधि आ जाती है।[१]

**सौन्दर्य भाव**—जिस प्रकार धार्मिक भाव न तो एक भाव है और न एक रूप में सदा पाया जाता है, उसी प्रकार सौन्दर्य भाव एक नहीं है और उसका विकास भी मानवीय मानस के साथ होता रहा है। यद्यपि इसमें विभिन्न भावों का समन्वय होता गया है फिर भी सौन्दर्य भाव के विकास की प्रत्येक स्थिति प्रकृति से सम्बन्धित है। मानव को प्रकृति के प्रत्यक्ष बोधों में सुख-दुःख की संवेदना प्राप्त हुई। उसने प्रकृति का क्रीडात्मक अनुकरण किया। वह अपने कलात्मक निर्माण में प्रकृति से बहुत कुछ सीखता है। उसके यौन सम्बन्धी रागात्मक भाव के लिए भी प्रकृति के रंग रूप आदि

१ इस विषय को द्वितीय भाग के 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक तृतीय प्रकरण में कुछ अधिक विस्तार दिया गया है।

प्रेरक रहे हैं, उनका उसके लिए विशेष आकर्षण इस भाव से सम्बन्धित रहा है और इन सब भावो का योग सौंदर्य भाव के विकास मे हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य सामाजिक तथा आत्म-सम्बन्धी भावो का योग भी इसमे है। यह विकास केवल प्रत्यक्षों के आधार पर ही सम्भव नही हुआ है। इसमे कल्पना के आधार की पूर्ण स्वीकृति है। अगले प्रकरण मे इस विषय की विवेचना विस्तार से की जायगी। यहाँ इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि सौन्दर्य भाव की स्थिति अत्यधिक विषम है। प्रकृति के सौन्दर्य-भाव मे जो सहानुभूति तथा महत् आदि की भावना है वह सामाजिक और आत्म भाव से सम्बन्धित अनुभूतियों का प्रभाव है।

अभ्यन्तरित भाव—अभ्यन्तरित भावो के लिए समाज की एक निश्चित स्थिति आवश्यक है, साथ ही मानसिक विकास का भी उच्च स्तर वाछनीय है। इन भावो के लिए क्रिया और कार्य की उद्देश्यात्मक गति स्वीकृत है। विशेष स्थिति मे उद्देश्य को लक्ष्य करके भविष्योन्मुखी भावो की प्रेरणा जाग्रत होती है। कदाचित् इसीलिए इन भावों मे अधिकाश काव्य मे सचारी या व्यभिचारी भावो के रूप मे स्वीकृत है। आशा, विश्वास, चिन्ता, निराशा आदि इसी प्रकार के भाव हैं। अथवा इनके विपरीत अतीत के विषय मे उद्देश्य के प्रति भावो की स्थिति जाग्रत होती है। इन भावो मे पश्चात्ताप अनुताप आदि हैं। इस मानसिक चेतना के स्तर पर प्रकृति का कुछ भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु अन्य भावों के साथ प्रकृति वातावरण तथा परिस्थिति के रूप मे इन अभ्यन्तरित भावों से भी सम्बन्ध उपस्थित कर सकती है। प्रकृति का सम्पर्क किसी की स्मृति जगाकर चिन्ता भी उत्पन्न कर सकती है। परन्तु यहाँ प्रकृति का सम्बन्ध चिन्ता से उतना नही है जितना स्मृति से सम्बन्धित शृगार आदि भाव से। काव्य मे इसी कारण प्रकृति ऐसे स्थलो पर प्रमुख भाव की उद्दीपक मानी जाती है, सचारी भावो की नही। एक दूसरी स्थिति भी है जिसमे यह सम्बन्ध सम्भव हो सकता है। इन भावो की मन स्थिति मे हमारे मन मे प्रकृति के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। यह सम्बन्ध कारण के रूप मे नही वरन् प्रभाव के रूप में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेषत काव्य के प्रकृति रूपों मे यह प्रभावशील सहानुभूति अधिक महत्त्व रखती है।

× × ×

विवेचना की कठिनाई—मानवीय भावों का विषय बड़ा ही दुर्बोध तथा कठिन है। इसका कारण मानसिक वैचित्र्य और वैषम्य है, जो ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है। विभिन्न भाव एक दूसरे से प्रभावित और सम्मिश्रित होते गए हैं। साथ ही मानसिक विकास मे इन भावों मे कल्पना तथा विचार आदि की प्रतिक्रिया भी चलती रही है। ऐसी स्थिति मे इन भावों की विश्लेषणात्मक विवेचना करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं

और जटिलताओं का सामना करना पडता है। फिर भी विवेचना मे इस बात का यथा-सम्भव प्रयास किया गया है कि समस्त भावो की विकासोन्मुखी विषमता मे प्रकृति का कारणात्मक सम्बन्ध कहाँ तक रहा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का इनसे किस सीमा तक सयोगात्मक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध कभी भावो के साथ सीधा उपस्थित होता है और कभी भाव के विषय के साथ वातावरण तथा परिस्थिति के सम्बन्धो मे उपस्थित होता है। हमारे विवेचन से स्पष्ट है जहाँ तक भावो की स्थितियो से सम्बन्ध है, विकास के उच्च स्तर पर प्रकृति भावो के कारण-रूप में अधिक स्पष्टतः प्रभावशील नहीं है। परन्तु अन्य रूपो मे प्रकृति का सयोग अभिव्यक्त होता है। समष्टि रूप से सौन्दर्य भाव को स्वीकार कर लेने पर वह उसके लिए प्रभावात्मक अभिव्यक्ति का कार्य करती है और अगले प्रकरण मे हम देखेंगे कि प्रकृति सम्बन्धी समस्त भावात्मकता की अभिव्यक्ति का मूल इसी सौन्दर्यानुभूति मे है।

चतुर्थ प्रकरण

# सौन्दर्यानुभूति और प्रकृति

सौन्दर्य का प्रश्न—सौन्दर्य को समझने मे हमको कोई कठिनाई नही होती। हम कहते हैं सुन्दर वस्तु, सुन्दर चरित्र, सुन्दर सिद्धान्त और समझ भी जाते हैं। एक रूप की दृष्टि से सुन्दर है, दूसरे मे शिव के अर्थ की व्यजना है और तीसरे मे सत्य को सुन्दर कहा गया है। इस प्रकार यहाँ 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग व्यापक है, जो कलात्मक सौन्दर्य के रूप मे प्रयुक्त है पर जन समाज की भाषा मे अलग अलग सकेत देता है। जितनी सरलता से हम यह सब समझ लेते हैं, वस्तुत. सौन्दर्य की विवेचना उतनी सरल नही है। पिछले प्रकरण मे सौन्दर्य्य भाव की विषमता के बारे मे सकेत किया गया है। इस भाव के विकास मे प्रत्यक्ष, कल्पना तथा भावों की प्रतिक्रिया की एक विषम मानसिक स्थिति सन्निहित है। इसी कारण प्राच्य तथा पाश्चात्य विभिन्न शास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति के विषय को अपनी अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। काव्य और कला के क्षेत्र मे सौन्दर्य की विवेचना करते समय इन्होंने कभी इसको अनुभूति, कभी अभिव्यक्ति और कभी प्रभावशीलता माना है। किसी-किसी विद्वान् ने सौन्दर्य को वस्तु के गुणो के रूप म मानकर विवेचना करने का प्रयास किया है। काव्य और कला मे सौन्दर्य-सर्जन अनुभूति और अभिव्यक्ति के सामञ्जस्य मे उपकरणों के आत्म-तादात्म्य द्वारा होता है। इसकी विवेचना अगले प्रकरण म की जायगी। प्रस्तुत विषय प्रकृति के सौन्दर्य विस्तार पर विचार करना है। वस्तुत सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचनाओं मे इस विषय को अनेक प्रकार से उपस्थित किया गया है। एक सीमा तक प्रकृति के सौन्दर्य सम्बन्धी विचार से इनके सौन्दर्यानुभूति विषयक सिद्धान्त प्रभावित हैं। इस कारण प्रकृति-सौन्दर्यानुभूति की रूप-रेखा प्रस्तुत करने से पूर्व, विभिन्न सौन्दर्य्यानुभूति के सिद्धान्तों मे अन्तर्भूत प्रकृति-सौन्दर्य का विचार कर लेना आवश्यक है। हम देखते हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य की पूरी रूप-रेखा उपस्थित करने मे विभिन्न मतों के समन्वय मे अन्तिम निर्णय तक पहुँचा जा सकेगा। इन विभिन्न मतो मे प्रस्तुत

विषय को जिस एकागी ढङ्ग से देखा गया है, वह मानसिक स्थिति को एक विशेष सीमा मे घेर कर देखने का प्रयास मात्र है। आगे इन पर विस्तार से विचार करने से विदित होता है कि सौन्दर्य की रूप-रेखा मे ये सभी कुछ न कुछ सत्य का योग प्रदान करते हैं। इन सिद्धान्तो की अपूर्णता का कारण विचारको का अपना सीमित क्षेत्र और सकुचित दृष्टिकोण है। मानस के विकास अथवा विषम विस्तार मे जिस प्रकृति-सौन्दर्य पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, वह कितनी ही प्रवृत्तियो तथा स्थितियो का समवाय है। इस कारण सत्य तक पहुँचने के लिए हमको मानव-शास्त्र, मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का सहारा लेना है। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। भारतीय विद्वानो ने सौन्दर्य-शास्त्र के रूप मे सौन्दर्य की विवेचना नही की है। उन्होंने अलकार, रस आदि काव्य-सम्बन्धी विवेचनाओ तथा कला सम्बन्धी उल्लेखो मे सौन्दर्य का निरूपण अवश्य किया है। इस कारण उनके इन्ही मतो का उपयोग हम अपनी विवेचना मे कर सकेंगे।

रूप और भाव पक्ष—पिछले प्रकरणो मे मानव और प्रकृति के सम्बन्ध की जो क्रमिक रेखा उपस्थित की गई है, वह एक प्रकार से प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार भी प्रस्तुत करती है। प्रथम प्रकरण मे विचार किया गया है कि सहज बोध की दृष्टि से प्रकृति और मन को मानकर ही चला जा सकता है; नही तो साधारण जीवन और दर्शन के व्यावहारिक क्षेत्र मे बहुत कुछ सीमित एकागीपन आने का भय है। यही दृष्टि प्रकृति को मानस की प्रतिक्रिया के माध्यम से रूपात्मक और भावात्मक स्वीकार कर लेती है और प्रस्तुत प्रकरण की विवेचना मे हम आगे चलकर देखेंगे कि प्रकृति-सौन्दर्य मे भी रूप और भाव दो पक्षो को स्वीकार करना पडता है। दूसरे प्रकरण मे देखा गया है कि मानवीय मानस के विकास मे उसकी चेतना के समानान्तर प्रवाहित प्रकृति ने योग प्रदान किया है। प्रकृति की चेतना के प्रश्न मे मानव की अपनी दृष्टि ही प्रधान है, क्योकि स्व (आत्म) चेतना उसी मे है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रश्न मे भी इस चेतना के साथ मानव की प्रधानता का महत्त्व है। प्रकृति सौन्दर्य की अनुभूति के साथ मानव की मानसिक चेतना स्वीकृत है। पिछले प्रकरण मे मानवीय भावो के विकास के साथ प्रकृति का सम्बन्ध समझने का प्रयास किया गया है। हम देख चुके हैं कि भावो के विभिन्न स्तरो से प्रकृति का सीधा तथा अध्यान्तरित दोनो प्रकार का सम्बन्ध है। सौन्दर्य-भाव के विषम रूप से प्रकृति का सम्बन्ध अधिक जटिल है। इस कारण प्रकृति के सौन्दर्य मे भी यही जटिलता विद्यमान है। इस आधार-भूमि के साथ ही पीछे जिन विभिन्न तत्त्ववादी तथा मानस-शास्त्रीय मतवादो को प्रस्तुत किया है, वस्तुतः इनका प्रभाव सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचको पर पडा है। इस कारण पिछले मतवादो के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्त भी उन्हीं के समान पूर्ण सत्य

की व्याख्या नहीं कर सके हैं। परन्तु हमारी विवेचना में इनको सामजस्य पूर्ण समुचित स्थान देने का प्रयास किया जायगा।

## सौन्दर्य सम्बन्धी विभिन्न मत

भारतीय सिद्धान्तों में—पहले ही कहा गया है भारतीय शास्त्रियों ने सौन्दर्य की व्याख्या अलग नहीं की है। अगले प्रकरण में काव्य की रूप सम्बन्धी विवेचना में तत्सम्बन्धी सौन्दर्य की रूपरेखा भी आ जायगी। यहाँ काव्य और कला सम्बन्धी उनकी व्यापक सौन्दर्य भावना का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय दृष्टि से कलाकार की मन स्थिति भावों के निम्न-स्तर से उठकर आदर्श कल्पना की ओर बढ़ती है। इस मनोयोग की स्थिति में सौन्दर्य भाव आकर्षित होते हैं।[1] कलाकार के इस 'आत्मध्यायत्' से 'आत्मभावयत' रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार के मानसिक पक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है भारतीय दृष्टि से सौन्दर्य बाह्य अनुभव पर उतना निर्भर नहीं जितना आन्तरिक समाधि पर। कलाकार के मानसिक पक्ष में अनुभूति जब अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करती है, उस स्तर पर भारतीय काव्य और कला में व्यगार्थ ध्वनि कलाकार के मानसिक सौन्दर्य पक्ष को ही उपस्थित करती है। वक्रोक्ति के लोकोत्तर चमत्कार और अलकार की सादृश्य भावना से भी यही बात स्पष्ट होती है। वस्तुतः इस दृष्टि से प्रकृति में सौन्दर्य अपना नहीं है, वह कलात्मक कल्पना का परिणाम मात्र है। प्रारम्भिक साहित्याचार्यों ने 'शब्दार्थ' के आधार पर अलकार को काव्य की परिभाषा स्वीकार किया था। उसमें उपमानों के रूप में जो सादृश्य की भावना है उससे सिद्ध होता है कि काव्य सौन्दर्य अनुकरण नहीं, वरन् मन-प्रकृति, विषयि-विषय तथा भाव-रूप की तदाकारता है। वेदोपिव तत्त्ववादी इसे वस्तु की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ एकाकार हो जाती हैं। आगे हम पाश्चात्य विद्वानों के समन्वित मत में इसी तदाकारता का भाव देखेंगे। अलकार की यह सादृश्य भावना सौन्दर्य का रूप नहीं और न आदर्श ही है, वरन् यह तो इन्द्रिय वेदनाओं के साथ मानसिक उच्च-स्तरों का समन्वित गुण है। भारतीय रस-सिद्धान्त सौन्दर्य सम्बन्धी प्रभावात्मक सिद्धान्तों के समान है, उसमें भी विकास की कई स्थितियाँ रही हैं। पिछले आचार्यों ने रसनिष्पत्ति को केवल आरोप तथा अनुभाव के द्वारा साधारण भाव-स्थिति के सामने स्वीकार किया था। अनन्तर भोगवाद तथा व्यक्तिवाद के रूप में काव्य-

---

१. इस विषय में कुमार स्वामी की पुस्तक 'ट्रान्सफारमेशन ऑव नेचर' द्रष्टव्य है। साथ ही लेखक के 'संस्कृत काव्य शास्त्र में प्रकृति' नामक निबन्ध में भी इसकी विवेचना की गई है ('हिन्दुस्तान' अगस्त-अक्टूबर सन् १९४७ ई०)।

सौन्दर्य मे निर्भरानन्द की विशेष भाव-स्थिति की कल्पना की गई।[1] अन्त मे काव्यानन्द की मधुमती-भूमिका की कल्पना मे सौन्दर्य की उस स्थिति की ओर सकेत है जिसमें समस्त भावो का सामञ्जस्य होकर वैचित्र्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हम देख सकेंगे कि यह सिद्धान्त पाश्चात्य सुखानुभूति के सिद्धान्त के कितने समानान्तर है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से सौन्दर्य की कल्पना की है। परन्तु यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण यह है कि इनकी सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचनाएँ प्रकृति सौन्दर्य के आधार पर न होकर काव्य के सम्बन्ध मे हैं। इस प्रकार इस सौन्दर्य की भावना मे प्रकृति से अधिक मानवीय सस्कार हैं। प्रकृति के सौन्दर्य के विषय मे यह उपेक्षा भारतवर्ष की व्यापक प्रवृत्ति है। इस विषय मे अगले भाग मे विशेष विचार करने का अवसर मिल सकेगा।

पाश्चात्य सिद्धान्तों की स्थिति—पाश्चात्य विद्वानो ने सौन्दर्य की व्याख्या करते समय साधारण दृष्टि से वस्तु-परक और मनस्-परक दो पक्ष सामने रखे हैं। वस्तुत. सौन्दर्य वस्तु और भाव दोनो से सम्बन्धित और उनका समन्वित रूप है। लाइबनजि के शब्दो मे सौन्दर्य प्रदर्शनात्मक समन्वय है, जो इन दोनो के समत्व सम से सम्बन्धित है और एक की सहायता से दूसरा समझा जा सकता है। वस्तुत: सौन्दर्य मानसिक और विषय सम्बन्धी दोनों पक्षो को स्वीकार करते हुए, वस्तुओ के रूप और गुण की निर्भर तथा सामञ्जस्यपूर्ण गम्भीर कल्पना कहा जा सकता है।[2] अन्य बहुत से मतवादियो ने एकान्तवादी तत्त्ववादियो की भाँति अपनी विवेचना मे एक अश को अधिक महत्त्व देकर अन्य अशो की उपेक्षा की है। परन्तु यहाँ यह कहने का अर्थ नही है कि इन मतवादियो के सामने सत्य का रूप नही था। उनके सामने सत्य का रूप अवश्य था, लेकिन उन्होने अपने सिद्धान्त की व्याख्या मे अन्य भागो को सम्मिलित कर लेने का प्रयास किया है। समन्वय की दृष्टि से यह ठीक हो सकता है। परन्तु जब किसी दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व देकर व्याख्या की जायगी तो वह भ्रामक हो सकती है। यहाँ हम सक्षेप मे विभिन्न मतो की विवेचना इस दृष्टि से करेंगे कि किस सीमा तक उनमे सत्य का अश है, और इन सबका समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है।

अभिव्यक्तिवाद—अनेक सौन्दर्य-शास्त्री विषयि के मनस्-परक पक्ष को सौन्दर्य की विवेचना मे प्रमुखता देकर भी आपस मे मतभेद रखते हैं। किसीने स्वानुभूति पर अधिक जोर दिया है, किसीने अभिव्यक्ति का आश्रय लिया है और किसीने प्रभाव-

---

१. इस सिद्धान्त में भट्ट लोल्लट का आरोपवाद, श्रीशकुक का अनुमानवाद, भट्टनायक का भोगवाद और अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद प्रसिद्ध है।

२. अर्न ऑव लिस्टोवल ने भी विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना के पश्चात् इसी प्रकार का निष्कर्ष दिया है।

शीलता का आधार उपस्थित किया है। इस भेद का कारण जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है मानसिक स्तर को विभिन्न प्रकार से समझने का प्रयास है, साथ ही मानव शास्त्र तथा मानस-शास्त्र के क्रमिक आधार की अवहेलना है। क्रोचे पूर्णरूप से अभिव्यक्तिवादी हैं, परन्तु उन्होने स्वानुभूति को अभिव्यक्ति की पूर्व-स्थिति के रूप मे स्वीकार किया है। इसी कारण एक स्थान पर उन्होने भाषा और सौन्दर्य-शास्त्र को अभेद कहा है। स्वानुभूति मे समस्त प्रज्ञात्मक (प्रत्यक्ष आदि) रूपो की पूर्व-स्थिति है, इसलिए वह भौतिक सत्यो, उपयोगिता, आचरण सम्बन्धी बोध तथा सुख-सवेदनाओ से परे है। और यही स्वानुभूति अपनी प्रेरणा मे अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है। ई० एफ० कैरिट भी इस प्रकार की समस्त भावाभिव्यक्तियो को बिना किसी अपवाद के सौन्दर्य मानते है।[1] क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद का विरोध डेसियर तथा वाल्काट नामक जर्मन विद्वानो ने महाद्वीप पर किया है। फिर भी इसका प्रचार विशेषत इगलैंड मे रहा है। इन जर्मन आचार्यों ने इस सिद्धान्त की भूल को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि स्वानुभूति की गीतात्मकता, तथा भावो और वासना की अभिव्यक्ति को सौन्दर्य (काव्य तथा कला के रूप मे) माना जायगा, तो इसमे जो कल्पना के रूप मे बोधात्मक पक्ष है, उससे इसका विरोध उपस्थित हो जायगा।[2] वस्तुत अभिव्यक्तिवाद मे काव्य और कला को मानवीय मानस के विकास के निचले स्तरो से सम्बन्धित प्रकृति के आधार पर समझने की भूल की गई है। इस मत मे अनुभूति और अभिव्यक्ति विषयक जो मूल भ्रम सन्निहित है, इनसे सम्बन्धित सौन्दर्य शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तो के रूप मे दो प्रमुख विचारधाराएँ सामने आती हैं।

सुखानुभूति—(क) मानस-शास्त्र के आधार पर स्वानुभूति से निकट सम्बन्धी सुखानुभूति का मत है। इसके मूल मे शरीर-शास्त्री-सौन्दर्य के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित समानुपात से स्नायु-प्रेरणा के साथ सुखात्मक प्रभावशीलता है। इनके अनुसार सौन्दर्य-बोध मे हमारे स्नायु तन्तुओ के कम से कम शक्ति-व्यय से अधिक से अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है। इस सवेदन क्रिया म विशेषता केवल इतनी है कि यह हमारे शरीर की शक्ति-सचलन क्रिया से सीधे अर्थों मे सम्बन्धित नही है। परन्तु यह इस विचारधारा के मतो की वह सीमा है जहाँ हमारी कला और सौन्दर्य सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ अपने नग्न रूप मे दिखाई देती हैं। एच० आर० मार्शल ने इसी शरीर विज्ञान के आधार पर मानस-शास्त्रीय दृष्टि को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। इनके मत मे सुखानुभूति को इन्द्रिय वेदन से प्रत्यक्षबोध के आधार पर उच्च मानसिक स्थिति से सम्बन्धित माना गया

१. थियरी ऑव ब्यूटी, पृ० २६६।

२ दि क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक्स का 'थियरी ऑव एक्स्प्रेशनिज्म' की विवेचना मे (देखी का विवेचनात्मक गद्य) इस विषय मे महादेवी जी का गीतियों सम्बन्धी मत भी महत्त्वपूर्ण है।

है। यह अनुभूति सुख-दुःख की सम-स्थिति पर इन्द्रिय संवेदनाओं की प्रभावात्मक सुखमय प्रतिक्रिया का कलात्मक आनन्द रूप है।[1] इसमें भी एक भ्रम सन्निहित है। यह सत्य है कि मानव की प्रभावशील इन्द्रिय-वेदनाएँ कला के मूल में सन्निहित हैं। पीछे कहा गया है कि रंग और ध्वनि के प्रभावों की सुखात्मक संवेदना के बिना चित्रकला तथा संगीत का विकास सम्भव नहीं था। पर कलात्मक सौन्दर्य में अन्य कितने भावों का संयोग, तथा उसमें इस मूल संवेदना का रूप इतनी दूर का हो जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति में प्रभावशीलता का प्रारम्भिक मूल रूप नहीं रह जाता। चित्रकला में केवल रंगों की सुखात्मक संवेदना प्रकृति के गहरे और विभिन्न रंगों की अनुभूति की समता नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त की व्याख्या, सन्टायन सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए मानसिक उच्च स्तर पर करते हैं। ये अभिव्यक्त सौन्दर्य के लिए वस्तु-रूप प्रकृति की संवेदनात्मक शक्ति के साथ प्रत्यक्षों का क्रमिक सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध तथा अन्य पिछले अनुभवों का संयोग आवश्यक मानते हैं।[2] इस व्याख्या में विषय-पक्ष में मानस और विषय रूप प्रकृति का सामञ्जस्य किया गया है और साथ ही पिछले अनुभवों के रूप में मानसिक विकास को स्वीकार किया गया है। परन्तु इस सिद्धान्त का आधार इन्द्रिय-वेदन की सुखानुभूति है, इस कारण यह सत्य की पूरी व्याख्या नहीं उपस्थित कर सका है।

क्रीड़ात्मक अनुकरण—(ख) अभिव्यक्ति को प्रधानता देने वाली दूसरी विचार-धारा में क्रीड़ात्मक अनुकरण का भाव मूल रूप से सन्निहित है। जिस सिद्धान्त की अभी व्याख्या की गई है, और प्रस्तुत सिद्धान्त में मानसिक स्तरों की विकासोन्मुखी क्रमिक परम्परा को अपनाने में आश्चर्यजनक साम्य है। कार्ल ग्रास ने इस क्रीडात्मक अनुकरण को कलात्मक अभिव्यक्ति की निकटता में एक रूप माना है, केवल कलात्मक अभिव्यक्ति ज्ञान इन्द्रियों से सम्बन्धित है।[3] अभिव्यक्ति सौन्दर्य के इस निर्भरानन्द को स्पेन्सर कला-सौन्दर्य के साथ संचित शक्ति-प्रवाह के रूप में प्रत्यक्ष-बोध तथा परप्रत्यक्षों से भी सम्बन्धित करते हैं। कांट् की कलात्मक 'स्वतन्त्र-क्रीडा' में स्वानुभूति तथा बोध का समन्वय है। इसमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति क्रीडात्मक अनुकरण से अधिक मानसिक सत्य के रूप में स्वीकृत है। कांत ने इसको मानस-शास्त्र के क्षेत्र से दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया है। शिलर का कथन है कि कलात्मक सौन्दर्य इन्द्रिय और आध्यात्मिक लोकों का समन्वय है जिससे कर्त्तव्य, विचार तथा सुख-दुःख आदि नितान्त भिन्न है। एक प्रकार से इस कथन का संकेत भाव और रूप के समन्वय की ओर है।

१. एच० आर० मार्शल का 'एस्थिटिक प्रिंसिपल' के 'दि ब्यूटीफुल' नामक प्रकरण से।
२. सी० सन्टायन की 'दि सेंस आव ब्यूटी' से।
३. 'दि प्ले आव मैन' के 'एस्थिटिक् स्टैंड प्वाइन्ट' से (पृ० ३९१)

इन मतो की व्याख्या मे व्यापकता इतनी अधिक है कि इसमे सत्य का कोई भी स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु एकागी आधार के कारण सत्य का क्रमिक और स्पष्ट रूप नही आ सका है।

**प्रतिभास और अन्त सहानुभूति**—प्रतिभास सिद्धान्त के अनुसार वस्तु तत्वत तो सुन्दर नही है; परन्तु उसके प्रतिभासित सौन्दर्य के लिए तत्त्व आवश्यक शर्त है। इन वस्तुओ के निर्माण मे सौन्दर्य स्थित है जिसको प्रतिभासित रूप कहा जा सकता है और जिसका आधार वस्तु के विशेष गुण हैं। वस्तु के इन गुणो मे मानवीय मानस प्रसरित रहता है और इस प्रकार वस्तु के साथ भाव का समन्वय हो जाता है जो उसकी छाया मे ही सन्निहित है। भाव और वस्तु का यह छायातप स्वत समान रूप से होता है।[1] छाया-प्रसार मे चेतन-भाव के अधिक व्यापक प्रसार और विकास के साथ हमको सौन्दर्य के विषय मे अन्त सहानुभूति का सिद्धान्त मिलता है। ऊपर के उल्लिखित सौन्दर्य सम्बन्धी मत तत्त्ववादी पृष्ठभूमि पर ही विकसित हुए हैं और आश्रित हैं। इनमे अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार मानस और सर्जन की व्याख्या करने वाले तत्त्ववादियो का आधार है। सौन्दर्य सम्बन्धी अन्त सहानुभूति सिद्धान्त के मूल मे सर्वचेतनावादी आधार है जिससे आगे चलकर सौन्दर्य का स्वच्छदवादी मत विकसित हुआ है। समस्त वनस्पति का दृश्यात्मक सौन्दर्य मानव की ही विकसित पूर्ण चेतना का रूप है। उसी के आह्लाद की मुस्कान फूलो मे *बिखर पडती है, उसी के यौवन का उल्लास वृक्षो की* उन्नत आकाश मे प्रसरित शाखाओ के साथ अपनी उठान का अनुभव करता है। केवल चेतन मे ही नही वरन् जड जगत् म भी मानव अपने व्यजनात्मक भावो का आरोप करता है। अन्य सिद्धान्तो मे हम देख चुके हैं कि केवल प्रभावात्मक भाव सौन्दर्य के आधार पर सौन्दर्य की व्यापकता को समझने का प्रयास किया गया है। परन्तु इस अन्त सहानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य मे साहचर्य भावना का रूप है।

**साहचर्य भावना और रति भाव (क)**—सौन्दर्य की इस साहचर्य भावना मे स्वच्छद-युग की प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने वाली उन्मुक्त भावना का अधिक समन्वय है। स्वच्छदवादी कवि (काव्य मे) प्रकृति की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति के लिए व्यापक और उन्मुक्त वातावरण उपस्थित करता है। यह एक सीमा तक व्यक्तित्व और आचरण के लिए सहायक होता है।[2] स्वानुभूति के माध्यम से जो व्यजनात्मक *कला-सर्जन किया जाता है, उसके लिए मानव-जीवन के प्रत्येक रूप से सम्बन्धित सहानु-*भूति आवश्यक तथा निश्चित है। इसी सहानुभूति से सम्बन्धित साहचर्य भाव की व्यापकता मे यौन सम्बन्धी भाव भी आ जाता है। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के आधार पर समस्त

१. वान हार्टमेन और मिल्र का मत (दि क्रिटिकल हिस्ट्री आव मार्डन एस्थिटिक्स से)
२. शेला का 'ए डिफेन्स ऑव पोइट्री' के आधार पर।

कलात्मक अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-भावना में यौन-भाव की अन्तर्निहित प्रवृत्ति मानी है। इस रति-भाव का सघर्ष युगो से चली आने वाली सस्कृति मे अन्य आत्मपरक तथा सामाजिक भावो से होता रहा है। इस प्रकार यह भाव चेतना के सुप्त स्तरो मे अन्त-निहित हो गया है। इन्ही विषम भाव-स्थितियो की अभिव्यक्ति काव्य और कला मे सौन्दर्य-रूप ग्रहण करती है। इतिहास मे महान सास्कृतिक जातियो का विकास यौन विषयक प्रेरणा से तथा इस भाव को सयमित करने से हुआ है। इस प्रेरणा और उसके सयम मे विरोधी भावना कार्यशील रही है और इन्ही दोनो छोरो के बीच मे मानव-जाति का सभ्यता सम्बन्धी विचार निर्धारित होता रहा है। दर्शन और धर्म के साथ कला इसी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य सम्बन्धी इस मत मे सत्य अवश्य है। परन्तु जैसा तृतीय प्रकरण में कहा गया है, यौन सम्बन्धी भाव सवेगो के विकास मे अपना महत्त्वपूर्ण योग रखते हैं। पर इस प्रकार इसको इस सीमा तक महत्त्व देना अतिव्याप्ति कही जायगी।

रूपात्मक नियमन—इन सिद्धान्तो के अतिरिक्त कुछ मे मानस शास्त्र के आधार पर सौन्दर्य की भाव-स्थिति का केवल विश्लेषण किया गया है; और कुछ मे प्रयोगात्मक रीति पर सौन्दर्य-सम्बन्धी नियम निश्चित किए गए है। घटना-स्थितिवादियो ने प्रत्यक्ष तथा परप्रत्यक्ष आदि के रूप मे सौन्दर्य के रूपात्मक भेद किए हैं। परन्तु प्रयोगवादियो ने मानस-शास्त्र के सयोग विरोध आदि नियमो के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या सौन्दर्य न कही जाकर सौन्दर्य के आधार-भूत मानस-शास्त्र के नियम कहे जायेंगे। इनसे केवल एक सहायता ली जा सकती है। प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्य-भाव मे इन नियमो को ढूँढा जा सकता है, या इन नियमो से सौन्दर्य की कुछ कल्पना की जा सकती है। दूसरे कुछ सिद्धान्तो म प्रकृति के रूप-गुणो के सहारे सौन्दर्य को समझने का प्रयास किया जाता है। इनके अनुसार सौन्दर्य की विवेचना के लिए प्रकृति के गुणो, आकार-प्रकार, रग-रूप, नाद-ध्वनि, गन्ध-स्पर्श आदि पर विचार करना पर्याप्त है। रस्किन प्रकृति के इन्ही वस्तु गुणो को कला मे अनुकरण करने को कहते हैं। परन्तु इससे भी सौन्दर्य की व्याख्या न होकर केवल उपकरणो की विवेचना होती है। इस मत के विषय मे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि कला म प्रकृति के उपकरणो का ही आश्रय अभिव्यक्ति के साधन के रूप मे लिया गया है। इस प्रकार इससे यह सकेत मिलता है कि प्रकृति और काव्य के सौन्दर्य मे समता होनी सम्भव है।

## प्रकृति और कला मे सौन्दर्य

कलात्मक दृष्टि—सौन्दर्य की भावना मनस्-परक है और प्रकृति का सौन्दर्य हमारी कलात्मक दृष्टि का परिणाम है। प्रकृति को लेकर किसी विशेष दृष्टि के बिना

किसी भी प्रकार की सौन्दर्य-कल्पना नही की जा सकती। इस विषय मे लगभग सभी विद्वान एकमत हैं। यदि किसी का मत इसके विरुद्ध लगता भी है, तो उसका कारण उनका सौन्दर्य सम्बन्धी अपना मत है। इसको इस प्रकार कहा जा सकता है कि वे प्रकृति की सौन्दर्य भावना को इस प्रकार निरूपित करते हैं, जैसी उनको सौन्दर्य की व्याख्या करनी होती है। इसका परिचय बाद मे मिल सकेगा, अभी तो हम यही स्वीकार करते हैं कि प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के लिए काव्यात्मक (कलात्मक) दृष्टि आवश्यक है। क्रोचे के अनुसार—प्रकृति उसी व्यक्ति के लिए सुन्दर है जो उसे कलाकार की दृष्टि से देखता है "...प्रकृति कला की समता मे मूक है और मानव उसे जब तक वाणी नही देता वह मूक है।'[1] इसी को एस० अलेक्जेन्डर भी मानते हैं। उनके मत से प्रकृति तभी सुन्दर लगती है, जब हम उसे कलाकार की दृष्टि से देखते हैं और एक सीमा तक हम सभी कलाकार है।[2] हममे छिपा हुआ जो कलाकार है, वही प्रकृति को सौन्दर्य दान देता है। वस्तुत जब हमारे सामने प्रकृति होती है, उस समय प्रकृति का सारा विस्तार सौन्दर्य के रूप में नही रहता। प्रत्येक दृश्य को सौन्दर्य की रूप-रेखा मे बाँधने के लिए चयन करना पडता है। प्रकृति स्वयं मे सुन्दर नही है, वरन् हम प्रकृति के व्यापक विस्तार से चयन करके विभिन्न संयोग से सौन्दर्य का चित्र पूरा करते है। यह ऐसे ही होता है जैसे कलाकार अपने रंगो के संयोग द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है।[3] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि साधारण व्यक्ति प्रकृति के सौन्दर्य को देखता ही नही। वस्तुत जिसको हम कलाकार कहते हैं उसमे और साधारण व्यक्ति मे प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के विषय मे केवल मात्रा का अन्तर होता है। दोनो ही अपने लिए सौन्दर्य का सर्जन करते हैं। केवल कलाकार मे व्यापक और प्रत्यक्ष-ग्रहण करने की शक्ति होने के कारण उसम अभिव्यक्ति की प्रेरणा-शक्ति भी होती है। कलाकार जिस दृश्य को देखता है, उसके प्रत्यक्ष या परप्रत्यक्ष की प्रेरणा अभिव्यक्ति के रूप मे प्रतिकृत होती है।[4]

मानसिक स्तरों का भेद—(क) परन्तु ऊपर की प्रकृति सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टि अधिक व्यापक सीमा को स्पर्श करती है। साधारण व्यक्ति भी प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है और इसका कारण भी साधारण मानस-शास्त्र मे होना चाहिए। यहाँ इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है। जैसा हम पिछले प्रकरण की विवेचना मे देख चुके हैं, सौन्दर्य केवल प्रत्यक्ष-बोध से सम्बन्धित सुखानुभूति नही है। साधारण

---

१ 'एस्थिटिक्' पृ० ६६ तथा 'एसन्स ऑव एस्थिटिक' पृ० ८६

२ 'ब्यूटी एण्ड अदर फार्म्स ऑव वेल्यू' के द्वितीय प्रकरण 'ब्यूटी' मे (पृ० ३०)

३ 'दि सेंस ऑव ब्यूटी, (पृ० १३३)

४ ई० एफ० कैरिट की 'दि थियरी ऑव ब्यूटी' पृ० ३६

व्यक्ति के प्रकृति सौन्दर्य सम्बन्धी आकर्षण मे इस प्रकार के इन्द्रिय संवेदना और प्रत्यक्ष बोध के विभिन्न मानसिक स्तर हो सकते हैं। परन्तु इसको सौन्दर्यानुभूति की समष्टि या समवाय नही माना जा सकता। ई० एम० बर्टलेट के मतानुसार—'प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को सुन्दर कलाकार के समान नही बना देता; जैसा कलाकार कला को बनाता है। साधारण व्यक्ति तो प्रकृति के गुणों को सुन्दर तथा असुन्दर दोनो ही प्रकार से देख सकता है।'[1] इससे भी यह स्पष्ट है कि प्रकृति सौन्दर्य के लिए कल्पनात्मक मानसिक स्तर होना चाहिए। साधारण जन तो केवल अपनी मानसिक विकास की स्थिति तक प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। परन्तु प्रकृति के सपर्क से जो अन्य प्रकार का आकर्षण या सुख प्राप्त होता है, उसको सौन्दर्य की कल्पनात्मक श्रेणी का आनन्द नही कह सकते। सवेदनात्मक सुखानुभूति और कल्पनात्मक सौन्दर्य का आनन्द भिन्न है। साधारण स्थिति मे व्यक्ति किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की संवेदना प्राप्त करता है जो सुखकर हो सकती है। परन्तु वही व्यक्ति जब वस्तु के सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता है, तब वह वस्तु के वास्तविक प्रत्यक्ष के अर्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ मे वस्तु का कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है। और इसी स्थिति से कलात्मक आनन्द भी सम्बन्धित है; केवल उसमे यह स्थिति अधिक व्यक्त और परिष्कृत रहती है। प्रकृति के सौन्दर्य के संबन्ध मे विद्वानो का मतभेद उनकी सौन्दर्य विषयक व्याख्या के अनुसार ही है। हम पीछे कह चुके हैं कि सौन्दर्य भाव हमारे ज्ञानात्मक तथा भावात्मक विकास से सम्बन्धित रहा है और प्रकृति का सौन्दर्य अन्यथा कुछ नही केवल हमारे अन्दर के सौन्दर्य भाव का प्रकृति पर प्रसरण है।

## प्रकृति का सौन्दर्य

**दोनों पक्षों की स्वीकृति**—अभी तक प्रकृति के सौन्दर्य की व्यापक सामञ्जस्य-पूर्ण बात कही गई है; अब उसके विभिन्न पक्षो की विवेचना अलग-अलग करनी है। इस विवेचना में प्रकृति के सौन्दर्य का क्रमिक और स्पष्ट रूप हमारे सामने उपस्थित हो सकेगा। अभी हम कह चुके हैं कि प्रकृति सौन्दर्य का रूप और भाव, एक सीमा तक हमारी कलात्मक दृष्टि का फल है और साथ ही कुछ अशो मे हम सभी में कलाकार की प्रवृत्ति रहती है। लेकिन प्रकृति सुन्दर के अतिरिक्त भी कुछ है। वह भयानक है, भयभीत करती है और कभी वीभत्स भी लगती है। परन्तु सौन्दर्य मे ये सभी विभिन्न भाव आत्मसात् हो जाते हैं। पिछले प्रकरण मे कहा गया है कि भावो के विकास के विभिन्न स्तरो से प्रकृति का क्या सम्बन्ध रहा है। यहाँ पर जिस प्रकार का प्रकृति-सौन्दर्य आज हमारे सामने है उसको मूल प्रवृत्तियो के आधार पर विभाजित करना है।

१- 'टाइप्स आव एस्थिटिक जजमेंट'; 'नेचुरल ब्यूटी' पृ० २१८

प्रकृति के सौन्दर्य के विषय मे हमारी भावुकता प्रधान लग सकती है, परन्तु उसके रूप-पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार हमको प्रकृति के भाव और रूप पक्षों को स्वीकार करना पड़ा था, उसी प्रकार सौन्दर्य की व्याख्या करते समय भी इन दोनो पक्षों को स्वीकार करना है। प्रकृति का रूप उसके सौन्दर्य का आधार है, यद्यपि जैसा हम प्रथम प्रकरण मे कह चुके हैं इस रूप के लिए मानवीय मानस की स्वीकृति आवश्यक है। फिर भी इस रूप मे प्रकृति का अपना योग मान्य है। इस रूप के आधार पर भाव क्रियाशील होता है और अपने सचयन मे सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन हम तीसरे प्रकरण मे देख चुके हैं कि हमारे भावो के विकास मे प्रकृति का योग महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति मे भाव और रूप की विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमे यह कहना असम्भव हो जाता है कि कौन प्रधान है। वस्तुत भाव और रूप का यह वैचित्र्य सौन्दर्य है।

भाव-पक्ष : सवेदनात्मकता—प्रकृति के भावात्मक सौन्दर्य मे हम अपनी विवेचना की सुगमता के लिए विषय या मनस्-परक पक्ष ले सकते हैं। इसमे भी एक प्रभावशील भावना है जो समष्टि रूप से इन्द्रियों के विभिन्न गुणो की सवेदनात्मकता पर आधारित है और रूप-पक्ष मे वस्तुओ के गुणो पर निर्भर है। इसकी सुखानुभूति इन्द्रिय वेदनाओं म प्रत्यक्ष बोध और कल्पना के रूपो की सवेदना से सम्बन्धित है। परन्तु सौन्दर्य में इनका योग निरति की भाव-स्थिति पर सम्भव है। सभ्यता के इस युग मे भी पार्कों में दूर्वाल और उस पर क्यारियो मे सजे हुए गहरे रग के फूल हमारी इसी सौन्दर्य भावना के साक्षी हैं। इसी आधार पर कुछ सिद्धान्तवादियो ने सौन्दर्य का मापदड इसी प्रभावात्मकता को माना है। परन्तु यदि ऐसा होता तो प्रकृति के रूप-रगो का गम्भीर प्रभाव कला के कोमल प्रभाव से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता। प्रकृति के विस्तार मे सध्या के हलके घुलते रगो म पर्वत की मिटती हुई श्रेणियो के प्रसरित विस्तार मे, उस पर आच्छादित वर्फ की धुँधली सफेद आभा म, आकाश की एकरम नीलिमा मे तथा तारो के दीप जलाए हुए रात्रि के आँचल मे जो सौन्दर्य छिपा है वह साधारण प्रभावशीलता भर नही कहा जा सकता। यह सौन्दर्य बहुत कुछ हमारे सस्कृत कलात्मक दृष्टि का परिणाम है।

सहचरण की सहानुभूति (क)—प्रकृति सौन्दर्य का दूसरा भावात्मक रूप सहचरण की सहानुभूति मे स्वीकार किया जा सकता है। इसी आधार पर यह हमको अपने समानान्तर लगती है। प्रकृति अपने क्रिया-व्यापारो में मानव-जीवन के अनुरूप जान पड़ती है, साथ ही प्रकृति मानवीय चेतना और भावों से युक्त भी उपस्थित होती है। साहचर्य-भाव की स्थिति मे प्रकृति इस प्रकार अपने सौन्दर्य मे ही मग्न जान

पड़ती है।[1] प्रकृति सौन्दर्य के इस प ा के विकास में कितनी ही भाव-स्थितियों का योग हुआ है, इसलिए इसको सरलता से एक भाव के रूप में नहीं समझा जा सकता। साहचर्य-भाव की इस स्थिति में सामाजिक, आत्मिक तथा यौन सम्बन्धी भावों का सम्मिश्रण समझा जा सकता है। यद्यपि सम्मिश्रण साधारण योग से न होकर विकास-पथ से प्राप्त हुआ है। मानवीय संस्कृति के युग में प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना उसके सौन्दर्य की प्रबल आकर्षण शक्ति है। साथ ही प्रकृति के प्रति मानव की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का रूप भी इसमें सन्निहित है। हमारी चेतना तथा हमारे प्राणों से सचेतन और सप्राण प्रकृति, हमारी भावनाओं में निमग्न होकर सुन्दर लगती है। यह मानसिक अनुकरण का प्रकृति पर प्रतिबिम्ब-भाव ही है जो हमको स्वयं सुन्दर लगने लगता है। इस प्रकार यह सहचरण सम्बन्धी प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना प्रकृति-सौन्दर्य का महत्वपूर्ण रूप है।[2]

**व्यंजनात्मक प्रतिबिम्ब भाव (ख)**—सौन्दर्य की इस अनुभूति तक साधारण व्यक्ति अपनी अव्यक्त कलात्मक प्रवृत्ति से पहुँच सकता है। वह प्रकृति सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त करता है। परन्तु जब व्यंजनात्मक दृष्टि से यह प्रकृति का प्रतिबिम्ब-भाव अधिक व्यक्त तथा स्पष्ट हो जाता है, तभी प्रकृति का सौन्दर्य भी अधिक आकर्षक होता है। यह सौन्दर्यानुभूति संवेदनशील व्यक्ति को ही हो सकती है, जिसको भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने रसज्ञ माना है। वह प्रकृति के सौन्दर्य में अपनी व्यंजना-शक्ति के द्वारा उन अभिव्यक्तियों का प्रतिबिम्ब देखने में समर्थ होता है, जो साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव है। कवि, कलाकार और रहस्यवादी भी अपने मनोयोग के कारण प्रकृति के इस व्यंजनात्मक सौन्दर्य को देखने में सफल होते हैं। इस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का प्रश्न पंचम प्रकरण में उपस्थित किया गया है।

**रूपात्मक वस्तु-पक्ष**—अभी प्रकृति-सौन्दर्य के भावात्मक पक्ष पर विचार किया गया है। अब वस्तु रूप प्रकृति-सौन्दर्य के विषय पर विचार करना है, जिसे रूपात्मक पक्ष भी कहा जा सकता है। भाव से अलग रूप कुछ नहीं है, इसी प्रकार रूप के आधार बिना भाव-स्थिर नहीं हो सकता। फिर इन दोनों पक्षों की अलग-अलग व्याख्या करने का उद्देश्य केवल विषय को अधिक स्पष्ट करना है। प्रकृति अनेक रूप-रंगों में हमारे सामने उपस्थित है, साथ ही उसमें आकारों की सहस्र-सहस्र रूपात्मकता भी सौन्दर्य और उसके कलात्मक प्रदर्शन में योग प्रदान करती है। ज्योमिति के नाना

१ काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य का यह रूप कहीं मानवीय आकार में, कहीं मानवीय मधु-क्रीडाओं में व्यस्त और कहीं मानवीय भावों से प्रगुम्फित चित्रित होता है।

२ आगे दूसरे भाग में हम देखेंगे कि इसी भावना की प्रमुखता से स्वच्छंदवादी प्रकृति सम्बन्धी प्रवृत्ति का विकास होता है, जो हिन्दी साहित्य के मध्य-युग में विकसित नहीं हो सका।

आकार प्रकृति के रूप मे बिखरे हुए हैं जो प्रकृति के सौन्दर्य के चित्रपट को सीमादान करते हैं। यदि इस प्रकार हम देखें तो रूप और आकार विभिन्न सीमाओ मे प्रत्येक दृश्य को हमारी चेतना से सम रूप मे उपस्थित कर सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यही नही प्रकृति मे गति और सचलन जिनका उल्लेख प्रथम प्रकरण मे किया गया है, हमारे आत्म प्रसार के लिए विशेष आधार हैं। प्रकृति मे असख्य ध्वनियो के सूक्ष्म भेद व्याप्त हैं। प्रकृति का नितान्त शान्त वातावरण जनाकुल नगरो के विरोध मे सौन्दर्य का रूप धारण कर सकता है। कल-कल, झर-झर, टल-मल आदि प्रकृति मे जल-प्रवाह की ध्वनियाँ अपनी विविधता के साथ जीवन और चेतना के सम पर सुन्दर लगती हैं। गन्ध और स्पर्श का योग प्रकृति सौन्दर्य मे उतना महत्त्वपूर्ण नही है, परन्तु इनका सयोग उसमे अवश्य है। और अधिकाश मे इनका योग सयोगात्मक ही अधिक है। साथ ही कुछ व्यक्ति इनके प्रभावो के प्रति अधिक सचेष्ट होते हैं। वे इनका सयोग दृश्यात्मक सौन्दर्य से अधिक शीघ्र कर लेते हैं।[1] इन सबके विषय मे यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रकृति-दृश्यो मे ये समस्त गुण जिनका विभाजन किया गया है, अलग-अलग अपना अस्तित्व नही रखते, ये अपनी समष्टि और सामञ्जस्य मे ही सुन्दर हैं। कभी जब इस एकरूपता मे कोई रूप अलग लगने लगता है, तो वह सौन्दर्य बोध मे बाधा के समान खटकता है। प्रकृति मे आकार-प्रकार की विभिन्नता व्यापक है, उसमे रगो के इतने सूक्ष्म भेद और छायातप सम्मिलित हैं और उसकी ध्वनियो मे इतना स्वर-लय है कि कला के सुन्दर से सुन्दर रूप मे इनका उपस्थित करना कठिन है। परन्तु कला मे जो चयन और प्रभावोत्पादक सचित है उससे सौन्दर्य मे सजीवता और सप्राणता की गम्भीर व्यजना सन्निहित हो जाती है। यह सचित और केन्द्रित प्रभावशीलता प्रकृति के प्रसरित सौन्दर्य म नही हो सकती। परन्तु यदि कलाकार स्वय प्रकृति मे अपनी कला का आदर्श ढूँढ़ना चाहे तो मिल सकता है, क्योंकि प्रकृति के पास उसके चयन के लिए अपार भडार है।

मानस-शास्त्रीय नियम—प्रकृति सौन्दर्य के वस्तु-परक (विषय) और मनस्-परक भाव रूपात्मक तथा भावात्मक पक्षो पर सक्षेप मे विचार किया गया है। परन्तु इन दोनो के सामञ्जस्य के आधार म कुछ मानस-शास्त्रीय नियम हैं। इनकी विवेचना प्रयोग-वादी सौन्दर्य-शास्त्रियो न मुख्य रूप से की है। यहाँ उनका उल्लेख करना उपयोगी होगा। कलात्मक सौन्दर्य की स्थिति साधारण मानसिक स्थिति नही है, इस पर विद्वान्

---

१. इस विषय में लेखक के अपने प्रयोग भी हैं। उसमें दृश्य के साथ स्पर्श का संयोग अधिक स्पष्ट होते हैं और कुछ अवस्थाओं पर गन्धों का संयोग भी उसके अनुभव में आश्चर्यजनक हुआ है। वस्तुतः विभिन्न व्यक्तियों में गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण करने की भिन्न शक्तियाँ होती हैं। कुछ व्यक्ति निश्चित रूप से इनका स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

एकमत हैं। भारतीय विद्वान् भी इससे सहमत हैं। परन्तु जिन साधारण नियमो के आधार पर यह मानसिक स्थिति बन जाती है, उसका उल्लेख किया जा सकता है। इन समस्त नियमो को दो प्रमुख नियमो के अन्तर्गत माना जा सकता है। प्रथम नियम भावो के सामञ्जस्य के रूप मे माना जा सकता है जिसके अन्तर्गत समस्त आकारात्मक सानुपात, रग-रूपो की एकता विभिन्नता सम्बन्धी नियम आ जाते हैं। तथा यह भाव-पक्ष में भाव की एक सम स्थिति का भी सकेत देता है। दूसरा नियम भाव सयोग सम्बन्धी है, इसमे साम्य, वैषम्य तथा क्रम के नियम सन्निहित हैं और इसी नियम मे विभिन्न भावो का समन्वित वैचित्र्य भी सम्मिलित है। ये नियम साधारणत आश्रय रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। इन नियमो का सौन्दर्य के दोनो पक्षो के सतुलन मे आधार भर रहता है, परन्तु ये सौन्दर्य के नियम किसी प्रकार स्वीकार नही किए जा सकते।

## प्रकृति-सौन्दर्य के रूप

विभाजन की सीमा—प्रकृति-सौन्दर्य को विभिन्न प्रकार से स्थापित करने के बाद प्रश्न उठता है कि क्या प्रकृति सौन्दर्य-रूपो का विभाजन किया जा सकता है। पहले ही कहा गया है कि सौन्दर्य ऐसी भाव-स्थिति नही जिसका विभाजन किया जा सके। परन्तु भावो के समवाय की स्थिति मे जिन भावो का प्रमुख आधार रहता है, उसकी दृष्टि से कुछ प्रमुख रूपो का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे नव-रस के विधान मे नव-स्थायी भावो को स्वीकार किया गया है। इन समस्त स्थायियो की यहाँ विवेचना नही की जा सकती। परन्तु इनको स्वीकार कर लेने पर भी इनमे से कुछ मानवीय चरित्र और सम्बन्धो को लेकर ही हैं और इस प्रकार उनका क्षेत्र प्रकृति-सौन्दर्य नही है। इसी प्रकार जहाँ तक प्रकृति-सौन्दर्य का सम्बन्ध है कुछ भाव दूसरे भावो मे लीन किए जा सकते हैं। प्रकृति के सवेदनात्मक सौन्दर्य मे विरोधी भाव के रूप मे जुगुप्सा का भाव सम्मिलित हो जाता है। और प्रकृति की महत् भावना की सौन्दर्य-स्थिति मे भय तथा विस्मय के भाव मिल जाते हैं। इसी प्रकार साहचर्य सम्बन्धी सौन्दर्य भावना मे प्रकृति के सचेतन और भावशील रूप मे अन्य विभिन्न मानवीय भावो का आरोप हो जाता है। मानवीय चरित्र (आचरण) तथा धर्म सम्बन्धी मूल्यो का समवाय प्रकृति मे प्रतिविम्ब रूप मे ही हो सकता है। इस स्थिति मे सत्य और शिव की भावना के साथ ये मूल्य सौन्दर्य के समान ही हैं। इस प्रकार प्रकृति-सौन्दर्य का विचार हम तीन प्रमुख रूपो मे कर सकते हैं: महत्, सवेदनशील तथा सचेतन।

महत्—(क) प्रकृति मे महत् की सौन्दर्य-भावना साधारणत अनन्त शक्ति,

विशाल आकार तथा व्यापक विस्तार से सम्बन्धित है। इसमें मूलतः प्रारम्भिक स्थिति से भय और विस्मय के भाव सन्निहित हैं। इस प्रकार महत् रूप से भयकरता और उत्पीडन सम्बन्धित तो अवश्य हैं, परन्तु सौन्दर्य के स्तर पर महत् मे इनका योग नही माना जा सकता और न ये उसके मूल मे कहे जा सकते हैं। महत् की सौन्दर्यानुभूति में एक प्रकार का व्यापक प्रभाव रहता है, जो वस्तु की आकाश-स्थिति, शक्ति-सचलन अथवा उसके गुण से सम्बन्धित है। महानता की सौन्दर्य-भावना, विशालता के कल्पनात्मक परप्रत्यक्ष से प्रभावित होती है। इसके अनन्तर इसमे सहानुभूति की मूल-रूप तदाकारता की चेतन अनुभूति मिल जाती है। इसी कल्पनात्मक सहानुभूति से हम वस्तु की विशालता सम्बन्धी मानसिक महानता की तदाकारता स्थापित करते हैं।

संवेदक—(ख) प्रकृति के दूसरे सौन्दर्य-रूप को हम सवेदनात्मक (प्रभावशील) मानते हैं। इस सवेदनात्मक मानसिक स्थिति मे प्रगाढ की भावना है। इसके मूल मे इन्द्रिय-वेदना की सुखात्मक अनुभूति अवश्य है और इसके आधार मे प्रकृति के माध्यमिक गुण हैं। परन्तु प्रकृति सौन्दर्य के इस रूप से इनका दूर का सम्बन्ध है, यह पिछले प्रकरण की विवेचना से ही प्रत्यक्ष है। यह प्रकृति का इदयात्मक सौंदर्य इन्द्रियो को मादकता के समान प्रभावित करता है। वस्तुत. इन सब सौन्दर्य रूपो की कल्पना अलग-अलग नही की जा सकती। यही कारण है कि इस सवेदनात्मक सौन्दर्य भाव मे महत् का रूप भी सन्निहित हो सकता है। साथ ही इस भाव मे साहचर्य-भावना और उसके साथ मानवीय भावो का आरोप बहुत कुछ मिल-जुल गया है।

सचेतन—(ग) प्रकृति-सौन्दर्य मे सबसे अधिक व्यापक विभिन्नता उत्पन्न करने वाला रूप है, प्रकृति का सचेतन सौन्दर्य। इस सौन्दर्य रूप मे हमारी चेतना का सम है, साथ ही साहचर्य-भावना की विकासोन्मुखी प्रवृत्तियो का सयोग भी। आदिम-काल का प्रकृति पर चेतना तथा मानवीय आकार का आरोप सौन्दर्य रूप तो नही था; पर उसने सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार प्रस्तुत किया है। विकास के साथ जैसे-जैसे आत्म-तदाकारता की भावना, सामाजिक स्तर पर साहचर्य सम्बन्धी विभिन्न भावनाओ से मिलती गई, प्रकृति पर उनका आरोप भी उसी विषम मन स्थिति के साथ होता रहा है।[1] इस स्तर पर प्रकृति सौन्दर्य का कोई भी रूप इस भावना से प्रभावित हुए बिना नही रह सका है। यही कारण है कि प्रकृति-सौन्दर्य के समस्त रूपो पर इस रूप की छाया पडती रहती है।

× × ×

प्रकृति प्रेम—अन्त मे यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रकृति का सौन्दर्य तथा आकर्पण सवेदनात्मक विकास के साथ अधिक प्रत्यक्ष तथा व्यक्त होता गया है।

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रकृति पर विषम भाव स्थितियों के आरोप मिलते हैं।

इस विषय में कुछ लोगो को भ्रम है कि सभ्यता तथा ज्ञान के साथ हमारा प्रकृति-प्रेम कम होता जाता है। उनकी धारणा कुछ इस प्रकार की है कि सौन्दर्य-भावना पर आधारित प्रकृति-प्रेम भ्रमपूर्ण ज्ञान से होता है। और ज्यो ज्यो हम प्रकृति तथा उसके नियमो से परिचित होते जाते है, हमारा प्रेम का भाव उसके सौन्दर्य के साथ ही विलीन होता है। परन्तु यह ठीक नही है। वस्तुत हम ज्यो-ज्यो प्रकृति से परिचित होते जाते हैं, हम प्रकृति को अधिकाधिक अपने जीवन तथा चेतना के सम पर पाते हैं। इस कारण एक प्रकार से प्रकृति के प्रति हमारा सर्वचेतनवादी मत होता जाता है। हम प्रकृति के नियमो मे अपने जीवन की समानान्तरता पाते हैं। आन्तरिक विश्व और वाह्य विश्व की यह एकरूपता एक विशेष आकर्षण का विषय हो गई है। परन्तु आज मानव अपनी समस्या मे इतना अधिक उलझा लगता है कि वह प्रकृति को प्रयोजनात्मक दृष्टि के अतिरिक्त देख नही पाता। परन्तु मानवीय जीवन की अशाति तथा हलचल के विरोध मे प्रकृति की शाति आज भी उतनी ही आकर्षक हो उठती है।

मानव इतिहास के क्रम मे—यदि हम मिथ-शास्त्र तथा मानव-शास्त्र के सहारे पिछले विकास-क्रम पर विचार करते हैं, तब भी इसी सत्य तक पहुँचते हैं। प्रारम्भिक युग मे मानव चेतना पर प्रकृति की अज्ञात रूपात्मकता छायी रहती थी जिससे वह उस स्थिति मे केवल अपनी आवश्यकताओ को ही समझ सकता था। इसके अनन्तर मानव ने मानस के सहारे प्रकृति के आकारो को स्थान-केन्द्रित करना आरम्भ किया। यह वस्तु-बोध की अज्ञानात्मक अवस्था थी। उस समय उसको बोध था कि वह ऐसी अपरिचित वस्तु से घिरा है जिसको वह नही जानता था। इस स्थिति मे प्रकृति केवल उसके भय का विषय थी। तीसरे स्तर पर प्रकृति स्पष्ट रूपरेखा मे आने लगती है। परन्तु इस स्थिति मे मानव प्रकृति को अपने ही समान समझने का भ्रम करता था। इस मानवीकरण के युग मे मानव प्रकृति मे उसके रूप से अलग एक सूक्ष्म रूप भी मानता था। धीरे-धीरे भय के साथ जिज्ञासा भी बढने लगी और प्रकृति को मानव अपने समान सप्राण और सचेतन समझने लगा। इस स्थिति तक वह प्रकृति को पहचान सका था और यही से प्रकृति सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। इसके पूर्व सौन्दर्य केवल सुखानुभूति के रूप मे माना जा सकता है। इस स्वचेतना के (आत्म) आरोप के बाद प्रकृति सर्वचेतन रूप मे अधिक व्यापक तथा सुन्दर हो गई और इस स्थिति के बाद प्रकृति अब हमारे समस्त भावो और कल्पनाओ का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने लगी है। हम देखते हैं कि इस विकास मे प्रकृति-सौन्दर्य अधिक स्पष्ट तथा व्यक्त ही हुआ है।

## पंचम प्रकरण

# प्रकृति-सौन्दर्य और काव्य

पिछले प्रकरण मे मानव और प्रकृति के सम्बन्धो के माध्यम से सौन्दर्य की व्याख्या की गई है। परन्तु इस विवेचना मे प्रकृति-सौन्दर्य पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस सौन्दर्य की रूप-रेखा उपस्थित करते समय काव्य तथा कला सम्बन्धी उल्लेख आए हैं, लेकिन वे प्रासगिक ही कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण मे प्रकृति-सौन्दर्य काव्य का विषय किन विभिन्न रूपो मे होता है, इस पर विचार करना है। वस्तुत हम देखेंगे कि काव्य भी सौन्दर्य-भाव से सम्बन्धित है। इसलिए प्रश्न यह है कि प्रकृति-सौन्दर्य काव्य सौन्दर्य मे किस प्रकार और किन रूपो मे अभिव्यक्त होता है। परन्तु इस विवेचना के पूर्व काव्य का एक निश्चित स्वरूप भी हमारे सामने होना चाहिए। हम देख चुके हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य-भाव मे हमारा कलात्मक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहता है। लेकिन काव्य के विषय मे विद्वानो मे ऐसा विचार-वैषम्य है कि किसी एक के मत को लेकर चलने से काव्य का स्वरूप एकागी ही लगता है। यद्यपि ऐसा है कि प्रत्येक सिद्धान्त की व्यापकता मे अन्य सभी अग समा जाते हैं। इस प्रकार जब तक काव्य विषयक विभिन्न मत किसी क्रमिक स्वरूप मे नही उपस्थित हो जाते, उसका पूरा स्वरूप हमारे सम्मुख नही आ सकेगा। और साथ ही इन मतो के विषय मे भ्रम भी रह सकता है।

### काव्य की व्याख्या

विभिन्न मतों का समन्वय—प्रत्येक काव्य-वर्ग के आचार्य ने अपने मत को इतना महत्त्व दिया है और साथ ही व्यापकता भी प्रदान की है कि एक ओर यह मत अपने रूप विशेष के कारण सीमित और भ्रामक विदित होता है और दूसरी ओर अपनी व्यापकता के कारण दूसरे मतो को आत्मसात् भी कर लेता है। अलकार, ध्वनि, रीति तथा रसवादी आचार्यों के सिद्धान्तो मे यही बात समान रूप से पाई जाती है। भारतीय

काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तो मे कवि के मनस्-परक विषय-पक्ष की उपेक्षा भी की गई है।[1] जहाँ तक पाश्चात्य विद्वानों के मत का प्रश्न है, उनमे भी काव्य की विभिन्न स्थितियो को महत्त्व दिया गया है। परन्तु इनमे समन्वय का मार्ग ढूँढा जा सकता है। वैसे पश्चिम मे काव्य सम्बन्धी इतने वर्ग या स्कूल भी नही हैं। वहाँ मुख्यतः काव्य के दो रूप विषयक सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं, जिनको स्वच्छन्दवादी तथा सस्कारवादी कहा गया है। बाद मे ये सिद्धान्त विशेष गुणो से बँधकर सिद्धान्त विषयक विभिन्नता के प्रतीक नहीं रह सके। क्योंकि प्रत्येक युग मे काव्य सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तिया तो मिलती ही है। इन दोनो सिद्धान्तो मे व्यक्तिगत स्वानुभूति तथा परिस्थितिगत चरित्र-चित्रण का भेद है, साथ ही एक की शैली भावात्मक है और दूसरे की रूपात्मक है। इन्ही के अन्तर्गत अन्य अनेक मत है जिनका उल्लेख उचित स्थान पर किया जायगा। काव्य के सम्पूर्ण स्वरूप को ध्यान मे रखते हुए विचार करने पर लगता है काव्य सामञ्जस्य है, समन्वय है और एक सम है। और यह सम अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा सवेदना ( प्रभाव ) तीनो को लेकर है। इसलिए कहा जा सकता है काव्य सौन्दर्य-व्यजना है।

काव्य सौन्दर्य व्यजना है—सौन्दर्य की विवेचना भावो के विकास तथा प्रकृति के सम्बन्ध मे की गई है। यही सौन्दर्य कौशल की निर्भर साधना मे कला को जन्म देता है और कला जब सौन्दर्य के उपकरणो से सम उपस्थित कर लेती है, वह काव्य सौन्दर्य हो जाता है। इस सीमा मे सगीत भी काव्य है। सगीत मे नाद और लय के विरोध तथा वैषम्य से भाव-साम्य उपस्थित किया जाता है और काव्य म व्यजनात्मक ध्वनियो के सयोग मे, विरोध-वैषम्य के आधार पर भाव-साम्य उपस्थित किया जाता है। साधारण कलाओ मे सौन्दर्य की व्यजना प्रकृति के उपकरणो से की जाती है। उपकरणो के प्राकृतिक गुण स्वय भावाभिव्यक्ति मे सहायक होते हैं। केवल उनमे अभिव्यक्ति की सप्राण व्यजना की आवश्यकता रहती है। परन्तु काव्य मे व्यजना का सबसे अधिक महत्त्व है। इसी कारण भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त और योरोपीय अभि-व्यजनावाद काव्य में अधिक स्वीकृत रहे है। इनमे काव्य के मुख्य स्वरूप का सकेत है। काव्याभिव्यक्ति की साधन रूप भाषा म शब्द भाव व्यजना के प्रतीक होते हैं। अन्य कलाओ मे रूपात्मक सौन्दर्य का आदर्श रहता है, सगीत मे भाव और उपकरणा का सम ही सौन्दर्य है परन्तु काव्य मे ध्वनि को व्यग का आश्रय लेना पड़ता है। यह ध्वनि जब सौन्दर्य की व्यजना करती है तभी काव्य है। इसको 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है और इस 'शब्द' मे 'शब्दार्थों

१. इस विषय में लेखक की 'सस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (हिंदुस्तानी, जौ० सि०, ४७ ई०)।

सहितौ काव्यम्' का भाव भी मूलतः सन्निहित है।[1]

काव्य-सौन्दर्य की यह भावना पाश्चात्य मतों में भी प्रतिपादित होती है। इस प्रकार काव्य कवि की स्वानुभूति है; भाषा के माध्यम से उपस्थित की हुई रूपात्मक अभिव्यक्ति है और इस काव्य की अभिव्यक्ति का अर्थ है संवेदनशीलता। काव्य का सौन्दर्य अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा प्रभावात्मक संवेदना तीनों से ही सम्बन्धित है। भारतीय अलंकार, ध्वनि तथा रस सिद्धान्तों में विभिन्न प्रकार से काव्य-सौन्दर्य के स्तरों की व्याख्या की गई। परन्तु इन तीनों का समन्वय ही काव्य में सौन्दर्य हो जाता है।

काव्यानुभूति—पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने अनुभूति को काव्य सौन्दर्य में महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है। वहाँ अधिकांश विद्वानों ने काव्य की व्याख्या विषयि पक्ष की मनस्-परक दृष्टि से की है और इसमें कवि की अनुभूति की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इसका उल्लेख जब संस्कारवादी आचार्य करते हैं, तब वे इसे जीवन सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि मानते हैं। परन्तु स्वच्छंदवादी विचार-धारा में उसे कवि की व्यक्तिगत भावात्मक अनुभूति माना गया है। भारतीय सिद्धान्तों में कवि की स्वानुभूति की उपेक्षा की गई है, अर्थात् कवि के मनस्-परक पक्ष की, काव्य की विवेचना में अवहेलना हुई है। काव्य के व्यापक विस्तार में कवि के मानसिक पक्ष के दो प्रमुख रूप मिलते हैं। एक तो विषय रूप वस्तु-जगत् जिससे कवि प्रभाव ग्रहण करता है और दूसरा उसी का मानसिक पक्ष जो स्वतः प्रभाव-स्थिति है। किसी भी मन स्थिति के लिए कोई आलम्बन रूप वस्तु-विषय आवश्यक है। परन्तु यह विषय केवल भौतिक प्रत्यक्ष-बोध के रूप में नहीं वरन् मानसिक कल्पनात्मक स्थितियों में भी रह सकता है। इस विषय के भी दो रूप हैं। एक तो भौतिक स्वरूप में वस्तु या व्यक्ति, दूसरे मानसिक स्थिति में वस्तु का गुण या व्यक्ति का आचरण। इन मानसिक स्थितियों को वस्तु या व्यक्ति से सम्बन्धित उच्च-मूल्यांकन समझना चाहिए जो उनके रूप के साथ सम्मिलित कर लिए गए हैं। इसके आधार में सौन्दर्य के साथ सत्य और शिव भी सम्मिलित है और यह शिव कुछ नहीं केवल सामाजिक विकास का अध्यन्तरित रूप है। परन्तु कवि की स्वानुभूति की मन स्थिति में व्यक्ति तथा वस्तु इसी प्रकार चित्रित होते हैं। समझने के लिए राम के व्यक्तित्व में स्वरूप और चरित्र दोनों को ले सकते हैं। जब हम राम का विचार करते हैं, उस समय राम सुन्दर हैं और अच्छे (चरित्र) भी हैं। उनके सौन्दर्य में दोनों ही रूप समन्वित होकर आते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि वस्तु की यह विशेषता तो मानसिक है फिर इसमें व्यक्ति अथवा वस्तु का अलग उल्लेख क्यों किया गया है। जब हम किसी वस्तु के सीधे सम्पर्क में होते हैं एक सीमा तक

१. रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ (पृ० ४) काव्यालंकार : भामह।

ऐसा कहना सत्य है। परन्तु जब वस्तु या व्यक्ति अपने गुण अथवा आचरण के साथ मानसिक परप्रत्यक्ष में उपस्थित होते हैं, उस समय उनकी अनुभूति की स्थिति के साथ विषय या आलम्बन भी माना जा सकता है। समष्टि का यह रूप मानसिक आश्रय पर भावानुभूति के अन्य रूप धारण करता है और बाद में वस्तु को भी दूसरी रूपरेखा प्रदान करता है। परन्तु आचरण और गुणों का यह मूल्यांकन भाव-स्थितियों से विकसित होकर भी ज्ञान के समीप है और सौन्दर्य की रूपमयता में ही कवि की अनुभूति का विषय बनता है।

वस्तुतः किसी भी मानसिक स्थिति में विषय और विषयि, आलंबन और आश्रय को अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ विवेचना की सुविधा के लिए ही इन पर अलग-अलग विचार किया गया है। स्थिति के अनुसार आश्रय का मानसिक दृष्टिकोण भी बदलता है। वैसे एक प्रकार से कवि अपनी अनुभूति की समस्त स्थितियों का आश्रय ही है। इन्द्रिय-वेदना की प्रथम स्थिति में केवल संवेदनात्मक प्रेरणाएँ ही मानसिक अनुभूतियाँ हो सकती हैं, परन्तु कवि की मन स्थिति के स्तर पर परप्रत्यक्ष भी मानसिक भावों और अनुभावों को रूप प्रदान करते हैं। फिर ये भाव दूसरे वस्तु-विषय को प्रभावित कर उनको भिन्न प्रकार से रूप दान करते हैं। कभी-कभी इस भाव-स्थिति की विषय-वस्तु मानस में दूसरे भावों को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। यह बात वस्तु और व्यक्ति दोनों के विषय में विभिन्न परिस्थितियों के साथ लगती है। वस्तु के उदाहरण में—लाल कमल प्रेम का प्रतीक है, परन्तु रति के आधार पर वह अन्य भाव-स्थिति भी उत्पन्न कर सकता है। व्यक्ति में इसी प्रकार एक आचरण दूसरे भाव की उद्भावना कर सकता है। राम के सौन्दर्य के साथ वीरत्व का योग है, साथ ही यह वीरत्व भक्ति का आधार भी बन जाता है। फिर इसके अतिरिक्त समस्त आचरणात्मक शिव और वस्तु का रूपात्मक सत्य मानसिक सौन्दर्यानुभूति में विभिन्न रूप धारण कर सकता है। वीरता सुन्दर हो जाती है, सुन्दरता सत्य हो जाती है। इन समस्त मूल्यों का सौन्दर्य अनुभूति का रूप ही है।

काव्याभिव्यक्ति—अधिकांश विद्वानों ने अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति का उल्लेख किया है। वस्तुतः काव्य में अधिक व्यक्त स्थिति अभिव्यक्ति की है जो अनुभूति और प्रभावात्मक संवेदना को समन्वय की स्थिति में प्रस्तुत करती है। कदाचित् इसीलिए काव्य की व्याख्या करने वाले शास्त्रियों का ध्यान विशेष रूप से अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहा है। काव्य का अनुभूति तथा संवेदनात्मक (प्रभाव) पक्ष इसके अन्तर्गत कर दिया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने अलंकार में सौन्दर्य को काव्य की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। ध्वनि के विस्तार में तो समस्त काव्य का रूप अभिव्यक्ति रूप में आ जाता है। रस सिद्धान्त के अन्तर्गत 'शब्द' तथा 'वाक्य' की स्वीकृति

में काव्य के अभिव्यक्त पक्ष को स्वीकार किया गया है। और रीति-काव्य की अभिव्यक्ति का स्वरूप है।[1] विभिन्न पाश्चात्य विद्वानो ने भी अभिव्यक्ति को काव्य का मुख्य रूप माना है। वर्डस्वर्थ काव्य को स्वाभाविक सशक्त भावो का प्रवाह कहते हैं और शैली के अनुसार साधारण अर्थ मे काव्य की परिभाषा कल्पना की अभिव्यक्ति के रूप मे की जा सकती है। इसी प्रकार हैज़लिट कल्पना और वासना की भाषा को काव्य कहते हैं।[2]

भाव-रूप—(क) जिस काव्य के मनस्-परक विषयि-पक्ष का उल्लेख पिछले अनुच्छेद मे किया गया है, वह सर्व साधारण की मन स्थिति से सम्बन्धित अनुभूति है। साधारण व्यक्ति और कवि मे भेद अवश्य है, पर वह साधारण मानस शास्त्र का नही है। कवि की स्वानुभूति की विशेषता उसकी अपनी व्यक्तिगत प्रतिमा तथा साधना का परिणाम है। इसके द्वारा वह सूक्ष्म स्थितियो तथा मनोभावो तक पहुँच जाता है और उनसे सम्बन्धित अनुभूति को अपने मानस मे रोक भी सकता है। परन्तु प्रमुख बात है उसमे अभिव्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा, जिससे रोकी हुई अनुभूति को व्यक्त करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है। काव्य की अभिव्यक्ति मे शब्द भाव के रूपात्मक प्रतीक हैं। वे शब्द ध्वनि के आधार पर बनते हैं। शब्द मे अर्थ-रूप का सयोग एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। सस्कृत के आचार्यों ने इसी बात को ध्यान मे रखकर 'शब्दार्थों' को काव्य का रूप स्वीकार किया है। शब्द मे सन्निहित भाव बिम्ब एक बार परप्रत्यक्ष रूप ग्रहण करता है, जिसमे वस्तु के रूप का आलम्बन भी सम्मिलित रहता है। परन्तु ये परप्रत्यक्ष रूप अभिव्यक्ति के पहले ध्वनि (शब्द) बिम्ब ग्रहण करते हैं। भाषा के विकास के साथ यह कहना तो कठिन है कि भाषा अपने भावात्मक रूप मे कब कल्पना-रूपो से हिल-मिल गई। परन्तु अब तो कल्पना रूप भाषा के साथ ही हमारे मानस मे स्थिर है। भाषा के शब्दो मे परप्रत्यक्ष उसकी भावमयी कल्पना मे अपना आधार ढूँढते हुए वस्तु के साथ उपस्थित होते हैं। इसी प्रकार भाषा के वस्तु रूपो म भावात्मक अनुभूति का सयोग भी आरम्भ से होता रहा है। भाषा के रूप के साथ वस्तु के रूप की स्थिति सरल और सुरक्षित है—वृक्ष कहने के साथ रूप का बोध हो जाता है। भाषा की प्रारम्भिक भावुकता धीरे धीरे कम होती गई है।

---

१ वामन के अलकार सूत्र में 'काव्य खलु ग्राह्यमलङ्कारात् ।१। सौन्दय मलका ।२। (प्र०)। आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में, 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति (प्र०)। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में—'वाक्य रसात्मक काव्यम् ।३।' (प्र०)। पण्डितराज जगन्नाथ के रसगगाधर में—'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम् ।' (प्र०)। वामन के काव्यालकार सूत्र में—'रीतिरात्मा काव्यस्य' ६ (प्र०)।

२ वर्डस्वर्थ के 'प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स' में, पी० बी० शैली की, 'ए डिफेन्स आव पोइट्री' में तथा डब्ल० हैज़लिट के 'लेक्चर्स आन इगलिश पोएट्स' में उल्लिखित।

प्रारम्भ में प्रत्यक्ष-बोध में जो प्रभाव 'वृक्ष' शब्द के साथ सम्मिलित था, वह रूप से अलग होता गया। अन्त में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए व्यजना के माध्यम से अन्य सयोगो का आश्रय लेना पडता है। फिर भी समस्त अभिव्यक्ति का आधार 'शब्द' का अर्थ ही है।

ध्वनि-बिम्ब—(ख) शब्द मे मानसिक भाव-बिम्ब के अतिरिक्त ध्वनि-बिम्ब भी होता है और ध्वनि बिम्ब का अभिव्यक्ति मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। कारलाइल के अनुसार काव्य वस्तुओ की अन्त प्रवृत्ति की अनुभूति पाने वाले मानस के सगीतात्मक विचार की अभिव्यक्ति है। शब्द लिखित रूप मे प्रत्यक्ष-बोध के आधार पर रूप तथा ध्वनि दोनो प्रकार से हमारे सामने आता है। परन्तु अधिकतर शब्द मे, ध्वनि से सम्बन्धित अर्थ मे ही वस्तु रूप के साथ भाव-बिम्ब सन्निहित रहता है। इसी कारण ध्वनि का प्रयोग लगभग व्यजना के अर्थ मे होता है और शब्द के अर्थ का आधार होने के कारण ही, ध्वनि का काव्य से सम्बन्धित गुण और रीति के सिद्धान्तो मे प्रमुख स्थान रहा है। शब्द के ध्वन्यात्मक प्रयोग के लिए आवश्यक है कि यह ध्वनि-बिम्ब वस्तु के आधार मे परप्रत्यक्ष के साथ भावुकता का सयोग स्थापित कर सके। छद के मूल मे ध्वनि की गति और लय का ही मानसिक तादात्म्य सन्निहित है।

सामञ्जस्य—(ग) भाव-रूप तथा ध्वनि-बिम्ब का शब्दार्थ मे सामञ्जस्य रहता है। परन्तु काव्य मे शब्द के माध्यम से रूप और अर्थ की अभिव्यक्ति का समन्वय अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सामञ्जस्य की कलात्मक व्यजना ही काव्य का सौन्दर्य है। समस्त ध्वनि-काव्य मे यह सौन्दर्य की व्यजना रहती है। आलकारिक शैली मे इसी प्रकार की सौन्दर्य कल्पना है।[1] यद्यपि अलकार सलक्ष्य क्रम ध्वनि के अन्तर्गत व्यग्य भी होता है। इनमे यह है कि ध्वनि व्यजित भाव-सयोगो से अधिक सम्बन्धित है, जबकि अलकार वस्तु के रूप गुण के साम्य का आधार ढूँढकर अधिक चलता है। व्यापक दृष्टि से अलकार मे ध्वनि का और ध्वनि का अलकार मे समन्वय हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की यह सम्भावना विभिन्न रूप ग्रहण करती है। परन्तु सभी का उद्देश्य एक है, अभिव्यक्ति की सम-स्थिति प्राप्त करना जिस पर अनुभूति और सवेदना सौन्दर्य-रूप हो जाती है। इस स्तर पर मानसिक सवेदनात्मक स्थिति केवल भाव सयोग के आधार पर नही वरन् कलात्मक योग और रूपो की विशेष स्थिति पर क्रियाशील होती है। अभिव्यक्ति के इसी रूप को समझाने के लिए, उसे नाना रूपो को धारण करने वाली कल्पना की उडान तथा असाधारण आदि कहा गया है।

काव्यानन्द या रसानुभूति—काव्य मे एक प्रकार के आनन्द की भावना सन्नि-

---

१ दण्डी ने काव्यादर्श से 'काव्यशोभाकरान धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।'

हित है। वह सुख का रूप नहीं मानी जा सकती। सुख-संवेदनावादी सौन्दर्य-शास्त्रियों के समान कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर काव्य की व्याख्या करने की गलती की है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सबसे अधिक सरल आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द-स्थिति केवल भावों के आधार पर ही उत्पन्न नहीं हुई है। यह तो अनुभूति की व्यंजना की चमत्कृत स्थिति से सम्बन्धित है। परन्तु काव्य तथा कला के क्षेत्र में 'आनन्द' का आदर्श समान रूप से लागू नहीं है, क्योंकि इसमें विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप हो सकते हैं। जिस प्रकार विकास की मन स्थितियों के साथ सौन्दर्य भाव विभिन्न आधार पर रहा है, ऐसी परिस्थिति काव्य के विषय में भी समझी जा सकती है। जिस विद्वान ने जिस दृष्टिकोण को महत्व दिया है, उसने काव्य की व्याख्या भी उसीके आधार पर की है और उसके मत में सत्य का अंश भी इसी सीमा तक है। भारतीय काव्य शास्त्र के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त में काव्य के इस आनन्द को भावों के आधार पर समझा गया है। परन्तु यह काव्य के संवेदनात्मक प्रभाव-पक्ष की व्याख्या कहा जा सकता है, इसके आधार पर काव्य की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी कारण ध्वनिवादियों ने इसको असंलक्ष्य क्रम व्यंग के रूप में स्वीकार किया है। काव्य केवल मानवीय भावों के आधार पर नहीं रखा जा सकता। उसमें कवि की स्वानुभूति के रूप में कवि की मन स्थिति तथा पाठकों की रसानुभूति के रूप में उनकी मन स्थिति का व्यंजनात्मक सौन्दर्य रहता है।

'वाक्य रसात्मक काव्यम्' को मानने वाले रसवादियों की दृष्टि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव रूप रस में सीमित नहीं है।[1] यह परिभाषा रस निष्पत्ति की आनन्दमयी समस्थिति में ही पूर्ण समझी जायगी। इस स्थिति में रस कवि और पाठक दोनों की मानसिक असाधारण स्थिति से सम्बन्धित है। रस सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले आचार्यों ने प्रारम्भ में काव्यानुभूति तथा साधारण भावों को एक ही धरातल पर समझने की भूल की है। बाद में रस को अलौकिक कह कर उसे साधारण भावों से अलग स्वीकार किया गया है। परन्तु रसों के वर्गीकरण में फिर यह भेद भुला दिया जाता है, वैसे यह वर्गीकरण आधार रूप स्थायी भावों को लेकर ही है। रस को लेकर यह वर्गीकरण दोषपूर्ण है और इसमें वासना के साधारणीकृत रूप को ही रस समझा गया है। सामाजिकों के हृदय में स्थायी भावों की स्थिति ठीक है, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के द्वारा उसकी एक साधारणीकृत स्थिति का बोध भी होता है। परन्तु रसात्मक आनन्द को समान भावों के उद्‌बोधन रूप में नहीं माना जा सकता। एक स्तर पर मानसिक भाव संयोग के

१ जैसा मम्मट काव्यप्रकाश में कहते हैं—'व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायीभावो रस स्मृत ।२८। (च०)

द्वारा सुखानुभूति सम्भव है, परन्तु काव्यानन्द के स्तर पर तो सौन्दर्याभिव्यक्ति ही आनन्द का विषय हो सकती है। इस भाव-स्थिति मे स्थायी भावो का आधार केवल सामाजिक साहचर्य-भावना का सूक्ष्म रूप माना जा सकता है। जैसा कहा गया है रस के व्याख्या-क्रम मे ये सभी स्थितियाँ मिल जाती हैं। परन्तु इन सभी मतो मे रस को साधारण भावो के स्तर पर समझने का भ्रम किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति मे 'रस' का सिद्धान्त आरोपवाद और अनुमानवाद मे सुखानुभूति की आत्म-तुष्टि के रूप मे समझा गया है। बाद मे भोगवाद और व्यक्तिवाद मे आत्म तुष्टि अधिक स्पष्ट है, पर इसके साथ ही साधारणीकरण की स्वीकृति के साथ साहचर्य-भाव का रूप भी आ जाता है।[2] इसी के आधार पर ध्वनिवाद की अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य की व्यजना का रूप भी मिल जाता है।

## आलम्बन-रूप मे प्रकृति

**प्रकृति-काव्य**—पिछले प्रकरण मे प्रकृति के सौन्दर्य-भाव पर विचार किया था और यहाँ काव्य को सौन्दर्य रूप मे ही समझा गया है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति काव्य की सौन्दर्य-व्यजना का विषय सरलता से हो सकती है। प्रकृति-सौन्दर्य की अनुभूति के लिए कविस्मय तथा कलात्मक दृष्टि का उल्लेख किया गया है। यही सौन्दर्य जब काव्य मे अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करता है, कवि की अनुभूति के साथ रूप बदलता है। प्रकृति का व्यापक विस्तार, उसका नाना रूपात्मक सौन्दर्य हमारी स्वानुभूति का विषय हो सकता है। परिवर्तन और गति की अनन्त चेतना मे मग्न प्रकृति युगो मे मानव-जीवन से हिलमिल गई है। मानव उसके क्रोड मे विकसित हुआ है, प्रकृति के युग-युग के परिचय का सस्कार उसमे साहचर्य भाव के रूप मे सुरक्षित है। इन्ही सस्कारो मे कवि प्रकृति के समक्ष अनुभूतिशील हो उठता है, और अपनी कल्पना से काव्य-व्यजना को रूप दान करता है। इस प्रकृति-काव्य मे प्रकृति आलम्बन होती है और कवि स्वय ही भावो का आश्रय है। काव्य की अभिव्यक्ति मे यह आलम्बन रूप विभिन्न प्रकार से उपस्थित होता है। प्रकृति आलम्बन की व्यापक स्थापना से भावो को आधार मिल सकता है, और केवल आश्रय की मन स्थिति मे भावो की व्यजना उपस्थित कर प्रकृति का सकेतात्मक स्वरूप चित्रित किया जा सकता है। साथ ही आश्रय की स्थिति मे कवि उसमे अपनी चेतना तथा भाव-स्थिति का प्रतिबिम्ब भी प्रस्तुत करता है। प्रकृति के इस आलम्बन रूप मे विशेषता यह है

---

२ भट्टलोल्लट के आरोपवाद में काव्य विषय के साथ सामाजिक आरोप कर लेता है, जिस प्रकार नट पात्र में। श्री शकुक ने अनुमानवाद माना, क्योकि भ्रम सम्भव नहीं है। भट्ट नायक प्रत्यक्ष ज्ञान से ही रसास्वादन मानते है, साथ ही उन्होने शब्द में भोग व्यापार और साधारणीकरण को प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त ने शब्द की व्यजना शक्ति मे रसनिष्पत्ति का साधारणीकरण व्यापार स्वीकार किया है।

कि इसमें *आलम्बन तथा आश्रय की भाव-स्थिति एक सम पर उपस्थित होती है।* अगले भाग में हम देखेंगे कि संस्कृत काव्याचार्यों ने प्रकृति को आलम्बन-रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसकी विवेचना उसी स्थल पर की जा सकेगी।

स्वानुभूत सौन्दर्य चित्रण—वनस्पति-जगत् का हलके-गहरे रंगों का छायातप, पक्षियों का स्वर-लय तरंगित संगीत, स्थिरता की दृढ भावना लिए आकाश में फैला हुआ पर्वत का महान् विस्तार, सरिता का निरन्तर गतिशील प्रवाह, गगन में फैली हुई उषा की अरुणाभा और रजनी का तारों से युक्त नीलाकाश, यह समस्त प्रकृति का शृंगार मानव के मन को भावों की सौन्दर्य-स्थिति प्रदान करता है। कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव अधिक स्पष्ट करता है और अपनी स्वानुभूति को काव्य की अभिव्यक्ति का रूप देता है। कभी-कभी कवि कथानक के पात्रों में अपनी मनःस्थिति को अभ्यन्तरित कर लेता है। परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति *तल्लीनता की भावना भावात्मक गीतियों में ही अधिक सुन्दर रूप से उपस्थित* होती है।

आह्लाद-भाव—(क) इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रकृति-सौन्दर्य की गम्भीर अनुभूति के आह्लाद में इन्द्रिय-वेदना सम्बन्धी सुखानुभूति का ही आधार है। परन्तु कल्पना की गम्भीरता उसे सौन्दर्य का ऊँचा धरातल प्रदान कर देती है। यह आह्लाद इन्द्रिय सुख-संवेदना का ही प्रगाढ और व्यापक रूप है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रकृति के रंग-रूप, ध्वनि आदि से युक्त सौन्दर्य की कल्पना गहराई से करता है और इस कल्पना में फिर प्रगाढ सुख की अनुभूति का योग भी उपस्थित करता है। यह सौन्दर्य के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और सूक्ष्म कल्पना का आधार लेकर विभिन्न रूप ग्रहण करती है। इसमें पूर्व उल्लिखित विकास की पृष्ठभूमि है। प्रसंगवश यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य के रूपों में एक दूसरे का प्रसार बहुत पाया जाता है। यहाँ विवेचना की दृष्टि से इनका अलग-अलग वर्णन किया जा रहा है। प्रकृति के इस आह्लादित रूप में उसके रूप का चित्रण भी आधार रूप से रहता है।

आनन्दानुभूति—(ख) आह्लाद की भावना जब प्रकृति के रूपात्मक आधार को एक सीमा तक छोड़ देती है, वह इन्द्रिय सुखानुभूति से अलग सौन्दर्य की आनन्दानुभूति के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकृति रूप में कवि की अनुभूति ही अधिक रहती है। प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नहीं वरन् भावात्मक साहचर्य के आधार पर ही स्थित है। इस प्रकृति के सौन्दर्य साहचर्य में कवि स्वयं अपने को सजग पाता है और यह सजगता विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। इस आनन्द की स्थिति में कवि को प्रकृति-जीवन और सौन्दर्य दान देती है और सप्राण कर उल्लसित भी

करती है। इस प्रेरणा से उल्लास मे कवि अपने मन मे स्थित विभिन्न सचारियो तथा अनुभावो का वर्णन काव्य मे करता है, प्रकृति-आलम्बन का रूप केवल रेखाओ मे रहता है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति सचारियो के रूप मे ही हो। इस अनुभूति का चित्रण कवि व्यजनात्मक शैली मे करता है और उस स्थिति मे प्रकृति के रूपात्मक प्रयोगो का आश्रय लेता है। परन्तु प्रकृति का यह रूप अन्य रूपो के साथ अधिक प्रयुक्त होता है।

आत्मतल्लीनता—(ग) आनन्दानुभूति की इस स्थिति के बाद प्रकृति-सौन्दर्य कवि के मानस मे प्रतिघटित होकर आत्मतल्लीनता की स्थिति मे अनुभूत होता है। यह सौन्दर्य-रूप कवि के मानस और प्रकृति के सम की अभिव्यक्ति है। इस स्थिति पर कवि प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है। और उसके मन मे यह सौन्दर्य आनन्द के रूप मे स्वय अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है। आनन्दानुभूति की यह आत्म-तल्लीन स्थिति प्रकृति के सवेदनशील आधार पर है जो साहचर्य भाव की सहानुभूति से सम्बन्धित है। कवि की आत्मतल्लीन स्थिति मे अन्य सभी भाव शात हो कर विलीन हो जाते हैं। इसकी अभिव्यक्ति मे कवि शात वातावरण उपस्थित करता है और रूपात्मक शैली का आश्रय लेता है जिसमे उल्लास के प्रतीक व्यापक तल्लीनता की व्यजना करते हैं। प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति की आधार-भूमि भी यही है। कभी भावो के गम्भीर तथा शात वातावरण म प्रकृति सौन्दर्य की आत्मलीन अनुभूति, अपनी उच्च आधार भूमि के कारण रहस्यानुभूति लगती है।[1]

प्रतिबिम्बित सौन्दर्य चित्रण—कवि प्रकृति की अनुभूति के साथ अपने मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब भी समन्वित करता है। ऐसी स्थिति म प्रकृति मे चेतना शक्ति और भावो की छाया दिखाई देने लगती है। इस अभिव्यक्ति म प्रकृति मानवीय जीवन के सम पर जान पडती है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियो ने इस आरोप को पूर्ण रसानुभूति नही स्वीकार किया वरन् 'रसाभास' और 'भावाभास' के अन्तर्गत माना है। दूसरे भाग मे सस्कृत काव्य-शास्त्र के साथ इसकी विवेचना की गई है। परन्तु यह सवेदनशील मन स्थिति रसात्मक आनन्द के समकक्ष है। इसमे प्रकृति मानसिक प्रतिबिम्ब के रूप म भावो का आलम्बन है। आश्रय की भाव स्थिति का आरोप इस पर होता है परन्तु इस स्थिति मे आश्रय के भावो का भिन्न कोई आलम्बन नही है। आश्रय के

---

१ प्रकृति का यह आलम्बन-रूप प्रकृतिवादी काव्य तथा गीतियो म उपस्थित होता है। अपने आलोच्य युग में हम देखेंगे कि इस प्रकार के काव्य रूपों का अभाव है। इसके न होने के कारणों की विवेचना 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक प्रकरणों के प्रारम्भ में की गई है। और यह रूप किस प्रकार इस साधना में अभ्यन्तरित स्थिति में मिलता है, इसका उल्लेख इन्हा प्रकरणों में यथा स्थान किया गया है।

रूप में कवि की मन स्थिति अपने भावों का आलम्बन इस सीमा में स्वयं होती है। फिर प्रकृति पर प्रतिबिम्बित होकर यह भाव-स्थिति अपने आश्रय का ही आलम्बन बन जाती है। उद्दीपन के प्रकृति-रूप में और इस रूप में थोड़ा ही भेद है। जब भावों का आलम्बन कोई दूसरा व्यक्ति होता है उस समय इस स्थिति में प्रकृति आश्रय के भावों को उद्दीप्त करती है।

सचेतन—(क) मानव प्रकृति को अपनी चेतना के आधार पर ही समझता है। इस कारण प्रकृति की समानान्तर स्थितियों में अपनी जीवन शक्ति का आरोप कवि के लिए सरल और स्वाभाविक है। कवि अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति के गतिशील और प्रवाहित रूपों को सजीव और सप्राण कर देता है। काव्य के इस रूप में प्रकृति अपने आप में लीन और क्रियाशील उपस्थित होती है, परन्तु यह मानवीय चेतना का प्रतिबिम्ब ही है। इस स्थिति में प्रकृति व्यापक चेतना के प्रवाह से सप्राण जान पड़ती है जो समान रूप से परिवर्तन और गति की शक्ति के रूप में स्थित है। काव्य की इस अभिव्यक्ति में—हिलती हुई पत्तियों में प्राणों का स्पन्दन है, बहती हुई सरिता में जीवन का प्रवाह है, पवन में शक्ति का वेग है और आकाश के चमकते तारों में जीवन की चमक है। कवि इस रूप को उद्दीपन के अन्तर्गत भी रख सकता है। इस स्थिति में कवि शक्ति या जीवन का आवाहन प्रकृति से करेगा लेकिन यह प्रेरणा किसी दूसरे आलम्बन के सम्बन्ध को लेकर होगी।

*मानवीकरण*—(ख) मानव चेतना के साथ प्रकृति मानवीय जीवन के रूप में भी अभिव्यक्त होती है। कवि प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों में व्यापक चेतना के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन का आरोप करता है। और इस प्रकार प्रकृति व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्धों में स्थिर होकर हमारे सामने उपस्थित होती है। प्रकृति के क्रिया-कलापों में मानवीय जीवन व्यापार की झलक व्यक्त होती है। प्रकृति के मानवीकरण की भावना में पशु-पक्षी जगत् तो मानवीय सम्बन्धों में व्यवहार करते प्रकट ही होते हैं, वनस्पति तथा जड़ जगत् भी व्यक्ति विशेष के जीवन के समान उपस्थित होते हैं। कवि की भावना में वृक्ष पुरुष के रूप में और लता स्त्री के रूप में एक-दूसरे को आलिंगन करते जान पड़ते हैं। सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलने को आकुल दौड़ रही है। पुष्प उत्सुक नेत्रों से किसी की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और सम्बन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना भी प्रचलित है। साहचर्य के आधार पर व्यापक प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य-रूप तो आलम्बन है परन्तु आकार के आरोप के साथ शृंगारिक भावना अधिक प्रबल होती गई है और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूप शृंगार का उद्दीपन विभाव समझा जा सकता है। इसमें आलम्बन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हो सकता

है। अप्रत्यक्ष आलम्बन रूप प्रेयसी के होने पर प्रकृति का आरोप ही प्रत्यक्ष आलम्बन का कार्य करता है। इस सीमा पर प्रकृति का आलम्बन रूप मानवीकरण तथा इस प्रकृति के उद्दीपन रूप मे बहुत कुछ समानता है।

भाव-मग्न—(ग) वस्तुतः कवि अपनी अभिव्यक्ति तथा वर्णनो मे इन विभिन्न रूपों को अलग-अलग करके नही चलता। यह अपने चित्रण मे इन मुख्य रूपो को कितने ही प्रकार से मिश्रित कर देता है और इन मिश्रित योगो के अनेक भेद किए जा सकते हैं। परन्तु उनको उपस्थित करना न तो यहाँ आवश्यक है और न सम्भव ही। मानवीकरण के अनन्तर, इसीसे सम्बन्धित प्रकृति के एक रूप का उल्लेख और किया जा सकता है। मानवीय क्रिया-व्यापारो के बाद मानवीय भावों का स्थान है। प्रकृति इनका भी प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है और वह मानवीय भावो मे मग्न जान पडती है। कवि अपनी कल्पना मे विभिन्न भावो को प्रकृति पर प्रतिघटित करता है और यह उसी के भावो का प्रसरण मात्र है। इसलिए भावमग्न प्रकृति आश्रय (कवि) के भावो को प्रतिबिम्बित करती हुई स्वयं आलम्बन ही है। व्यापक सहानुभूति से प्रकृति-सौन्दर्य के आश्रय पर जो भाव कवि के मन मे उत्पन्न होते हैं, उन्ही को वह प्रकृति पर प्रसरित कर देता है और इस प्रकार साहचर्य-भावना से प्रकृति हमारे विभिन्न भावो का आलम्बन हो सकती है। काव्य मे प्रकृति के विभिन्न रूप हमको चिन्तित, आशान्वित और करुणासिक्त लगते हैं। प्रकृति का यह रूप स्वतन्त्र आलम्बन के समान उपस्थित होता है, पर पिछली मनःस्थिति के समानान्तर या वर्तमान किसी भिन्न भाव-स्थिति का सहायक होकर उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आ जाता है। हम देख चुके हैं कि पिछले प्रकृति-रूप मे भी आलम्बन से उद्दीपन की सीमा मे जाने की प्रवृत्ति है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारी भाव-स्थिति अधिकतर मानवीय सम्बन्धो को लेकर है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की विवेचना के अन्तर्गत इस बात को अधिक स्पष्ट किया गया है।[1]

## उद्दीपन-रूप प्रकृति

मानव-काव्य—अभी तक काव्य मे प्रकृति के उन रूपो का वर्णन किया गया है जिनमे कवि अपनी भावस्थिति मे प्रकृति के समक्ष रहता है। परन्तु काव्य का विस्तार मानवीय भावो मे है जो मानवीय सम्बन्धो मे ही स्थित है। इस कारण साहित्य मे मानव-काव्य ही प्रधान होता है। वैसे तो प्रकृति-काव्य मे भी कवि की व्यक्तिगत

---

१. इस प्रकार के प्रकृति रूप थोड़े से विभेद के कारण आलम्बन से उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण दूसरे भाग के 'विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति' तथा 'उद्दीपन विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरणों में काव्य-रूपों का आलम्बन तथा उद्दीपन को लेकर स्पष्ट भेद नहीं किया जा सका है।

भावना ही प्रधान रहती है। परन्तु जब किसी स्थायीभाव का अन्य कोई प्रत्यक्ष आलम्बन होता है, उस समय प्रकृति उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत ही विभिन्न रूपों में उपस्थित होती है। प्रकृति के सम्पर्क में रूप या परिस्थिति आदि के संयोग से मानवीय आलम्बन प्रत्यक्ष हो जाता है, अथवा उससे सम्बन्धित भावों को उद्दीपन की प्रेरणा प्राप्त होती है। आश्रय की किसी विशेष भाव-स्थिति में प्रकृति अपनी साहचर्य भावना के कारण आलम्बन विषयक किसी सम्बन्ध में उपस्थित होती है और प्रकृति में यह भावना आश्रय की मन स्थिति से सम्बन्धित है। इस प्रकार प्रकृति की उद्दीपन शक्ति उसके सौन्दर्य और साहचर्य के साथ परिस्थिति के संयोगों पर भी निर्भर है। प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति कथानक की परिस्थिति और घटनास्थित आदि के रूप में चित्रित होकर उपयुक्त मन स्थिति का वातावरण उपस्थित करती है। परन्तु जैसा पिछले विभाग में विचार किया है प्रकृति के इस रूप तथा पिछले आलम्बन रूप में बहुत सूक्ष्म भेद है।

मानवीय भाव और प्रकृति—पिछले प्रकरणों की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि प्रकृति से मानव का चिरंतन सम्बन्ध चला आ रहा है। उसके सौन्दर्य में मानवीय साहचर्य भावना की स्थायी रूप से प्रवृत्ति बन गई है। प्रकृति की परिस्थितियाँ भी मानव की परिचयात्मक स्मृति हैं। ऐसी स्थिति में मानव किसी भी मन स्थिति में हो वह प्रकृति से सम स्थापित कर सकता है, साथ ही उससे भावात्मक प्रेरणा भी प्राप्त कर सकता है। अगर आश्रय में भाव की स्थिति अन्य आलम्बन को लेकर होगी तो वह उस भाव को ग्रहण करती विदित होगी और इस सीमा पर वह विभिन्न रूपों में उद्दीपन का कार्य करती है।

मन स्थिति के समानान्तर—(क) जब आश्रय के मन म भाव किसी आलम्बन को लेकर छिपा रहता है और ऊपर प्रकट नही होता, उस समय प्रकृति उस भाव की मन स्थिति के समानान्तर लगती है। उसका यह समानान्तर स्वरूप मन स्थिति का संकेत भर देता है। इस प्रकृति-रूप में केवल भावों की रुकी हुई उमस का वर्णन होता है। इस रूप म प्रतिबिम्बित प्रकृति स्वरूप की चेतना सन्निहित है। इनम भेद केवल इतना है कि उसमें सम्पूर्ण जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति प्रकृति पर छायी रहती है और इस प्रकृति के रूप मे मन स्थिति की अज्ञात भावना को संकेत भर मिलता है। बहती हुई सरिता म यदि उत्कंठा की भावना व्यक्त होती हो अथवा घुमडते हुए बादलों में हृदय की उमडन की ध्वनि हो और वह भी किसी परदेशी की स्मृति को लेकर, तो यह उद्दीपन का रूप ही समझा जा सकता है। क्योंकि प्रकृति के इस रूप में अज्ञात भावना को प्रत्यक्ष में लाने का प्रयास छिपा है।

भावोद्दीपक रूप—(ख) इसके अनन्तर प्रकृति का सम्पर्क व्यक्त तथा अव्यक्त

भावों को प्रदीप्त करता है। यह उद्दीपन की प्रेरणा कभी अव्यक्त-भाव को ऊपर लाकर अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करती है और कभी व्यक्त-भाव को अधिक तीव्र कर देती है। वसन्त का प्रसार एक ओर रति की भावना जाग्रत करता है, दूसरी ओर विरही-जनों की उत्कंठा को ओर भी बढ़ा देता है। इस प्रकार इससे उद्दीप्त होकर रति और उत्कंठा का भाव प्रकृति के साथ एक रूप बन जाता है। भाव-स्थिति का यह व्यापार साम्य तथा विरोध के आधार पर ही चलता है। कभी प्रकृति का उल्लास मन के सम पर उसे उल्लसित करता है और कभी उसकी व्यथा के विरोध में उसे अधिक तीव्र करता है। प्रकृति का रूप कभी हमारे भावों से निरपेक्ष भी जान पड़ता है; तब भी साहचर्य-भावना की उपेक्षा के रूप में भावों को यह प्रभावित करती है। परन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध कथानक की पृष्ठभूमि के रूप में ही अधिक सम्भव है।

अप्रत्यक्ष आलम्बन रूप (आरोप)—(ग) यहाँ तक प्रकृति के सीधे उद्दीपन-रूप की विवेचना हुई है। परन्तु मानवीय भावों की अभिव्यक्ति से साम्य उपस्थित कर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। भावों की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति का वर्णन विभिन्न रूपों में किया जा सकता है। भावों के साथ प्रकृति का रूप इन्हीं भावों को ग्रहण करके फिर उन्हीं को उद्दीप्त करने लगता है। कभी भाव अप्रत्यक्ष आलम्बन के स्थान पर प्रत्यक्ष आधार लेकर व्यक्त होता है और कभी-कभी भावों की व्यजना प्रकृति में आरोप के सहारे अधिक तीव्र हो जाती है। इसी के अन्तर्गत प्रकृति से आलम्बन-विषयक साहचर्य सम्बन्ध स्थापना की भावना है। अपनी भावाभिव्यक्ति में पात्र या स्वयं आश्रय रूप में कवि प्रकृति के रूपों को कभी दूत मान लेता है और कभी प्रिय सखा। इस प्रकृति रूप के आधार में भी साम्य तथा विरोध की भावना है, वस्तुत विरोध में भी साम्य का एक रूप ही है।[१]

**भावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति**—कथानकों की साधारण परिस्थितियों तथा घटना-स्थितियों को उपस्थित करने के लिए कवि प्रकृति का वर्णन करता है। परन्तु यह चित्रण केवल वस्तु-स्थिति ही सामने नहीं उपस्थित करता, कवि इसमें भाव ग्रहण कराने की प्रेरणा सन्निहित करता है। वह वर्णन की व्यजना में आगामी भावों को उद्बोधित करता है अथवा उस चित्रण में ही भावात्मक वातावरण उपस्थित करता है। साधारण वस्तुस्थिति का चित्रण वर्णन का सरल रूप है और इसको तो आलम्बन ही माना जायगा। चित्रण शैली के अन्तर्गत इसका उल्लेख आगे किया जायगा। परन्तु जब इन वर्णनों में आगे होने वाली घटना या भाव के सकेत सन्निहित हो जाते हैं, उस समय प्रकृति रूप, आश्रय के भाव को साधारणीकरण के आधार पर ग्रहण करने वाले पाठक की मन स्थिति

१. प्रकृति रूप के इन भेदों को दूसरे भाग के 'उद्दीपन-विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरण में अधिक स्पष्ट किया गया है।

को प्रभावित करता है और इस कारण यह रूप उद्दीपन के अन्तर्गत माना जा सकता है। इस रूप में प्रकृति कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल होकर कथानक की घटना को वातावरण प्रदान करती है।

भावव्यंजना—(क) साधारण वस्तु-स्थितियों में व्यंजना व्यापार द्वारा कवि भावों की अभिव्यक्ति प्रकृति में करता है। इस प्रकार स्थान और काल की सीमाओं में वह भावात्मक वातावरण तैयार करता है। यह भावात्मकता उन भावों के अस्पष्ट संकेत हैं जो सामाजिकों के हृदय में उदय होंगे। यह व्यंजना भी भाव स्थितियों के साम्य पर आधारित है। यदि किसी करुण घटना का उल्लेख करना हुआ तो कवि वर्णना में भी करुण भाव की व्यंजना सन्निहित कर देगा। यह व्यंजना ध्वनि और आरोप दोनों के आधार पर की जा सकती है।

सहचरण की भावना—(ख) कथानक या भावों की पृष्ठ-भूमि में प्रकृति मानव सहचरी के समान उपस्थित होती है और कभी-कभी वह इस सहचरण में विरोधी जान पड़ती है। इस रूप में अन्य रूपों का समन्वय हो गया है। परन्तु प्रमुखत इसमें साहचर्य-भावना का ही उद्दीपन रूप माना जा सकता है। किसी सीमा में प्रकृति अपने समस्त उल्लास के साथ अपने सौन्दर्य में अपनी समस्त भाव-भंगिमा के द्वारा मानवीय भावों को प्रभावित करती हुई उन्हें उल्लास-मग्न करती है। इसी के विपरीत मानसिक विरोध की स्थिति में वह उपेक्षाशील होकर अपने क्रिया-कलाप में स्वयं मग्न जान पड़ती है और उसकी इस उपेक्षा से मानवीय भाव-स्थिति को उत्तेजना मिलती है। इतना ही नहीं, प्रकृति की कठोरता और भयंकरता का साथ मन स्थिति के लिए उद्वेगजनक है, यह स्थिति की बाधा विरोध का ही एक रूप है।[1]

## रहस्यानुभूति में प्रकृति

प्रतीक और सौन्दर्य—प्रकृति के आलम्बन-रूप की विवेचना करते समय आनन्दानुभूति तथा आत्म-तल्लीनता का उल्लेख किया गया है। यह हमारी सर्वचेतन भावना का परिणाम है, जो साधारण रूप से प्रकृति में व्यापक है। इसमें अभिव्यक्ति की भाव गम्भीरता में रहस्यानुभूति का रूप जान पड़ता है। परन्तु रहस्य की भावना में साधक अपने प्रिय की साधना करता है और लौकिक प्रेम को व्यापक आधार देकर अपने अव्यक्त प्रिय से मिलन प्राप्त करना चाहता है। इस प्रेम को व्यापक आधार देने के लिए साधक प्रकृति की प्रसरित चेतना में अपने प्रेम के प्रतीक ढूँढ़ता है। रहस्यवादी साधक अपनी अनुभूति के लिए उससे प्रतीक अवश्य ढूँढ़ता है, परन्तु उसे आलम्बन मानकर

---

१. कथानक से सम्बन्धित होने के कारण प्रकृति के इन उद्दीपन-रूपों को 'विभिन्न काव्य रूपों में प्रकृति' के अन्तर्गत ले लिया गया है।

अधिक दूर तक नहीं चलता। प्रकृतिवादी रहस्यवादी इसके सौन्दर्य को अपने प्रेम का आधार तो मानते हैं, परन्तु केवल इस सौन्दर्य के माध्यम से चरम सौन्दर्य की अनुभूति जाग्रत करने के लिए। इस प्रकार प्रकृति उनके प्रेम का आलम्बन है तो केवल प्रेम को व्यापक रूप देने के लिए है। इस प्रकार रहस्यवाद की सीमा मे प्रकृति कुछ दूर तक आलम्बन कही जा सकती है और जब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेम का आधार अन्य प्रेमी आलम्बन हो जाता है, उस समय वह उद्दीपन के अन्तर्गत ही आती है।

भावोल्लास—(क) मानवीय भावो के साथ जिस प्रकार प्रकृति का सम्बन्ध है, उसी प्रकार रहस्यवादी भाव-स्थिति मे भी सम्भव है। रहस्यवादी स्तर पर प्रकृति के सत् मे कवि साधक अपनी चित् भावना का सम उपस्थित कर आनन्द की उद्भावना करता है। काव्य की दृष्टि से इसी सत्य और शिव के साथ प्रकृति का सौन्दर्य है, जिससे रहस्यवादी अपनी साधना की प्रेरणा ग्रहण करता है। जिस प्रकार हमारी चेतना प्रकृति मे प्रसरित होकर सौन्दर्य तथा आनन्दमय हो जाती है उसी प्रकार रहस्यवादी कवि उसके सौन्दर्य मे अपने प्रेम के प्रसार की अभिव्यक्ति द्वारा प्रिय मिलन का आनन्द प्राप्त करता है। साधक कवि की अभिव्यक्ति वास्तविक रहस्यानुभूति से साम्य रखती है, जो प्रमुख रूपो और अभिव्यक्तियो मे प्रकट होती है। कवि मे जब तक अभिव्यक्ति की चेतना है वह पूर्ण रहस्यवादी नही हो सकता। साथ ही कवि प्रकृति के सौन्दर्य मे आत्मतल्लीन होकर रहस्यवादी के समान जान पडता है। इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य मे भावोल्लास रहस्यवाद की ही सीमा है।[१]

## प्रकृति सौन्दर्य का चित्रण

रेखा-चित्र—अभी तक काव्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रकृति रूपो का उल्लेख किया गया है। प्रकृति रूपो की काव्य म कल्पना चित्रण अथवा वर्णना को लेकर ही है। बिना किसी चित्रण के वह न तो आलम्बन रूप मे आ सकती है और न उद्दीपन रूप के अन्तर्गत। प्रकृति चित्रण की रूपरेखा उसके निश्चित रूप के साथ बदलती है। जिन प्रकृति-रूपो में भावो की प्रधानता है, उसम केवल चित्रण रेखाओ मे होता है। कभी-कभी तो कवि भावो की व्यजना अथा प्रकृति चित्रण मे कोई सामञ्जस्य भी नही स्थापित कर पाता, परिणामस्वरूप प्रकृति की घटना स्थितियो का उल्लेख मात्र किया जाता है और ऐसे रूप अधिकतर रूढिवादी होते हैं, जैसा अगले भाग मे हम देख सकेंगे।

सश्लिष्ट चित्रण—(क) प्रकृति को अधिक प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित करने के

१. 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' सम्बन्धी प्रकरण में इन प्रकृति रूपों को अधिक विस्तार मिला है और मध्ययुग की रहस्यात्मक प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकी है।

लिए वस्तु स्थिति तथा क्रिया-व्यापारो की संश्लिष्टता का प्रयोजन होता है। परन्तु यह वर्णन केवल सत्यो के उल्लेखो में नही सीमित है। प्रकृति के विस्तृत स्वरूप की उन स्थितियो और क्रिया-व्यापारो को चुनकर सजाना होता है, जो अपनी रूपात्मक अभिव्यक्ति में चित्र को सजीव रूप मे सम्मुख रख सकें। कुछ कवि इस चयन मे असफल होते हैं, वे परम्परा के अनुसार नामो का उल्लेख कर पाते हैं। ये कवि प्रकृति का क्रिया-स्थिति रूप सजीव चित्र नही खींच पाते। रूप को उपस्थित करने में वस्तु तथा क्रिया की स्थितियो का भाव-संयोग उपस्थिति करना आवश्यक है और भाव के साथ किसी अन्य भाव की व्यंजना भी सन्निहित की जा सकती है, जिसके आधार पर पिछले कुछ रूपो की कल्पना सम्भव है। इस प्रकार के संश्लिष्ट प्रकृति चित्र कवि अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के आधार पर उपस्थित कर सकता है, जो एक सीमा तक सौन्दर्य-भाव के स्वत आधार हैं।

कलात्मक चित्रण—(ख) प्रकृति-चित्रण को अधिक व्यंजनात्मक तथा भाव-गम्य करने के लिए कवि अन्य समानान्तर चित्रो को सामने रखता है। ये चित्र रूप तथा भाव दोनो से सम्बन्धित हो सकते हैं और आलंकारिक प्रयोग के रूप मे उपस्थित किए जाते हैं। प्रकृति के एक रूप या उसकी एक स्थिति को अधिक व्यक्त अथवा भाव व्यंजित करने के लिए कवि प्रकृति के अन्य रूपो का आश्रय लेता है। पाठक प्रकृति के प्रत्येक रूप से परिचित नही होता, इस कारण कवि व्यापक प्रकृति चित्रो अथवा मानवीय स्थितियो आदि का आश्रय लेता है। रूप के साथ भाव की व्यंजना के लिए इसी प्रकार के आलंकारिक प्रयोगो की सहायता ली जाती है। चित्रो का यह रूप और व्यंजना अधिक कलात्मक कही जा सकती है। इन रूपो मे मानवीय जीवन के माध्यम से भाव-व्यंजना की जाती है, साथ ही मानव के रूप में प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना भी होती है।

आदर्श चित्रण तथा रूढ़िवाद—(ग) इस कलात्मक शैली मे जब कल्पना के सहारे कवि प्रकृति को नवीन रंग-रूपों तथा नवीन संयोगो में उपस्थित करता है तो वह आदर्शात्मक चित्रण कहा जा सकता है। प्रकृति का यथार्थ काव्य के लिए आधार अवश्य है, परन्तु वह उसकी सीमा नही कहा जा सकता। काव्य-कल्पना मे प्रकृति की उद्भावना आदर्श के रूप में हो सकती है। वस्तुत यथार्थ प्रकृति मे रंग-रूपो की जो विभिन्नता तथा उसके जो सूक्ष्म भेद हैं उसको कोई भी कलाकार नहीं उपस्थित कर सकता। इसी कारण प्रकृति के चित्रो को सजीव रूप प्रदान करने के लिए आदर्श रंग-रूप आदि के संयोगो की आवश्यकता है। इस आदर्श कल्पना के चित्रणों को अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। कवि जिस प्रकार यथार्थ रूपो के सहारे अपनी अभिव्यक्ति के चित्र उतारने का प्रयास करता है, उसी प्रकार वह आदर्श का आश्रय

लेकर भी इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। आगे चलकर यही आदर्श परम्परा तथा रुढ़ि में परिवर्तित होकर भद्दी प्रवृत्ति का परिचय देता है। लेकिन यह रूढ़िवाद काव्य का पतन है और कवि की व्यक्तिगत कमजोरी है।

स्वर्ग की कल्पना—(घ) प्रत्येक साहित्य की परम्परा मे एक स्वर्ग की कल्पना है, जो विभिन्न सस्कृतियो के अनुसार आदर्श कल्पनाओ का चरम है। इस स्वर्ग मे प्रकृति की आदर्श-कल्पना का चरम नन्दन-वन के रूप मे स्थित है। प्रत्येक कवि अपने वर्णनो मे इससे रूप आदि की कल्पना ग्रहण करता है। इस पृथ्वी पर सुन्दर का रूप जो काल्पनिक है, स्वर्ग मे यह प्रत्यक्ष की वस्तु है। इस स्वर्ग के नन्दन-वन मे चिर वसन्त है, न झरने वाले फल-फूल हैं तथा मनचाही इच्छा पूर्ण करनेवाला कल्पतरु है। स्वर्गीय कल्पना के रूप निश्चित आदर्शों पर युगो से चले आ रहे हैं। इसमे मानवीय कल्पना का सत्य सन्निहित है, इस कारण युग-युग के कवियो ने इस स्वर्ग की उद्भावना की है और वे इससे रूप ग्रहण करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त अन्य चित्रो मे भी इसके सौन्दर्य रूपो का प्रयोग उपमानो की योजना मे हुआ है और इनके प्रयोग से कल्पना को अधिक व्यापक तथा स्पष्ट रूप मिल सका है। रुढ़ि के अन्तर्गत इन रूपो के साथ भी अन्याय हुआ है।[1]

## प्रकृति का व्यंजनात्मक प्रयोग

व्यजना और उपमान—काव्य के अन्तर्गत भाषा की भावाभिव्यक्ति और शब्द का रूप तथा भाव-व्यजक-शक्ति का उल्लेख किया गया है। यह भी कहा गया है कि शब्द वर्तमान रूप मे नामात्मक अधिक है, उसमे रूप तथा भाव की व्यजना शक्ति कम है। काव्य मे रूप और भाव की व्यजना ही प्रधान है, नाम तो विचार और तर्क के लिए उपयुक्त है। काव्य की यह व्यजना-शक्ति वर्णन-चमत्कार पर तो निर्भर है ही, परन्तु इसमे अलकार भी सहायक होते हैं। वर्णनात्मक व्यजना का एक रूप अलकार भी है। वैसे पहले ही उल्लेख किया गया है कि एक प्रकार का आलकारिक प्रयोग व्यजना के अन्तर्गत आता है। परन्तु साम्य और विरोध के सयोग उपस्थित कर अधिकाश उपमा-मूलक *अलकार एक प्रकार से रूप या भाव की व्यजना ही करते हैं* और अलकारो मे रूप तथा भाव की व्यजना के रूप मे प्रकृति-उपमानो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानवीय भाव और रूप की स्थितियों के आलकारिक प्रयोग द्वारा जो रूप की योजना या भाव की अभिव्यक्ति की जाती है, उसका प्रकृति-चित्रण के प्रसग मे सकेत किया गया है। वस्तुत भावो के विकास की स्थितियो मे प्रकृति के विभिन्न रूपो

---

१ मध्य-युग के काव्य में चित्रण के दृष्टिकोण से हम देखेंगे कि सश्लिष्ट चित्रण से अधिक उल्लेखों की प्रवृत्ति है तथा कलात्मक चित्रणों से अधिक रूढ़ि का पालन मिलता है।

और व्यापारो के साथ विशेष भावों का सयोग हो चुका है। और यही सयोग सौन्दर्य के आधार पर प्रकृति-उपमानो मे रूप के साथ भाव की व्यजना भी करता है।

उपमानो मे रूपाकार—प्रकृति के नाना रूपो मे रूप-रग, आकार-प्रकार, ध्वनि-नाद तथा गध-स्पर्श आदि का सौन्दर्य है और प्रकृति के विशेष रूप अपनी प्रमुख सौन्दर्य-भावना के साथ हमारी स्मृति मे स्थित हैं। रूप का यह सौन्दर्य-पक्ष अन्य पक्षो को आच्छादित कर लेता है। परन्तु किसी किसी स्थिति मे प्रकृति के रूप की स्थिति समग्र होकर सौन्दर्य का बोध कराती है। कमल कभी तो केवल रग का भाव लेकर उपस्थित होता है, कभी आकार का रूप लेकर, परन्तु किसी स्थिति मे वह रग तथा आकार दोनो का समन्वित सौन्दर्य उपस्थित करता है। विभिन्न अलकारो मे रूपात्मक प्रकृति सौन्दर्य के आधार पर मानवीय रूप सौन्दर्य की योजना की जाती है। यह योजना कभी-कभी किसी विशेष गुण के आधार पर प्रकट होती है और कभी वस्तु के विभिन्न गुणो की समष्टि मे। कभी-कभी रूप-सौन्दर्य उपस्थित करने के लिए भिन्न-भिन्न अगों की सौन्दर्य-व्यजना अलग-अलग उपमानो से की जाती है और इस प्रकार एक चित्र पूरा किया जाता है और कभी एक ही रूप-स्थिति का सौन्दर्य अनेक उपमानों की योजना से विभिन्न छायारूपो मे उपस्थित होता है। यह आवश्यक नही है कि इस प्रकार केवल मानव के रूप की कल्पना की जावे, अन्य वस्तुओ के रूप-सौन्दर्य की स्थापना भी इस प्रकार की जा सकती है।

उपमानों से स्थिति-योजना—प्रकृति के रूपो मे विभिन्न स्थितियाँ स्थान और काल की सीमा बनाकर रहती हैं। वस्तुओं के अतिरिक्त इन स्थितियो मे भी सौन्दर्य का भाव सन्निहित रहता है। मानवीय तथा अन्य वस्तुओ की स्थितियो के सजीव वर्णनो मे सौन्दर्य-दान करने के लिए इन प्रकृति-स्थितियों को उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति आदि के उपमानों मे प्रस्तुत करते हैं। इनको उपस्थित करने के लिए कवि स्वत -सम्भावी प्रकृति-रूपो को लेता है और काल्पनिक स्थितियो को भी प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार कवि प्रकृति की नवीन आदर्श-कल्पना कर सकता है, उसी प्रकार प्रकृति के उपमानो की नवीन परिस्थितियों की उद्भावना भी करता है। स्वाभाविक प्रकृति-रूप परप्रत्यक्ष के आधार पर भाव-सयोग ग्रहण करते हैं और इसी प्रकार आदर्श रूप में काल्पनिक भाव-सयोग उपस्थित हो जाते हैं। यह आदर्श-योजना चित्र को अधिक सजीव करती है। परन्तु जब इसमे कवि विचित्रता उत्पन्न करने के लिए असम्भव और असुन्दर कल्पनाएँ जोडता है, वह काव्य के लिए बोझा बन जाती हैं। कभी इसमे वैचित्र्य का आनन्द अवश्य मिलता है, परन्तु रूढिगत परम्परा मे यह प्रवृत्ति काव्य को असुन्दर और दोष-पूर्ण करती है।

उपमानों से भाव-व्यजना—पिछले भावो के विकास के प्रकरण मे हम देख

चुके हैं कि प्रकृति के प्रत्यक्ष रूप और स्थिति में हमारे अन्तःकरण के सम पर एक भाव स्थिर हो गया है। इस कारण उपमानो के रूप मे इनसे भावो की व्यजना भी होती है। व्यापक प्रकृति वर्णनो म ये सयोग भाव की मन स्थिति का सकेत देते हैं, परन्तु उपमान के रूप म वस्तु के रूप और उसकी स्थिति के साथ भाव-व्यजना करते हैं, इस के अतिरिक्त लाक्षणिक प्रयोगो म भी ये प्रकृति रूप (उपमान) भाव की व्यजना करते हैं। विभिन्न प्रकृति रूप अलग अलग भावो से सम्बन्धित हैं और यह भाव उनके सौन्दर्य पर ही विकसित हुआ है। लाल कमल यदि रति का प्रतीक है तो नील कमल मे करुणा की भावना सन्निहित है। एक ही रूप म विभिन्न भावा को व्यक्त करने के लिए विभिन्न उपमाना का प्रयोग किया जा सकता है। मीन के समान नेत्र से चचलता का भाव प्रकट होता है तो मृगशावक के समान नेत्र से सरलता का भाव व्यक्त है। इसी प्रकार स्थितिया से भी भावाभिव्यक्ति की जा सकती है। इनका प्रयोग मानसिक-स्थितिया को प्रकट करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी उपमानो की योजना से वस्तु स्थितिया म भाव सकेत व्यजित होते हैं। उषाकाल का लालाभ आकाश उल्लास और प्रेम की व्यजना करता है, और सन्ध्या की गोधूली श्रान्ति तथा निराशा आदि भावो को व्यजित करती है। कभी-कभी सन्दभ से स्थिति मे परिवर्तन होना सम्भव है।

अभी तक उपमानो का उल्लेख रूप और स्थितिया को लेकर किया गया है। परन्तु भावो के चित्रण म प्रकृति के नाना रूपो का प्रयोग उपमानो के आधार पर किया जाता है। जिस मानसिक आधार पर इनका प्रयोग होता है, वह भाव सयोग ही है। इस प्रकार की व्यजना भी दो प्रकार से की जा सकती है। पहले म तो भावा की व्यजना (चित्रण के रूप म) प्रकृति उपमानो के सहारे की जाती है। पर्वत के समान चिन्ता, पवन के समान कल्पना पारिजात के समान अभिलाषा आदि प्रयोग लाक्षणिक व्यजना के उपमान हैं। दूसरे रूप म प्रकृति के रूपा को मनोभावो के रूप मे लेते हैं। कल्पना का आकाश, आशा का प्रकाश करुणा का सागर आदि रूपो में इस प्रकार की व्यजना है। इनके मूल म भी जैसा कहा गया है, उपमानो के समान सयोग की भावना है। परन्तु इन लाक्षणिक व्यजनाओ म अभ्यन्तरित रूप से सौन्दर्य की व्यजना की जाती है।[1]

---

[1] प्रकृति-उपमाना की योजना में रूप तथा स्थितियों का सुन्दर प्रयोग मध्ययुग के प्रमुख कवियों में मिलता है। भाव व्यजना के लिए उपमानों का प्रयोग कम ही हुआ है। और भाव चित्रण के लिए प्रकृति-उपमानों का लाक्षणिक प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। आधुनिक छायावाद में ही इसका अधिक विकास हुआ है।

द्वितीय भाग

# हिन्दी साहित्य का मध्ययुग

(प्रकृति और काव्य)

द्वितीय भाग

# हिन्दी साहित्य का मध्ययुग

(प्रकृति और काव्य)

## प्रथम प्रकरण

# काव्य में प्रकृति की प्राचीन परम्परा

### (*मध्ययुग की पृष्ठभूमि*)

काव्य और काव्य-शास्त्र—हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपनी काव्य सम्बन्धी प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अपने से पहले की साहित्यिक परम्पराओं से प्रभावित हुआ है; जैसा कि स्वाभाविक है। अगले प्रकरण में हम इस युग की कुछ अन्य स्वच्छंद प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे जिसका मूल अपभ्रंश के काव्यों में भी मिलता है। परन्तु काव्य के प्रमुख आदर्शों को प्राकृत तथा अपभ्रंश के साहित्य के समान हिन्दी साहित्य ने भी संस्कृत साहित्य के काव्य से ग्रहण किया है। ऐसी स्थिति में अपने मुख्य विषय में प्रवेश करने के पूर्व संस्कृत साहित्य के काव्य और प्रकृति सम्बन्धी मतों की व्याख्या करना आवश्यक है। प्रथम भाग में इस बात का उल्लेख किया गया है कि मानवीय कल्पना के विकास में प्रकृति का सहयोग रहा है। कला और काव्य का आधार भी कल्पना है इस कारण प्रकृति से इनका सहज सम्बन्ध सम्भव है। काव्य-शास्त्र काव्य के रूप, भाव और आदर्शों की व्याख्या करता है और इसलिए उसमें काव्य तथा प्रकृति के सम्बन्धों की विवेचना भी मिलती है। काव्य शास्त्र की विवेचना में प्रकृत सम्बन्धी उल्लेख गौण ही रहते हैं, फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। इन संकेतों में काव्य में प्रचलित प्रकृति-रूप की परम्पराएँ छिपी रहती हैं। साथ ही शास्त्रीय विवेचना की प्रवृत्तियों से आगे का साहित्य पूरी तरह से प्रभावित होता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की व्याख्या से उसके साहित्य के प्रकृति-रूपों की प्रवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है और जिन काव्य-ग्रन्थों ने शास्त्रीय आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण की है उनके प्रकृति-रूप तो शास्त्रीय विवेचना से अत्यधिक प्रभावित है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में भक्ति-काव्य ने परम्परा के रूप में और रीति-काव्य ने सिद्धान्त के रूप से भी, संस्कृत काव्य के अनुसरण के साथ उसके शास्त्रीय आदर्शों का पालन भी किया है। इस अनुसरण का अर्थ अनुकरण नहीं मानना चाहिए। मध्ययुग के काव्य में अनेक स्वतंत्र प्रवृत्तियों

का विकास हुआ है, जिन पर विचार किया जायगा। लेकिन मध्ययुग ने अपने से पूर्व के काव्य और काव्य-शास्त्र से क्या प्रभाव ग्रहण किया, इसको समझने के लिए आवश्यक है कि हम संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा काव्य दोनों में प्रकृति-रूपों पर विचार कर लें।

## काव्य-शास्त्र में प्रकृति

**काव्य का मनस्-परक विषयि-पक्ष**—काव्य-शास्त्र के आदर्शों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य शास्त्रियों का मत वैषम्य है। आदर्शों के मौलिक भेद के कारण इनके काव्य में प्रकृति सम्बन्धी मत भी भिन्न हैं। भारतीय आचार्यों ने प्रारम्भ से काव्य को 'शब्दार्थौ काव्य' के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत के आदि आचार्य की इस काव्य सम्बन्धी व्याख्या को सभी परवर्ती आचार्यों ने माना है। 'शब्द' और 'अर्थ' के समन्वय को काव्य मानने में संस्कृत के काव्य शास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। 'शब्द' के द्वारा भाषा के रूपात्मक अनुकरण (मानसिक) की ओर संकेत है और साथ ही अर्थ की व्यापक सीमाओं में अभिव्यक्ति का रूप है। 'शब्द' की रूपात्मकता में और अर्थ व्यंजना में अनुभूति की भावना भी सन्निहित है, क्योंकि कवि की स्वानुभूति के बिना 'शब्द-अर्थ' की कोई स्थिति ही नहीं स्वीकार की जा सकती। परन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि की इस स्वानुभूति रूप काव्य के मनस्-परक पक्ष की अवहेलना की गई है। इसके विपरीत पश्चिम में काव्य के मनस्-परक विषयि-पक्ष की ही अधिक व्याख्या हुई है। प्लेटो ने काव्य की विवेचना वस्तु रूप की थी, परन्तु अरस्तू ने काव्य और कला को 'अनुकरण' के रूप में स्वीकार किया है। यह 'अनुकरण' साधारण अर्थ में प्रकृति के रूप सादृश्य से सम्बन्धित है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ मानसिक अनुकरण है। आगे चलकर यही 'अनुकरण' कवि की स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें काव्य के मनस्-परक विषयि-पक्ष रूप कवि की मन स्थिति का अधिक महत्त्व है। काव्य के वस्तु-परक विषय पक्ष को गौण स्थान दिया गया। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में इसी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की व्यापक विवेचना की गई है। महाद्वीप (योरप) और इंगलैण्ड के स्वच्छन्दवादी युग के आधार में काव्य के इसी सिद्धान्त की प्रधानता थी और इस युग के गीतात्मक प्रकृतिवाद को प्रेरणा भी इसी से मिली है।[1] परन्तु भारतीय काव्य शास्त्र में अभिव्यक्ति को रूपात्मक मानकर आचार्यों ने 'शब्द-अर्थ' दोनों को 'काव्य-शरीर' माना है।[2] इस प्रकार वे अपने दृष्टि-

१. इंगलैंड में क्रोशे के सिद्धान्त का प्रतिपादन इ० एफ० कैरट और जा० कॉलिन ने किया है।

२ भामह (प्र० २३) दण्डी (प्र० १०)

तै शरीरञ्च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिता।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥

कोण मे स्पष्ट अवश्य है, क्योकि इन्होने 'काव्य-आत्मा' को स्वीकार किया है। परन्तु इन आचार्यों का ध्यान काव्य विषय के वस्तु-रूप पर ही अधिक रहा है। इसका एक कारण है। भारतीय आचार्यों मे विश्लेषण की प्रवृत्ति अत्यधिक रही है और विश्लेषण के क्षेत्र मे भाव और अनुभूति भी वस्तु और रूप का विषय बन जाते हैं। बाद मे ध्वनिवादियो और रसवादियो ने काव्य की अभिव्यक्ति मे 'आत्मा' को भी स्थान देने का प्रयास किया है। परन्तु यह तो काव्य की पाठको पर पडने वाली प्रभावशीलता से ही सम्बन्धित है, इसमे कवि की मन स्थिति का स्पष्ट समन्वय नही है। काव्य कवि की किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा की अभिव्यक्ति है, इस ओर इन्होने ध्यान नही दिया है। इस विषय मे डा० सुशीलकुमार डे का कथन महत्त्वपूर्ण है—"भारतीय सिद्धान्तवादियों ने अपने कार्य के एक महत्त्वपूर्ण अग की अवहेलना की है। यह काव्य *विषय की प्रकृति को कवि की मन स्थिति के रूप मे समझकर परिभाषा बनाने का* कार्य है, जो पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र का प्रमुख विषय रहा है।"[1] इस उपेक्षा का कारण भारतीय काव्य-शास्त्र का सूक्ष्म और शुष्क विवेचनात्मक दृष्टिकोण तो है ही, साथ ही भारतीय काव्य-कला की चिरन्तन आदर्श-भावना भी है।[2] इस विषय मे सस्कृत के आचार्य बिल्कुल अनभिज्ञ हो, ऐसा नही है। डा० डे ने भी स्वीकार किया है कि 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' अलकारो मे जो अलकारत्व है, वह वस्तु और काल की स्थितियो को लेकर कवि की मन स्थिति पर ही स्थिर है। भामह और कुन्तल 'वक्रोक्ति' से हीन काव्य नही मानते, परन्तु दण्डी ने इस सत्य की उपेक्षा नही की है और 'स्वभावोक्ति' को अलकार स्वीकार किया है। इन दोनो अलकारो मे कवि की वस्तु और काल विषयक सहानुभूति स्वय अलकृत हो उठती है। इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र मे कुछ और भी सकेत है जिनमे कवि की भावात्मक मन स्थिति का समन्वय पाया जाता है, कदाचित डा० डे ने इस ओर ध्यान नही दिया।

सस्कृत काव्य-शास्त्र मे इसका उल्लेख—विचार करने से 'वक्रोक्ति' मे भी इसी बात का सकेत मिलता है। भामह ने 'वक्रोक्ति' अथवा 'अतिशयोक्ति' को अलकार का प्रयोजन माना है। कुन्तल ने इसी आधार पर 'वक्रोक्ति' को अधिक विकसित रूप प्रदान किया है। कुन्तल ने 'अतिशय' और 'वक्रत्व' के भावो मे जो वैचित्र्य और विच्छित्ति (सौन्दर्य) का उल्लेख किया है, उसमे पाठक पर पडने वाले प्रभाव के अति-

---

१. सस्कृत पोइटिक्स भाग २ पृ० ६५

२ इस विषय में लेखक का 'सस्कृत काव्य शास्त्र में प्रकृति का रूप' नामक लेख देखना चाहिए। भारतीय काव्य और कला का आदर्श वह सादृश्य भावना है जो कवि के बाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है। जिसके लिए आत्म-सस्कार और आत्म-योग की आवश्यकता है।

रिक्त कवि की मनःस्थिति का संकेत है।[1] अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या वैचित्र्य के स्रोत की ओर ध्यान देने पर कवि की अनुभूत मन स्थिति अवश्य सम्मुख आती। उस समय प्रकृति-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्ति का काव्यानन्द की परम्परा में अधिक उचित सामञ्जस्य होता। परन्तु यह तो 'वैदग्ध्यभङ्गी भणिति' के रूप में आलंकारिक दूर की सूझ का कारण बन गया।[2] फिर भी इन काव्य शास्त्रियों का वैचित्र्य और सौन्दर्य सम्बन्धी उल्लेख स्वयं इस बात का साक्षी है कि इन्होंने कवि और कलाकार की अनुभूतिशील मन स्थिति की एकान्त उपेक्षा नहीं की है। इस विषय में एक उल्लेखनीय बात और भी है। लगभग समस्त आचार्यों ने काव्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि-प्रतिभा को आवश्यक माना है, यद्यपि इनके लिए काव्य निर्माण का विषय ही रहा है। भामह और दण्डी इसको 'नैसर्गिक' कहते हैं और 'सहज' मानते हैं। वामन 'प्रतिभा में ही काव्य का स्रोत है' स्वीकार करते हैं और उसे मस्तिष्क की 'सहज शक्ति' के रूप म मानते हैं। मम्मट इसी के लिए अधिक व्यापक शब्द 'शक्ति' का प्रयोग करते हैं। अभिनव इसको 'नवनिर्माणशालिनि प्रज्ञा' कहते हैं, जो 'भाव चित्र' और 'सौन्दर्य-सर्जन' म कुशल होती है। आदि आचार्य भरत ने भी इसको कवि की आन्तरिक भावुकता 'अन्तर्गत भाव' के रूप स्वीकार किया है।[3] इस 'प्रतिभा' के अन्तर्गत भी कवि की मन स्थिति आ जाती है। कवि प्रतिभा से ही अपनी अनुभूतियों के आधार पर सादृश्य-भावना की काल्पनिक अभिव्यक्ति करता है। परन्तु आचार्यों ने 'प्रतिभा' को अनुभूति से अधिक प्रज्ञा के निकट समझा है। यद्यपि भारतीय आत्मज्ञान की सीमा में अनुभूति का निलय हो जाता है, परन्तु ज्ञान के प्रसार में विश्लेषणात्मक क्रियाशीलता है और अनुभूति की अभिव्यक्ति में संश्लेषणात्मक प्रभावशीलता। भरत का 'अन्तर्गत-भाव कवि-प्रतिभा के मानसिक-पक्ष की अनुभूति से निकटतम है। इस प्रकार निश्चय ही संस्कृत के साहित्याचार्यों को काव्य के इस अनुभूति पक्ष का भान था और उसकी उपेक्षा का कारण आदर्श की विशेष प्रवृत्ति मात्र है।

---

१ वक्रोक्ति जीवित (प्र० ३)

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥

२ वक्रोक्ति जीवित, कुन्तक प्र० ११

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥

३ भामह, काव्यालंकार (प्र० ५), दण्डी, काव्यादर्श (प्र० १०३–४), वामन काव्यालं० (प्र० ३, १६) अभिनव, लोचन० (पृ० २६), भरत नाट्यशास्त्र (पृ० ११२)

उपेक्षा का परिणाम—कारण कुछ भी हो परन्तु इस उपेक्षा के परिणाम स्वरूप उनके सामने भावात्मक गीतियो का रूप नही आ सका और साथ ही प्रकृति का उन्मुक्त स्वच्छन्दवादी दृष्टिकोण भी नही ग्रहण किया जा सका। वैदिक साहित्य के बाद संस्कृत तथा पाली आदि साहित्यों मे गीतियो का विकास नहीं हुआ है और न उनमे स्वच्छन्द प्रकृति का रूप आ सका है। फिर भी जिन काव्यो पर काव्य की शास्त्रीय विवेचनाओ का प्रभाव नही है, उनमे प्रकृति सौन्दर्य नाना रूपो मे चित्रित हुआ है। परन्तु शास्त्र-ग्रन्थो के प्रभाव मे रचे गए काव्यों मे तो चित्रणो मे भी सहज स्वाभाविक सौन्दर्य का अभाव है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग मे शास्त्र-ग्रन्थों का प्रभाव जम चुका था और इस कारण जिस सीमा तक इस युग का काव्य संस्कृत काव्य-शास्त्रो से प्रभावित है, उस सीमा तक उसमे प्रकृति का रूढिवादी स्वरूप ही मिलता है। इसी दृष्टि के फलस्वरूप संस्कृत मे शास्त्रीय-ग्रन्थो की सूक्ष्म विवेचना के साथ ही कवि-शिक्षा-ग्रन्थो का भी निर्माण हुआ था। इस प्रकार के आचार्यों मे क्षेमेन्द्र, राजशेखर, हेमचन्द्र और वाग्भट्ट प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों म काव्य-विषयक शिक्षाएँ है। य विभिन्न पूर्ववर्ती काव्यो के आधार पर लिखे गये है। इन ग्रन्थो से प्रकट होता है कि इन काव्य-शास्त्रियों ने किस सीमा तक काव्य को अभ्यास का विषय बना दिया है। इनमे प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी विभिन्न परम्पराओ का उल्लख हुआ है और कवि के लिये इन परम्पराओ से परिचित होना आवश्यक समझा गया है।[1] आगे के कवियो ने रूढि के अर्थ म ही इन परम्पराओ को अपना लिया है। मध्ययुग के काव्य म जो प्रकृति-वर्णनो में उल्लेखों का रूढिवादी रूप मिलता है, वह इसीका परिणाम है।

रस की व्याख्या—पहले भाग मे संस्कृत आचार्यों की काव्य सम्बन्धी परिभाषाओ पर विचार किया गया है। इनमे कुछ का ध्यान अभिव्यक्ति की शैली पर केन्द्रित है और कुछ का अभिव्यक्ति के प्रभाव पर। वस्तुत इनमे भेद ऊपर से ही है, वैसे इनमे एक दूसरे का अन्तर्भाव मिलता है। ये सभी परिभाषाएँ काव्य विषय और उसके अभिव्यक्त प्रभाव पर ही केन्द्रित हैं। आगे चलकर ध्वनि के अन्तर्गत रस न अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रस सिद्धान्त बाद तक अपनी पूर्णता को प्राप्त करता रहा है। परन्तु आगे चलकर, रस-निष्पत्ति के लिए जिन स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारियो का उल्लेख किया गया

---

१ इनको 'कवि-समय' कहा गया ह। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' इस विषय में सबसे स्पष्ट और विशद ग्रन्थ है। चतुर्दश अध्याय में उन्हाने (१) जाति (२) द्रव्य (३) गुण (४) क्रिया के विभाग मे इन समयों को बाटा है। फिर स्थिति के अनुसार उनका (१) स्वर्ग (२) भौम (३) पातालीय में विभाजन किया गया है और ये सब समय रूप कवि परपराएँ (१) असतो निबन्धन (२) सतोऽप्यनिबन्धन और (३) नियमन में विभाजित हैं। इन सबका वर्णन सोलहवे अध्याय तक चलता ह।

है, उन्हीको मुख्य स्थान दिया जाने लगा। इस विषय मे यह रूढिवादिता भ्रामक है। रस-निष्पत्ति मे स्थायी-भाव का आधार और विभाव, अनुभाव तथा सचारियो का सयोग तो मान्य है। परन्तु रस अपनी निष्पत्ति मे इन सबसे सम्बन्धित नही है, वह तो अपनी समस्त भिन्नता मे एक है और अलौकिक आनन्द है। इसके अतिरिक्त स्थायी-भावो की सख्या इतनी निश्चित नही कही जा सकती। आवश्यक नही है कि सचारी अपनी अभिव्यक्ति की पूर्णता मे भी रसाभास मात्र रहे, वे काव्यानन्द न प्रदान कर सकें। सौन्दर्य और शान्त भाव मानव के हृदय मे इस प्रकार स्थिर हो चुके हैं कि उनको अस्वीकार नही किया जा सकता। यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो ये रति और शम या निर्वेद के अन्तर्गत भी नही आ सकते। परन्तु इस ओर सस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है। परिणाम स्वरूप इन दोनो भावो के आलम्बन-रूप मे आनेवाली प्रकृति साहित्य मे केवल उद्दीपन-रूप मे स्वीकृत रही। मानव के मन मे सौन्दर्य की भावना सामञ्जस्यो का फल है और यह भाव रति स्थायी-भाव का सहायक अवश्य है। परन्तु रति से अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्ति दोष है। उसी प्रकार शान्त केवल निर्वेदजन्य ससार से उपेक्षा का भाव ही नही है, वरन् भावो की एक निरपेक्ष स्थिति भी है। सौन्दर्य भाव और शान्त भाव मन स्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वय मे पूर्ण आनन्द है। वस्तुत अन्य रस भी अपनी निष्पत्ति की स्थिति मे उसी धरातल पर आ जाते हैं जहाँ मन स्थिति निरपेक्ष आनन्दमय हो जाती है। यह एक प्रकार से भाव-सौन्दर्य के आधार पर ही सम्भव है। इन भावो के आलम्बन-रूप मे प्रकृति का बिखरा हुआ राशि-राशि सौन्दर्य है, इससे अनुभूति ग्रहण कर कवि अपनी अभिव्यक्ति का एक बार स्वय आश्रय बनता है और बाद मे पाठ करते समय पाठक ही आश्रय होता है। हम कह चुके हैं कि इन भावो को आचार्यों ने स्थायी भाव नही माना है और साथ ही उनके विचार से प्रकृति केवल उद्दीपन विभाव मे आती है। इस दृष्टिकोण का प्रभाव सस्कृत साहित्य के प्रकृति-रूपो पर तो पडा ही है, हिन्दी के मध्ययुग मे भी प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से उन्मुक्त चित्रण इसी शास्त्रीय परम्परा के पालन करने के फलस्वरूप नहीं हो सका है।

उद्दीपन विभाव (क)—आचार्य भरत ने रस-निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और सचारियो का उल्लेख किया है। निष्पत्ति विषयक मतभेदो के होते हुए भी इस विषय मे सभी आचार्य एक मत हैं। विभाव के अन्तर्गत ही उद्दीपन विभाव मे प्रकृति का रूप आता है। कुछ आचार्यों ने उद्दीपन के चार भाग करके प्रकृति को तटस्थ स्वीकार किया है, इस प्रकार प्रकृति के विषय मे उनका बहुत सकुचित मत रहा है।[1]

[1] प्रतापरुद्रयशोभूषण, श्रीविद्यानाथ कृत (रस प्रकरण, पृ० २१२)
अथ विभाव

रस सिद्धान्त के रूढिवादी क्षेत्र मे स्थायी-भावो की सीमाएँ निश्चित हो जाने पर यदि प्रकृति केवल भावो को उद्दीप्त करने वाली रह गई तो आश्चर्य नही। वस्तुत: प्रकृति अपने नाना रूप-रगो मे आदि काल से मानवीय भावो को प्रभावित करती आई है। इसपर पहले भाग मे विचार किया गया है। यद्यपि भावो की स्थिति मनस् मे ही है, पर उनको उद्भूत और सवेदनशील करने के लिए प्रकृति के इन्द्रिय-ज्ञान और मन.साक्षात् की आवश्यकता है। आज भी प्रकृति एक ओर हमारी स्थिति और हमारे भावो को आधार प्रदान करती है और दूसरी ओर वह भावो के विकास मे सापेक्ष, निरपेक्ष तथा उपेक्षाशील होकर सहायक होती है। यही कारण है कि प्रकृति को व्यापक रूप से उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत मानने की भूल आचार्यों के द्वारा हुई है। यद्यपि एक दृष्टि से इसमे सत्य भी है। पर इस एकागी विश्लेषण से काव्य मे प्रकृति रूपो की सीमा भी संकुचित हुई है, और इसका प्रभाव हमारे आलोच्य युग के काव्य पर भी पडा है।

आरोप (ख)—इसी के साथ सस्कृत काव्याचार्यों की एक प्रवृत्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। मनस् ही प्रकृति के रूपो को भावात्मकता प्रदान करता है और हम देख चुके हैं कि इस क्रिया-प्रतिक्रिया मे मानव अपने विचार को अलग नही कर सकता। यही कारण है कि जब वह प्रकृति-रूपो को भावो मे ग्रहण करता है, प्रकृति अनुप्राणित हो उठती है और उसकी अभिव्यक्ति मे वह मानवीय आकार मे भी कभी-कभी उपस्थित होती है। इस प्रकार के भावारोपो तथा आकार क्रिया आदि के आरोपो को साहित्य-शास्त्री रस के अन्तर्गत न लेकर 'रसाभास' और 'भावाभास' के

---

विभाव कथ्यते तत्र रसोत्पादनकारणम्।
आलम्बनोद्दीपनात्मा स द्विधा परिकीर्त्यते॥

रसार्णवमार, श्रीशिङ्ग भूपाल (प्र० १६२, ८७, ७८, ८६)

अथ शृगारस्योद्दीपनविभाव

उद्दीपन चतुर्धा स्यादालम्बनसमाश्रयम्।
गुणचेष्टालङ्कृतयस्तटस्थाश्चेति भेदत॥

अथ तटस्था

तटस्थाश्चन्द्रिकाधारागृहचन्द्रोदयावपि।
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदा॥
लतामण्डपभूगेहदीर्घिकाजलदारवा।
प्रासादगर्भसङ्गीतक्रीडाद्रिसरिदादय॥

अन्तर्गत मानते हैं।[1] कहा गया है, रस अपने स्तर पर एकरस है, अतः है उसमें कमी और अधिकता का प्रश्न व्यर्थ है। परन्तु आचार्यों को वर्गीकरण करना था और उसके सामने उनका दृष्टिकोण भी था। पर आनन्द में अन्तर हो सकते हैं विभिन्नता नहीं। इस दृष्टि से परिणाम के विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

अलंकारों में उपमान योजना—संस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य विवेचना में अलंकारों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। काव्य के समस्त स्वरूप में अलंकारों का स्थान भले ही गौण हो परन्तु उनके अन्तर्गत जो प्रारम्भ में ही सौन्दर्य की भावना सन्निहित रही है वह महत्त्वपूर्ण है।[2] काव्यानन्द समष्टि रूप प्रभाव है, उसमें अलग-अलग करके यह कहना यह काव्य है और यह सहायक है बहुत उचित नहीं है। विवेचना के लिए ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः अलंकार भी काव्य के अन्तर्गत है और उनके उपमानों का सौन्दर्य-स्रोत प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य है। जब अलंकारों के द्वारा भाव या सौन्दर्य का व्यंग्य होता है, उस समय तो ध्वनिकार इनको अलक्ष्यक्रम गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत उत्तम काव्य स्वीकार भी करते हैं। अलंकारों में उपमानों की प्रकृति योजना 'सादृश्य' के आधार पर सौन्दर्य का अन्तर्निहित व्यंग्य रखती ही है, उसके लिए अन्य व्यंग्य की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। बाद में अलंकारों में उक्ति वैचित्र्य की भावना बढ़ती गई है। इस प्रकार अलंकारों की संख्या में तो वृद्धि हुई है, पर इनमें कलात्मक सादृश्य की सौन्दर्य भावना नहीं पाई जाती। काव्य शास्त्रियों ने इनको आभूषण बना डाला है। इस प्रवृत्ति से बाद का संस्कृत साहित्य और हिन्दी का मध्ययुग दोनों ही बहुत अधिक प्रभावित हैं।

हिन्दी काव्य-शास्त्र—प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के

---

१ काव्यानुशासनवृत्ति, वाग्भट (अ० ५, पृ० ५६)

तत्र वृक्षादिष्वनौचित्येनारोप्यमाणो रसभावो रसभावाभासता भजत । काव्यानुशासन हेमचन्द्र (पृ० १०१)

निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ।

हेमचन्द्र ने आगे (१) सम्भोगाभास (२) विप्रलम्भाभास में वर्गीकरण कर के इसके उदाहरण भी दिये हैं।

२ काव्यादर्श, दण्डी,

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।

साहित्य दर्पण' विश्वनाथ'

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभाऽतिशायिन।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

मध्य युग मे संस्कृत की काव्य रीतियों का बहुत कुछ प्रभाव रहा है। सतो को छोड़कर भक्ति काल की सभी परम्पराओ के कवि इन साहित्यिक रीतियों से परिचित थे। कृष्ण-भक्ति के प्रमुख कवि सूर और राम-भक्त तुलसी दोनो ही में काव्य की शास्त्रीय मान्यताओ को प्रत्यक्ष रूप से ढूंढा जा सकता है और मध्ययुग के उत्तर-काल मे संस्कृत काव्य-शास्त्र की विभिन्न रीतियो का अनुसरण किया गया है। इस काल की शास्त्रीय विवेचनाओं मे मौलिकता के स्थान पर परम्परा पालन और कवित्व प्रदर्शन ही अधिक है। ऐसी स्थिति मे उनसे काव्य सम्बन्धी किसी मौलिक मत की आशा नही की जा सकती। इस युग मे हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने किसी विशेष मत का प्रतिपादन नही किया है। काव्य में प्रकृति के विषय मे इन्होने संस्कृत आचार्यो का मत स्वीकार कर लिया है और वर्णनो मे उनकी परम्पराओ को मान लिया है। केशव को छोडकर इन कवि-आचार्यों ने प्रकृति को रस के अन्तर्गत उद्दीपन-विभाव मे रख दिया है। कृपाराम उद्दीपन के विषय मे लिखते हैं—

उद्दीपन के भेद बहु सखी वचन है आदि।
समयसाजलो वरनिये कवि कुल की मरजादि॥[1]

देव ने भी गीत नृत्य आदि के साथ प्रकृति को भी उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत ही रखा है—

गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन वनकेलि।
उद्दीपन शृंगार के विधु वसन्त वन वेलि॥[2]

भिखारीदास ने अपने काव्य-निर्णय मे रस को ध्वनि के अन्तर्गत रखा है और प्रकृति को विभाव के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है।[3] सैयद गुलाम नबी ने विभाव के विभाजन के अनन्तर उद्दीपन के अन्तर्गत पट-ऋतु वर्णन किया है 'अथ उद्दीपन मे पट-ऋतु मध्ये वसन्त ऋतु वर्णनम्।'[4] इस विषय मे आचार्य केशव का मत अपनी विशेष दृष्टि के कारण महत्त्व रखता है। समस्त परम्परा के विरुद्ध भी केशवदास ने प्रकृति-रूपो को आलम्बन के अन्तर्गत रखा है—

अथ आलंबनस्थान वर्णन
दपंति जोवन रूप जाति लक्षणयुत सखिजन।
कोकिल कलित वसंत फूलि फलदलि अलि उपवन।

१. हिततरंगिनी; ११
२. भाव-विलास
३. काव्य निर्णय भिखारीदास (पृ० ३३)
४. रस प्रबोध, पृ० ८३

जलयुत जलचर अमल कमल कमला कमलाकर।
चातक मोर सुशब्दतडितघन अंबुद अंबर ॥
शुभ सेज दीप सौगंध गृह पानखान परधानि मनि।
नव नृत्य भेद बीणादि सब आलबनि केशव बरनि ॥

प्रकृति को आलम्बन के अन्तर्गत रखने का श्रेय आचार्य केशव को है। यद्यपि सरदार ने अपनी टीका मे इसको परम्परा के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। यहाँ यह नही कहा जा सकता कि रस की विवेचना मे केशव ने प्रकृति को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, केवल आलम्बन और उद्दीपन को समझने का उनका अपना ढग है। उन्होने नायिका के साथ पृष्ठ-भूमि रूप समस्त चीजो को आलम्बन के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है और केवल शारीरिक उद्दीपक-क्रियाओ को उद्दीपन के रूप मे माना है—

अवलोकनि आलाप परिरभन नख रद दान।
चुम्बनादि उद्दीपये मर्द्दन परस प्रवान ॥[1]

इस प्रकार आलम्बन के रूप मे भी प्रकृति को कोई प्रमुख स्थान नही मिल सका है और रस को केवल मानवीय आलम्बन ही स्वीकृत है। जहाँ अलकार की परम्परा का प्रश्न है, रीति-काल मे प्रमुख प्रवृत्ति तो वैचित्र्य की ही रही है। कुछ कवियो ने अपनी प्रतिभा से सुन्दर प्रयोग भी किये हैं।

## काव्य-परम्परा मे प्रकृति

**काव्यरूपो मे प्रकृति**—अभी तक सस्कृत आचार्यों की विवेचनाओ मे प्रकृति का क्या स्थान रहा है, इस पर विचार किया गया है। परन्तु शास्त्रीय-ग्रन्थ और साहित्य के आदर्शों के सम्बन्ध की विवेचना साहित्य-निर्माण के बाद का काम है। इनमे प्रमुख प्रवृत्तियो का उल्लेख हो सकता है और आगे के साहित्य को उनके सिद्धान्त प्रभावित भी कर सकते हैं परन्तु साहित्य के विस्तार को समेटना इनका काम नही है। यही कारण है कि प्रकृति के सम्बन्ध मे आचार्यों की सकुचित दृष्टि के होते हुए भी सस्कृत साहित्य मे प्रकृति का रूप विविध और विस्तृत है। जैसा पिछली विवेचना मे उल्लेख किया गया है, सस्कृत काव्य मे कवि की मन स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले अनुभूति-चित्रो

१ रसिक प्रिया; केशवदास भाव-लक्षण ४–७
सो विभाव दो भाँति के, केशवराय बखान।
आलबन इक दूसरो, उद्दीपन मन आन॥
जिन्हैं अतन अवलबाई, ते आलबन जान।
जिनते दीपति होत है, ते उद्दीप बखान॥

का अभाव है। गीतियों में इसी प्रकार की भावात्मकता के लिए स्थान है। इसी कारण संस्कृत काव्य में प्रकृति से ही सम्बन्ध रखनेवाली कविताएँ नहीं के बराबर हैं। विभिन्न प्रकार के प्रकृति रूप हमको संस्कृत साहित्य के प्रबन्ध-काव्यों, महा-काव्यों तथा गद्य-काव्यों में मिलते हैं। इसके साथ ही संस्कृत के नाटकों में भी प्रकृति के द्वारा वस्तु-स्थिति आदि का संकेत दिया गया है, साथ ही वातावरण का निर्माण भी किया गया है। संस्कृत साहित्य के विभिन्न काव्य-रूपों को देखने से यही प्रकट होता है कि इनमें प्रकृति रूपों का प्रयोग आगे चलकर स्वाभाविक रूप से रूढ़िवादी होता गया है। यह रूढ़िवादिता कथानक में वर्णनों के सामञ्जस्य के क्षेत्र में ही नहीं वरन् समस्त क्षेत्रों में पाई जाती है। यही प्रवृत्ति ऋतु काव्यों, दूत काव्यों और मुक्तकों के वर्णनों में भी पाई जाती है। प्रकृति की वर्णनात्मक योजना प्रबन्ध-काव्यों (रामायण और महाभारत) में पात्र और घटना की स्थितियों के अनुसार की गई है।[1] आगे चल कर अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण कथानक की मानवीय परिस्थितियों और भावों के सामञ्जस्य के आधार पर हुए हैं।[2] परन्तु बाद के कवियों के सामने प्रकृति का उद्दीपन-रूप में प्रयोग ही अधिक प्रत्यक्ष होता गया है। यद्यपि इनके काव्यों में प्रकृति-वर्णनों के लिए सम्पूर्ण सर्ग प्रयुक्त हुए हैं।

सांस्कृतिक आदर्श (क)—किसी रूप में क्यों न हो, भारतीय काव्यों में कथा के साथ इन वर्णनाओं को स्थान मिलने का एक कारण है और वह भारत की अपनी सांस्कृतिक दृष्टि है। विश्वकवि रवीन्द्र ठाकुर का कथन है—"वर्णना, तत्त्व की आलोचना और अवान्तर प्रसंगों से भारतीय कथा-प्रवाह पग-पग पर खण्डित होने पर भी प्रशान्त भारतवर्ष की धैर्य-च्युति होते नहीं दीख पड़ती।" इसका कारण है कि भारतीय कथानकों में उत्सुकता से अधिक रोचकता का ध्यान दिया जाता है। आदर्शों के प्रति आकर्षण ही रहता है उत्सुकता नहीं और भारतीय काव्य तथा कला का सिद्धान्त आदर्श रूपों को उपस्थित करना रहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य जन साहित्य न होकर ऊँचे स्तर के लोगों का साहित्य रहा है, कथानक के प्रति उत्सुकता जन मस्तिष्क को होती है, पंडित वर्ग तो वर्णना सौन्दर्य से ही मुग्ध होता है। इस वर्णना के अन्तर्गत प्रकृति भी अपने समस्त रूप-रंगों में आ जाती है। महा प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति दृश्यों के वर्णन स्थान स्थान पर स्वयं में पूर्ण तथा अपनी स्थानगत विशेषताओं के साथ उपस्थित हुए हैं। ये वर्णन घटनाओं से सीधे सम्बन्धित न होकर भी जीवन के प्रवाह में अपना स्थान रखते हैं। वस्तुतः भारतीय साहित्य में जीवन सरिता का गतिमान् प्रवाह न होकर विस्तार में फैले हुए सागर की हिलोरें हैं जिनमें

१. महाभारत वैरात पर्व ३८ रामायण, अरण्य काण्ड के अनेक स्थल।

२. सौन्दरानन्द, प्रथम, षष्ठ सर्ग कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग, रघुवंश, प्रथम सर्ग।

गति से अधिक गम्भीरता और प्रवाह से अधिक व्यापकता है। यही कारण है कि 'रामायण' ही में राम के मार्गस्थ प्रकृति के दृश्यों में चुपचाप बैठकर प्रकृति के फैले हुए रूपों को देखने का पूरा प्रयास है।[1] वर्णना की यह भावना तो सदा बनी रही है, पर इसका पूर्ण-कलात्मक विकसित स्वरूप, बाण की 'कादम्बरी' के प्रकृति-स्थलों में आता है। इनमें घटना स्थिति की ओर लाने में पूरा धैर्य दिखाया गया है, साथ ही परिस्थिति तथा वातावरण के सामञ्जस्य में वस्तु स्थितियों के चित्र क्रमिक एकाग्रता के ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।[2] जीवन में प्रकृति का स्थान केवल स्थूल आधार के रूप में ही नहीं है, वह मानसिक चेतना के साथ कभी छायी रहती है और कभी उसमें प्रसरित होती लगती है। ऐसी स्थिति में घटना की परिस्थितियों के साथ प्रकृति सामञ्जस्य के रूप में भी महाकाव्यों में प्रस्तुत की जाती है। पाश्चात्य महाकाव्यों में प्रकृति का यह रूप अधिक मिलता है। संस्कृत में कालिदास इस प्रकार के सामञ्जस्य पूर्ण प्रकृति-वर्णन के मुख्य कवि हैं। इनके बाद किसी सीमा तक अश्वघोष और भारवि के काव्यों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं।[3]

रूढ़िवाद (ख)—बाद के अन्य कवियों में कथानक के साथ वर्णनों के सामञ्जस्य की भावना कम होती गई। इस शिथिलता के साथ वर्णन वैचित्र्य और उद्दीपन की रूढ़िगत प्रवृत्ति बढ़ती गई। फिर साहित्याचार्यों द्वारा उल्लिखित—

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥[4]

को ही दृष्टि में रखकर वर्णनों को यत्र-तत्र जमाने का प्रयास किया गया है। इन कवियों में माघ, बुद्धघोष, जानकीदास तथा श्रीहर्ष जैसे कवि भी हैं।[5] इनके काव्यों में प्रकृति चित्रण के सम्बन्ध में किसी भी प्रसंग क्रम का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया है। ऐसे वर्णनों में कथानक का सूत्र छूट जाता है केवल वर्णना का आनन्द मात्र रह जाता है।

वर्णन-शैली—वर्णना स्वयं एक शैली नहीं कही जा सकती वह तो अभिव्यक्ति की व्यापक रीति भर है। वर्णना कितनी ही शैलियों के आधार पर की जा सकती

---

१ आरण्य-काण्ड, सर्ग ११, मार्ग में राम-लक्ष्मण, सर्ग १४ पंचवटी; अयोध्या काण्ड, सर्ग १११, सन्ध्या-वर्णन।

२ विन्ध्य अटवी के वर्णन से शाल्मली-स्थित कोटर तक का वर्णन।

३ बुद्ध चरित, प्रथम-सर्ग, जन्म के अवसर पर; चतुर्थ सर्ग, स्त्री-निवारण; किरातार्जुनीय, चतुर्थ-सर्ग, हिमालय की यात्रा।

४ काव्यादर्श; दण्डी

५ इन सब कवियों ने सर्गों के सर्गों में प्रात, सन्ध्या तथा चन्द्रमा आदि का वर्णन किया है।

है। शैली से हमारा तात्पर्य काव्यों में प्रकृति के रूपों को भावगम्य करने के लिए प्रयुक्त रीतियों से है। इनमें शब्दों की विभिन्न शक्तियों, भाषा की व्यंजना शक्ति और आलंकारिक प्रयोगों के द्वारा वर्णित विषय को मनस् में भाव ग्रहण के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कला और काव्य में भारतीय आदर्श-भावना का जो विकास हुआ है, उसका सत्य प्रकृति वर्णन के इतिहास में भी छिपा है। भारतीय साहित्य में प्रकृति-वर्णन में भी आरम्भ से ही अनुकरण के अन्दर सादृश्य (Image) की भावना थी। बाद में सादृश्य के आधार पर कल्पनात्मक आदर्शवाद की सृष्टि हुई है। फिर इस कल्पनात्मक आदर्शवाद में वैचित्र्य का समन्वय होकर कला का रूप कृत्रिम हो उठा है, सौन्दर्य का स्थान आश्चर्यजनक विचित्रता ने ले लिया और कल्पना का स्थान दूर की उड़ान ने ग्रहण किया। इस प्रकार रूप-सादृश्य के स्थान पर केवल शब्द साम्य पर ध्यान दिया जाने लगा। परम्परा का यह रूप क्रमिक रूप से संस्कृत के प्रकृति-वर्णन के इतिहास में मिलता है। 'महाभारत' के प्रकृति-रूपों में वस्तु परिस्थिति और क्रिया-व्यापार का वर्णन उल्लेखात्मक ढंग से हुआ है, जिनमें रेखा-चित्रों की संश्लिष्टता पाई जाती है। इन चित्रों में प्रकृति के अनुकरणात्मक दृश्यों की सुन्दर उद्भावना है। इस अनुकरणात्मक योजना में केवल वस्तु तथा स्थितियों के चुनाव में आदर्श भाव का संकेत है। परन्तु आदि कवि ने अपने नायक को जिन प्राकृतिक क्षेत्रों में उपस्थित किया है, उन स्थलों का वर्णन कवि ने विशद रूप में स्वयं किया है या पात्रों से कराया है। इन वर्णनों में वस्तु क्रियादि स्थितियों की व्यापक संश्लिष्टता है। परन्तु साथ ही भावात्मक और रूपात्मक सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा प्रकृति-वर्णना का विस्तार भी 'रामायण' में मिलता है। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरानन्द' में और कालिदास के 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' में यह संश्लिष्टात्मक वर्णन-योजना मिलती अवश्य है, परन्तु उनमें वस्तु तथा भाव को चित्रमय बनाने की प्रवृत्ति अधिक होती गई है। वस्तु और भाव दोनों को चित्रमय बनाने के लिये इन कवियों ने अधिकतर सादृश्य का आश्रय लिया है। महाकवि कालिदास में स्वाभाविक चित्रमयता का कलात्मक रूप बहुत सुन्दर है। प्रकृति के एक चित्र से दूसरे चित्र को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय हैं। उन्होंने उपमा और उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यंजना और अभिव्यक्ति के लिए किया है। प्रकृति चित्र उपस्थित करने में अलंकारों का यह कलात्मक प्रयोग 'सेतुबन्ध' में भी हुआ है। केवल भेद इस बात का है कि इसमें स्वाभाविक रूप से स्वतः सम्भावी सादृश्य योजना के स्थान पर काल्पनिक कवि प्रौढोक्ति सिद्ध सादृश्यों की योजना ही अधिक है। इसमें ऐसे रूप रंगों की जो स्वाभाविक हैं विभिन्न काल्पनिक स्थितियों में योजना की गई है। फिर भी कला का यह आदर्श नितान्त कृत्रिम नहीं कहा जा सकता, इसकी रूपात्मकता

और व्यजना मानसशास्त्र के आधार पर हुई है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' मे अन्य प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं परन्तु इसमे काल्पनिक चित्रो को असाधारण बनाने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। और इसमे वह प्रवरसेन के 'सेतुबध' और माघ के 'शिशुपालवध' के समान है। साथ ही भारवि में चमत्कार की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होने लगती है। वह कल्पना आदर्श तभी तक कही जा सकती है, जब तक प्रस्तुत चित्रमयता के आधार मे भाव की या रूप की कुछ व्यजना हो। परन्तु जब साधारण असाधारण मे खो जाता है, हम स्वाभाविक रूप या भाव को न पाकर केवल चकित भर होते हैं, आनन्दमग्न नही। बुद्धघोष के 'पद्मचूडामणि' मे आदर्श-कल्पना के सुन्दर चित्रो के साथ असाधारण का भाव भी आने लगा है। कुमारदास के 'जानकी-हरण' मे प्रकृति-वर्णन की शैली अधिकाधिक कष्ट-कल्पनाओ से पूर्ण होती गई है। इसमे अलकार-वादियो की भद्दी प्रवृत्ति का प्रवेश अधिक पाया जाता है, जो आगे चलकर माघ और श्रीहर्ष के काव्यो मे क्रमशः चरम को पहुँच गई है। आलकारिकता की सीमा तक 'जानकीहरण' की उत्प्रेक्षाओ और उपमाओ मे भाव को स्पर्श करने की शक्ति है। परन्तु माघ और श्रीहर्ष मे बौद्धिक चमत्कार की ओर अधिक रुचि है। इनकी चमत्कृत उक्तियो मे अलकार का आधार कल्पना की स्वाभाविक प्रक्रिया से उत्पन्न सहज-चित्र नही हैं वरन् चमत्कार की भावना मे ही है। कुमारदास उत्प्रेक्षाएँ भाव-वस्तु के चित्रो को प्रस्तुत करने के लिए भी प्रयुक्त करते हैं और उस सीमा मे वे भारवि के समकक्ष ठहरते हैं। माघ आदर्श रग-रूपो के द्वारा असाधारण, फिर भी स्वाभाविक चित्रो की उद्भावना मे प्रवरसेन की प्रतिभा को पहुँचते हैं। उनमे यद्यपि उक्ति-वैचित्र्य अधिक है फिर भी वे प्रकृति के अधिक निकट हैं और श्रीहर्ष प्रकृति के स्थान पर मानवीय भावो के पडित हैं। श्रीहर्ष के पाडित्य ने उनका सर्वत्र ही साथ दिया है, इस कारण उनके प्रकृति-वर्णनो मे चरम का उक्ति-वैचित्र्य है जिसमे प्रकृति के रूप की सहजता बिल्कुल खो गई है। यद्यपि यहाँ प्रकृति-वर्णन के प्रसग मे ही इस प्रकार शैली की परम्परा का रूप दिखाया गया है, फिर भी यह आदर्श और शैली की सम्बन्धात्मक परम्परा प्रकृति के सभी प्रकार के रूपो मे समान रूप से पाई जाती है। चाहे प्रकृति का मानवीकरण रूप हो या उद्दीपन रूप हो, यह शैली का विकास सभी जगह मिलेगा।[1]

### प्रकृति-रूपों की परम्परा

**आलम्बन की सीमा**—प्रथम भाग में कहा जा चुका है मानव और उसकी कला के विकास मे प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति का पूरा हाथ रहा है। मानव के जीवन

१. इस विषय में लेखक का—'सस्कृत काव्य में प्रकृति-वर्णन की शैलियाँ' नामक प्रकरण देखना चाहिए (सस्कृत भाग)।

मे सौन्दर्य की स्थापना करके उसे कलात्मक बनाने का श्रेय भी उसके चारो ओर फैली हुई प्रकृति को ही मिलना चाहिये। इस सौन्दर्यानुभूति का आलम्बन है प्रकृति, उसका व्यापक सौन्दर्य। परन्तु जब प्रकृति हमारे अन्य भावो पर प्रभाव डालती हुई विदित होती है, उस समय उसका उद्दीपन-रूप होता है। संस्कृत के काव्याचार्यों ने प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माना है परन्तु संस्कृत काव्यों की विशद शृंखला मे सभी प्रकार के प्रकृति-रूप आते हैं। यहाँ एक बात तो स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्रकृति मे ही हमारा जीवन-व्यापार चल रहा है, इस प्रकार मानव के आकार, स्थिति और भावो के तादात्म्य-सम्बन्ध के लिये और साधारणीकरण के लिए भी आधार-रूप से प्रकृति का वर्णन आवश्यक होता है। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन एक ओर पृष्ठभूमि के रूप मे भावो को प्रतिध्वनित करते है और साथ ही दूसरी ओर उनका प्रभाव मानसिक भावो पर भी पडता है। फिर प्रकृति कभी वस्तु आलम्बन के रूप मे और कभी भाव आलम्बन के रूप मे उपस्थित होती है। शुद्ध उद्दीपन विभाव मे आने वाली प्रकृति का रूप इससे भिन्न है, जिसमे प्रकृति केवल दूसरे भावो को उद्दीप्त करने की दृष्टि से चित्रित होती है।

उन्मुक्त आलम्बन—संस्कृत साहित्य मे प्रकृति का उन्मुक्त आलम्बन रूप कम है, जिसमे भाव का आश्रय कवि या पाठक ही होता है। प्रकृति को आलम्बन मानकर कवि अपनी भाव-प्रवणता मे प्रकृति की सौन्दर्यानुभुति से अविभूत भावनाओ की अभिव्यंजना प्रकृति-चित्र की रूपरेखा के साथ करता है। परन्तु इस प्रकार के मनस्-परक प्रकृति-चित्र संस्कृत साहित्य मे बहुत ही कम हैं। यह प्रकृति का प्रभावात्मक रूप गीतियो मे अधिक व्यक्त हो उठता है। प्रकृति को पाकर कवि स्वय अनुभूतिशील होता है और उस समय वह केवल भावो को अभिव्यक्त कर पाता है, प्रकृति के चित्र या तो रेखा-रूप मे आधार प्रदान करते है या भावो को व्यंजित करते हैं। संस्कृत साहित्य मे ऐसे गीति-काव्य का अभाव है, यद्यपि वैदिक साहित्य प्रकृति के उल्लास मे डूबा हुआ ही विदित होता है। परन्तु यह उन्मुक्त भावो का काव्य-रूप जिसमे रूप से भाव-पक्ष अधिक होता है, संस्कृत की साहित्यिक परम्पराओ मे नही आ सका है। सम्भव है उस समय की जन-भाषाओ मे ऐसे गीत हो जो आज हमारे सामने नही है। संस्कृत साहित्य मे इस भावना ने अन्य रूपो मे अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढा है।[1] वाल्मीकि 'रामायण' मे कही-कही प्रकृति के उन्मुक्त आलम्बन चित्रो के साथ इस सौन्दर्यानुभूति की व्यंजना अवश्य आ जाती है। प्रकृति की वर्णना मे कभी-कभी

---

१. द्र० लेखक का 'गीति-काव्य में प्रकृति का रूप और संस्कृत साहित्य' नामक निबन्ध (विश्व भारती पत्रिका, श्रावण-आश्विन, २००३)।

पात्र की मन स्थिति का रूप भी मिला हुआ है। काव्यों में इस प्रकार की व्यंजना पात्रों की पूर्व मन स्थिति के उद्दीपन रूप में हुई है और या इस प्रकार के वर्णनों में आरोप की प्रवृत्ति अधिक है। कथानक के साथ प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन जैसा रूप अवश्य मिलता है। उस समय या तो पात्र स्वयं ही वर्णन करते हैं और या वे वर्णनों से अलग-अलग रहते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों में घटनाओं द्वारा कथानक के विकास से अधिक ध्यान वर्णन-सौन्दर्य पर दिया जाता रहा है। इस कारण ये वर्णन-प्रसंग भी वस्तु-स्थिति और भाव-स्थिति दोनों के आधार न होकर स्वतन्त्र लगते हैं। आदि काव्य में ऐसे वर्णनों को अधिक स्थान मिल सका है, उसमें दृश्यों की चित्रमय योजना की गई है। 'रामायण' में वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और व्यापार-स्थिति के साथ वातावरण की योजना में रूप रंग, ध्वनि-नाद, आकार-प्रकार और गंध स्पर्श के संयोगों द्वारा चित्रों को स्पष्ट मनस्-गोचर बनाने का प्रयास किया गया है। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि साधारण चित्रमय वर्णनों को आलंकारिक योजना द्वारा व्यंजनात्मक बनाने का प्रयास चलता रहा है जो आगे चलकर रूढ़ि और वैचित्र्य की प्रवृत्ति में दिखाई देता है। साथ ही स्वतन्त्र वर्णनों को उद्दीपन की व्यापक-भावना के अन्तर्गत चित्रित करने की प्रवृत्ति का भी विकास होता गया है। यद्यपि पिछले महाकाव्यों में भी सर्ग के सर्ग सन्ध्या, प्रात और ऋतु आदि के वर्णनों में लगाए गए हैं और उनका कोई विशेष सम्बन्ध भी कथा के विस्तार से नहीं लगता। फिर भी समस्त वर्णन व्यापक उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

पृष्ठ-भूमि . वस्तु-आलम्बन—पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति पृष्ठ-भूमि के रूप में भी कभी वस्तु-आलम्बन के रूप में और कभी भाव आलम्बन के रूप में उपस्थित होती है। प्रकृति समस्त मानवीय स्थितियों को आधार प्रदान करती है। अपने परिवर्तित रूपों में समय और स्थान का ज्ञान प्रस्तुत करती है। इन रूपों में प्रकृति स्वतन्त्र आलम्बन नहीं है, परन्तु स्थितियों के प्रसार में समवाय रूप से आलम्बन अवश्य है। 'महाभारत' में प्रकृति के रूप अपने रेखा-चित्रों में इसी प्रकार के हैं। ये चित्र पात्र की वस्तु-स्थिति और मार्ग के स्वरूप वातावरण आदि को सम्मुख लाने के लिए हैं। 'रामायण' में भी इस प्रकार के वर्णन स्थान स्थान पर आए हैं। ये चित्र वन-गमन-प्रसंग के बाद के हैं। राम वन में विचरण कर रहे हैं, उस समय उनके मार्ग का और उसमें स्थित वन, पर्वत, निर्झरों का चित्र सम्मुख रखना स्थितियों की विभिन्न रेखाओं का स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था। 'रामायण' में समय और स्थान का वर्णन भी है जो अधिकांश स्थलों पर स्वतन्त्र रूप में ही है। इसी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण कदाचित् बाद के कवियों में प्रात, साय, सूर्योदय, चन्द्रोदय तथा ऋतु-वर्णनों के रूप किसी वस्तु-स्थिति आदि के आधार नहीं हो सके। क्रमश इनका सम्बन्ध

कथानक की घटनाओं की पृष्ठ भूमि में या पात्रों की स्थितियों के आधार रूप में नहीं के बराबर होता गया। कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में इस प्रकार के वर्णनों का सम्बन्ध किसी सीमा तक आलम्बन की भावना से है। स्थान आदि के वर्णन इसी वस्तु-आलम्बन के अन्तर्गत हुए हैं, यद्यपि अपनी परम्परागत प्रवृत्ति के फलस्वरूप शैली में भेद अवश्य है। संस्कृत के नाटकों में समय और स्थान के इस प्रकार के आलम्बन-चित्र पात्रों और घटनाओं को आधार प्रदान करने के लिए दिए गए हैं। बाण की 'कादम्बरी' में प्रकृति की विस्तृत चित्र योजना अपनी समग्र पूर्णता में घटना-स्थल स्पष्ट करने के लिये ही हुई है और वह वस्तु-आलम्बन की सुन्दरतम उदाहरण है। यद्यपि इन चित्रों में इतनी पूर्णता और इतना सौन्दर्य-विस्तार है कि वे स्वयं स्वतन्त्र-आलम्बन लगते हैं। परन्तु चित्र अपने क्रमिक-विकास में विशेष घटना-स्थिति की ओर चित्र-पट के दृश्य की भाँति घूमते, केन्द्रित होते जाते हैं। *भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अर्जुन के* मार्ग का वर्णन भी किसी किसी स्थल पर इसी प्रकार का है।

भाव-आलम्बन (ख)—कभी-कभी कवि प्रकृति के चित्रों को किसी मन स्थिति विशेष की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रस्तुत करता है अथवा प्रकृति में पात्र विशेष के मन-स्थित भावों को प्रतिध्वनित करता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति भाव आलम्बन के रूप में उपस्थित होती है। यह प्रकृति की पृष्ठ-भूमि किसी मनोभाव से निरपेक्ष होकर भी भाव-आलम्बन के रूप में रह सकती है, क्योंकि प्रकृति-सौन्दर्य में भावानुभूति के अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर देने की शक्ति है। संस्कृत काव्यों में इस प्रकार का प्रकृति का भाव-आलम्बन रूप कम है और जो चित्र हैं उनमें प्रकृति अनुकूल स्थिति में ही है—वह कभी पात्र का स्वागत करती जान पड़ती है और कभी छिपे हुए उल्लास की *भावना व्यंजित* करती है। कालिदास ने 'रघुवंश' में और भारवि ने 'किरातार्जुनीय' में कुछ ऐसे प्रकृति के रूप दिए हैं। इनमें कहीं कहीं तो केवल पाठक की मन स्थिति को भाव के अनुरूप बनाने का प्रयास है और कहीं प्रकृति स्वयं इस भाव को प्रकट करती जान पड़ती है। मानवीय भावों के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना भी इसी भाव-आलम्बन की सीमा में आ जाता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में प्रातःकाल का वर्णन और ऋतु का वर्णन राजा के ऐश्वर्य के समानान्तर प्रस्तुत किया है। ये वर्णन भाव आलम्बन हैं क्योंकि प्रकृति के रूप-व्यापार उसी भाव में आत्मसात् हो जाते हैं। साथ ही स्वयंवर-प्रसंग के प्रकृति सम्बन्धी संकेतात्मक वर्णन भी वस्तु-आलम्बन और भाव-आलम्बन के अन्तर्गत आ जाते हैं जिनमें किसी स्थानकाल का रूप मिलता है।[1]

---

१ द्र० लेखक का 'संस्कृत के विभिन्न काव्यरूपों में प्रकृति', नामक लेख। (विश्व-भारती पत्रिका)

**आरोपवाद : उद्दीपन की सीमा**—मानव अपने दृष्टि-कोण से अपने ,मनोभावो के आधार पर ही सारे जगत् को देखता है । इस दृष्टि की प्रधानता के कारण ही उसे प्रकृति अपने भावो से अनुप्राणित लगती है और कभी अपनी जैसी क्रियाओ मे व्यस्त जान पडती है । साथ ही जब वह अपनी भावानुभूति की ओर ध्यान देता है, उस समय प्रकृति उसके भावो को अनुकूल या प्रतिकूल होते हुए भी अधिक गम्भीर बनाती है। यही प्रकृति का उद्दीपन रूप है । प्रकृति के अनुप्राणित रूप और मानवीकरण मे किसी दूसरी मन स्थिति या भावो की स्थिति स्वीकृत हैं । इसके साथ जो सहचरण की भावना है उसमे प्रकृति का विशुद्ध रूप नही है । ऐसी स्थिति मे प्रकृति किसी मनोभाव की सहायक न होकर, उनसे स्वय प्रभावित रहती है । परन्तु व्यापक दृष्टि से इनका वर्णन फिर उसी प्रकार की मन स्थिति उत्पन्न करता है जिससे प्रभावित वे चित्र थे । इस कारण उद्दीपन के अन्तर्गत इनको लिया जा सकता है । सस्कृत के महाकाव्यो मे इस प्रकार के वर्णन आदि से अन्त तक पाये जाते हैं । इनकी प्रवृत्ति मानवीकरण की ओर अधिक रही है, साथ ही इस भावना मे भी सुन्दर कल्पना और व्यजना के स्थान पर रूढि और चमत्कार का आश्रय अधिक होता गया है । कालिदास ही इस क्षेत्र मे सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भारवि और जानकीदास मे भाव से अधिक आकार प्रधान होता गया, जो माघ मे मधु-क्रीडाओं के रूप में अपने चरम पर पहुँचा है । प्रकृति सहचरण की भावना के साथ प्रकृति के पात्रो से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करके भाव व्यजना करने की परम्परा चली है । इससे सम्बन्धित दूत-काव्यों की परम्परा मे कालिदास के 'मेघदूत' म जो मधुर-भावना है वह अन्यत्र नही है । प्रकृति से सहचरण की भावना का स्रोत मानव की स्वच्छद प्रवृत्ति मे ही है । आदि प्रबन्ध काव्य मे राम सीता का समाचार प्रकृति से पूछते है, 'महाभारत' म भी दमयन्ती नल का समाचार प्रकृति के नाना रूपो से पूछती फिरती है । 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का सौन्दर्य प्रकृति की सहचरण-भावना मे ही सन्निहित है । भवभूति के 'उत्तर राम-चरित' में प्रकृति के प्रति यही भावना प्रकृति-रूप पात्रो की उद्भावना भी करती है, और प्रकृति के चित्र तो इस भावना से अनुप्राणित है ही । 'विक्रमोर्वशीय' मे इसी भावना के आधार पर एक अक की समस्त वातावरण सम्बन्धी आयोजना की गई है जो अपने सौन्दर्य मे अद्वितीय है ।

**विशुद्ध उद्दीपन विभाव**—शुद्ध-उद्दीपन के अन्तर्गत आने वाले प्रकृति के वर्णन भाव की किसी पूर्व स्थिति को उत्तेजित करते है। ऐसी स्थिति म प्रकृति कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल चित्रित होती है । निरपेक्ष प्रकृति भी भावो की उद्वगशील स्थिति मे उद्दीपन का कार्य करती है । सस्कृत साहित्य में अधिकाश रूप से पहले दो रूप ही पाये जाते हैं । रामायण में वियोगी राम के द्वारा पम्पासर का वर्णन प्रकृति का निरपेक्ष रूप प्रस्तुत करता है । इस स्थल पर प्रकृति का निरपेक्ष रूप राम के हृदय मे

दो मनोभावों का समानान्तर सामञ्जस्य उपस्थित करता है। परन्तु इस स्थल पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति ने राम के मनोभाव को अधिक गम्भीर रूप से पाठक के सामने नहीं प्रस्तुत किया। प्रकृति में उद्दीपन का स्वाभाविक रूप भी 'रामायण' में पाया जाता है। प्रकृति के परिवर्तित स्वरूप अपने सयोगों के साथ वेदना को घनीभूत करते हैं। महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' में प्रकृति अपनी अनुकूल रूप-रेखा में वियोगी हृदय के साथ व्याकुल है। कुछ स्थलों पर कालिदास ने प्रकृति-चित्रों की उद्भावना स्वाभाविक रीति से भावों को उद्दीप्त करने के लिए की है। 'कुमारसम्भव' में वसन्त-वर्णन अपने समस्त विस्तार में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का सुन्दरतम उदाहरण है। विध्वस्त अयोध्या और देवपुरी का वर्णन इसी दृष्टि से हुआ है। पहले ही कहा जा चुका है कि उद्दीपन रूप में प्रकृति मनोभावों को अधिक प्रगाढ करने में सहायक होती है, साथ ही अनुप्राणित प्रकृति की सहचरण भावना में जो आरोप की भावना है वह भी उसी प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। इस कारण प्रकृति के उद्दीपन रूप के वर्णन मिश्रित हैं। बाद के कवियों में प्रकृति का उद्दीपक स्वरूप भी रूढ़िवादी होता गया है। ये कवि प्रकृति के समस्त वर्णनों को उद्दीपन के रूप में ही खींच ले जाते हैं। महाकाव्यों में कथा-प्रसग से अलग केवल काल्पनिक नायिकाओं को पृष्ठभूमि में लाकर प्रकृति के उद्दीपन रूप को उपस्थित किया गया है। यह उद्दीपन की प्रवृत्ति प्रारम्भ से पाई जाती है, क्योंकि मानवीय स्वच्छन्द-भावना में भी किसी अदृश्य नायिका का रूप विद्यमान रहता है। रामायण के सुन्दर-काण्ड के वर्णनों में यह भावना पाई जाती है, साथ ही कालिदास के 'ऋतुसहार' में सारी उद्दीपन की भाव धारा किसी अदृश्य प्रेयसी को लेकर ही है। परन्तु बाद के कवियों ने वस्तु वर्णन और काल-वर्णन को केवल इसी दृष्टि से प्रस्तुत करना आरम्भ किया है। यह प्रवृत्ति अपनी रूढ़िवादिता में यहाँ तक बढ़ी कि वर्णन प्रसगों में प्रकृति की भिन्न वस्तुओं का उल्लेख करके ही भावों का एकमात्र वर्णन किया जाने लगा। और कभी कभी तो इन स्थलों पर केवल मानवीय मधु क्रीडाओं का वर्णन मात्र प्रमुख हो उठता है। कलात्मक रूढ़िवादिता ने संस्कृत काव्यों को कभी उन्मुक्त वातावरण नहीं दिया जिसमें प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन-रूप या उद्दीपन रूप ही विशुद्ध हो सकता। ये काव्य अधिकाधिक कृत्रिम और अस्वाभाविक होते गये हैं। उनमें भावात्मकता के स्थान पर शारीरिक मांसलता है और वर्णनों की चित्रमयता और भावप्रवीणता के स्थान पर विचित्र कल्पना और स्थूल आरोपवादिता अधिक आती गई है।[१]

**अलंकारों में उपमान**—पिछली विवेचना में कहा जा चुका है कि स्वाभाविक

१ विशेष विस्तार से—'संस्कृत काव्य में प्रकृति' नामक लेखक की पुस्तक में विचार किया गया है।

मानसशास्त्र के आधार पर अलकारो का प्रयोग भाव और वस्तु को अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त करने के लिए होता है। बाद मे अलकारो में वर्णन वैचित्र्य का कितना ही विकास क्यों न हो गया हो परन्तु उनकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति अभिव्यक्ति को अधिक व्यजनात्मक करने की रही है। साहित्य मे प्रकृति की चित्रमय योजना के द्वारा आलकारिक प्रयोगो से वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और क्रिया-स्थितियो को वातावरण के साथ अधिक भाव-गम्य बनाया गया है। इसके लिए जिन स्थलो पर प्रकृति के एक चित्र को स्पष्ट करने के लिए दूसरे दृश्य का आश्रय लिया गया है, वे चित्र सुन्दर बन पडे हैं। ऐसे प्रयोग वाल्मीकि मे भी मिलते है, परन्तु अश्वघोष और कालिदास मे इनका विकास हुआ है। कालिदास मे अलकारो के ऐसे चित्रमय प्रयोग सर्वश्रेष्ठ बन पडे है। भारवि और प्रवरसेन म अलकारो का यह रूप रहा है, यद्यपि कल्पना अधिक जटिल होती गई है। माघ में यह प्रवृत्ति कम हाती गई है। इन प्रयोगो म कही स्वत सम्भावी रूपो की योजना का आश्रय लिया गया है और कही कविप्रौढोक्ति-सम्भव काल्पनिक रूपो की, जो अपने रग-रूपो, आकार-प्रकार तथा ध्वनि गध के सयोग मे विभिन्न स्थितियो के आधार पर सम्भव हो सकते हैं। भारवि और माघ मे प्रकृति उपमानो की योजना का यही दूसरा रूप अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त अलकारो मे मानवीय स्थितियो और क्रियाओ से भी साम्य उपस्थित किया गया है। इसम अलकारो म प्रकृति का प्रयोग मानवीकरण के रूप म होता है और कही रूपो को ही भावात्मक बनाने के लिए। बाद मे इसम भी कृत्रिमता और असाधारण की प्रवृत्ति आ गई है।

सौन्दर्य मे वैचित्र्य (क)—अलकारो म प्रकृति का उपयोग उपमानो के रूप म होता है। इसके अन्तर्गत मनोविज्ञान के साथ ही सौन्दर्यभाव का भी अन्तर्भाव है। अलकार सादृश्य और सया ा के आधार पर सुन्दर और रमणीय भाव की अभिव्यक्ति करन वाली एक शैली है। वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष और भास के आलकारिक प्रयोगो मे अधिकतर इस सौन्दर्य-भाव का विचार मिलता है। परन्तु बाद में अलकारो म वैचित्र्य भावना के विकास क साथ ही वस्तुत्त्व की विचित्र कल्पना और प्रेयत्व की कार्य-कारण सम्बन्धी ऊहात्मकता का आरोप हाता गया। सस्कृत काव्यो की परम्परा म जा व्यक्ति या वस्तु के लिए प्रयुक्त उपमानो का सत्य है, वही वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और क्रियास्थिति सम्बन्धी उपमानो की योजना क विषय म भी सत्य है। सस्कृत के कवियो मे कला से कृत्रिमता की ओर, कल्पना से ऊहा की ओर जाने की प्रवृत्ति समान रूप से सभी क्षेत्रो म पाई जाती है।

भाव-व्यजना और रूढिवाद (ख)—प्रकृति के विभिन्न रूपो क साथ हमारा भाव-सयोग भी होता है जिसका आधार हमारी अन्तर्वृत्ति की सौन्दर्यानुभूति है। इसीके आधार पर प्रकृति के उपमानो की विभिन्न योजनाओ द्वारा भावो की व्यजना की

जाती है जो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में अन्तर्गत आती है। अन्तर्वृत्ति का यह बाह्यरूप जो प्रकृति के विस्तार से तादात्म्य स्थापित कर रहा है, महाकवियों की ही भावुक दृष्टि में आ सका है। अधिकतर पहले कवि ही इस प्रकृति के रूपों के द्वारा मानवीय भावों को सुन्दर रूप से व्यक्त कर सके हैं। बाद के कवियों ने इस प्रकार के चित्र कम उपस्थित किये हैं और उनमें भी स्वाभाविकता के स्थान पर कष्ट कल्पना का प्रवेश हो गया है। माघ और श्रीहर्ष में कुछ स्थलों पर ऐसे स्वाभाविक स्थल भी आ गये हैं जो कालिदास के समक्ष रखे जा सकते हैं, परन्तु अपनी सामूहिक चेतना में वे रूढ़िवादी है।[1]

हिन्दी मध्य युग की भूमिका—संस्कृत की काव्य शास्त्र सम्बन्धी परम्परा तथा उसके काव्य के विभिन्न रूप हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग की भूमिका के समान हैं। परन्तु हम आगे देखेंगे कि यह भूमिका साहित्य के आदर्शों तक ही सीमित है। अन्य क्षेत्रों में इस युग के साहित्य ने स्वतन्त्र रूप से विभिन्न क्षेत्रों से प्रेरणा ग्रहण की है। संस्कृत-साहित्य के बाद के काव्य के समानान्तर प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी है। इन साहित्यों का एक भाग तो धार्मिक चेतना से पानी के समान प्रभावित रहा है। प्राकृत साहित्य में संस्कृत काव्यादर्शों का अनुकरण अधिक दूर तक हुआ है। अपभ्रंश साहित्य में संस्कृत साहित्य के आदर्शों का पालन तो मिलता है, पर एक सीमा तक इसमें स्वच्छन्द प्रवृत्तियों का समन्वय भी हुआ है। यह भावना जन-जीवन के सम्पर्क को लेकर है। परन्तु अपभ्रंश के काव्यों में (जिनमें प्रमुखता जैन काव्यों की है) धार्मिक प्रवृत्ति तथा साहित्यिक आदर्शों के अनुसरण के कारण स्वच्छन्दवाद को पूरा अवसर नहीं मिल सका। इस कारण उसमें प्रकृति सम्बन्धी किसी परम्परा का रूप स्पष्ट नहीं हो सका है। अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में काव्य को एक बार फिर अधिक उन्मुक्त वातावरण मिला।

---

१ 'वही

## द्वितीय प्रकरण

# मध्ययुग की काव्य-प्रवृत्तियाँ

**युग की समस्या**—प्रकृति और काव्य के मध्य मे मानव की स्थिति निश्चित है। काव्य मे प्रकृति रूपो की विवेचना के पूर्व काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियो से परिचित होना आवश्यक है। इन प्रवृत्तियो का अध्ययन मानव को लेकर ही सम्भव है और *मानव का अध्ययन युग विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक* चेतना म सन्निहित है। साहित्य आखिर अभिव्यक्ति तो उसी मानव जीवन की है। जिस युग के विषय मे कहने जा रहे हैं, उस हिन्दी मध्ययुग के साहित्य के विषय मे पिछले साहित्य के इतिहास-लेखको का कथन था कि यह असहाय और पराजित जाति का प्रतिक्रियात्मक साहित्य है और इसी कारण इसमे भक्ति भावना को प्रधानता मिली है।[1] प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस धारणा को भ्रम मूलक सिद्ध किया है और मध्ययुग की भक्ति भावना को साहित्यिक रूप म स्वीकार किया है।[2] स्वाभाविक रूप से राजनीतिक स्थिति तथा भारत म इस्लाम धर्म के प्रवेश का प्रभाव मध्ययुग के साहित्य पर अवश्य पडा है। इस युग के साहित्य पर जो प्रभाव इनका पडा है, उसपर आगे विचार किया जायगा। परन्तु इस युग की व्यापक भूमिका मे युग की काव्य प्रवृत्तियो को समझने के लिए आवश्यक है कि मध्ययुग की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के साथ दार्शनिक, धार्मिक तथा कलात्मक पृष्ठ भूमि को प्रस्तुत कर लिया जाय। वस्तुत हिन्दी मध्ययुग का साहित्य इस सास्कृतिक चेतना के आधार पर विकसित हुआ है।

**शृ खला की कडी**—इस विषय म एक बात का उल्लेख करना आवश्यक जान पडता है। अभी तक हम मध्ययुग के साहित्य के साथ सस्कृत साहित्य की बात सोचने के अभ्यस्त रहे हैं। इस युग के साहित्य के पूर्व अपभ्र श तथा प्राचीन हिन्दी का विशाल

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, पडित अयोध्या सिह उपाध्याय तथा बाबू श्यामसुन्दरदास इसी मत के है। डा० रामकुमार भी राजनीतिक कारण को महत्त्व देते है।

२ हिन्दी-साहित्य की भूमिका

साहित्य है। चारण काव्यों के रूप में प्राचीन हिन्दी का बहुत कम साहित्य हमारे सामने है। भारतीय साहित्य की शृंखला की यह कड़ी अभी तक उपेक्षित रही है और इस कारण हिन्दी मध्ययुग की काव्यगत परम्पराओं की पूरी रूप-रेखा हमारे सामने नहीं आ सकी है।[1] धार्मिक भाव-धारा के विषय में भी पहले इसी प्रकार सन्देहात्मक स्थिति थी। इसी परिस्थिति के कारण ग्रियर्सन ने भक्ति को मध्ययुग की आकस्मिक वस्तु के रूप में समझा था। इधर दक्षिण के आलवारों की भक्ति परम्परा के प्रकाश में आने पर तथा सिद्धों और नाथों के अध्ययन की पृष्ठ-भूमि पर भक्ति-भावना का स्रोत अधिक निश्चित हो सका है। अपभ्रंश साहित्य के व्यापक अध्ययन से साहित्यिक परम्पराओं का क्रम उपस्थित हो सकेगा।[2] इस साहित्य में जन सम्पर्क सम्बन्धी स्वच्छंद प्रवृत्तियाँ अवश्य मिलती हैं, यद्यपि कवियों के सामने साहित्यिक आदर्शों की परम्परा भी सदा रही है। सिद्धों और नाथों का एक वर्ग ऐसा अवश्य है जिसके सामने साहित्यिक बंधन नहीं था, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का अपना ढंग था जिसमें जन-जीवन की बात न कहीं जाकर अपने मत और सिद्धान्त का प्रतिपादन ही है। जैन कवियों में धार्मिक चेतना अधिक है और राज्याश्रित कवियों के सामने संस्कृत तथा प्राकृत के आदर्श अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके उपरांत भी अपभ्रंश का कवि जन-जीवन से अधिक परिचित है और अपने साहित्य में अधिक उन्मुक्त वातावरण तथा स्वच्छंद भावना का परिचय देता है। हम देखेंगे कि इसी स्वच्छंद भावना को हिन्दी साहित्य के मध्ययुग ने और भी उन्मुक्त रूप से अपनाने का प्रयास किया है।

युग चेतना तथा राजनीति—यहाँ राजनीतिक परिस्थिति के रूप में एक बात का उल्लेख किया जा सकता है। हिन्दी-काव्य के मध्ययुग में कवियों के लिए विक्रम, हर्ष, मुंज और भोज जैसे आश्रयदाता नहीं थे और उनको अपने आश्रयदाता सामंतों के यश-गान का अवसर भी नहीं था। इस स्थिति को राजनीतिक प्रभाव के रूप में मुसलमानों के भारत प्रवेश से सम्बन्धित माना जा सकता है। वस्तुतः मध्ययुग में हमको जीवन के सभी क्षेत्रों में जन आन्दोलन के रूप में स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इस युग में, दर्शन, धर्म तथा समाज आदि क्षेत्रों में रूढ़ि का विरोध हुआ और नवीन आदर्शों की स्थापना हुई। इस वातावरण के निर्माण के लिए तत्कालीन राजनीतिक स्थिति अनुकूल हुई। मुसलमान शासक विदेशी होने के कारण अपने धर्म के पक्षपाती होकर भी यहाँ की परिस्थिति के प्रति उदासीन थे। मध्ययुग के पूर्व ही कुमारिल तथा शंकर

---

१ राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य धारा की भूमिका।

२ डा० रामसिंह तोमर का अपभ्रंश सम्बन्धी कार्य समाप्त हो गया है। आपका क्षेत्र विशेषतः जैन कथा-काव्य है। लेखक ने इस विषय में उनसे परामर्श लिया है। इधर अन्य ग्रन्थ भी प्रकाश में आये हैं।

ने बौद्धों को परास्त कर दिया था और राजपूत सामन्तों की सहायता से हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान हो चुका था। परन्तु न तो जनता के जीवन से बौद्धों का प्रभाव हट सका और न हिन्दू-धर्म की स्थापना में सामाजिक व्यवस्था का रूप ही निश्चित हो सका था। ऐसी स्थिति में राज्य-शक्ति भी विदेशी हाथों में चली गई। फिर तो धर्म को सामाजिक व्यवस्था का आधार बनाए रखना और अद्वैत दर्शन से धर्म के साधना पक्ष का प्रतिपादन करना दोनों ही कठिन हो गया। परिणाम स्वरूप उस समय एकाएक दर्शन, धर्म और समाज सभी को जनशक्ति का आश्रय ढूँढना पड़ा। इसका अर्थ है इनको अपनी व्यवस्था की रूप रेखा प्रचलित समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर देनी पड़ी। साहित्य जीवन की जिन समष्टियों की अभिव्यक्ति है, वे सभी अपना सन्तुलन जन जीवन के व्यापक प्रसार से कर रही थी।

स्वच्छन्द वातावरण (क)—ऐसी स्थिति में मध्य-युग के साहित्य को जन-आन्दोलन के स्वच्छन्द झोंके ने एक बार हिला दिया।[1] संस्कृत साहित्य की संस्कार-वादी परम्परा में स्वच्छन्दवाद को उन्मुक्त वातावरण नहीं मिल सका था। अपभ्रंश साहित्य में एक बार उसने प्रवेश करने का प्रयास किया है और मध्ययुग में इसको उन्मुक्त वातावरण भी मिल सका है, परन्तु यह प्रयास पूर्ण सफल नहीं हुआ। इस साहित्यिक आन्दोलन ने अपनी अन्य प्रेरणाएँ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की हैं और इस कारण उसमें विभिन्न रूप पाए जाते हैं। परन्तु इस समस्त काव्य की व्यापक भावना के अन्तराल में एक स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त प्रवृत्ति का आभास मिलता है। यहाँ इन शब्दों का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। स्वच्छन्दवाद किसी साहित्य की देश-काल गत सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। वह तो व्यापक रूप से मानव-जीवन की स्वाभाविक तथा उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। इस साहित्यिक प्रेरणा में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भी होता है।[2] आगे की विवेचना में हम देखेंगे कि मध्ययुग के जन-आन्दोलन ने इस युग के दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण को स्वच्छन्द बनाने में सहायता दी है और इन सबसे प्रेरणा पाकर इस युग का साहित्य भी मूलतः स्वच्छन्दवादी ही है। फिर भी मध्ययुग की अधिकांश काव्य-परम्पराओं में इस प्रवृत्ति का विकास नहीं हो सका। इसका एक कारण काव्य में भक्ति की प्रमुखता में देखा जा सकेगा। लेकिन इस युग के काव्य पर भारतीय कला और साहित्य के आदर्शों का जो प्रभाव पड़ा है उसकी

१ हिन्दी-साहित्य की भूमिका; प० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ५७

२ नेचुरलिज्म इन इंगलिश पोएट्री; स्टापफोर्ड ए० ब्रुक, पृ० २४—'मैंने अभी तक प्रकृतिवाद के विकास की बात कही है जिसमें काव्य का सम्बन्ध स्वच्छन्द-भाव से है। और इसी कारण वह व्यापक मानव प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है जिसमें अपने से पूर्व की रूढ़िवादी काव्य-भावना से विरोध भी है।'

विवेचना से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

## युग की स्थिति और काव्य

**दर्शन और जीवन**—शंकर की दिग्विजय के बाद भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का नाश हो गया। इसका अर्थ केवल इतना है कि यहाँ दार्शनिक पंडितों तथा धार्मिक आचार्यों में बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध धर्म की मान्यता नहीं रह सकी। परन्तु बौद्ध-धर्म का प्रभाव जनता पर ज्यों का त्यों बना था। इस प्रभाव का तात्पर्य आचारों तथा विश्वासों के विकृत रूप में लेना चाहिए।[1] जनता किसी भी धर्म के बौद्धिक-पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं देती, फिर बौध धर्म तो विशेषतः संन्यासियों का धर्म था। जहाँ तक मस्तिष्क की समस्या थी, तर्क का क्षेत्र था, शंकर का अद्वैत अटल और अकाट्य था। परन्तु जीवन की व्यावहारिक दृष्टि से यह दर्शन दूर पड़ता है। मध्ययुग की जनता के लिए अपने बौद्धिक स्तर पर यह तत्ववाद ग्राह्य होना सम्भव नहीं था। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को स्पर्श करने के लिए भी जीवन की अस्वीकृति मध्ययुग के आचार्यों को सम्भव नहीं जान पड़ी। आध्यात्मिक साधना के लिए अद्वैत को विशिष्ट अर्थ में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसी कारण रामानुजाचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। दार्शनिक प्रतिपादन की शैली तर्क है और इस कारण इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन तर्क के आधार पर किया है। अद्वैतवाद में जिस सीमा तक बौद्धिक कल्पना का चरम है, उस सीमा तक जीवन का व्यावहारिक समन्वय नहीं है। आत्मवान जीव स्वचेतना तथा रूपात्मक जगत् की अनुभूति को लेकर ही आगे बढ़ता है। जीवन के स्वाभाविक और स्वच्छन्द दर्शन में अद्वैत की व्यापक एकता का संकेत तो मिलता है, पर उसके लिए जगत् की रूपात्मक सत्ता को भ्रम मानना और अपनी स्वानुभूत आत्मा के व्यक्तित्व को अस्वीकार करना सरल नहीं है। इसलिए जब दर्शन धार्मिक जीवन और व्यक्तिगत साधना का समन्वय उपस्थित करना चाहता है वह विभेदवादी लगता है। रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत में इसी एकता और भिन्नता का समन्वय उपस्थित किया है। रामानुज का ब्रह्म प्रकृति, जीव और ईश्वर से युक्त है। ईश्वर अपने पूर्ण स्वरूप में ब्रह्म से एक रूप है। भेद यह है कि ईश्वर धार्मिक साधना का आश्रय है और ब्रह्म तत्त्ववाद की त्रि एकता का प्रतीक है। रामानुज का यह सिद्धान्त बिल्कुल नया हो, ऐसा नहीं है। इसमें जीव, प्रकृति और ईश को सत्य मानकर सब में ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार की गई है। यह एक प्रकार से धार्मिक साधना के लिए शंकर के पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्यों का समन्वय समझा जा सकता है। इसमें संसार की रूपात्मक सत्ता का अर्थ

---

१ हिन्दी-साहित्य की भूमिका, प० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४।

लगाने के लिए माया का आश्रय भी नहीं लेना पड़ा है। आचार्य वल्लभ ने अपने पुष्टि-मार्ग के लिए जिस शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया है उसका स्वरूप भी इसी प्रकार का है। शंकर ने सत्य के जिस सत्तानुक्रम का उल्लेख किया है उसी को वल्लभ ने सत् (प्रकृति), चित् (जीव) और आनन्द (ईश) के रूप में स्वीकार किया है।[१] जीव में प्रकृति का अंश है इसलिए वह 'सच्चित' है और ईश में प्रकृति तथा जीव दोनों का तिरोभाव है इस लिए वह 'सच्चिदानन्द' है। इस प्रकार इसमें भी धार्मिक साधना का दृष्टिकोण प्रमुख है। इस समस्त तत्त्ववादी विचारधारा का कारण यही है कि दर्शन अपना मार्ग जीवन के व्यापक क्षेत्र में बना रहा था। ऐसी स्थिति में दर्शन में उन्मुक्त वातावरण की स्वीकृति सम्भव हो सकी, जिसके फल-स्वरूप मध्ययुग के तत्त्ववाद में यथार्थवादी अद्वैत का प्रतिपादन हुआ।

सहज आत्मानुभूति—अभी तक दार्शनिक आचार्यों के तत्त्ववाद का उल्लेख किया गया है। यदि हम मध्ययुग के साधक कवियों के दार्शनिक मत पर विचार करें तो इस यथार्थवादी अद्वैतवाद की बात और भी स्पष्ट हो जाती है। साथ ही मध्ययुग में दार्शनिक स्वच्छंदवाद की प्रवृत्ति भी अधिक व्यक्त हो जाती है। इन साधकों के दार्शनिक मत के साथ यह भी जान लेना आवश्यक है कि ये सहज आत्मानुभूति को ही ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) का साधन स्वीकार करते हैं। संतों का 'सहज' ज्ञान यही आत्मानुभूति है। कबीर जब 'सहज' को आध्यात्मिक ज्ञान की सीढ़ी कहते हैं या दादू अधिक कवित्वपूर्ण शब्दों में आत्मानुभूति की झील कहते हैं, तो उसका भाव आत्मानुभूति ही है।[२] जब कहते हैं—'बोलना का कहिए रे भाई, बोलत बोलत तत्त नसाई' उस समय निश्चय ही उनका संकेत आत्मानुभूति की ओर है। प्रेममार्गी सूफी कवियों ने भी ईश्वर को हृदय में बताया है। जायसी कहते हैं—'पिय हिरदय महँ भेंट न होई। कोरे मिलाव कहाँ कहि रोई।' परन्तु इन कवियों ने साधना के भाव पक्ष को ग्रहण किया है। इसी कारण आत्मानुभूति का विषय भावाभिव्यक्ति हो गया है। ज्ञान के विवेचनात्मक पक्ष में सगुणवादी कवियों का भी यही मत है। तुलसीदास ने भक्ति के साथ ज्ञान को भी महत्त्व दिया है, पर वह ज्ञान का व्यापक रूप है, केवल व्यावहारिक नहीं। वैसे तुलसी भावात्मक भक्ति को प्रमुख मानते हैं और साथ ही 'विनयपत्रिका' में

---

१. ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी, आर० डी० रानाडे, पृ० २१०, २२२।

२ कबीर-ग्रंथा० पृ० ५६, १५—"हस्ती चढ़िया ज्ञान का, सहज दुलीचा डारि।" और दादू की बानी (ज्ञान-सागर) पृ० ४२; ७०—

'दादू सरवर सहज का, तामें प्रेम तरंग।
तहं मन झूलै आतमा, अपने साईं संग॥"

उन्होंने भेद-बुद्धि वाले ज्ञान को त्याज्य माना है।[1] सूरदास ने भी सगुणवादी होने के साथ ही अपनी भक्ति में भावाभिव्यक्ति का साधन ग्रहण किया है और भगवान् के प्रेम को आत्मानुभूति के रूप में अन्तर्गत आनेवाली बताया है।[2] इस प्रकार मध्ययुग के साधक कवियो ने अपनी अभिव्यक्ति मे भाव-पक्ष को स्थान दिया है, साथ ही आत्मानुभूति को ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। इसका कारण यह है कि इन साधको मे कवि की अन्तर्दृष्टि अधिक है, दार्शनिक का तर्क कम और इन्होने कवि की व्यापक अन्तर्दृष्टि से ही दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया है। भारतीय विचारो की परम्परा मे दार्शनिक स्वच्छंदवाद का एक युग उपनिषद्-काल था। उपनिषद्-काल का द्रष्टा कवि और मनीषी था। उसके सामने जीवन और सर्जन का उन्मुक्त वातावरण था। उसने आत्मानुभूति मे जिस क्षण सत्य का जो रूप देखा, उसे सुन्दर से सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया। यही कारण है कि उपनिषदो मे विभिन्न सिद्धान्तो का मूल मिल जाता है। वस्तुतः सत्य की अनुभूति जब अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करती है, उस समय उसके रूपो मे अनेकरूपता होना सम्भव है।[3] हिन्दी मध्ययुग के साधक-कवियों की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। ये साधक द्रष्टा ही अधिक हैं, विचारक नही। यही कारण है कि इनके सिद्धान्तो मे विचारात्मक एक-रूपता नही है। इनके पास दार्शनिक शब्दावली अवश्य थी, जिसका प्रयोग इन्होने अपने स्वच्छन्द मत के अनुरूप किया है। इसके अनुसार इनको तत्त्ववाद के विभिन्न मतवादों मे रखना इनकी उन्मुक्त अभिव्यक्ति के प्रति अन्याय करना है।

समन्वय दृष्टि—भावाभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करने पर इस युग का साधना-काव्य अनुभूति-प्रधान है। इनके विचार और तर्क इसीसे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इस आधार पर सभी परम्पराओ के साधक-कवि अपने विचार मे समान लगते हैं। जो भेद हैं वह उनके सम्प्रदायो तथा साधना पद्धति के भेद के कारण हैं। इस युग के समस्त साधक कवियो की व्यापक प्रवृत्ति समन्वय तथा सहिष्णुता की है। इनमे जो जितना महान् कवि है वह उतना ही अधिक समन्वयशील है। परम सत्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए समन्वय ही आवश्यक है, क्योंकि उसका बोध सीमा ज्ञान के

१. विनय-पत्रिका; पद १११—"केशव कहि न जाइ का कहिए ?
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै।।"

२. सूरसागर (वे० सं०) प्र०, पद २—
"अबगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गतही भावै।।"

३. ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलास्फ़ी; आर. डी. रानाडे; पृ० १७८

द्वारा ही कराया जाता है। साथ ही भारतीय तत्त्ववाद के विभिन्न मतों से ये साधक परिचित थे और इन्होंने उनकी शब्दावली को पैतृक सम्पत्ति के समान पाया है। इस सारी परिस्थिति को यदि हम अपने सामने रखकर विचार करें तो हमें इनमें जो विरोधी बातों की कठिनाई जान पड़ती है, उसका हल मिल सकेगा।

विज्ञानात्मक अद्वैत—(क) अनुच्छेद चार में मध्ययुग के यथार्थवादी अद्वैत का उल्लेख किया गया है। *परन्तु इसको भौतिक न समझकर विज्ञानात्मक ही मानना* चाहिए। हिन्दी मध्ययुग के सभी साधक कवियों ने व्यापक विश्वात्मा की अद्वैत भावना पर विश्वास किया है। निर्गुण संतों में कबीर, दादू और सुन्दरदास आदि ने जिस परात्पर तथा इन्द्रियातीत का निरूपण किया है वह बहुत दूर तक अद्वैत है। जीव इस स्थिति में ब्रह्म से पूरी एकरूपता रखता है। अन्य जिन संतों में यह व्याख्या नहीं मिलती वे भी पूर्णतः 'भेदाभेदवादी' अथवा 'विशिष्टाद्वैतवादी' नहीं हैं। कुछ स्थलों पर अद्वैत की भावना जीव और ईश की एकरूपता में मिलती है। वस्तुतः इन संतों ने ब्रह्म की व्याख्या समान नहीं की है और वे अनुभूति की अभिव्यक्ति में अद्वैत भावना का स्वरूप भी प्रतिपादित नहीं कर सके हैं। कबीर, दादू तथा सुन्दरदास आदि कुछ ही साधकों ने एकात्म भाव की अभिव्यक्ति करने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त की है।[1] परन्तु प्रेम साधना के मार्ग पर इन साधकों के विरह तथा संयोग के चित्रों में विशिष्टाद्वैती भावना ही प्रधान लगती है।[2] और सामाजिक धरातल पर भगवान् को सर्वशक्तिमान् स्वीकार करने पर ये अपने विनय के पदों में भेदाभेदवादी भी लगते हैं। सूफी प्रेममार्गी कवियों में भी हमको ये तीनों दृष्टिकोण मिलते हैं। विवेचना के रूप में इन्होंने विज्ञानात्मक अद्वैत की स्थापना की है और साधना-पक्ष में विशिष्टाद्वैत को स्वीकार किया है।[3] साथ ही बाशरा होने के कारण इनके मत में भेद भाव की भी स्वीकृति है। राम और कृष्ण के सगुणवादी भक्तों ने भी स्थान-स्थान पर अद्वैत ब्रह्म का निरूपण किया है, वैसे साधना के क्षेत्र में वे विशिष्टाद्वैती और शुद्धाद्वैती हैं।[4] व्यापक रूप से इन सभी साधकों में एक से अधिक भावनाएँ मिलती हैं और एक सीमा तक इन सभी में इस बात को लेकर समानता भी है।

---

१ कबीर ग्र० पृ० १७-७—"हरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराइ।
बूँद समाना समद में सो कत हेर्‌या जाई॥"

२. वही, पृ० १०८—"काहे रे नलिनी तू कुम्हलानी तेरहि नाल सरोवर पानी। जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास॥"

३ जाय० ग्र०, पृ० १९३—'आपुहि आपु जो देखै चहा। आपुनि प्रभुत आपु मन कहा। सबै जगत दरपन की लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा॥" वही पृ० १९८—"रहा जो एक जल गुपुत समुदा। बरसा सहस अठारह बुंदा॥"

४ ... "[illegible]

व्यापक समता—(ख) इन समस्त साधक कवियों में समानता पाई जाने का कारण है। इन्होंने सत्य की आत्मानुभूति व्यापक आधार पर प्राप्त की है, केवल उसको अपनी साधना में एक निश्चित रूप देने का प्रयास किया है और इसी कारण बहुत सी बातों में अन्तर आ गया है। यहाँ कुछ अन्य समान बातों का उल्लेख भी किया जाता है। मध्ययुग के लगभग सभी साधकों ने विश्व की व्यापक रूपात्मकता को किसी न किसी रूप में ईश्वर के विराट रूप की अभिव्यक्ति स्वीकार की है। सभी ने माया को कई रूपों में लिया है। माया के सम्बन्ध में उपनिषद्-साहित्य में भी यही स्थिति है।[1] इन्होंने माया को क्षणिकता, अज्ञान तथा आचरण सम्बन्धी दोषों के रूप में माना है। यद्यपि उस समय शंकर का मायावाद अधिक प्रसिद्ध था और इसका रूप भी इन साधकों के काव्य में मिलता है। प्रमुखतः माया को दो रूपों में स्वीकार किया गया है। माया का एक भ्रमात्मक पक्ष है जो जीव को ब्रह्म से अलग करता है और उसीके अन्तर्गत सामाजिक आचरण सम्बन्धी दोषों को लिया जा सकता है। दूसरे रूप में माया ईश्वर की शक्ति है जो विद्या है और जिसके सहारे सर्जन चक्र चलता है। माया का यह रूप जीव का सहायक है। इसके अतिरिक्त वेदांत दर्शन परिणामवादी नहीं है, फिर भी मध्ययुग के साधकों ने सृष्टि-सर्जन का स्वरूप सांख्य से स्वीकार किया है। लगभग इस युग के सभी साधकों ने कुछ भेदों के साथ सर्जन क्रम के लिए प्रकृति और पुरुष को स्वीकार किया है और महत् से ग्रह आदि की उत्पत्ति उसी क्रम से मानी है। कबीर तथा तुलसी आदि कुछ प्रमुख कवियों ने इसको रूपक माना है और अन्य कवियों ने मूल रूप में स्वीकार कर लिया है।[2]

उन्मुक्त दर्शन—(ग) इस समस्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग के तत्त्ववादी आचार्यों ने अपना मत कुछ भी स्थिर किया हो, इस युग के साधक-कवि किसी निश्चित मतवाद के बन्दी नहीं हैं। इन्होंने जीवन और जगत् को स्वच्छन्द रूप से उन्मुक्त भाव में देखा है और उसी आधार पर अपनी अनुभूतियों और विचारों को व्यक्त किया है। साथ ही इनके विचारों की पृष्ठ भूमि में भारत की दार्शनिक विचार-धारा है। तत्ववाद के प्राचीन सिद्धान्तों को इन साधकों ने राष्ट्रीय सम्पत्ति के समान अपनाया है।[3] परन्तु इन सिद्धान्तों को अपनाने में इनका कोई तात्त्विक आग्रह नहीं है, ये तो केवल साधकों के अनुभूत सत्यों के रूप में व्यक्त हुए हैं। यही कारण है कि इन

१ का० स० उ० क्रि०, पृ० २२८

२ दि निर्गुण स्कूल अव पोइट्री, पी० डी० बडथ्वाल, पृ० ५०

३ दि सिक्स सिस्टम्स अव इन्डियन फिलासफी, मैक्समुलर, भूमिका से—"इन छओं सिद्धान्तों की विभिन्नता के पीछे, एक समान दर्शन की पूँजी है जो जन साधारण की अथवा राष्ट्र की कही जा सकती है।"

साधक-कवियो मे आपस मे तो साम्य और विरोध है ही, अपने विचारो मे भी विरोधी स्थिति जान पड़ती है। उपनिषद्-कालीन द्रष्टाओ ने जीवन और सर्जन के प्रति अपनी जिज्ञासा से जो अनुभव प्राप्त किये थे, बाद के तत्त्ववादियो ने उन्हीका मनन करके अपने मतवादो का रूप खडा किया है।[1] परन्तु मध्ययुग के साधको ने जीवन और समाज के उन्मुक्त वातावरण में फिर इन सिद्धान्तो को अपनी अनुभूति के आधार पर परखा है। इस युग मे जीवन और सर्जन के साथ समाज का भी प्रश्न सामने आया है। इसके फलस्वरूप एक ओर दार्शनिक सीमा मे ईश्वर की कल्पना मे पिता तथा स्वामी का रूप सम्मिलित हो गया और दूसरी ओर धार्मिक क्षेत्र मे आचार सम्बन्धी अनेक बातो का समन्वय किया गया है।

**धर्म और समाज का नियमन**—इस युग मे दर्शन के समान ही धर्म की स्थिति थी। सामाजिक आचारों की व्यवस्था धर्म करता है, इस कारण यहाँ समाज और धर्म को साथ लिया जा सकता है। हिन्दी मध्ययुग के पूर्व सामाजिक स्थिति बडी अव्यवस्थित थी, और इसलिए पडितो ने समाज मे धार्मिक नियमन और व्यवस्था करने का प्रयास किया था। परन्तु ब्राह्मणो का समाज पर विशेष प्रभाव नही था और न उनके साथ राजशक्ति ही थी। ऐसी स्थिति मे पडितवर्ग ने समाज के प्रचलित आचार-व्यवहारो की व्यवस्था न करके उनकी स्वीकृति मात्र दी है।[2] परिणाम स्वरूप मध्ययुग मे सामाजिक विशृखलता के साथ धार्मिक अव्यवस्था भी बढ चुकी थी। हिन्दी के साधक कवियो मे अधिकाश का स्वर इनके विद्रोह मे उठा है। मध्ययुग के साहित्य मे धार्मिक और सामाजिक नियमन विद्रोह तथा निर्माण दोनो ही आधारो पर किया गया है।

विद्रोह और निर्माण—(क) मध्ययुग के कवि के मन मे वस्तु स्थिति के प्रति विद्रोह है और साथ ही आदर्श के प्रति निर्माण की कल्पना है। केवल कुछ मे विद्रोही स्वर अधिक ऊँचा और स्पष्ट है और कुछ मे मानवीय आदर्श के निर्माण की व्यवस्था अधिक है। इस क्षेत्र मे कबीर तथा अन्य सन्तो की वाणी अधिक स्वच्छद है। कबीर ने किसी परम्परा का आश्रय नहीं लिया, इसी कारण धार्मिक रूढियो के प्रति उनका खुला विद्रोह है। परन्तु इन सत कवियों ने केवल खडन किया हो, ऐसा नही है। इन्होंने स्वाभाविक मानवीय धर्म का प्रतिपादन भी किया है। यह धर्म किसी शास्त्र वचन की अपेक्षा न रख कर मानवीय आदर्शों पर आधारित है। इस युग की अन्य परम्पराओ के कवियो मे शास्त्र सम्मत होने की भावना है। परन्तु इन्होने भी शास्त्र का सकुचित अर्थ नही स्वीकार किया है। इनके द्वारा स्वीकृत शास्त्र का अर्थ शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से मानव जीवन के सुन्दर और शिव आदर्शों का प्रतिपादन करनेवाला है। सूर, तुलसी

१ का० स० उ० फि०, पृ० २१०
२ हि० सा० भू०, पृ० १३

तथा जायसी आदि विभिन्न धाराओं के साधकों में सत्य, अहिंसा और दया के प्रति समान रूप से आस्था है और साधु पुरुषों के प्रति महान् आदर-भाव भी पाया जाता है। तुलसी ने 'श्रुति सम्मत पथ' पर ही अधिक बल दिया है और 'वर्णाश्रम' की महिमा का उल्लेख भी किया है। परन्तु उनका कथन सामाजिक एकता और व्यवस्था की दृष्टि से है। वास्तव में तुलसी जातिवादी सुधारक नहीं थे, वे परिष्कार के साथ व्यवस्था के पक्षपाती थे। एक सीमा तक इस सत्य का समर्थन संतों ने भी किया है कि धार्मिक मतों का विरोध और उनकी रूढ़िवादिता उनके शास्त्र-ग्रंथों के सत्यों से सम्बन्धित नहीं है। विरोध तो बिना विचार किए चलने से होता है।[1] जायसी के साथ अन्य सूफी प्रेम-मार्गी भी समन्वयवादी व्यवस्थापक अधिक हैं। जायसी ईश्वर को प्राप्त करने के अनेक मार्ग स्वीकार करते हैं।[2] साथ ही इन्होंने तुलसी के समान धर्म ग्रंथों और पुरानी व्यवस्था पर अपनी आस्था प्रकट की है। सूरदास में यह समन्वय तथा उदारता की दृष्टि समान रूप से पाई जाती है, और मानवीय आदर्शों की स्थापना भी इन्होंने की है। भावात्मक गीतकार होने के कारण सूर में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का प्रश्न अधिक नहीं उठा है।

मानव-धर्म—(ग) ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मध्ययुग के साधक कवियों ने धर्म को मानव के विकास का मार्ग माना है। इन्होंने धर्म को मानव समाज से सम्बन्धित करके देखा है। व्यक्तिगत तथा साम्प्रदायिक भेदों को छोड़कर इनकी व्यापक प्रवृत्ति यही है। साथ ही इनके काव्य में प्रमुख मानवीय आदर्शों को महत्त्व दिया गया है। सभी ने भगवान् को मानव मात्र का आराध्य माना है, सभी ने मानव मात्र को समान माना है। इन सभी साधकों ने आत्म-निग्रह, दया, सत्य तथा अहिंसा का उपदेश दिया है। साथ ही इन्होंने एक स्वर में धार्मिक विरोधों की निंदा की है और कुप्रवृत्तियों (मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि) से बचने को कहा है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में धार्मिक दृष्टि जीवन को सहज और स्वाभाविक रूप में ग्रहण करती है। सन्तों में इसकी प्रधानता है। परन्तु सामूहिक रूप से इन साधकों ने रूढ़िगत मान्यताओं को अस्वीकार किया है और समाज को नवीन दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

## काव्य में स्वच्छंदवाद

साधना की दिशा—अभी तक युग की परिस्थिति की विवेचना की गई है और काव्य की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। काव्य बाह्य की प्रतिक्रिया ही नहीं है, वह अंत का प्रस्फुरण भी है। साहित्य के इतिहासकारों ने मध्ययुग के

---

१ संतबानी संग्रह (भाग १), कबीर, पृ० ४६—"वेद कतेब कहहु मत झूठ, झूठा जो न विचारे।"

२ जायसी ग्रं०, पद्मावत—"विधना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।"

प्रारम्भिक भाग को भक्ति-काल कहा है, परन्तु इसको साधना-काल कहा जाय तो अधिक उचित है। इस काल के अधिकांश कवि साधक थे, और इन्होंने अपनी अनुभूति को ही काव्य में अभिव्यक्ति का रूप दिया है। इसलिए इनकी काव्य-भावना पर विचार करने के पूर्व, साधना की दिशा पर विचार कर लेना आवश्यक है। साधना का क्षेत्र व्यक्तिगत अनुभूतियों का विषय है। इस दृष्टि से सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम दोनों ही व्यक्तिगत साधना के रूप में समरूप-परक है। आत्माभिव्यक्ति के रूप में इस युग के काव्य में एक नया युग प्रारम्भ होता है। कुछ अन्य कारणों से यह प्रवृत्ति व्यापक नहीं हो सकी, जिसका अन्यत्र उल्लेख किया जाएगा। यह काव्य में आत्मानुभूति को अभिव्यक्त करने की शैली स्वतः ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की प्रतिपादक है। इसके अतिरिक्त इस साधना में जिन स्वाभाविक भावनाओं का आधार लिया गया है, वे भी जीवन से सहज सम्बन्धित हैं।

प्रेम और भक्ति—(क) जिस प्रेम या भक्ति को इस मध्ययुग के साधकों ने प्रमुखतः अपनी साधना का माध्यम स्वीकार किया है, उसके मूल में काम या रति की भावना अन्तर्निहित है।[1] साधना के दो रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। एक तो विरक्ति जिसमें सांसारिक भावों को त्यागना साधना का लक्ष्य है; परन्तु सहज भावना के विरुद्ध यह साधना कठिन है। दूसरा साधना का रूप व्यापक रूप से अनुरक्ति के आधार पर माना जा सकता है। प्रेम साधना में इस अनुरक्ति का अर्थ सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनुराग नहीं है। इसका अर्थ स्वाभाविक वृत्तियों को संसार से हटाकर अपने आराध्य के प्रति लगाना है। मानव-भावों में रति या मादन भाव का बहुत प्रबल और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण इसके आधार पर साधना अधिक सरल समझी गई है। जो मनोभाव हमको संसार के प्रति बहुत अधिक अनुरक्त रखता है, यदि वही भाव ईश्वरोन्मुखी हो जाता है तो वह उस ओर भी गम्भीर वेग धारण करता है। सन्तों की 'विरति' भी ब्रह्मोन्मुखी 'निरति' के लिए है। उनका प्रेम भी मानवीय सीमाओं में स्वाभाविक भावनाओं और मनोभावों को लेकर विकसित होता है। सगुणवादी माधुर्य-भाव के भक्तों तथा सूफी प्रेमियों में भी साधना की आधार भूमि रति या मादन भाव है। जब इस भाव का आधार लौकिक रहता है, उस समय साधारण काम-कलाप या रति-क्रीडा में यह अभिव्यक्ति ग्रहण करता है। इस स्थिति में आलम्बन रूप के प्रत्यक्ष रहने पर, मनोभाव शारीरिक प्रक्रिया के रूप में अपनी गम्भीर सुखानुभूति को खो देता है। परन्तु जब भाव का आलम्बन अप्रत्यक्ष रहता है, उस समय मनोभावों की गम्भीरता सुखानुभूति के क्षणों को बढ़ाती है। साथ ही भाव के लिए आलम्बन का होना भी निश्चित है, इस कारण सन्तों में भी प्रेम-साधना के क्षणों में द्वैत भावना लगती है। परन्तु सन्तों का प्रेम किसी

१. तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० ११६-१७; हिन्दी सा० भू० ; पृ० ७८।

प्रत्यक्ष आलम्बन को ग्रहण नहीं करता, उसमें आलम्बन का आधार बड़ा ही सूक्ष्म रहता है। और लगता है जैसे यह भाव किसी आलम्बन की भूली हुई स्मृति के प्रति है। इस अभिव्यक्ति से एक ओर तो सीमा के द्वारा असीम की व्यंजना हो जाती है और दूसरी ओर उनकी साधना में लौकिकता को अधिक प्रश्रय नहीं मिलता।

सूफी साधकों का आधार अधिक लौकिक है। उसमें पुरुष-प्रेम की उन्मत्त-भावना ही 'इश्क मजाजी' से 'इश्क हक़ीकी' तक पहुँचाती है।[1] हिन्दी मध्ययुग के प्रेम-मार्गी साधकों ने भारतीय भक्ति भावना के माधुर्य-भाव को भी अपनी साधना में स्थान दिया है। यही कारण है कि उनके प्रबन्ध काव्यों में नारी प्रेम की रति-भावना को भी स्थान मिला है। परन्तु इन्होंने रति या मादन भाव को लौकिक से अलौकिक, अपने आलम्बन को प्रकृति में व्यापक रूप प्रदान करके ही बनाया है। दूसरी ओर उन्होंने भावाभिव्यक्ति में संयोग के क्षणों को अधिक गम्भीर बनाया है और वियोग के क्षणों को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। माधुर्य-भाव की भक्ति भी इसी प्रकार अभिव्यक्ति का आश्रय ग्रहण करती है। परन्तु उसका आलम्बन व्यापक सौन्दर्य का प्रतीक है जो अपनी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में स्वयं अलौकिक हो उठता है। इस प्रकार सूफी प्रेमी-साधकों और माधुर्य-भाव के भक्तों ने अपने इस भाव के लिए सौन्दर्य का अलौकिक रूप आलम्बन रूप से स्थापित किया है। तुलसी की भक्ति भावना में माधुर्य-भाव का आधार नहीं है, परन्तु प्रेम की व्याख्या और आलम्बन का सौन्दर्य रूप इनमें भी मिलता है। अपनी दास्य-भक्ति का स्वरूप तुलसी ने सामाजिक तथा आचारात्मक आधार पर ग्रहण किया है। परन्तु प्रेम की व्यथा और उसकी संलग्नता को तुलसी ने भी स्वीकार किया है।[2] कबीर, सूर तथा जायसी आदि ने इसी प्रकार अपने प्रिय को, अपने आराध्य को स्वामी रूप में देखा है और दया की प्रार्थना भी की है। इस प्रकार हिन्दी मध्ययुग में साधना सहज तथा स्वच्छंद रूप से चल रही थी।

सहज काव्याभिव्यक्ति (ग)—मध्ययुग के साधकों ने अपने साधना-मार्ग को सहज रूप से ही ग्रहण किया है, क्योंकि वह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है। इन्होंने इसका उल्लेख स्थान स्थान पर किया है। साधना के इस सहज रूप के कारण इन साधकों की काव्याभिव्यक्ति जीवन की वस्तु है और हृदय को अभिभूत करती है। जिस प्रकार काव्य शास्त्र के अन्तर्गत 'रस-सिद्धान्त' में मानव की स्वाभाविक भावनाओं को आनन्द प्राप्ति का साधन कहा गया है, उसी प्रकार साधना की इस भाव-व्यंजना में मनोभावों की चरम अभिव्यक्ति है। रूपगोस्वामी ने इन दोनों

१. त० या सूफी० . पृ० १२०

२ तु० दोहावली दो० २७६—"चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि। प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटै की कानि।" (तथा इस प्रसंग के अन्य दोहे)

का समन्वय 'उज्ज्वल नीलमणि' में किया है।[1] प्रेम-साधना का यह रूप विभिन्न परम्पराओं में किसी भी स्रोत से क्यों न आया हो, अभिव्यक्ति में हमारे सामने दो बातें रखता है। पहले तो एक सीमा तक इन साधकों ने अपनी भावाभिव्यक्ति के द्वारा व्यक्तिगत मनस्-परक काव्य का रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें गीतियों की विशेषताएँ मिलती है। इस युग के पूर्व भारतीय साहित्य में गीतियों का लगभग अभाव है। और दूसरे भाव-व्यंजना के रूप में सहज और स्वाभाविक मानवीय भावों की अभिव्यक्ति को काव्य में स्थान मिला। इसके पूर्व जैसा पिछले प्रकरण में कह चुके हैं, काव्य में कला तथा रूढ़िवाद की प्रमुखता थी। इस प्रकार अभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य संस्कारवादी प्रभाव को बहुत कुछ छोड़कर स्वच्छन्द हो सकता है।

साधक और कवि—इस युग के स्वच्छन्दवादी वातावरण के साथ ही, इस युग का साधक प्रमुखतः कवि है। तत्त्ववाद की सीमा में न तो हम उसे दार्शनिक कह सकेंगे, और न व्यक्तिगत साधना के संकुचित क्षेत्र में उसे साधक ही कहा जा सकता है। मध्ययुग के साधक कवियों ने सर्जन, जीवन और समाज पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। इसीलिए इन्हें विचारक और साधक से अधिक कवि ही स्वीकार करना है। इस बात का आग्रह कि ये उच्चकोटि के विचारक या साधक ही थे और उनका काव्य उनकी साधना अथवा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन-मात्र है, मैं कहूँगा अनुचित है, साथ ही मध्ययुग के कवियों के प्रति अन्याय भी है। परन्तु जब मैं कहता हूँ य पूर्णतः और प्रमुखतः कवि हैं उस समय यह नहीं समझना चाहिए कि ये कवि होने के साथ ही उच्चकोटि के विचारक अथवा साधक नहीं हो सकते। फिर यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब वे साधक और कवि दोनों ही हैं, उनको साधक न कह कर कवि कहने का आग्रह क्यों ? बात एक सीमा तक उचित है, परन्तु इसमें दो कठिनाइयाँ हैं। पहले तो ऐसे अनेक महान् साधक हो गए है जिनको अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए माध्यम की आवश्यकता नहीं हुई। दूसरे यह भी आवश्यक नहीं है कि साधना की अनुभूति के अनुसार साधक की अभिव्यक्ति हो सके। वस्तुतः अभिव्यक्ति का जो रूप हमारे सामने है वह उपकरणों के माध्यम में आ सका है, और साधक की कवित्व प्रतिभा ही उसको अपनी अभिव्यक्ति के उपकरणों के प्रति अधिक सचेष्ट तथा जागरूक रख सकी है। इसी कारण इस युग के कवियों में जो प्रतिभा-सम्पन्न थे, वे ही महान् साधक भी लगते हैं क्योंकि उनकी सशक्त अभिव्यक्ति में साधना का गम्भीर रूप आ सका है। इसके साथ ही समन्वय की दृष्टि तथा जीवन के प्रति जागरूकता का यह भाव भी इनको कवि के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित करता है।

उपकरण भाषा—मध्ययुग के ये साधक-कवि अपने विचारों में स्वच्छन्द हैं,

---

१ सूर-साहित्य प० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८४

साथ ही भाषा के जिस उपकरण को इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के रूप मे स्वीकार किया है उसे भी जनता से ग्रहण किया गया है। वस्तुत इनका काव्य भाषा, छद, शैली, भाव तथा चरित्र आदि की दृष्टि से अपने से पूर्व के काव्य से नवीन और मौलिक दिखाई देता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इस स्वच्छद काव्य के पीछे कोई परम्परा नही है। जैसे इन कवियो के विचारो का स्रोत पिछले दार्शनिक विचारको मे मिल जाता है, परन्तु इससे इनकी उन्मुक्त प्रवृत्ति मे कोई बाधा नही होती, इसी प्रकार यदि साहित्य के क्षेत्र मे भी इनके पीछे एक परम्परा है, तो यह स्वाभाविक है और इससे इनकी मौलिकता और स्वच्छदता मे कोई अन्तर नही पडता। भाषा की दृष्टि से मध्ययुग के कवियो की भाषा जनता के निकट की ही नही, वरन् साहित्यिक रूप मे जनता की ही भाषा है। अपभ्रश को जन-भाषा के रूप मे माना जाता है। परन्तु अधिकाश मे अपभ्रश काव्य की भाषा जन-भाषा के आधार पर प्रचलित भाषा स्वीकार की जा सकती है। अपभ्रश का सामन्ती काव्य तथा सिद्धो का काव्य प्रादेशिक भेदो के साथ प्रचलित भाषा से इसी रूप से सम्बन्धित है। इस भाषा के समान मध्ययुग के सतो की भाषा तथा रीति-कालीन ब्रज भाषा को माना जा सकता है। प्रचलित भाषा मे जनता के सामने विचार रखे जा सकते हैं और दरबारी भाषा मे रीति तथा अलकारो को निभाया जा सकता है। परन्तु जन-भावना की अभिव्यक्ति जन-भाषा मे अधिक गम्भीर तथा सुन्दर हो सकती है। इसके लिए कवि साहित्यिक परिष्कार के साथ जन-भाषा को अपना लेता है। यही कारण है कि मध्ययुग के कवियो की भाषा जन भाषा है। इस युग के उत्तरार्द्ध मे रीति की रूढि के साथ भाषा भी जनता से दूर होकर कृत्रिम होती गई है।

जहाँ तक छद का प्रश्न है, वह बहुत कुछ शैली के साथ सम्बन्धित है। इन कवियो ने भावाभिव्यक्ति के स्थलो पर पद शैली का प्रयोग किया है। पद शैली का विकास निश्चय ही तत्कालीन लोक गीतो तथा भारतीय सगीत के योग से माना जाना चाहिए। जब कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए वस्तु-परक कथानको और चरित्रो का आश्रय लेता है, उस समय दोहा-चौपाई की शैली प्रयुक्त हुई है। दोहा-चौपाई जन समाज मे अधिक प्रचलित हो सके है। एक तो कथानक के प्रवाह के लिए जैसे सस्कृत मे अनुष्टुप्-छद अधिक उपयुक्त है, वैसे ही हिन्दी मे यह छद शैली उपयुक्त सिद्ध हुई है। दूसरे जैन-साहित्य ने इसका प्रचार अपने कथानको मे पहले से किया था। सत्यो के उल्लेख तथा विचारो को प्रकट करने के लिए दोहो मे सक्षेप तथा प्रभाव दोनो ही पाया जाता है, और दोहो का सम्बन्ध जन-गीतियो के छद से है। इस प्रकार मध्य-युग के काव्य की प्रवृत्ति भाषा, छद तथा शैली की दृष्टि से स्वच्छदवादी है। इसकी भाषा जन समाज की भाषा है, इसके छद और इसकी शैली मे जीवन

को उन्मुक्त रूप में देखने का प्रयास है।

स्वच्छंद जीवन—यह तो काव्य की अभिव्यक्ति के माध्यम का प्रश्न हुआ। पर काव्य भावना का क्षेत्र है जो कवि की आत्मानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति से सम्बन्धित है और वह भावना जीवन को लेकर ही है। ये भाव काव्य में कभी तो कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित होकर मनस्-परक स्थिति में व्यक्त होते हैं और कभी अन्य चरित्रो से सम्बन्धित वस्तु-परक स्थिति में। इन दोनो स्थितियो के अतिरिक्त एक ऐसी भी स्थिति होती है जिसमें कवि अपने मनोभावो को अप्रत्यक्ष कर किसी चरित्र के भावो के माध्यम से प्रकट करता है। कवि की स्वानुभूति की मनस्-परक अभिव्यक्ति, भारतीय साहित्य में सबसे पहले मध्ययुग के काव्य मे मिलती है।[1] इस अभिव्यक्ति के रूप मे कवि को पूरी स्वच्छदता मिलती है, और इस कारण इस काव्य मे प्राणो की अधिक गहरी अनुभूति होती है। मीरा, आलम, रसखान तथा आनदघन की काव्याभिव्यक्ति मे प्राणो की गहरी सवेदना है। यही कारण है कि सूर, तुलसी के विनय के पदो में व्यापक तथा गम्भीर आत्म-निवेदन मिलता है। परन्तु जिन कवियो मे अपने चरित्रो की भावना से पूर्ण तद्रूपता है, उनमें भी अपनी प्रतिभा के अनुरूप भावो की अभिव्यक्ति वैसी ही उन्मुक्त तथा सहज हो सकी है। सूर की गोपियो की भाव-व्यजना मे और विद्यापति की राधा की यौवन-मजगता मे काव्य ऐसा ही स्वाभाविक है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति जायसी की भावाभिव्यक्ति मे स्थल-स्थल पर मिलती है। यहाँ पर एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। इस युग मे कवि ने काव्य को मनस्-परक आधार तो दिया है, परन्तु उसका अवतीकरण भावो के वस्तु-परक आधार पर ही हो सका है। इसलिए स्वानुभूति को व्यक्त करने वाले कवियो म भी विशुद्ध मनस्-परक अभिव्यजना का रूप नही मिलता है। अर्थात् इस काव्य मे मानसिक सवेदना से अधिक शारीरिक क्रियाओ तथा अनुभावों को चित्रित करने की प्रवृत्ति रही है और यह स्वच्छदवादी प्रवृत्तियो की विरोधी शक्तियो मे से एक मानी जा सकती है।

अभिव्यक्त भावना (क)—जिन भावनाओ को इस काव्य म स्थान मिला है, वे जीवन की साधारण परिस्थितियो से सम्बन्धित हैं। इन भावनाओ म जीवन की सहज स्वाभाविकता है। प्रारम्भिक मध्ययुग की समस्त काव्य-परम्पराओ की प्रमुख प्रवृत्ति यही है। कबीर आदि प्रमुख सतो ने अपने रूपको को साधारण जीवन मे अपनाया है। ये रूपक साधारण जीवन के वातावरण मे निर्मित हैं साथ ही इनम भावनाएँ भी सहज-

---

[1] यहाँ इसे साहित्य की व्यापक प्रवृत्ति के रूप में समझना चाहिए। द्र०—लेखक का पुस्तक 'प्रकृति और काव्य' (संस्कृत) में 'संस्कृत काव्य रूपों में प्रकृति' नामक प्रकरण।

जीवन की हैं।[1] सूर का काव्य जन-जीवन की विभिन्न भाव-स्थितियों का स्वच्छन्द प्रगुम्फन है। सूर मानवीय भावों को सहज रूप से अनेक छायातपों में चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं। भावों की परिस्थिति-जन्य विविधता और स्वाभाविक सरलता सूर में अनुपमेय है।[2] जायसी का कथानक यद्यपि प्रतीकात्मक है; पर भावों की स्वाभाविकता के लिए उन्हें प्रतीकार्थ को छोड़ना पड़ा है। व्यापक रूप से इन्होंने भारतीय जीवन के स्वाभाविक मनोभावों को उपस्थित किया है।[3] बाद में अन्य सूफी प्रेममार्गियों में यह सहज तो नहीं रह सका पर उन्होंने अनुसरण जायसी का ही किया है। तुलसी परिस्थिति जन्य मनोभावों के क्रम को उपस्थित करने में सफल कलाकार हैं और उनमें परिस्थितियों के साथ मनोभावों का भी स्वाभाविक विस्तार है।[4] वैसे तुलसी का क्षेत्र भावना से अधिक चरित्र का है।

चरित्र-चित्रण—चरित्र का रूप भावों के माध्यम से सामने आता है। परन्तु जब हम चरित्र की बात कहते हैं उस समय भावों की समन्वित समष्टि का रूप हमारे सामने आता है। इस कारण सामाजिक जीवन का रूप देखने के लिए, उसके आदर्शों को समझने के लिए चरित्र ही अधिक व्यक्त आधार है। भाव तो मूलतः एक ही हैं। हमारे सामने इस युग के पूर्व का जितना भी साहित्य है, उसमें सभी चरित्र या तो अलौकिक हैं या महापुरुषों के हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य चरित्र हैं, वे भी उच्च वंश तथा ऐश्वर्य से सम्बन्धित हैं। अपभ्रंश जैन काव्यों के नायक साधारण होकर भी धार्मिक अलौकिकता से समन्वित हैं। इस प्रकार की परम्परा साहित्यिक आदर्श के रूप में स्वीकृत थी। मध्ययुग के काव्यों में इस आदर्श का रूप तो समान है, परन्तु इस प्रकार के चरित्रों में एक विशेष बात दृष्टिगत होती है और इस विशेषता का मूल जैन अपभ्रंश

---

१. संत कवियों की प्रमुख भावना स्त्री-पुरुष प्रेम को लेकर है। इस कारण वियोग-जन्य परिस्थितियों का रूप इनमें अत्यन्त स्वाभाविक है—

"देखो पिया काली मो पै भरी।

सुन्न सेज भयानक लागी, मरी विरह की जारी।" (म० वा० भा० २, पृ० १७२)

२. भावों के चित्रण के विषय में सूर की यह विशेषता है कि वे परिस्थिति के केन्द्र पर भावों को केन्द्रित कर देते हैं। उस स्थिति में ऐसा लगता है मानो भाव उसी से निकलकर चारों ओर फैलते जाते हैं और अपने प्रस्फुरण के अनेक छायातपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार सूर एक परिस्थिति को चुनकर अनेक लोगों के भाव को एक सम धरातल पर विभिन्न रूपों में प्रतिफलित करते हैं। उदाहरण के लिए वात्सल्यलीला, माखनचोरी आदि को लिया जा सकता है, पर विरह प्रसंग सबसे अधिक सुन्दर है।

३. जायसी ने नागमती के विरह-वर्णन में मनोभावों का सुन्दर तथा स्वाभाविक रूप दिया है।

४. सूर के विपरीत तुलसी में परिस्थिति की परिधि रहती है जिसमें से विभिन्न भाव निकलकर केन्द्रित होते रहते हैं। परिस्थिति भावों को घेरे रहती है और भावों की प्रतिक्रिया उसीमें चलती रहती है। उदाहरण के लिए धनुष यज्ञ प्रसंग, राम-वन गमन प्रसंग, कैकेयी प्रसंग आदि हैं।

काव्यो मे मिलता है। चरित्र अपनी कथात्मक स्थिति मे कुछ भी रहा हो, परन्तु कवि ने उसका चित्रण साधारण जीवन के आधार पर किया है। जैन काव्यों मे साधारण जीवन से चरित्र लेकर उसे आदर्श और असाधारण के रूप मे ग्रहण करते है। सूर के चरित्र-नायक कृष्ण लीलामय परम-पुरुष है; पर उनके चरित्र को उपस्थित करते समय कवि यह भुला देता है। सूर ने जिन चरित्रो को उपस्थित किया है, वे साधारण के साथ ही ग्राम के जीवन से सम्बन्धित हैं। जीवन की सहज स्वाभाविक स्वच्छन्दता उनके चरित्रो मे गतिशील है। जहाँ चरित्र मे अलौकिक का आभास देना होता है, उस स्थल को सूर अलग रखते हैं; और उस घटना या चरित्र के भाग का स्मरण पाठक को नही रहता। कबीर और अन्य संतो ने जीवन के जितने भी चित्र उपस्थित किए हैं, वे सभी साधारण स्तर के हैं। जायसी तथा उस परम्परा के अन्य कवियों के पात्र राजकुमार तथा राजकुमारियाँ हैं, परन्तु उनका चित्रण साधारण व्यक्ति के जीवन के समान हुआ है। तुलसी के चरित्र अलौकिक हैं, राज वश के हैं, साथ ही आदर्शवादी भी हैं। परन्तु इन चरित्रो मे राज्य ऐश्वर्य कही भी प्रकट नहीं होता और उनका आदर्श साधारण जीवन पर अवलम्बित है।

**असफल आन्दोलन**—इस युग की काव्य-भावना पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमे पूर्णत. स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियो का समन्वय हुआ है। इसकी पृष्ठ-भूमि मे जो विचार-धारा थी वह अन्य सिद्धान्तो से प्रभावित होकर भी स्वतन्त्र वेग से प्रवाहित हुई है। इससे सम्बन्धित साधना विभिन्न परम्पराओ से विकसित होकर भी जीवन की सहज स्वीकृति पर आधारित है। अन्त मे हम देखते हैं कि काव्य की प्रमुख भावना मे जन जीवन के साधारण स्तर पर मानवीय भावनाओ का ही प्रसार है। परन्तु इस युग के काव्य म इतना व्यापी स्वच्छन्दवादी आन्दोलन होने पर भी, उसम प्रकृति को उन्मुक्त रूप से स्थान नही मिल सका। जैसा प्रथम भाग मे कहा गया है, मानव की सौन्दर्य-भावना के विकास मे प्रकृति का अपना योग है और काव्य की सौन्दर्यानुभूति के आलम्बन मे प्रकृति को अनेक रूप मिलते है। काव्य मे जीवन की सहज अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति का स्वच्छन्द रूप स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दी मध्य-युग के काव्य मे ऐसा नही हो सका। इसका क्या कारण है? वस्तुत इस स्वच्छन्द-वादी आन्दोलन के साथ इस युग के काव्य मे कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी सन्निहित हैं। इन्ही प्रवृत्तियो के कारण यह काव्य पूर्णत स्वच्छन्दवादी नहीं हो सका और उसने उन्मुक्त रूप से प्रकृति को आलम्बन रूप मे अपनाया भी नही।

## प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ

**साम्प्रदायिक रूढिवाद**—मध्ययुग के काव्य मे दर्शन और धर्म की व्याख्या जीवन के आधार पर की गई थी। परन्तु धर्म के अन्तर्गत आचारात्मक व्यवस्था का

रूप प्रधानता से आ जाता है। और इससे धर्म तथा साधना के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता का विकास हुआ और इस युग के काव्य में यह प्रमुख प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है जिसने काव्य में स्वच्छन्दवाद को पनपने नहीं दिया। प्रत्येक धारा के प्रमुख कवियों में वातावरण अधिक उन्मुक्त है, परन्तु बाद में साधारण श्रेणी के कवियों में रूढ़ि का बन्धन अधिक कड़ा होता गया है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पिछले कवियों ने अपने काव्य का क्षेत्र जीवन की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति से हटाकर परम्परा को बना लिया। कबीर, दादू तथा नानक आदि कुछ प्रमुख मतों को छोड़कर बाद के अन्य संत कवियों ने अपने सम्प्रदाय का अनुसरण उधार के वचनों और व्यवहृत रूपकों के आधार पर किया है। सूर, नन्ददास आदि कतिपय कवियों को छोड़कर कृष्ण-काव्य में ऐसी ही परिस्थिति है। बाद में कृष्ण-काव्य के कवियों में साम्प्रदायिक आचारों आदि का वर्णन ही अधिक बढ़ता गया है। जायसी के बाद सूफी प्रेममार्गी कवियों में भी अनुसरण तथा अनुकरण अधिक है। इन्होंने अपनी कथा के विभिन्न स्थलों तक को जायसी के अनुकरण पर सजाया है। राम-काव्य में तुलसी के बाद कोई उल्लेखनीय कवि भी नहीं दिखाई देता। और इसका कारण कदाचित् यह है कि तुलसी की परम्परा में कोई सम्प्रदाय नहीं था।

**धर्म और विरक्ति**—साम्प्रदायिकता के अतिरिक्त धर्म की प्रेरणा से उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप खंडन और स्थापना की भावना इस युग के काव्य में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। इसके कारण काव्य में विवेचना और तर्क को अधिक स्थान मिल सका और ये जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति में बाधक ही सिद्ध हुए। संतों में यह प्रवृत्ति अधिक है इस कारण उनके साहित्य में कवित्व कम है। साथ ही साधना-पक्ष में आधार मानवीय भावना का होकर भी व्यापक रूप से मध्य-युग के काव्य का स्वर संसार से विरक्त होने का रहा है। इस विरक्ति-भावना के कारण इस काव्य में जीवन के प्रति आसक्ति का अभाव है। इन साधकों के लिए सांसारिकता का आधार अध्यात्म के लिए ही है। इस वातावरण में उन्मुक्त स्वच्छंदवाद की जीवन के प्रति अटूट आसक्ति को फैलने का अवसर नहीं मिल सका।

**भारतीय आदर्श भावना**—स्वच्छंदवाद की विरोधी शक्तियों में भारतीय कला की आदर्श-भावना भी है। भारतीय आदर्श-कला के क्षेत्र में व्यक्ति को महत्त्व नहीं देता। उसमें व्यापक भावना के लिए ही स्थान है। यह भावना आदर्श 'सादृश्य' की भावना है जो स्वर्गीय सौन्दर्य की आकृति की तदाकारता पर निर्भर है और यह 'सादृश्य' कवि के बाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है

जिसके लिए आत्मसंस्कार और आत्मयोग की आवश्यकता है।[१] इस कला के आदर्श के साथ ही कलाकार में आन्तरिक उल्लास की भावना भी भारतीय कला की विशेषता रही है। भारतीय कलाकार जीवन की संवेदना को दुःख के रूप में ग्रहण नहीं करता, वरन् उसको उल्लास में परिणत करता है। मध्ययुग के काव्य का प्रमुख भाग इस कला के आदर्शों से प्रभावित है। इतना ही नहीं, आराध्य की सौन्दर्य-व्यंजना में इसको और भी स्पष्ट रूप प्रदान किया गया है। इस आदर्श के फलस्वरूप मध्ययुग के काव्य के एक बड़े भाग में जीवन की स्वाभाविक भावनाएँ तथा प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य केवल प्रतीक के अर्थ में ग्रहीत है। परिणाम-स्वरूप इस काव्य में जीवन और प्रकृति को प्रमुख स्थान नहीं मिल सका।

**काव्यशास्त्र की रूढ़ियाँ**—कहा गया है कि इस युग में काव्य साहित्यिक रूढ़ियों से मुक्त हुआ है। परन्तु वस्तुतः इस युग का काव्य साहित्यिक परम्परा का बहिष्कार नहीं कर सका है। कृष्ण काव्य ने काव्य शास्त्र के रस और अलंकार को विशेष रूप से अपनाया है। तुलसी ने इनका निर्वाह बहुत ही सुन्दर और सहज रूप से किया है और इससे स्पष्ट है कि वे काव्यशास्त्र की परम्परा को स्वीकार करके चले हैं। जायसी का शास्त्रीय ज्ञान कम है, फिर भी यथासम्भव उनका प्रयास भी इस विषय में रहा है। रस-सिद्धान्त अपने विकसित रूप में भक्ति-भावना से बहुत कुछ साम्य रखता है। आलंकारिक योजना आराध्य की रूप-साधना के लिए अधिक सहायक हो सकी है। इस प्रकार मध्ययुग के प्रारम्भ में काव्य के अन्तर्गत रस तथा अलंकार आदि को प्रश्रय मिल चुका था। बाद में रसानुभूति को अलौकिकता के स्थान पर लौकिक आधार अधिक मिलता गया; और अलंकारों की सौन्दर्य-योजना आराध्य को रूप दान करने के स्थान पर रूढ़िगत नारी के सौन्दर्य सँवारने में प्रयुक्त होने लगी। आगे मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में यह प्रवृत्ति कुछ अन्य परिस्थितियों को पाकर रीति-काल के रूप में हमारे सामने आती है।

**रीति-काल (क)**—आमुख में हम कह चुके हैं कि मध्ययुग का पूर्वार्द्ध भक्ति-काल है और उत्तरार्द्ध रीति-काल। इस समस्त युग को मध्ययुग कहने के आग्रह के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त है कि भक्ति-काल में काव्य-शास्त्र की रूढ़ि का जो प्रतिक्रियात्मक रूप था वही रीति-काल में प्रमुख हो उठा। और इस कारण इस भाग में स्वच्छन्दवाद को बिल्कुल स्थान नहीं मिला। अन्य परम्पराओं में धार्मिक तथा साम्प्रदायिक रूढ़िवाद को स्थान मिल चुका था और रीति की परम्परा प्रमुख हो उठी थी। यह रीति की भावना स्वयं में संस्कारवादी है और

१. ट्रान्सफारमेशन आव नेचर, कुमारस्वामी, पृ० ४८। द्र०—लेखक की 'प्रकृति और काव्य' (संस्कृत) नामक पुस्तक।

हिन्दी साहित्य मे तो यह रूढि के रूप मे अधिक अपनाई गई है। यद्यपि रीति-काल मे कवियो की प्रवृत्ति प्रमुखत शास्त्रीय नही हो सकी, और यह उनकी भावमय स्वच्छद प्रवृत्ति का सकेत देती है। फिर भी रीति स्वच्छदवाद की विरोधी शक्ति के रूप मे ही स्वीकार की जा सकती है।

× × ×

स्वच्छदवाद का रूप—हमारे सम्मुख समस्त मध्ययुग अपनी काव्य प्रवृत्तियो के साथ आ चुका है। हम देखते हैं कि इस युग मे आरम्भ मे काव्य स्वच्छदवादी प्रवृत्तियो से विकसित हुआ है, साथ ही उसमे कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील रही हैं और इन्होने काव्य को पूर्णत जीवन के उन्मुक्त धरातल पर नही आने दिया। परन्तु इन प्रवृत्तियो ने सभी कवियो को समान रूप से प्रभावित नही किया है। यही कारण है कि हमको विभिन्न काव्यधाराओ मे स्वच्छदवाद का रूप विभिन्न प्रकार से और विभिन्न अनुपातो मे मिलता है। साथ ही कुछ कवि ऐसे भी हैं जो अपने स्वतत्र व्यक्तित्व के कारण किसी धारा के अन्तर्गत नही आते और जिनके काव्य म स्वच्छदवाद का अधिक उन्मुक्त रूप मिलता है। कृष्ण-काव्य के वे कवि जो किसी सम्प्रदाय मे नही हैं, अथवा जिन्होने सम्प्रदाय के बन्धन को स्वीकार नही किया है इसी वर्ग के कवि हैं।[1] साथ ही प्रेम-काव्य की स्वतत्र परम्परा भी इसी वर्ग म सम्मिलित की जा सकती है, जिनमे प्रेम की व्यजना का आधार सूफियो के प्रतीक नही है।[2] परन्तु इन सभी कवियो ने अपने समकालीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है और इस कारण ये एक सीमा तक ही स्वतत्र कहे जा सकते हैं।

---

१ विद्यापति, मीरा, रसखान, आलम, आनन्दघन, शेख तथा ठाकुर आदि इसी श्रेणी के उन्मुक्त कवि हैं

२ 'ढोलामारू रा दूहा' तथा 'माधवानल कामकदला' आदि

## तृतीय प्रकरण

# आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप

साधना-युग—हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग का पूर्वार्द्ध धार्मिक काल है। इस काल का अधिकांश काव्य धार्मिक भाव-धारा से सम्बन्धित है। पिछले प्रकरण में इस ओर संकेत किया गया है कि इस काव्य में जिन धार्मिक भाव-धाराओं का विकास हुआ है उनकी पृष्ठभूमि में निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त तथा आध्यात्मिक वातावरण था। इस काल के कवियों में बहुत कुछ काव्य सम्बन्धी प्रवृत्तियों का साम्य है। और इसका कारण उनकी अपनी स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति तथा तथ्यों को अनुभूति के माध्यम से ग्रहण करने की प्रेरणा है। परन्तु विभिन्न परम्पराओं से सम्बन्धित होने के कारण इनके काव्य पर उनके विचारों का प्रभाव निश्चित है। प्रतिभा सम्पन्न कवि अपनी परम्परा में अपने सम्प्रदाय के प्रभाव को लेकर भी एक सीमा तक स्वतन्त्र रह सके हैं। परन्तु बाद के कवियों में अपने सम्प्रदाय तथा अपनी परम्परा की रूढ़िवादिता अधिक है और साथ ही वे अपने आदर्श कवि के अनुकरण पर अधिक चलते हैं। प्रत्येक काव्य-परम्परा में एक महान् कवि प्रारम्भ में ही हुआ है और उसी का प्रभाव लेकर बाद के अधिकांश कवि चले हैं। इस कारण आदर्श कवि की रूढ़िवादिता को तो इन कवियों ने अपनाया ही, साथ ही उनका अनुकरण भी इनके लिए रूढ़ि हो गया है। स्वच्छन्दवाद की प्रतिक्रियात्मक शक्ति के रूप में धार्मिक साम्प्रदायिकता का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि स्वच्छन्द प्रवृत्ति तथा अनुभूति-जन्य समन्वय के कारण साधक कवि अपने दृष्टिकोण में व्यापक हैं। कबीर द्वैताद्वैत विवर्जित तथ्य को प्रतिपादित करके भी अद्वैत विचार को अपनाते हैं और साथ ही द्वैत-विहित प्रेम-साधना का प्रतिपादन करते हैं। प्रेम-मार्गी सूफी कवि बाशरा होकर भी भारतीय विचारों को स्थान-स्थान पर ग्रहण करते हैं। सूर वल्लभाचार्य के शिष्य होकर भी निर्गुण-ब्रह्म को अस्वीकार नहीं करते हैं और साथ ही वे दास्य-भक्ति का रूप भी उपस्थित करते हैं। तुलसी रामानन्द की शिष्य परम्परा में माने जाते हैं, पर वे अद्वैत

तथा विशिष्टाद्वैत को स्वीकार करके आत्म-निर्भरा भक्ति का प्रतिपादन करते है। यह सब होते हुए भी इनके विचारो के आधार मे कुछ निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त है और अपनी समष्टि मे इनकी अपनी अलग विचारावली है। विचार का यह रूप उनकी साधना को प्रभावित करता है और साधना का रूप आध्यात्मिक होता है। इस प्रकार प्रत्येक भाव-धारा का कवि अपने आध्यात्मिक वातावरण मे दूसरी भाव-धारा से अलग है। इस भूमिका के आधार पर हमारे सामने दो प्रमुख बातें आती है। पहले तो ये समस्त धार्मिक परम्पराएँ स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति के मार्ग मे प्रतिक्रिया के समान हैं। दूसरे प्रतिक्रिया के रूप मे समान होकर भी ये अपने दृष्टिकोण मे भिन्न हैं। इन दोनो बातो का प्रभाव इस युग के प्रकृति सम्बन्धी आध्यात्मिक रूपो पर पडा है।

## साधना और प्रकृतिवाद

**प्रकृति से प्रेरणा नहीं**—प्रत्येक सम्प्रदाय की विचार-पद्धति और उसकी साधना का रूप निश्चित हो जाता है। आगे उसके मानने वालो को उनकी स्थापना करने की आवश्यकता नही पडती। जगत् और जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर सत्यो का रूप उपस्थित करन की स्वतन्त्रता उनको नही मिलती। तर्क की जो परम्परा और विवेचना का जो रूप उनके पूर्व-विकसित हो चुकता है, वही उन्हे स्वीकार कर लेना होता है। ऐसी स्थिति मे जगत् का दृश्यात्मक रूप प्रकृति उस विचारक तथा साधक के लिए न तो कोई प्रश्न उपस्थित करती है और न कोई प्रेरणा देती है। इस प्रकार हिन्दी मध्ययुग की काव्य-भावना मे प्रकृति के प्रति उन्मुक्त जिज्ञासा के रूप मे कभी स्वच्छन्दवाद का रूप नही आ सका। राम, कृष्ण और प्रेमाख्यान काव्य की भाव-धाराओ मे पूर्व निश्चित दार्शनिक सिद्धान्तो का ही समन्वय और प्रतिपादन हुआ है। सत अपने विचारो मे स्वतन्त्र अवश्य लगते हैं, पर उनकी विचार-परम्परा का भी एक स्रोत है, साथ ही उनकी स्वतन्त्रता विचारात्मक स्थापना तथा विरोध पर ही अधिक आधारित है। क्योकि इन समस्त कवियो ने विचार और साधना का रूप गुरु-परम्परा से स्वीकार किया है, इस कारण इनका आध्यात्मिक क्षेत्र भी पूर्व निश्चित तथा स्वत सिद्ध रहा है। यह साधक कवि अपने चारो ओर के जगत् तथा जीवन से प्रेरणा न प्राप्त करके अपनी साधना के लिए आध्यात्मिक वातावरण उसी परम्परा के अनुसार ग्रहण करता है। फलस्वरूप मध्ययुग का कवि प्रकृति के दृश्य जगत् को कभी प्रमुखत अपनी अनुभूति का, अपने काव्य का विषय नही बना सका।

**अध्यात्म का आधार**—अभी कहा गया है कि मध्ययुग के कवियो ने सम्प्रदाय और परम्परा का अनुसरण किया है, और इसलिए उनको प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करने का अवसर नही मिला। परन्तु पिछले प्रकरण म हम कह चुके हैं कि इन कवियो की

प्रवृत्तियाँ किसी भी परम्परा की बन्दी नहीं हैं। प्रश्न उठ सकता है कि यह विरोध क्यों है। वस्तुतः जब हम कहते हैं कि इन्होंने परम्परा का अनुसरण किया है, उस समय अंध अनुसरण से मतलब नहीं है। यह अनुसरण इतना ही है कि उनकी विचारधारा का आधार बनकर प्राचीन विचारधारा आती है। इसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का अर्थ है कि इन कवियों में सभी सिद्धान्तों में विभिन्न सत्यों को समन्वित रूप से देखने की शक्ति थी। इस क्षेत्र में धार्मिक काल के साधक कवि के प्रकृतिवादी होने के विषय में सबसे बड़ी बाधा थी, उसका विचारात्मक होना। यह इस युग के काव्य की स्वच्छन्द-भावना के विरोध में सबसे बड़ी प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है, और जिसका उल्लेख पीछे किया गया है। वस्तुतः जैसा प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में संकेत किया गया है, आध्यात्मिक भावना का विकास मानव के अन्दर दार्शनिक चेतना से पूर्व ही हो चुका था। और इस आध्यात्मिक चेतना का आधार बाह्य जगत् के प्रभाव ही कहे जा सकते हैं। जिस जाति ने इस आध्यात्मिक भावना को प्रमुख रखकर ही बार-बार दार्शनिक चेतना का प्रश्न उठाया है, उसमें प्रकृति का प्रश्न, उसके प्रति जिज्ञासा का भाव प्रबल हो उठता है। एक बात और भी है। सभी देशों और सभी कालों में दार्शनिक चेतना और दार्शनिक भावना इतनी प्रबलता से उसके कवियों को प्रभावित भी नहीं करती। ऐसा तो मध्ययुग में रीतिकाल में देखा जा सकता है। एक सीमा तक दार्शनिक परम्पराओं के प्रभाव से मुक्त कवि दार्शनिक चेतना की ओर बढ़ता है, तो वह प्रकृति और जगत् के माध्यम से आगे बढ़ता है। योरुप तथा इंगलैंड के स्वच्छन्द युग के कवियों का प्रकृति-सम्बन्धी आकर्षण इसी सत्य की ओर संकेत करता है। बाद में जब दार्शनिक चेतना विकसित होने लगती है, उस समय आध्यात्मिक साधना अन्तर्मुखी हो उठती है। इस सत्य के लिए हम भारत के प्राचीन आध्यात्मिक इतिहास को सामने रख सकते हैं।

**अनुभूति का आधार—विचार**—वैदिक-काल प्रकृतिवादी कहा जा सकता है। उसमें प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की उपासना की जाती थी। उस युग की प्रार्थनाओं के मूल में धार्मिक अध्यात्म-भावना का विकास वस्तुपरक आधार पर हो रहा था। प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि दिक्काल की अस्पष्ट भावना और माध्यमिक गुणों की भ्रामक स्थिति ने आदि मानव के मन में अपने चारों ओर फैली हुई प्रकृति के प्रति एक भय की भावना उत्पन्न कर दी थी।

१. का० स० उ० फ़ि०, आर० डी० रानाडे, प्रक०—'दि बैक ग्राउन्ड', पृ० २—'सबसे पूर्व हमको जानना चाहिए कि ऋग्वेद प्रकृति शक्तियों के व्यक्तीकरण का बहुत बड़ा प्रार्थना-समूह है। इस प्रकार यह धार्मिक चेतना के विकास की प्रारम्भिक स्थिति प्रस्तुत करता है जो धर्म का बाह्य वस्तु-परक आधार कहा जा सकता है। दूसरी ओर उपनिषद् में धर्म का मनन-परक आधार है।'

वाद मे व्यक्तिकरण के आधार पर मानव ने उसे अधिक प्रत्यक्ष रूप से देखा होगा। प्रकृति-पूजा मे यही सत्य सन्निहित है।[1] प्रकृति के व्यक्तिकरण के आधार पर ईश्वर की भावना का विकास हुआ है, और इस आध्यात्मिक भावना के मूल मे बाह्य दृश्य-जगत् था। परन्तु दार्शनिक चेतना के विकास मे यह बहिर्मुखी भावना अन्तर्मुखी होती गई—और बाह्य प्रकृति की प्रेरणा का स्थान आत्म-विचार ने लिया है। इस आत्म-चेतना के उत्पन्न हो जाने पर प्रकृति के देवताओ का आतंक तथा आकर्षण जाता रहा है। और उपनिषद्-कालीन ऋषियो ने दृश्यात्मक जगत् के प्रकृति-विस्तार मे अपनी आत्म-चेतना का विस्तार देखा।[2] इस सीमा पर उपनिषद्कार अपने दृष्टिकोण मे सर्वेश्वरवादी हो चुका था। परन्तु आत्मचेता दार्शनिक के लिए अब प्रकृति मे विशेष आकर्षण नही रह गया था, वह प्रकृति की ओर विशेष ध्यान नही दे सका। उसके लिए प्रकृति दृश्यमान् भासमान् रह गई थी जो सासारिक भ्रम के रूप म है।[3] फिर भी इस काल मे आत्मानुभूति के आधार पर सर्वचेतनवादी मत था। ऋषियो की दार्शनिक चेतना मे अनुभूति प्रधान थी। लेकिन हिन्दी-साहित्य का भक्तियुग जिस वेदान्ती दार्शनिक आधार पर खडा है उसकी समस्त प्रेरणा विचारवादी और तर्क-प्रधान है और मध्य-युग की आध्यात्मिक साधना भावात्मक होकर भी बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर खडी है। वैदिक युग मे दृश्यात्मक प्रकृति ही आध्यात्मिक भावना और वातावरण की आधार थी। उपनिषद् काल मे आत्मानुभूति से दार्शनिक चिंतन आरम्भ होता है, परन्तु दृश्य-जगत् मे आत्म-प्रसार देखने के लिए आधार था। हिन्दी मध्ययुग मे उपनिषद्-कालीन अनुभूत सत्यो की स्थापना तो हो सकी, पर उनका आधार तर्क रहा है। इसका कारण यह था कि पिछले सिद्धान्तो के सामने अपना मत रखना था। फिर इसी दार्शनिक स्थापना के आधार पर इस युग की साधना की नीव पडी है।[4] ये साधक कवि इस क्षेत्र मे अपने आचार्यों के

---

१ वर्शिप आव नेचर, जे० जी० फ्रेजर, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १६—'सर्वप्रथम प्रकृति-पूजा के विषय में जिससे मेरा मतलब प्रकृति के रूपों की पूजा से है, सप्राण चेतना मानी जाती है, जो मानव को हानि पहुँचाने या उपकार करने की इच्छा या शक्ति से सम्बन्धित है। इस प्रकार जिसको हम प्रकृति-पूजा कहते हैं, प्रकृति के रूपों के व्यक्तीकरण पर आधारित है।'

२ का० स० उ० फि०, आर० डी० रानाडे, प्रक०—'दि बैकग्राउन्ड', पृ० ३।

३ उपनिषदों में 'माया' शब्द का प्रयोग कई भावों तथा अर्थों में हुआ है। उनमें भासमान् भ्रम के अर्थ में भी 'माया' का प्रयोग कई स्थलों पर मिलता है। श्वे० उप० में कहा गया है—[ईश्वर का ध्यान करने से, उससे युक्त होने पर और उसके अस्तित्व में प्रवेश पाने पर ही संसार के महान भ्रम से छुटकारा मिलता है।] 'तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (१ १०)

४ का० स० उ० फि०, आर० डी० रानाडे, प्रक०—दि बैक ग्राउन्ड, पृ० ११—'लगभग बारहसौ वर्ष बाद, जब दूसरी बार वेदान्त-दर्शन के निर्माता उपनिषद्-कालीन ऋषियों के द्वारा प्रस्तुत आधार पर अपने सत्यों को स्थापित करने लगे, तो फिर नए धर्म के पुनुरुत्थान का रूप प्रकट हुआ। पर इस बार के पुनुरुत्थान में धर्म का रूप रहस्यात्मक से अधिक बौद्धिक था।'

प्रतिपादित सत्यो को अपनी अनुभूति से आध्यात्मिक साधना का विषय बनाते हैं। उपनिषद् काल मे अन्तर्मुखी अनुभूति से विचार की ओर बढा गया था, पर इस मध्य-युग मे विचार से भावानुभूति की ओर जाने का क्रम हो गया। परिणाम स्वरूप इस युग के कवियो की भाव-धारा मे प्रकृतिवाद को स्थान नही मिल सका, वे प्रकृति से अपना सीधा सम्बन्ध नही स्थापित कर सके।

**ब्रह्म का रूप**—भारतीय प्रमुख विचार-परम्पराओं म ब्रह्म परम तत्व स्वीकार किया गया है और प्रकृति तो उसका आवरण है, बाह्य स्वरूप है या उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति है। किसी रूप मे ही प्रकृति उसी परम तत्व को लेकर है। हिन्दी मध्ययुग के भक्त कवियो का मत इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर बना है और इस कारण इनके काव्य में प्रकृति का रूप इन विचारो से बहुत दूर तक प्रभावित है। हम देखते हैं कि वैदिक प्रकृतिवाद उस युग के देवताओ के व्यक्तीकरण से आगे बढकर एक देववाद के रूप मे उपस्थित हुआ था और यही एकदेववाद वैदिक एकतत्त्ववाद तक पहुँच गया था। यह वैदिक एकतत्त्ववाद या अद्वैतवाद का रूप बाह्य जगत् या प्रकृति से ही प्राप्त हुआ था। उसके आधार मे प्रकृति का व्यापक विस्तार था। परन्तु उपनिषदो का चरम-तत्त्व अन्तर्मुखी सत्य हो उठा है। उपनिषदो मे सप्रपच अथवा सगुण तथा निष्प्रपच अथवा निर्गुण दोनो ही रूपो मे चरम तत्त्व का वर्णन मिलता है। बाद म शकर ने उपनिषदो के आधार पर निष्प्रपच निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया और इसीलिए उन्होने जगत् की उत्पत्ति के लिए, अनेकता की प्रतीति के लिए माया का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उपनिषदो मे सप्रपच की भावना के साथ दार्शनिक चेतना अनुभूति के आधार पर विकसित हुई है। इस कारण उनमे प्रकृति के माध्यम से चरम-तत्त्व की कल्पना तक पहुँचने के लिए प्रेरणा मिलती है।[1] इन स्थलो पर ऋषियो की दृष्टि सर्वेश्वरवादी है। बाद मे परिस्थिति बदल चुकी थी। जिस मायावाद का प्रतिपादन शकर ने किया है वह उसी रूप मे उपनिषदो मे नही मिलता। पर दृश्यात्मक के अर्थ मे और भ्रम के रूप मे इसका मूल उपनिषदो म है। यही विचार जगत् की रूपात्मकता की व्याख्या करने के लिए मायावाद म आता है और यह भारतीय विचार-परम्परा मे किसी न

१ विभिन्न उपनिषदों में इस प्रकार क वर्णन मिलते ह जिनमें प्रकृति में व्यापक सत्ता का आभास मिलता है। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत।' (बृहदा० ३।८।९) [हे गार्गि, इस अक्षर रूप परम तत्त्व क शासन में सूर्य और चन्द्रमा धारण किए हुए स्थित है]

अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिधव सर्वरूपा।

अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा। (मुण्० २।१।९)

[इसीसे समस्त पर्वत और समुद्रों की उत्पत्ति हुई, इसीसे सभी रूपों की नदियाँ बहती हैं। सारी ओषधियाँ और रस इसीसे निकलते ह। सभी प्राणवानों में परिवेष्टित होकर यह आत्मा स्थित है]

किसी प्रकार से निवृत्ति भावना से सम्बन्धित अवश्य रहा है। बौद्ध-धर्म की निवृत्ति भावना ने संसार की परिवर्तनशीलता तथा क्षणिकता से जो रूप पाया है, वह उपनिषद् में भी पाई जाती है। बाद में बौद्ध-धर्म के साथ ही साथ यह भावना भारतवर्ष में अधिक व्यापक हो उठी। बौद्ध-धर्म का प्रभाव समाप्त हो गया पर संसार-त्याग की भावना जनता में बनी रही। शकर के मायावाद की ध्वनि ऐसी ही है, साथ ही निर्गुण मतों के माया का रूप भी यही था। ब्रह्म की निष्प्रपंच भावना का विकास हो चुका था, उसके अनुसार दृश्य-जगत् माया के रूप में मिथ्या या भ्रम स्वीकार किया गया।[1] इसके कारण हिन्दी मध्ययुग की एक प्रमुख काव्य-धारा में प्रकृति के प्रति, सीधे अर्थों में कोई आकर्षण नहीं रहा है। शकर के बाद अन्य वेदान्तियों ने ब्रह्म को सप्रपंच भी माना है और इस प्रकार माया को भी सत्य रूप में स्वीकार किया है। सगुण भक्त-कवियों ने प्रकृति को असत्य नहीं माना, परन्तु यहाँ उनका विचार व्यावहारिक समन्वय उपस्थित करने का है। अन्ततः वे निर्गुण को ही स्वीकार करते हैं। साथ ही जिस सगुण ब्रह्म की स्थापना वे करते हैं, प्रकृति उसकी शक्ति से सचालित है और उसके इंगित मात्र पर नाचने वाली नटी है। इस प्रकार सगुणवादियों में प्रकृतिवाद को फिर भी स्थान नहीं मिल सका, यद्यपि इन्होंने उसके रूप और उसकी दृश्यात्मकता को अस्वीकार भी नहीं किया है।

**ईश्वर की कल्पना**—हम देख चुके हैं कि परम-तत्त्व-रूप ब्रह्म को एक बार पहिचान लेने के बाद भारतीय तत्त्ववाद के इतिहास में आदि तत्त्व के बारे में तर्क चले हैं, पर ब्रह्म विषयक प्रश्न प्रकृति के समक्ष उसके माध्यम से नहीं उठ सके। प्रकृति का उन्मुक्त-क्षेत्र उस जिज्ञासा की प्रेरणा-शक्ति नहीं हो सका।[2] इसके साथ ही ईश्वर की कल्पना के विकास ने प्रकृति के प्रति उपेक्षा को और भी दृढ़ कर दिया है। विचारक स्वयं आदि तत्त्व के विकार को लेकर व्यस्त था और जनता को उसने ईश्वर की कल्पना देकर संतुष्ट कर दिया था। ईश्वर या भगवान् की भावना जनता में एक बार प्रचलित हो जाने के बाद, उसमें किसी जिज्ञासा या किसी प्रश्न के लिए स्थान नहीं रह जाता। जिस प्रकार आदि तत्त्व की खोज में, आत्मानुभूति के आधार पर परम आत्मवान् ब्रह्म की कल्पना सामने आई है, उसी प्रकार प्रकृति शक्तियों के व्यक्तीकरण और सामूहीकरण को जब मानवी आधार मिल गया तब ईश्वर का रूप सामने आता

---

१ का० स० उ० फि०, आर० डा० रानाडे, प्रक०—'दि रूटस् आव फिलासफी'।

२ कठोपनिषद् पूछता है—'क्या सूर्य अपनी शक्ति से चमकता है। क्या चन्द्रमा और तारे अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान हैं? क्या बिजली अपनी स्वाभाविक चमक से चमकती है? और आगे चलकर वह कहता है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' कठो० २।२।१५)

है। इस स्थल पर प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसमें विस्तार से विवेचना की गई है कि मनस् तथा वस्तु की क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार एक ही वस्तु स्थिति से दो सत्यों का बोध कराती है। वैदिक युग में बहुदेववाद एकदेववाद में परिवर्तित हो चुका था, और जिस समय से एक देवता को सर्वोपरि मानने की भावना उत्पन्न हो जाती है, उसी समय से ईश्वर की कल्पना का प्रारम्भ मानना चाहिए। वैदिक मंत्रों में ही प्रकृति की भौतिक शक्ति की कल्पना से क्रमशः देवता का व्यक्तीकरण भावात्मक होता गया है और इस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक गुणों तथा आध्यात्मिक चरित्रों का संयोग होता गया।[1] इस सीमा पर वैदिक ऋषि एक देवता की शक्ति-कल्पना में दूसरे देवता की शक्ति का योग भी करने लगे थे। देवता के साथ कर्त्ता और कारण की भावना जुड़ गई और साथ ही गृह्यों की जीवन-सम्बन्धी व्यवस्थाओं से भी उसका संयोग हो गया। देवता के व्यक्तीकरण की इस प्रकृति और समाज की सम्मिलित स्थिति को ईश्वर के रूप में समझा जा सकता है। ईश्वर के आचरणात्मक व्यवस्थापक रूप के मूल में आदिम मानव की प्रकृति-शक्तियों के प्रति भय की भावना सन्निहित है। बाद में सामाजिक आधार पर मानवीय मनोभावों का संयोग व्यक्तीकरण के साथ हुआ है।[2] वैसे वैदिक युग में भी मानवीय भावों के व्यक्तीकरण रूप देवताओं का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार ईश्वर की धार्मिक कल्पना, वैदिक एकदेववाद के विकसित होते रूप में समस्त भौतिक तत्त्वों के कर्त्ता का रूप और उस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक व्यवस्थापक और भावात्मक उपास्य के रूप के मिल जाने से प्राप्त हुई है। यद्यपि उपनिषद्-कालीन द्रष्टा आत्मानुभवी दार्शनिक हैं, ईश्वर की पूर्ण कल्पना का विकास इसी युग में हुआ है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में ईश्वर की कल्पना है।[3] आगे चलकर पौराणिक युग में यह कल्पना त्रिदेवों के रूप में पूर्ण होती है। ईश्वर स्रष्टा है, पालनकर्ता है और साथ ही संहार भी करता है। इसमें सर्जन और विनाश प्रकृति का योग है और पालन की भावना मानवीय है। भारतीय दर्शन की कोई भी विचार-धारा रही हो, साधना में ईश्वर का स्वरूप कुछ भी माना गया हो, परन्तु भारतीय जनता में ईश्वर की भावना आज भी इसी रूप में चली आती है। इस प्रकार भारतीय विचारों और भावों दोनों में ईश्वर का दृढ़ आधार रहा है। इस आधार के बिना एक पग आगे

---

१ इन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एन्ड इथिक्स, गाड्स् (हिन्दू)।

२ हिन्दू गाड्स एन्ड हीरोज, लियोनल डा० बार्नेट; पृ० २०।

३ श्वेता० ३।२।३—'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः। विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥'

बढा ही नही गया है। परिणामस्वरूप धार्मिक काव्य के साधक-कवि को प्रकृति के प्रति जिज्ञासा नहीं हुई। तर्क और विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र मे ब्रह्म था; तो व्यवहार की सीमा में भगवान् की स्थापना थी। सब कुछ करने वाला, रखने वाला और मिटाने वाला है ही, फिर प्रश्न उठता ही नही कि यह सब क्या है, कैसे हुआ और क्यों है? इधर हिन्दी साहित्य के मध्ययुग मे मुसलमानी एकेश्वरवाद का रूप भी जनता के सामने आ चुका था। भारतीय ईश्वर की कल्पना के आधार मे अद्वैत ब्रह्म और आत्म तत्त्व जैसी एकता की भावना रही है, परन्तु मुसलिम एकेश्वरवाद एकान्तरूप से एक की कल्पना लेकर चलता है जिसमे परिन्यास और परावर की भावना नहीं है। इसका ईश्वर एक शासक और अधिष्ठाता के रूप मे है। हिन्दी मध्ययुग मे इस भाव धारा का प्रभाव कबीर आदि सतों पर केवल खडनात्मक पक्ष तक ही सीमित है, पर सूफी प्रेम-मार्गी कवियो मे प्रत्यक्ष है। इस शासक रूप ईश्वर के समक्ष प्रकृति सर्जना का प्रश्न आता ही नही और प्रकृति के रूप के प्रति आकर्षण की समस्या उठती ही नही।

प्रेम-भावना—इस विषय मे एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है, जिसका मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना मे प्रकृति के रूपो पर विशेष प्रभाव पडा है। और इस कारण भी इस युग के काव्य मे प्रकृतिवाद को स्थान नही मिल सका। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की साधना का रूप प्रेम है जिसका आधार 'रति' स्थायी भाव कहा जा सकता है। माधुर्य भक्ति प्रेम-साधना का एक रूप है। तुलसी की भक्ति-भावना अवश्य दास्य-भाव की है, परन्तु इसमे भी सामाजिक आधार पर एक महत् के प्रति प्रेम की भावना सन्निहित है। *इस प्रकार इस युग की भाव-साधना पूर्ण रूप से* सामाजिक आधार पर स्थापित है। प्रेमी साधक जब अपने आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन करता है, उस समय वह मानवीय भावो का आधार ग्रहण करता है। मध्य-युग की भावात्मक उल्लास की साधना निवृत्ति-प्रधान साधना की प्रतिक्रिया थी। वैदिक युग की जीवन सम्बन्धी उत्सुकता और शक्ति चाहना उपनिषद्-काल की अन्त-र्मुखी चिन्तनधारा मे जीवन और जगत् से दूर हट गई। ससार की क्षणिकता और दु खवाद से यह निवृत्ति की भावना बौद्ध-काल मे अधिक बढती गई। परन्तु जीवन के विकास और उसकी अभिव्यक्ति के लिए यह दु खवाद और निवृत्ति-मार्ग अवरोध थे। यह परिस्थिति आगे नही चल सकी। जीवन को अपना मार्ग खोजना ही पडा।[1] मध्य युग म फिर जीवन और जगत् के प्रति जागरूकता बढी। लेकिन समस्त पिछली विचार-धारा के फलस्वरूप इस आकर्षण का रूप दूसरा हुआ। इस नवजागरण के युग मे अनन्त आनन्द और उल्लास के रूप म जीवन तथा जगत् दोनो को ग्रहण किया गया।

---

१ इसी प्रकार का आन्दोलन सिद्धों का भी कहा जा सकता है। परन्तु जीवन के आकर्षण में पतन की सीमा भी समाप्त रहती है। यह सिद्धों और भक्तों दोनों के आन्दोलनों में देखा जा सकता है।

और इस सब का केन्द्र हुआ भगवान् का रूप, जिससे इस आनन्द भावना के विस्तार मे, अनन्त जीवन, चिर-यौवन तथा राशि-राशि सौन्दर्य उल्लसित हो उठा। यह नया जागरण, नया उत्थान ही हिन्दी साहित्य का भक्ति आन्दोलन था।[1] इस भाव-धारा के आधार मे मानवीय भावों की प्रधानता है जो भगवान् के आनन्द रूप के प्रति संवेदनशील हो उठे हैं। फलस्वरूप इस युग मे प्रकृतिवाद को स्थान नही मिल सका, काव्य मे प्रकृति को प्रमुख स्थान नही मिला। आगे हम देखेंगे कि प्रकृति मे जीवन का आनन्दोल्लास और यौवन-उन्माद का जो रूप इस काव्य मे मिलता है, वह या तो भगवान् के आनन्द से प्रतिबिम्बित लगता है और या वह मानवीय भाव-पक्ष मे उद्दीपन के अर्थ मे प्रयुक्त है।

भारतीय सर्वेश्वरवाद—ऊपर जिन कारणो का उल्लेख किया गया है, समष्टि रूप से उनसे हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के धार्मिक काव्य का प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण निश्चित होता है। वस्तुत ये कारण वैदिक युग से भारतीय विचार-धारा को प्रमुख प्रेरणा देनेवाली प्रवृत्तियों के रूप मे रहे हैं। भारतीय चिंतन-धारा मे ब्रह्म की इतनी स्पष्ट-भावना और ईश्वर का इतना व्यक्त रूप रहा है कि भारतीय सर्वेश्वरवाद मे ब्रह्म की भावना और ईश्वर का रूप ही प्रथम है, प्रत्यक्ष है। और प्रकृति उसी भावना मे, उसी रूप मे अन्तर्व्याप्त है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व किसी प्रकार भी स्वीकार नही किया जाता। पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद प्रकृति के माध्यम से एकत्व और एकात्म की ब्रह्म भावना को समझने का प्रयास बाद तक करता रहा है। इसी कारण उनके काव्य मे प्रकृति मे ब्रह्म-चेतना के परिव्याप्त होने की भावना अधिक मिलती है। प्रमुख भारतीय मत से प्रकृति तो दृश्यमान् है, भ्रामक है, और उसकी सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। प्रतिदिन के व्यवहार मे सामने आनेवाले यथार्थ को स्वीकार भर कर लिया गया है। प्रकृति म जो सत् है वह जीव और ईश्वर दोनो का अंश है, इसलिए वह कभी जीव की दृष्टि से देखी जाती है और कभी ईश्वर के रूप मे अन्तर्भूत हो उठती है। व्यापक भारतीय मत से प्रकृति का यही सत्य है।[2] पूर्व और पश्चिम को लेकर प्रकृति के सम्बन्ध म यह बहुत बडा अन्तर है। हम देख चुके हैं कि प्रारम्भिक वैदिक युग मे भारतीय सर्वेश्वरता की भावना प्रकृति के माध्यम से ही किसी व्यापक सत्ता की ओर बढी थी। परन्तु एक बार ब्रह्म तत्त्व स्वीकार हो

---

१ दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया, भागवत कुमार शास्त्री इन्ट्राडक्शन, पृ० १० और १६।

२ इन्सा० रि० एथि० गॉड्स (हिन्दू)—'व्यापक रूप से पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद ईश्वर को प्रकृति में परिव्याप्त मानता है पर भारतीय के लिए प्रकृति ईश्वर में अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार सिद्धान्त से, दृश्यात्मक सत्य के समन्वय के प्रयास में साथ ही चरम सत्य को प्रस्तुत करने में प्राकृतिक सृष्टि का कोई वास्तविक अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता।'

जाने पर ईश्वर की कल्पना पूरी हो जाने के बाद भारतीय विचार में सर्वेश्वरता तथा काव्य-रूप में प्रकृतिवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। प्रकृति या दृश्यमान् सत्य केवल परिवर्तनशील है, क्षणिक है, वह व्यापक न होकर केवल कारणात्मक और सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में प्रकृतिवाद भारतीय दृष्टि से केवल एक मानसिक भ्रम स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः मध्ययुग के निर्गुणवादी सन्तों की दृष्टि से प्रकृति भ्रम है, मिथ्या है, और सगुणवादी भक्तों की दृष्टि में प्रकृति का सारा स्वरूप ईश्वर-सिद्धान्त में विलय हो जाता है।[1]

इन सिद्धान्तों के आधार पर हम आगे की विवेचना में देखेंगे कि जिस काव्य परम्परा में ब्रह्म (और ईश्वर का भी) का जो रूप स्वीकार किया गया है उसमें प्रकृति का रूप उससे प्रभावित है। साथ ही ऊपर की समस्त विवेचना को लेकर हम इन सिद्धान्तों को आधार रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। हिन्दी मध्ययुग के साधना काव्य में ब्रह्म की भावना और ईश्वर के रूप के प्रत्यक्ष रहने के कारण इस युग के सर्वेश्वरवाद में ईश्वर में प्रकृति का अन्तर्भाव है। ईश्वर प्रकृति में परिव्याप्त है और इस प्रकार इस युग के काव्य के आध्यात्मिक वातावरण के लिए दार्शनिक तथा साधनात्मक दोनों पक्षों में प्रकृतिवाद उपयुक्त नहीं हो सका। इस युग के काव्य में आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रकृति कभी मूल प्रेरणा के रूप में नहीं आ सकी। फिर भी हिन्दी मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना और उसके आधारभूत दर्शन में माया के रूप में प्रकृति नितान्त भ्रम तथा असत्य नहीं है। सन्तों को छोड़कर अन्य साधकों ने प्रकृति को सत् (सत्य) के रूप में लिया है। परन्तु हम आगे देख सकेंगे कि प्रकृति उनके ईश्वर रूप में अन्तर्भूत ही हो उठती है।

## संत साधना में प्रकृति-रूप

सहज जिज्ञासा—संत साधकों की विशेषता उनकी साधना तथा विचार-पद्धति का सहज रूप है। 'सहज' शब्द संत काव्य की आधार-शिला है। इनकी विचारधारा की पृष्ठ-भूमि में अनेक परम्पराएँ हैं, पर इन्होंने अपनी समन्वित दृष्टि से इन सब को अपने सहज सिद्धान्त के अनुरूप कर लिया है। अपनी विचार पद्धति में कबीर नाथ-पंथियों से बहुत दूर तक प्रभावित हैं, परन्तु साधना के क्षेत्र में इन्होंने अनुभूति और प्रेम का मार्ग चुना है। और संतों के इस मार्ग में सभी सिद्धान्त सहज होकर ही उपस्थित होते हैं। कबीर आदि संतों में विरोध दिखाई देने का कारण भी यही है।[2]

१ एन्ड्रोस्फरान टु दि स्टडी ऑव दि हिन्दू डाक्ट्रिन, रेना ग्यूनन, दि क्लासिकल प्रिन्सिपिल्स, पृ० ४२।

२ कबीर, ह० प्र० द्वि०, अ० ५—'निरंजन कौन है', पृ० ६८।

हम देख चुके हैं कि पिछले युगों में प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र से जिज्ञासा हट चुकी थी और सृष्टि तत्व का निरूपण तर्क तथा अनुमान के आधार पर होने लगा था। संत साधक भी इस तर्क तथा विचार की परम्परा को छोड़कर उन्मुक्त होकर प्रकृति के सामने नहीं खड़ा हो सका। परन्तु अपनी सहज भावना में वह प्रकृति के प्रति आग्रही अवश्य दिखाई देता है। कबीर पूछ उठते हैं—

> प्रथमे गगन कि पुहुमी प्रथमे, प्रथमे पवन कि पाणी।
> प्रथम चन्द कि सूर प्रथम प्रभु; प्रथमे कौन बिनाणी।
>
> प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु; प्रथमे बीज कि खेत।
> कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन; तहाँ कछु आहि कि शून्य।

इस पद के अन्तर्गत नाथपंथी सृष्टि प्रतीकों का आधार होने पर भी, साधक का ध्यान निश्चय ही व्यापक विश्व सर्जना पर है। प्रभु की सर्वप्रथम भावना के सामने उसको यह प्रश्न अधिक जचता नहीं। फिर भी उसका प्रश्न है—नश्वर सर्जना में प्रथम कौन माना जाय ? दादू अधिक तार्किक नहीं हैं, और इसलिए वे सर्जन-क्रम के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से प्रश्नशील हुए हैं—'हे समर्थ, यह सर्जन देखा नहीं जाता। कहाँ से उत्पत्ति होती है और कहाँ निलय होता है ? पवन और पानी कहाँ से हुए और पृथ्वी-आकाश का विस्तार जाना नहीं जाता। यह शरीर और प्राण का आकाश में संचरण कैसे हुआ ? यह एक ही अनेक में कैसे प्रकट हो रहा है, फिर यह विभिन्नता एक में कैसे विलीन हो जाती है ? सृष्टि तो स्वयं, चकित मुग्ध है, हे दयालु इसका नियमन किस प्रकार करते हो ?'[1] यहाँ साधक के मन में सर्जन के प्रति जिज्ञासा है, आश्चर्य है, पर उसके सामने अपने 'प्रभु' की भावना भी स्पष्ट है। इस कारण प्रकृति के रूपों तथा स्थितियों के प्रति जिज्ञासा केवल उनके उत्तर को स्पष्ट करने के लिए है।

आराध्य की स्वीकृति—(क) और यह उनके आराध्य की भावना इनके सामने प्रत्यक्ष रहती है। वास्तव में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा भी संत साधक में ब्रह्म विषयक प्रश्न को लेकर ही है। संत साधकों को प्रकृति के रूप के प्रति कोई आकर्षण नहीं, और कोई कारण भी नहीं, जब उनको अपनी साधना का विषय उससे परे ही मिलता है। संत साधक प्रकृति की क्रियाशीलता और परिवर्तनशीलता के आधार पर स्रष्टा की कल्पना दृढ़ करना चाहता है। वह सर्जन के विस्तार में पृथ्वी, आकाश या स्वर्ग में अपने अलख देव को देखना चाहता है। वह जल, थल, अग्नि और पवन में व्याप्त हो

---

१. शब्दा०, दादू, पद ५४

रहे अपने आराध्य को पूछता है, और सूर्य चन्द्र की निकटता मे उसे खोजता है।[1] साधक के समक्ष सर्जन के प्रति जिज्ञासा अधिक दूर तक चल भी नहीं सकती, क्योंकि उत्तर उसके सामने प्रत्यक्ष है—

> आदि अंति सब आवै जाई, ऐसा समरथ सोइ।
> करम नहीं सब कुछ करै, यों कलि धरी बनाइ॥ (दादू)

एकेश्वरवादी भावना—सर्जन के प्रति प्रश्न ने और ब्रह्म की प्रत्यक्ष भावना ने साधकों को स्रष्टा के प्रश्न पर पहुँचाया है। इस सीमा पर वे एकेश्वरवादी जान पड़ते हैं। यह भावना विचार के क्षेत्र मे कबीर म भी मिलती है और अन्य संत-कवियों मे अपने अपने विचारों के अनुसार पाई जाती हैं। दादू के अनुसार प्रकृति सर्जना का रचयिता राम है—'जिसने प्राण और पिंड का योग किया है उसी को हृदय मे धारण करो। आकाश का निर्माण करके उसे तारकों से जिसने चित्रित किया है। सूर्य-चन्द्र को दीपक बनाकर बिना आलंबन के उन्हें वह संचरित करता है। और आश्चर्य ! एक शीतल तथा दूसरा उष्ण है, ये अनन्त कला दिखाते हुए गतिशील हैं। और यही नहीं, अनेक रंग तथा ध्वनियों वाली पृथ्वी की, सातों समुद्रों के साथ जिसने रचना की है। जल-थल के समस्त जीवों मे जो व्याप्त होकर उनका पालन करता है। जिसने पवन और पानी को प्रकट किया है और जो सहस्र धाराओं मे वर्षा करता है। नाना प्रकार के अठारह कोटि वृक्षों को सींचने वाले वही हैं।'[2] परन्तु संतों का यह एकेश्वरवाद मुसलिम एकेश्वरवाद से नितान्त भिन्न है। उसमें ईश्वर का विचार एकछत्र सम्राट के समान है जिसकी शक्तियाँ असीम और अप्रतिहत हैं। परन्तु व्यापक होने की भावना उसमें नहीं पायी जाती। यहाँ दादू कहते हैं—पूरि रह्या सब संग रे। इस प्रकार संत प्रकृति म जिस स्रष्टा की भावना पाते हैं वह उपनिषदों म उल्लिखित तथा भारतीय विचार-धारा से पुष्ट सप्रपंच-भावना के समान है।[3] सुन्दरदास मे इसका और भी प्रत्यक्ष रूप मिलता है, क्योंकि अद्वैत भावना का उनपर अधिक प्रभाव है। उनका सप्रपंच ब्रह्म—'आकाश को तारों से विभूषित करता है और उसने सूर्य-चन्द्र को दीपक बनाया है।

१ शब्दा०, दादू, पद ५८—

> 'अलख देव गुर देहु बताय। कहाँ रहौ त्रिभुवन पति राय।
> धरती गगन बसहु कविलास। तीन लोक मैं कहाँ निवास॥
> जल थल पावक पवना पूर। चंद सूर निकट कै दूर।
> मंदर कौण कौण घरबार। आसण कौण कहाँ करतार॥
> अलख देव गति लखी न जाइ। दादू पूछै कहि समुझाइ॥'

२. शब्द०, दादू, पद ३४३।

३ दि निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोएट्री, पी० डा० बड़थ्वाल, प्र० २, पृ० २०।

सप्त द्वीपों और नव खंडों में उसने दिन-रात की स्थापना की है और पृथ्वी के मध्य में सागर और सुमेरु की स्थापना की है। अष्ट-कुल पर्वतों की रचना उसने की है जिनके मध्य में नदियाँ प्रवाहित हैं। अनेक प्रकार की विविध वनस्पतियाँ फल-फूल रही हैं जिनपर समय-समय पर मेघ आकर वर्षा करते हैं।"[1] वस्तुत यहाँ स्रष्टा प्रकृति के आश्रय से अपने ही गुणों को प्रसरित करता है। वह अपने से अलग-थलग सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। आगे हम देखेंगे कि सूफी प्रेममार्गियों से इस विषय में इनका मतभेद है।

प्रवहमान् प्रकृति—संतों ने संसार को क्षणिक माना है, परिवर्तनशील स्वीकार किया है। प्रकृति की परिवर्तनशीलता दार्शनिक चेतना की प्रेरक शक्ति रही है। आत्म तत्त्व के स्थायित्व को स्वीकार करने के लिए भी यह एक आधार रहा है। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि मध्ययुग के साधकों ने विचार-परम्परा से ही सत्य को ग्रहण किया है। यही कारण है कि वे विश्व परिवर्तनों की ओर ध्यान रखते हुए भी उन-पर अधिक ठहर नहीं सके, और उन्होंने उसके परिवर्तन तथा उसकी क्षणिकता में आत्म-तत्त्व का संकेत नहीं दिया है। बात यह है कि इनके पूर्व ही अद्वैतवाद ने दृश्यमान् जगत् की क्षणिकता के साथ उसको अनुभव करनेवाली आत्मा को सत्य स्वीकार किया था। उपनिषद्-काल से यह सत्य दृश्यमान् प्रकृति के परे आत्म-तत्त्व के रूप में स्वीकृत चला आया है।[2] इस कारण संतों ने जीवन के विस्तार में ही अधिक परिवर्तन दिखाया है, उनके काव्य में प्रकृति की दृश्यात्मकता नहीं है। फिर भी प्रतीकात्मक कल्पना में प्रवहमान् प्रकृति का रूप यत्र-तत्र मिल जाता है। सुन्दरदास विश्व-सर्जन की कल्पना एक महान् वृक्ष के समान करते हैं। यह वृक्ष चिर नवीन है, इसमें एक ओर सघन फल-फूलों का वसंत है तो साथ ही झरते हुए पत्तों का पतझड़ भी है। ऐसे विश्व तरु की मूल अनन्त व्यापी काल में प्रसरित है। परन्तु परिवर्तन सत्य नहीं है, क्योंकि जो सत्य है वह शाश्वत भी है। शाश्वत का आरम्भ नहीं होता, जिसका

१ ग्रन्था० सुन्दर०, गुन उत्पत्ति निसानी का पद। सर्जन के सम्बन्ध में सुन्दरदास में एक पद और मिलता है—'नग्वर राच्यो नटव एक' (राग रामकली, पद ५), इसमें भी सोपाधि गुणात्मक सर्जन की बात कही गई है।

२ इंडियन फिलासफी, एस० राधाकृष्णन्, (द्वि० भाग) अष्ट प्रक०, पृ० ५६२—"सत्य के आधार पर विचार करने पर, अनुभवों का संसार अज्ञान रूपात्मक स्वभाव को प्रकट करता है। सभी विशेष वस्तुएँ और घटनाएँ जानने वाले मनस के विरोध में वस्तु-रूप में स्थित है। जो कुछ ज्ञान का विषय है, सभी नाशवान् है। शंकर का मत है कि सत्य और भासमान्, तथ्य और द्रष्टा मनस (ज्ञाता) तथा दृश्य विषय (ज्ञेय) के सम रूप है। जब कि प्रत्यक्ष-बोध के विषय असत्य है, आत्मा जो द्रष्टा है और जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, सत्य है। (दि फिलासफी आव दि वेदान्त) बृहदारण्यक (४।३।३० (२—६) में जनक के पूछने पर याज्ञवल्क्य आत्म-प्रकाशित की ओर संकेत करते हैं।

प्रारम्भ और मन्त होता है वह शाश्वत सत्य नही हो सकता। इसलिए यह भ्रम है, माया है। सुन्दर कहते हैं—

> मन ही के भ्रम तें जगत यह देखियत,
> मन ही को भ्रम गये जगत बिलात है।
>
> (सुन्द० ग्र०; चाण० अ०, २५)

यहाँ जगत् का अर्थ है सृष्टि, सर्जन।

आत्म-तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व का सकेत—(क) इस प्रवहमान् परिवर्तनशीलता के स्थायी आत्म-तत्त्व से परिचित होना ही सत्य ज्ञान है। सुन्दर प्रकृति रूपक मे इसी ओर सकेत करते हैं—'देखो और अनुभूति ग्रहण करो। प्रत्येक घट मे आत्माराम ही तो निरन्तर बसत खेलता है। यह कैसा विस्तार है जिसका अन्त ही नही आता। इस चार प्रकार के विस्तारवाली सृष्टि मे चौरासी लाख जीव हैं। नभचारी, भूचारी तथा जलचारी अनेक रचनाएँ हुई हैं। पृथ्वी, आकाश, अग्नि, पवन और पानी ये पाँचों तत्त्व निरन्तर क्रियाशील हैं। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र-मडल, सभी देव-यक्ष आदि अनत हैं। ये सब हैं, परन्तु इनका अस्तित्व क्षणिक है, परिवर्तनशील है। जैसे समुद्र म राशि-राशि फेन, असख्य बुद्बुद् और असख्य लहरें बनकर मिट जाती हैं, और तत्त्व रूप तरुवर एक रस स्थिर है, पर पत्ते झर-झर पडते हैं। यह क्रीडा का प्रसार ज्यो का त्यो फैला हुआ है और अनन्त काल बीत चुका है। परन्तु सभी सत यह जानते हैं कि ब्रह्म का विलास ही अनत और अखडित है।'[1] फिर जब क्षणिकता और प्रवहमान के परे आत्म तत्त्व सन्निहित है जो ब्रह्म से बसत खेलता है, तो निश्चय ही 'माया' को, 'अविद्या' को अलग करना होगा। सत्य की अनुभूति के लिए अविद्या को दूर करना आवश्यक है, ऐसा वेदान्त का मत भी है—'शकर का मत है कि हम सत्य का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते, जब तक हम अविद्या के अधिकार म हैं जो विचार की तार्किक प्रणाली है। अविद्या आत्मानुभूति से पतन है, यह ससीम की मानसिक व्याधि है जो आध्यात्मिक सत्य को सहस्रो भाग म कर देती है। प्रकाश का छिपना ही अन्धकार है। डायन जैसा कहते हैं, अविद्या ज्ञान की अदृश्यता है, मनस का वह घुमाव है जिससे वस्तुओ को दिक काल-कारण के माध्यम के अतिरिक्त देखना असम्भव हो जाता है।'[2] सत माया की सर्जनात्मक शक्ति का उल्लेख नही करते, परन्तु उसके अविद्या रूप को वेदान्त के समान ही स्वीकार करते हैं जो अपने आकर्षण से आत्मानुभूति से वचित रखती है। दादू

---

१ ग्रथ०, सुन्द० राग रासभरी पद ६

२ इन्डियन फिलासफी एस० राधाकृष्णन्, प्रक० आठ—'अद्वैत वेदान्त'—'अविद्या', पृ० ५७४—५।

का पंच तत्त्व रूप प्रसार है—माया की मरीचिका है।'' हम कह चुके हैं कि संत ब्रह्म को द्वैताद्वैतविशिष्ट मानते हुए भी अभाव या शून्य के अर्थ में नहीं लेते। परन्तु वे निषेधात्मक रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः जब उसे सत् और असत् दोनों में बाँधा नहीं जा सकता, तब यही कहा जा सकता है ब्रह्म क्या नहीं है, और जो वह नहीं है। वह स्थायित्व और परिवर्तन दोनों से परे है। वह तो न पूर्ण है, न ससीम है न असीम, क्योंकि यह सब अनुभवों के विरोधों पर ही आधारित है।[1] सुन्दरदास का ब्रह्म प्रकृति की सर्जनात्मक अतद्‌व्यावृत्ति में अपने को प्रकट करता है—

> सोई है सोई है सोई है सब में।
> कोई नहिं कोई नहिं कोई नहिं तब मे॥
> पृथ्वी नहिं जल नहिं तेज नहिं तन में।
> वायु नहिं व्योम नहिं मन आदि मन में॥[2]

यहाँ अतद्‌व्यावृत्ति का अर्थ भारतीय तत्त्ववाद के अनुसार निषेधात्मकता से है। इसी प्रकार गुन निर्गुन की बात को लेकर प्रकृति के तत्त्वों के निर्माण कार्य को अस्वीकार करके रैदास भी परावर की स्थापना करते हैं—'पंडित, क्या कहा जाय, रहस्य सुनता नहीं और कोई समझाकर कहता नहीं। भाई, चंद और सूर सत्य नहीं, न रात-दिन हीं, और न आकाश में उनका संचरण ही। यह न शीतल वायु है और न उष्ण-कठोर है। वह कर्म की व्याधि से भी अलग है। वह धूप और धूल से भरा हुआ आकाश भी नहीं है, और न पवन तथा पानी से आपूरित है। उसको लेकर गुन-निर्गुन का प्रश्न नहीं उठता। तुम्हारी बात का चातुर्य वहाँ है।'' इस समस्त अतद्‌व्यावृत्ति भाव के साथ संतों के लिए ब्रह्म-तत्त्व परावर सत्य और परम अनुभूति का विषय रहा है।

अज्ञात सीमा निर्मल-तत्त्व—(ख) इस अतद्‌व्यावृत्ति में प्रकृति का समस्त रूप और क्रम विलीन हो जाता है। फिर संत अपने ब्रह्म की अज्ञात सीमा का निर्देश किए बिना नहीं रहता। दादू उसकी सीमा का उल्लेख प्रकृति की अदृश्य सीमा के परे करते हैं,—'वह निर्गुण अपनी विधि में निरंजन जैसा स्वयं में पूर्ण है। इस निर्मल-तत्त्व रूप ब्रह्म की न उत्पत्ति है और न कोई व्यापार। न उसके जीव है और न

१ शब्दा०, दादू, पद ३६४।

२ इ० फि०, एस० आर० कृष्णन्, प्रका० = पृ० ५३६ (अनु)—'उपनिषद् और संत इस संसार के सत् और असत् रूपों को अस्वीकार करते हैं, जिनसे हम अनुभव के क्षेत्र में परिचित हैं।'

शरीर। काल की सीमा और धर्म की शृंखला से वह मुक्त है। उसमे शीतलता और घाम का कोई विचार नही और न उसको लेकर धूप-छाया का ही प्रश्न उठता है। —जिसकी गति की सीमा पृथ्वी और आकाश के परे है; चन्द्र और सूर्य की पहुँच के जो बाहर है। रात्रि और दिवस का जिसमें कोई अस्तित्व नही है; पवन का प्रवेश भी जहाँ नही होता। कमलों की शारीरिक प्रक्रिया से यह मुक्त है, वह स्वयं मे अकेला अगम निगम है; दूसरा कोई नही है।" यहाँ हम देखते हैं कि प्रकृति के प्रसार से परे वर्णन करके भी दादू ब्रह्म को रूप दान करते हैं। दरिया साहब ब्रह्म की अतद्व्यावृत्ति भावना के साथ भी उसे कुछ ऐसे गुणो के माध्यम से व्यक्त करते हैं जिनको वे सगुणात्मक प्रवृत्ति से परे समझते हैं। वे निर्गुण, गुणातीत को व्यक्तिगत साधना का विषय बनाते हैं; और उसके रूप की कल्पना धूप-छाँह से हीन वृक्ष के रूप मे करते हैं। साथ ही अमृत फल और अनंत सुगन्ध की कल्पना भी उससे जोड़ते है।[2] वस्तुतः यह भी अरूप को रूप-दान ही है, असीम को सीमा मे बाँधना ही है।

सर्वमय परम सत्य (ग)—पीछे कहा गया है कि कबीर ने ब्रह्म को इन्द्रियातीत और परावर माना है और सत्-असत् से परे स्वीकार किया है। परन्तु जब वे उसकी व्याख्या करते हैं तो उसे किसी सीमा मे बाँधते है। वे अपनी प्रकृति-रूपक की शैली मे ब्रह्म को परम रूप मे स्वीकार करते हैं—'जिसने इस भासमान् जगत् की रचना केवल कहने-सुनने को की है, जग उसीको भूला हुआ पहिचान नही पाता। उसने सत्, रज, तम मे माया का प्रसार कर अपने को छिपा रखा है। स्वय तो वह आनन्द-स्वरूप है; और उसमे सुन्दर गुण-रूप पल्लवो का विस्तार फैला है। उसकी तत्त्व-रूप शाखाओ मे ज्ञान-रूपी फूल है और राम नाम रूपी अच्छा फल लगा हुआ है। और यह जीव-चेतना रूपी पक्षी सदा ऐसा अचेत रहता है कि भूला हुआ है, उसका वास हरि-तरुवर पर है। हे जीव, तू ससार की माया मे मत भूल, यह तो कहने-सुनने की भ्रमात्मक सृष्टि है।'[3] रहस्यवादी की अनुभूति मे ब्रह्म सत्य ऐसा ही लगता है। शकर के अनुसार, इस सासारिक नामरूप ज्ञान से परे होकर भी ब्रह्म रहस्यानुभूति प्राप्त करने वाले

---

१. शब्दा०; दादू; पद ९६।

२. शब्द; दरिया० (विहार):—

"गुन बकसिहो भ्रम नसिहौ, लखि हौ आपन पास हे।
अद्धै विरिछि तीर लै बैठि हौ, तहँवा धूप न छाह रे॥
चाद न सूरज दिवस नहि तहवाँ, नहि निसु होत बिहान रे।
अमृत फल मुख चाखन दैहौ, सेज सुगन्ध सुहाय रे॥"

३. क० ग्रथा०; कबीर; सप्तपदी रमैणी मे।

प्रकृति-रूपक मे उसी माया को, अविद्या को, जीव के बन्धन के रूप मे चित्रित करते हैं:—

> **मोह्यो मृग देखि बन अंधा, सूझत नहीं काल के फंधा।**
> **फल्यों फिरत सकल बन माहीं, सिर साधे सर सूझत नाहीं॥[1]**

यह काल का परिवर्तन ही है जो सभी को नष्ट करने के लिए तत्पर रहता है, और उसी की ओर दादू ध्यान ले जाना चाहते हैं। परिवर्तन पर विश्वास करने पर कोई आत्माराम को कैसे जान सकेगा। प्रकाश को छिपाना ही तो अधकार है। दादू इसी प्रवहमान् प्रकृति को देख रहे हैं—'(जीवन—) रात्रि बीत चली, अब तो जागो (ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करो), यह जन्म तो अंजलि मे भरे पानी के समान ठहरेगा नहीं। फिर देखते नहीं यह अनत काल घड़ी घड़ी करके बीतता जाता है, और जो दिन जाता है वह कभी लौटता है? सूर्य-चन्द्र भी दिन-दिन घटती आयु का स्मरण ही दिलाते हैं। सरोवर के पानी और तरुवर की छाया को देखो! क्या होता है? रात-दिन का यही तो चक्र है, यह प्रसरित काल काया को निगलता चला जाता है। हे हस पथिक! विश्व से प्रस्थान करने का समय उपस्थित है, और तुमने आत्माराम को पहिचाना ही नहीं।'[2] सतो के अनुसार सब जा रहा है, बदल रहा है और नष्ट हो रहा है। धरती, आकाश, नक्षत्र सभी तो इस प्रवाह मे बहे जा रहे हैं। पर इस सब के पीछे एक है जो इस व्यापार-योजना को चलाता हुआ भी रहनशील है, जो सभी उपादानो के बिना भी रहता है—और वह है आत्माराम।[3] यहां यह सकेत कर देना आवश्यक है कि कबीर आदि सन्तो ने नाथ-पंथियो की भांति ब्रह्म का रूप द्वैताद्वैतविलक्षण माना है। परन्तु सतो ने इसे निषेधात्मक 'कुछ नहीं' के अर्थ मे ग्रहण नहीं किया है, उनके लिए तो यह परम सत्य है। आगे प्रकृति के माध्यम से ब्रह्म निरूपण के प्रसग मे इसपर अधिक प्रकाश पड सकेगा।

**आध्यात्मिक ब्रह्म की स्थापना**—सत अपने सिद्धान्त के अनुसार अद्वैतवाद को स्वीकार करके नहीं चले। वे अपने निर्गुण ब्रह्म को द्वैत तथा अद्वैत दोनो से परे मानते हैं, और इसी को द्वैताद्वैतविलक्षण कहा गया है। पर यह द्वैताद्वैतविलक्षण,

१. शब्दा, दादू, पद ३३।

२. वही · पद १५७।

३ वही · पद २२५ —

> 'रहसी एक उपावण हारा, और चलसी सब ससारा।
> चलसी गगन धरणी सब चलसी, चलसी पवन अरू पाणी।
> चलसी चन्द सूर पुनि चलसी, चलसी सबै उपाया।
> दादू दखु रहै अविनासी, और सबै घट बाता।'

भावाभावविनिर्मुक्त है क्या ? विचार करने से स्पष्टतः यह वेदान्त के अद्वैत की ब्रह्म-कल्पना के समान ठहरता है। उनका ऐसा विचार इसलिए रहा है कि इन्होंने नाथ-पंथी तर्क शैली को अपनाया है और ये सत् असत् के अभाव को स्वीकार करके चलने-वाली बौद्धों की शून्यवादी परम्परा से प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त जब संत अद्वैत का विरोध करते हैं, तो वे उसे द्वैत का विपर्ययार्थी मान लेते हैं और इससे प्रकट होता है कि मत शंकर के अद्वैतवादी तर्कों से पूर्ण परिचित नहीं थे। इसके अतिरिक्त संत अनुभूति के विषय को तर्क के चक्कर में डालने के विरोधी हैं, यद्यपि इस विषय में शंकर के समान मौन वे स्वयं भी नहीं रहे हैं। इन संतों ने निर्गुणरूप में जिस ब्रह्म की स्थापना की है, वह तत्त्वतः अद्वैत में स्थापित ब्रह्म के समान है। केवल भेद यह है कि शंकर ने व्यावहारिक क्षेत्र के ईश्वर की स्वीकृति दी है और संतों ने इसकी कल्पना को अपनी ब्रह्म भावना के साथ मिला लिया है। वे दोनों में भेद मान कर नहीं चलते। कबीर प्रकृति की रूपाकार दृश्यमान् सीमाओं में उसीका उल्लेख करते हैं—'हे गोविन्द, तू एकान्त निरंजन रूप है। यह तेरी रूपाकार दृश्यमान् सीमाएँ और ये ज्ञात चिह्न कुछ भी तो नहीं—यह सब तो माया है। यह समुद्र का प्रसार, पर्वतों की तुंग श्रेणियाँ और पृथ्वी आकाश का विस्तार क्या कुछ है ? यह सब कुछ नहीं है। तपता रवि और चमकता चन्द्र इन दोनों में कोई तो नहीं है, निरन्तर प्रवाहित पवन भी वास्तविक नहीं। नाद और विन्दु जिनमें सर्जन कार्य चलता है, और काल के प्रसार में जो पदार्थों का निर्माण-कार्य चल रहा है, यह सब भी क्या सत्य है ? और जब यह प्रतिबिम्बमान् नहीं रहता, तब तू ही, रामराय रह जाता है।'[1]

सर्जना की अस्वीकृति तथा परावर—(क) कबीर के अनुसार ब्रह्म प्रकृति-तत्त्वों की नश्वरता के परे है। अद्वैत मत ब्रह्म को इसी प्रकार स्वीकार करता है। अगर ससीम मानव ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करले, तो या उसका ज्ञान और उसकी बुद्धि असीम है और या ब्रह्म ही ससीम है। प्रत्येक शब्द, जिसका प्रयोग किसी वस्तु के लिए किया जाता है, वह उस वस्तु का जाति, गुण, क्रिया अथवा स्थिति सम्बन्धी निश्चित ज्ञान का संकेत करता है। पर ब्रह्म इन सब प्रयोजनात्मक विभेदों से परे है, और प्रयोगात्मक स्थितियों के विरोध में है।[2] संतों ने इसी को व्यक्त करने के लिए प्रकृति रूपों की निषेधात्मक व्यंजना की है, और यह उनके सहज के अनुरूप है। दादू के अनुसार—'यह समस्त ग्रह का विस्तार भ्रम की छाया है, सर्वत्र राम ही व्याप्त हो रहा है। यह सर्जन का समस्त विस्तार—धरणी और आकाश, पवन और प्रकाश, रवि शशि और तारे सब इसी ग्रह

---

१ ग्रथा०, कबीर, पद २१६

२ शंकर गीता भाष्य, अध्या० १३,१२।

साधकों के लिए परम काम्य सत्य है।[1] रोडल्फ ओटो के अनुसार अतद्व्यावृत्ति की (निषेधात्मक) भावना बहुधा एक ऐसे अर्थ का प्रतीक बन जाती है जो एकान्त अकथनीय होकर भी उच्चतम अंशो मे पूर्ण-रूप से निश्चयात्मक है।[2] इसी दृष्टि से संत साधक के लिए ब्रह्म सर्वमय होकर विश्व मे प्रकृति रूपो मे दिखाई देने लगता है। ऐसी स्थिति मे ब्रह्म के प्रकाश से विश्व प्रकाशमान् हो उठता है और उसी की गति से गतिशील धरणीदास का निर्गुण ब्रह्म—'सकल विश्व म इस प्रकार व्याप्त हो रहा है, जैसे कमल जल के मध्य में सुशोभित हो। एक ही डोरा जैसे मणियो के बीच में व्याप्त रहता है, एक सरोवर मे जैसे अनन्त हिलोरें उठती रहती हैं। एक भ्रमर जिस प्रकार सभी फूलो के पास गुंजन करता है। एक दीपक सारे घर को जैसे प्रकाशित करता है। ऐसे ही वह निरंजन सबके साथ है—क्या पशु पक्षी और क्या कीट-पतंग।'[3]

विश्व सर्जन की आरती—(घ) ब्रह्म की इसी व्यापक भावना को संतो ने आरती के प्रसंग मे भी प्रस्तुत किया है। इन्होने इस आरती का जिस प्रकार उल्लेख किया है, उसमे मानो विश्व-रूप प्रकृति ही ब्रह्म की चिरन्तन आरती के समान है। कभी प्रकृति के समस्त रूप उस आरती के उपकरण बन जाते हैं, और कभी समस्त प्रकृति रूपो मे आरती की व्यापक भावना ब्रह्म की अभिव्यक्ति बन जाती है। किसी-किसी स्थल पर साधक अपने हृदय मे नाम-साधना की आरती सजाता है, और अन्तर्मुखी साधना के उपकरणो की योजना मे, आरती की कल्पना समग्र विश्व को प्रतिभासित करने वाले प्रकाश से उद्भासित हो उठती है। इस आरती की योजना से समस्त विश्व उस परमब्रह्म का प्रतिरूप हो जाता है।[4] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संतो ने इस प्रकार रूपकमयी व्यंजना तो की है, परन्तु प्रकृति के प्रसार मे व्याप्त ब्रह्म-भावना की ओर उनका ध्यान नही है। वे तो अन्तर्मुखी साधना और अनुभूति पर विश्वास रखकर चलते हैं। प्रकृतिवादी दृष्टि से उनका यह अन्तर है। यही कारण है

---

१ शंकरभाष्य छान्दो० उ० (८।१।१।)—'दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसद् अद्वैतं ब्रह्म मन्दबुद्धिनाम् असद् इव प्रतिभाति।'

२ दि आइडिया आव दि होली, रोडल्फ ओटो पृ० १८१।

३ बानी धरनीदास, बेलवेडियर प्रेस से।

४ शब्द०, गुल्ला०, आरती, बानी०, मलूक०, आरती० अंग ४ और बानी; गरीब०, आरती से—

"ऐसी आरति हियो लखाइ। परसे जोति अधर पहराइ।
धरती अंबर उदित प्रकासा। तापर नूर करै परकासा॥" (मलूक०)
"नूर के दीप नूर के चौरा। नूर के पुहुप नूर के भौंरा।
नूर की झाँझ नूर की झालर। नूर के मस नूर की टालर॥" (गरीब०)

कि संतो के इन वर्णनो मे प्रकृति-रूप का संकेत भर है, उनमे सौन्दर्य-योजना का अभाव है।

आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध—शारीरिक बन्धन मे आत्मा जीव है। आत्मा और ब्रह्म जीव और ईश के सम्बन्ध की सीमा ही आध्यात्मिक साधना की माप है।' इस कारण यहाँ देखना है कि संतो ने आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का माध्यम कहाँ तक स्वीकार किया है। विचार किया गया है कि संतो को आत्मा और ब्रह्म की अद्वैत-भावना की अनुभूति, उपनिषद्-कालीन ऋषियो की भाँति जीवन और जगत् से न मिल कर, विचार और परम्परा के आधार पर ही अधिक हुई है। इन्होने ब्रह्म ज्ञान के लिए आत्मानुभूति को स्वीकार किया है। इस प्रकार इनके लिए प्रकृति का कोई महत्व नही है। केवल जब इन्होने अपनी आत्मानुभूति को व्यक्त करने के लिए माध्यम स्वीकार किया है उस समय ब्रह्म और जीव की एकात्मकता के लिए प्रकृति के उपमानो और रूपको की योजना की है। इस एकात्म और अद्वैत भावना का संकेत पिछले रूपों मे मिल चुका है। संत साधक इस 'एकमेव' की भावना मे ब्रह्म को परम-सत्य और आत्म तत्व के रूप म उपस्थित करता है। कबीर नश्वर प्रकृति म ब्रह्म की समस्त अतद्व्यावृत्ति भावना के साथ भी उसे आत्मानुभूत सत्य स्वीकार करते है—'संतो, त्रिगुणात्मक आधार के नष्ट होने पर यह जीव कहाँ स्थिर होता है ? कोई नही समझाता। शरीर, ब्रह्माण्ड, तत्व आदि समस्त सृष्टि के साथ स्रष्टा भी नश्वर है, उसका भी अस्तित्व सिद्ध नही। रचना के अनस्तित्व के साथ रचयिता का प्रश्न भी व्यर्थ है। परन्तु संतो बात यह है कि प्राणो की प्रतीति जो सदा साथ रहती है, इसी आत्म तत्व मे सभी गुणो का तिरोभाव हो जाता है। इसी आत्म तत्व के द्वारा गुणो और तत्वो के सजन तथा विनाश का क्रम चलता है।'[2] कबीर यहाँ जिस आत्म-तत्व को 'प्राणो की प्रतीति' के रूप मे स्वीकार करते है, वह शकर के अद्वैत की ब्रह्म और जीव विषयक एकरूपता है।

भौतिक तत्वो के माध्यम से—संत-साधक पच तत्वो के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, परन्तु जीव और ब्रह्म का एकात्म भावना को व्यक्त करने के लिए वे उनको रूपको मे ग्रहण कर लेते हैं। कबीर को अपनी अभिव्यक्ति म जल तत्व का आश्रय लेना पडता है—

> पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
> जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥[3]

---

१ ग्रथ०, कबीर पद ३२।

२ वही, परचा० अ० १७, अन्यत्र कबीर कहते ह—

''ज्यू जल मैं जल पैसि न निकसै कहै कबीर मन माना। (पद २६२)

इसी आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्व के दृश्यात्मक भेद को प्रकट करने के लिए, तथा उनके अन्तत अभेद को प्रस्तुत करने के लिए, कबीर अद्वैत वेदान्त के प्रचलित रूपक को अपनाते है,—

जल मे कुंभ कुंभ मे जल, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथो गियानी॥[1]

इसी प्रकार आकाश-तत्व से कबीर इसी सत्य का सकेत करते हैं—'आकाश, पाताल तथा समस्त दिशाएँ गगन से आपूरित है, समस्त सर्जन और सृष्टि गगनमय है। परमेश्वर तो आनन्दमय है; घट के नष्ट होने से आकाश तो रह जाता है।'[2] ब्रह्म की कल्पना मे यहाँ आनन्द का आरोप साधक की अपनी एकात्म भावना का रूप है। दादू की कल्पना जल और आकाश दोनो तत्वो का आधार ग्रहण करती है—'जल में गगन का विस्तार है और गगन मे जल का प्रसार है, फिर तो एक की ही व्याप्ति समझो।'[3] परन्तु यह भी स्पष्ट है कि इस मिलन के भाव को प्रकट करने के लिए सत ऐसा लिखते हैं। वैसे वे इन समस्त तत्व-गुणो के नष्ट हो जाने पर ही मिलन को मानते हैं।

परम-तत्व रूप—(ख) इस प्रकार सत तत्वो से परे मानकर भी जीव और ब्रह्म को एक स्वीकार करते हैं। इस एकता को व्यक्त करके के लिए दादू तेज-तत्व की कल्पना करते हैं, हम पीछे निर्मल तत्व का उल्लेख भी कर चुके हैं—

ज्यों रवि एक प्रकास है, ऐसे सकल भरपूर।
दादू तेज अनत है, अल्लह आले नूर।[4]

परन्तु वस्तुत मिलन जभी होगा—जब इन सब तत्वो से, इन समस्त दृश्यात्मक गुणो से जीव छूट जायगा और उसको उसी समय सहज रूप से प्राप्त कर सकेगा। 'पृथ्वी और आकाश, पवन और पानी का जब अस्तित्व निलय हो जायगा, और नक्षत्रों का लोप हो जायगा उस समय हरि और भक्त ही रह जायगा।'[5] यहाँ 'जन' की स्वीकृति अद्वैत की विरोधी भावना नही मानी जा सकती और तत्वो की अस्वीकृति अभावात्मक भी नही कही जा सकती। साधारणत सतो ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे जीव और ब्रह्म की 'ऐकमेक' भावना को प्रकट करने के लिए व्यापक प्रकृति तत्वो का आश्रय लिया है

---

१. वही पद ४५ और अन्यत्र ली० अ०, स० ७१,७२ बूँद और समुद्र।
२. वही, पद ४४।
३ शब्दा० दादू, वि० अ० मे।
४. वही; तेज० अ०, पद ८६।
५. ग्रन्था०, कबीर, पद० २६।

और इन सब के साथ साधक का अपने आराध्य के प्रति विश्वास बना है जिसे हम अभावात्मक सत्य की सीमा तो निश्चय ही नही मान सकते। कुछ सत अपने अद्वैत सिद्धान्त मे ब्रह्म को 'चिदानन्दघन' कहते है, और इससे इनके समन्वयवादी मत का ही सकेत मिलता है।[1] फिर भी वे एक ही अनुभूत सत्य की बात कहते हैं।

**भावाभिव्यक्ति मे प्रकृति रूप**—अभी तक सतो के आध्यात्मिक विचारो की अभिव्यक्ति के विषय मे कहा गया है। अब देखना है कि सत-साधको ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपको का माध्यम किस सीमा तक स्वीकार किया है। सतो की अन्तर्मुखी साधना मे अलौकिक अनुभूति का स्थान है। और उसीकी व्यजना के लिए प्रकृति-रूपो का आश्रय लिया गया है। परन्तु ये चित्र तथा रूपक इस प्रकार विचित्र और अलौकिक हो उठे हैं कि इनमे सहज सुन्दर प्रकृति का आधार किस प्रकार है यह समझना सरल नही है। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि इन सतो पर नाथ-पथी योगियो तथा सिद्ध साधको का प्रभाव अवश्य था। इन्होने उनके बाह्याचारो के प्रति विद्रोह किया है, परन्तु इनकी साधना का एक रूप यह भी था। इस कारण सतो की अभिव्यक्ति पर इस परम्परा के प्रतीको का प्रभाव है। व्यापक दृष्टिकोण के कारण इनकी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति मे रूढि के स्थान पर व्यापक योजना मिलती है, फिर भी अभिव्यक्ति का आधार और उसकी शब्दावली वैसी ही है। पहले यह देखना है कि सतो ने अपनी प्रेम-साधना को प्रकृति के माध्यम से किस प्रकार स्थापित किया है। इसी आधार पर हम आगे देख सकेंगे कि किस सीमा तक इनके प्रकृति रूपक सिद्धो और योगियो की साधना परम्परा से ग्रहीत है और किस सीमा तक ये प्रेम व्यजना के लिए स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुए है।

**प्रेम की व्यजना**—(क) सत-साधको के प्रेम की व्याख्या सम्बन्धी रूपक योगियो के प्रतीको से लिए गए है। परन्तु सत सहज की स्वीकृति मानकर चलता है, इस कारण इन रूपको म प्रकृति के विस्तार के माध्यम से अर्थ ग्रहण करके ही प्रेम की व्यजना की गई है। साथ ही इन्होने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य रूपो को भी चुना है। कबीर 'प्रेम को हृदय स्थित कमल मानते हैं जिसमे सुगन्धि ब्रह्म की स्थिति है, और मन-भ्रमर जब उससे आकर्षित होकर खिच जाता है, तो उस प्रेम को कम लोग ही जानते हैं।'[2] कमल को लेकर ही कबीर प्रेम की व्याख्या अन्यत्र भी

---

१. ग्रन्था०, सुन्दर० , ज्ञान समुद्र—'है चिदानन्दघन ब्रह्म तू सोई।
दह सयोग अवच भ्रम होइ॥'

२ ग्रथा०, कबीर पर० अ० ७। दादू भी इसी प्रकार कहते है—
"सुन्न सरोवर मन भ्रमर तहा कवल करतार।
दादू परिमल पीजिए, सन्मुख निरजन हार॥" (पर० अ०)

करते हैं—'निर्मल प्रेम के उगने से कमल प्रकाशित हो गया, अनन्त प्रकाश के प्रकट होने से रात्रि का अन्धकार नष्ट हो गया।'[1] संत साधक को यौगिक अनुभूति की क्षणिकता को लेकर अविश्वास है। 'इगला-पिंगला' और 'अष्ट कमलों' के चक्कर में भी वह नहीं पड़ता।[2] परन्तु साधक कमलों के माध्यम से प्रेम की सुन्दर व्याख्या करता है। कबीर कमलिनी रूपी आत्मा से कहते हैं—हे कमलिनी, तू संकोचशील क्यों है, यह जल तेरे लिए ही तो है। इसी जल में तेरी उत्पत्ति हुई है और इसीमें तेरा निवास है। जल का तल न तो संतप्त हो सकता है, और न उसमें ऊपर से आग ही लग सकती है। हे नलिनी, तुम्हारा मन किस ओर आकर्षित हो गया है।[3] इसमें आत्मा के ब्रह्म-संयोग के साथ प्रेम का रूप भी उपस्थित हुआ है। संतों की प्रेम-साधना में कोमल कल्पना के लिए स्थान रहा है। इन्होंने हंस और सरोवर के माध्यम से प्रेम तथा संयोग की अभिव्यक्ति की है। इन समासोक्तियों और रूपकों में प्रेम सम्बन्धी सत्यों और स्थितियों का उल्लेख है, साथ ही प्रेम की अनुभूति की व्यञ्जना भी सुन्दर हुई है—'सरोवर के मध्य, निर्मल जल में हंस केलि करता है, और वह निर्भय होकर मुक्ता-समूह चुगता है। अनन्त सरोवर के मध्य जिसमें अथाह जल है हंस संतरण करता है—उसने निर्भय अपना घर पा लिया है, फिर वह उड़कर कहीं नहीं जाता।'[4] दादू इस प्रकार अनन्त ब्रह्म में जीवात्मा की प्रेम-केलि की ओर संकेत करते हैं। कबीर भी पूछ उठते हैं कि हंस सरोवर छोड़कर जायगा कहाँ। इस बार बिछुड़ जाने पर पता नहीं कब मिलना हो। इस अनन्त सागर में क्रीड़ा की अनुभूति पाकर हंस अन्यत्र जायगा नहीं—प्रेम की अनुभूति का आकर्षण ऐसा ही है—

मान सरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहि।
मुक्ताहल मुकता चुगं, अब उडि अनत न जाहि ॥[5]

शांत भावना—(ग) संतों ने प्रेम को समस्त आवेग में भी शांत और शीतल माना है। उनकी प्रेम-व्यञ्जना में सांसारिक जलन आदि का समावेश नहीं है। इसी

---

१ वही, पृ० अ० ४५।

२ शब्द०, कबीर से—"अवधू, अच्छरहू सों न्यारा।
इगला बिनसै पिगला बिनसै, बिनसै सुखमनि नाड़ी।
जब उनमनि तारा टूटै, तब कहँ रहा तुम्हारा॥"

३ ग्रंथा०, कबीर।

४ बानी०, दादू, पद ६८।

५ बीजक, कबीर, रमैनी १८—'हंसा प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगते होते बहुविधि केलि कराय।।''

रूपा ग्रंथा०, कबीर०, पर० अ० ३६।

कारण प्रेम की स्थिति को सत-साधक बादल के रूपक मे प्रस्तुत करते हैं। बादल के उमडते विस्तार मे, उसकी घुमडती गर्जना मे पृथ्वी के वनस्पति-जगत् को हरा-भरा करने की भावना ही सन्निहित है। कबीर बताते हैं—'गुरु ने प्रसन्न होकर एक ऐसा प्रसग सुनाया, जिससे प्रेम का बादल बरस पडा और शरीर के सभी अग उससे भीग गए।...प्रेम का बादल इस प्रकार बरस गया है कि अन्तर मे आत्मा भी आह्लादित हो उठी और समस्त वनराजि हरी-भरी हो गई।'' इन सत-साधको मे प्रेम की व्याख्या कबीर मे मिलती है और दादू प्रेम की अनुभूति को व्यक्त करने मे सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्होंने प्रेम की व्यञ्जना करने मे प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से रूपक चुने हैं। दादू अपने प्रेम का आदर्श, चातक, मीन तथा कुरल पक्षी आदि के माध्यम से उपस्थित करते हैं। 'विरहिणी कुरल पक्षी की भाँति कूकती है और दिन-रात तलफ कर व्यतीत करती है और इस प्रकार राम प्रेमी के कारण रात जागकर व्यतीत करती है। प्रिय राम के बिछोह मे विरहिणी मीन के समान व्याकुल है, और उसका मिलन नही होता। क्या तुमको दया नही आती। जिस प्रकार चातक के चित्त मे जल बसा रहता है, जैसे पानी के बिना मीन व्याकुल हो जाती है और जिस प्रकार चद-चकोर की गति है, उसी प्रकार की गति हरि ने अपने वियोग मे दादू की कर दी है। प्रेम लहर की पालकी पर आत्मा जो प्रिय के साथ क्रीडा करती है, उसका सुख अकथनीय है। यह प्रेम की लहर तो प्रियतम के पास पकडकर ले जाती है और आत्मा अपने सुन्दर प्रिय के साथ विलास करती है।'[२] इस प्रकार प्रेम की व्यापक साधना, उसका उल्लास, उसकी तन्मयता और एकनिष्ठा आदि का उल्लेख सतो ने प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से चुने हुए प्रचलित रूपको के आधार पर किया है। जैसा हम देखते हैं इस क्षेत्र मे अन्य सतो का योग कम है। दादू की प्रेम-व्यञ्जना ने प्रकृति का अधिक आश्रय लिया है और ये रूढियो से भी अधिक मुक्त हैं।

रहस्यानुभूति व्यञ्जना—हम कह चुके हैं कि सतो ने यौगिक परम्परा को साधना का प्रमुख रूप नही स्वीकार किया है। इस कारण योगियो की समाधि और लय सम्बन्धी अनुभूतियो को सत-साधक एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं। वस्तुत योगियो की साधना रहस्यात्मक ही है जिसमे वह आत्मानुभूति द्वारा ब्रह्मानुभूति प्राप्त करता है। परन्तु मानव के ज्ञान की शक्ति परिमित है, उसके बोध की सीमाएँ बधी हुई हैं। इस कारण अपनी अनुभूति के व्यक्तीकरण मे योगियो को भी भौतिक जगत् का आधार लेना पडता है, यद्यपि ये अनुभव ज्ञान को इससे ऊपर की स्थिति मानते हैं। ससीम कल्पना मानवीय विचार और मानवीय अभिव्यक्ति से अलग नही की जा सकती

१ शब्दा०, दादू०, वि० अ०, प२० अ०, सु० अ० से।
२ वहा०, गुरु० अ० २९, ३४।

और इस कारण आध्यात्मिक अनुभव का सीधा वर्णन नहीं हो सकता। यह सदा ही रूपात्मक और व्यंजनात्मक होगा।[1]

तत्वों से सम्बन्धित व्यंजना—(क) जिस अन्तसाक्ष्य की बात ये योगी करते हैं, उसमें भौतिक तत्वों का ही आश्रय लिया गया है। इसीके आधार पर सृष्टि-कल्पना में शिव और शक्ति, नाद और बिन्दु की योजना की गई है। योगी अपनी अनुभूति के क्षणों में नाद (स्फोट) का आधार ग्रहण किए रहता है और उससे उत्पन्न प्रकाश का ध्यान करता है। शिव और शक्ति की क्रिया प्रतिक्रिया से उत्पन्न जो अनाहत नाद समग्र विश्व और निखिल ब्रह्मांड में व्याप्त हो रहा है, उसको यह बहिर्मुखी जीव नहीं सुन पाता। परन्तु योगियों के अनुसार साधना द्वारा सुषुम्ना का पथ उन्मुक्त हो जाने पर यह ध्वनि सुनाई देने लगती है। वस्तुतः भौतिक तत्त्वों में ध्वनि सब से अधिक सूक्ष्म तत्त्व है और इसी कारण अन्तर्मुखी साधना में उसका उतना महत्त्व स्वीकार किया गया है और उसको ब्रह्मानुभूति के समकक्ष स्थान दिया गया है। इसके बाद बिन्दुरूप प्रकाश का स्थान आता है। शब्द-तत्त्व पर स्फोट को अखण्ड सत्ता के रूप में ब्रह्म-तत्त्व मानने का कारण भी यही है। योगियों ने स्वर या नाद को विभिन्न प्रकार से विभाजित किया है—

आदौ जलधि-जीमूत भेरी-झर्झर-संभवा।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घंटा-काहलजास्तथा॥
अन्ते तु किंकणी वंश-वीणा भ्रमरनिस्वना।
इति नानाविधा शब्दा श्रूयन्ते देहमध्यगा।[2]

हठयोग के नाद बिन्दु को संत-साधकों ने ग्रहण किया है, परन्तु इनके अनुभूति चित्र स्वतन्त्र हैं। योगियों ने ध्वनि और प्रकाश की व्यापक भावना का आधार ग्रहण किया है और इस कारण अपनी अभिव्यक्ति में भौतिक तत्वों और इन्द्रियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। संत साधक ध्वनि प्रकाश को व्यापक आधार प्रकृति चित्रों की गम्भीरता में देते हैं, साथ ही इनको अन्तिम नहीं स्वीकार करते। दादू की प्रकाशमयी सुन्दरी का पति भी प्रकाशमय है और उनका मिलन स्थल भी प्रकाशमान हो रहा

१ 'मिस्टिसिज़्म' इन टेनिसन [illegible] पृ० १५० ।

२ ह० उ०, ४।८४, ८५ सुन्दरदास अपने 'ज्ञान-समुद्र' के अन्तर्गत इनको इस प्रकार विभाजित करते हैं—(१) शंख (३) मृदंग (४) ताल (५) घंटा घण्टा (७) भेरि (८) दुंदुभी (९) समुद्र (१०) मेघ। चरणदास 'ज्ञान स्वरोदय' बयान के अन्तर्गत (१) भ्रमर (२) घुंघरू (३) शंख (४) घंटा (५) ताल (६) मुरली (७) भेरि (८) मृदंग (९) नफीरी (१०) सिंह। 'हंसनाद उपनिषद्' में (१) चिंचिणी (२) [illegible] (३) क्षुद्रघंटिका (४) शंख (५) वीणा (६) ताल (७) मुरली (८) मृदंग (९) नफीरी (१०) बादल का घोष।

है। वहाँ पर अनुपम वसत का शृगार हो रहा है।'[1]

इन्द्रिय-प्रयक्षो का सयोग—(ख) सतो की रहस्याभिव्यक्ति नाद और प्रकाश के माध्यम से कम हुई है, परन्तु जब अनुभूति अलौकिक प्रकृति-रूपो म उपस्थित होती है तो उस समय इनका योग हो जाता है। अपनी अभिव्यक्ति मे उन्मुक्त होने के कारण सतो की अनुभूति मे नाद स अधिक प्रकाश और इन दोना से अधिक स्पश का आनन्द छिपा हुआ है। यही कारण है कि साधक बादल की गरज और बिजली की चमक से अधिक वर्षा की शीतलता का अनुभव कर रहा है। वस्तुत सत साधक की अन्तर्मुखी साधना आँख बन्द करने और प्राण-वायु को केन्द्रित करने पर विश्वास लेकर नही चलती, वह तो जीवन के प्रवाह से सहज-सम ही उपस्थित करना चाहती है। इसीके फलस्वरूप इनकी अनुभूति के अलौकिक प्रकृति-चित्रो मे इन्द्रिय-बोधो का स्वतन्त्र हाथ रहा है। कबीर अपनी अनुभूति मे गरज और चमक के साथ भीजने का आनन्द अधिक ले रहे हैं—

गगन गरजि मघ जाइये, तहाँ दीसे तार अनत रे।
बिजुरी चमकै घन बरषि है, तहाँ भीजत हैं सब सत रे॥[2]

दादू भी जहाँ बादल नही है वहाँ झिलमिलाते बादलो को देख रहे हैं। जहाँ वातावरण नि शब्द है वहाँ गरजन सुन रहे हैं। जहाँ बिजली नही है वहाँ अलौकिक चमक देख हैं और इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु वे अत्यन्त तजपुज प्रकाश म ज्योति के चमकने और झलमलाने क साथ आकाश की अमरवलि से झरन वाले अमृत के स्वाद की कल्पना नही भूलते।[3] सतो म आनन्दानुभूति के साथ विभिन्न इन्द्रिय प्रत्यक्षो का सयोग मिलता है, अधिकाश म वर्षा की अनुभूति के साथ स्पर्श-गुण का उल्लेख है। मलूकदास की 'सहज-समाधि लग जाने पर अनहद तूर्य बज रहा है, अनुभूति की अनत लहरें उठती हैं और मोती की चमक जैसा कुछ बरस रहा है वह ऐसी जगमगाती ज्योति को गगन-गुफा म बैठकर देख रहा है।'[4] यहाँ लहर और बरसने का भाव दोनो ही स्पश की अनुभूति की ओर सकेत करते हैं। कभी कभी इन चित्रो की कल्पना के साथ अनुभूति अधिक व्यक्त हो उठती है और ऐसे स्थलो पर जैसे साधक का साथ कवि देता है। बुल्ला देखत है—'काली काली घटाएँ चारो दिशाओ स उमडती-घुमडती घेरती आ रही हैं, आकाश-मडल अनाहत शब्द से व्याप्त हो रहा है। दामिनी जा चमक कर प्रकाशमान् हो उठी तो

१ बा०, दादू, तेन० अ० मे।
२ ग्रन्थ०, कबीर० पद ४।
३ बानी० दादू ने० अ० स।
४ बानी०, मलूक०, शब्द १३।

ऐसा लगा त्रिवेणी स्नान हो रहा है। मन इस आनन्द की कल्पना में मग्न है।'[1] बिहार-वाले दरिया साहब योगियों की प्रतीक पद्धति पर अपनी कल्पना पूरी करते हैं—'यदि आत्मा उलट कर भँवर गुफा में प्रवेश कर सके तो चारों ओर जगमग ज्योति प्रकाश-मान् है। सुषुम्ना के आधार पर प्राणों को ऊपर खींचने पर, अनन्त बिजलियाँ और मोतियों का प्रकाश दिखाई पड़ता है। अनुभूति के क्षणों में अमृत कमल अमृत-धार की वर्षा कर रहा है।'[2] यह कल्पना का आधिभौतिक के अलौकिक रूपों के निकट का चित्र है, परन्तु इसमें अनुभूति-जन्य प्रकाश और वर्षा का ही उल्लेख किया गया है।

हम प्रथम भाग में इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि मानव और प्रकृति में एक अनुरूपता है और रंग-प्रकाश, नाद-ध्वनि का प्रभाव भी इन्द्रियों के लिए एक सीमा तक सुखकर है। अब यदि समझना चाहें तो देख सकते हैं कि रहस्यवादी संत-साधक अपनी अन्त साधना में, इन्हीं नाद और प्रकाश आदि की गम्भीर अनुभूतियों का, बाह्य वस्तु-परक आधार ग्रहण कर अपने मानसिक सम पर आनन्द रूप में प्रत्यक्षानुभूति करता है। यही कारण है कि इन अन्तर्मुखी साधकों ने प्रकाश तथा ध्वनि आदि अनुभूतियों के लिए बाह्य आधारों की आवश्यकता नहीं मानी। साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि संत इन अनुभूतियों को अन्तिम नहीं मानते। यह भौतिक आधार अपनी व्याप्ति और गम्भीरता में भी क्षणिक है। जबकि आत्मा और ब्रह्म में तात्विक भेद ही नहीं स्वीकार किया जाता, ये प्रकाशानुभूतियाँ आदि तो आध्यात्मिक सत्य की वस्तु-परक आधार मात्र हैं। वस्तुतः रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति अपने प्रत्येक स्तर पर इस प्रकाशानुभूति से सम्बन्धित है। हिन्दी के संत-साधकों ने प्रकृति का यथार्थ आधार स्वीकार नहीं किया, परन्तु उसके माध्यम में जो ब्रह्मानुभूति की अभि-व्यक्ति की है, वह सहज प्रकाशानुभूति का रूप स्वीकार की जा सकती है।[3]

आधिभौतिक और अलौकिक रूप (ग)—इसीको जब संत-साधकों ने अधिक व्यक्त करना चाहा है तो वह आधिभौतिक और अलौकिक रूप धारण करता है। इन्होंने अपने चित्रों में योगियों के रूपकों से शब्द अवश्य लिए हैं, परन्तु इनमें नाद तथा ध्वनि

---

१ शब्द०, बुल्ला० शरि छ० २।

२ शब्द०, दरिया (बि०), बसन्त २ गरीबदास ने अपनी बानी में इसी प्रकार का अनुभूति-चित्र दिया है,—

> टुक उलट चसमैं सिंध में, झलकै नलाकन जोर वे।
> अजब रास बिलास बाना, चंद सूर करोर वे॥
> अजब नूर जहूर पोता, झिलमिलैं झलकन वे।
> हाजिर जनाब गराब है, जह दस्त आदि न अन्त है॥ (बैत ३)

३. मिस्टिसिज्म, ईवेलिन अण्डरहिल—'दि इल्यूमिनेशन आव दि सेल्फ', पृ० २८७।

के साथ रूप की हृदयात्मकता अधिक प्रत्यक्ष हो उठी है। साथ ही इन्होंने अपने आनन्दोल्लास का भी सयोग इनके साथ उपस्थित किया है। इसका कारण है कि सत-साधना प्रेम के आधार पर है। उपनिषद्-कालीन रहस्यवादी के सामने हृदयात्मक अनुभूति प्रत्यक्ष हो सकी थी और इसका कारण भी उनकी जगत् के प्रति जागरूकता है।[2] य अलौकिक रूप भौतिक-जगत् को अस्वीकार करके आन्तरिक अनुभूति में प्राप्त हुए हैं, इसीलिए इनमे दृश्य-जगत् का आधार होकर भी उसका सत्य नही है। दृश्य-जगत् आभास है, इसको अन्तत सत्य नही स्वीकार किया जा सकता। यह तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर प्राप्त बोध मात्र है। इस विषय में प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण मे सकेत किया गया है। यही कारण है कि रहस्यवादी अपनी अन्तर्दृष्टि से अलौकिक आधिभौतिक रूपो की कल्पना करता है। ऐसी स्थिति मे वह इन्द्रिय बोध की सीमा को पार करने लगता है और अलौकिक सत्यो का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है। परन्तु इससे इसको असत्य नही कह सकते, क्योकि जानते हैं कि हमारा ज्ञान स्वय सीमित है।[1]

विश्वात्मा की कल्पना—हम कह चुके हैं कि सत-साधक दृश्यमान जगत् को सत्य मानकर नही चलता और इसलिए ब्रह्म की व्यापक विश्व भावना मे अपनी अभिव्यक्ति का सामञ्जस्य भी ढूंढना चलता है। परन्तु सतो की सहज-भावना सीमा बनाकर नही चलती, उसमे विश्व की वाह्य रूपात्मकता को स्वीकृति भी मिल जाती है। ये साधक अलौकिक अनुभूति के क्षणो मे भौतिक-जगत् का आश्रय तो लेते ही हैं, पर प्रकृति-सर्जना के विस्तार म विश्वात्मा को पाकर आह्लादित भी हुए हैं। पर इस प्रकार की कल्पना दादू जैसे प्रेमी साधक म ही मिलती है—'उस ब्रह्म से समस्त विश्व पूर्ण है—प्रकाशमान सत्य उद्भासित होकर धारण कर रहा है—समस्त असुन्दर नष्ट होकर ईशमय हो रहा है। वह समस्त विश्व म सुशोभित है और सबमे छाया हुआ है। धरती अम्बर उसीके आधार पर स्थिर हैं—चन्द्र-सूर्य उसकी सुध ले रहे हैं, पवन मे वही प्रवहमान् है। पिडो का निर्माण और तिरोभाव करता हुआ वह अपनी माया म सुशोभित है। जिधर देखा आप ही तो है, जहाँ देखो आप ही छाया हुआ है—उसको तो अगम ही पाया। रस म वह रूप होकर व्याप्त है, रस मे वह अमृत रूप रसमय हो रहा है। प्रकाशमान वह प्रकाशित हो रहा है, तेज मे वह तजरूप होकर व्याप्त हो रहा है।'[3] यह अनुभूति का रूप व्यापक प्रकृति म विराट् रूप की योजना के समान है।

अतीत की भावना—सत-साधक अपनी समस्त अलौकिक अनुभूति मे इस बात

---

[1] का० म० उ० फ़ि० , आर० डा० रानाडे, 'मिस्टिसिज़्म', पृ० ३४३।

[2] मिस्टिसिज़्म, इवीलेन अन्डरहिल , 'दि टर्निंग प्वाइन्ट' मे।

[3] बानी०, दादू० , पद २३६।

के प्रति सचेष्ट है कि वह जिस अनुभूति की बात कर रहा है, वह अतीन्द्रिय जगत् से सम्बन्धित है। इस क्षेत्र में साधक प्रकृति के भौतिक प्रत्यक्षों को अस्वीकार करके अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयास करता है। दादू अपनी अनुभूति में—'जहाँ सूर्य नहीं है वहाँ प्रकाशमान् सूर्य देखते हैं, जहाँ चन्द्रमा का अस्तित्व नहीं है वहाँ उसे चमकते पाते हैं—तारे जहाँ विलीन हो चुके हैं वहीं उन्हीं के समान कुछ झिलमिलाता है। यह वे आनन्द से उल्लसित होकर ही देख रहे हैं।'[1] 'एकमेव' की भावना को ही पूर्ण सत्य माननेवाले संत प्रत्यक्ष की अनुभूति को अन्तत सत्य मानकर नहीं चलते। चरणदास इसी ओर संकेत करते हैं—'उस समय समस्त भौतिक रूपात्मकता लोप हो जाती है, न चंद्रमा ही दिखाई देता है और न सूर्य ही! आकाश के तारे भी विलीन हो जाते हैं। प्रकृति की समस्त रूपात्मकता नष्ट हो गई—न रूप का अस्तित्व है न नाम का। फिर इस स्थिति में जीव और ब्रह्म की, साहब और संत की उपाधियाँ भी लुप्त हो गई।'[2] इसी सहज स्थिति का वर्णन नानक भी करते हैं जिसमें प्रकाशमान तथा अलौकिक सृष्टि भी तिरोहित हो जाती है—ब्रह्म तथा जीव की स्थिति समाप्त हो जाती है। वस्तुत संत-साधक का यही चरम सत्य है,—

उन्मनि एको एक अकेला, नानक उन्मनि रहै सुहेला।
उन्मनि अस्थावर नहिं जंगम, उन्मनि छाया महिलु विहंगम॥
उन्मनि रवि की ज्योति न धारी, उन्मनि किरण न शशिहि स्वारी।
उन्मनि निशि दिन ना उज्यारा, उन्मनि एकु न कोआ पसारा॥'[3]

परन्तु इस समस्त योजना में संतों ने अस्वीकार करके भी भौतिक-जगत् का ही तो माध्यम स्वीकार किया है। साधक अपनी ज्ञान की सीमाओं में कर ही क्या सकता है।

**अतिप्राकृत का आश्रय**—फिर भी संतों का चरम-सत्य ऐसा ही है। जो अगम है, अतीत है, जो इन्द्रियातीत है, परात्पर है संत उसी की अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है। जब अभिव्यक्ति का प्रश्न है तो वह अपने प्रत्यक्ष के आगे जायगा कैसे? लेकिन उस अनुभूति की, चरम और परम अभिव्यक्ति साधारण तथा लौकिक के सहारे की भी नहीं जा सकेगी। यही कारण है कि अन्य रहस्यवादियों की भाँति संत-साधक अपनी अनुभूति का अतिप्राकृतिक रूपों की अलौकिक योजना द्वारा ही व्यक्त करते हैं। कबीर का यह अलौकिक चित्र जैसे प्रश्न ही बन जाता है—'राजाराम की कहानी समझ में आ गई। इस अमृत के उपवन को उस हरि के बिना कौन पूरा करता। यह तो एक ही तरुवर है जिसमें अनंत शाखाएँ फैल रही हैं और जिसकी शाखाएँ, पत्र और

१. वही०, तेज० अंग से।
२. भक्तिसागर, चरणदास, 'ब्रह्मज्ञान सागर' वर्णन से (पृ० ३)।
३. प्राणसंगली, नानक, प्रथम भाग (पृ० ५०)।

पुष्प सभी रसमय हो रहे हैं। अरे यह कहानी तो मैंने गुरु के द्वारा जान ली। इस उपवन में उसी राम की ज्योति तो उद्भासित हो रही है।....और उसमें एक भ्रमर आसक्त होकर पुष्प के रस में लीन हो रहा है। वृक्ष चारों ओर पवन से हिलता है—वह आकाश में फैला है। और आश्चर्य—वह सहज शून्य से उत्पन्न होनेवाला वृक्ष तो पृथ्वी-गगन सबको अपनेमें विलीन करता जाता है।'[1] इससे प्रत्यक्ष है कि सतों ने योगियों के रूपक व्यापक आधार पर स्वीकार किए हैं। दादू का अनुभूति चित्र विभिन्न प्रकृति-चित्रों को ही अलौकिक रूप प्रदान करता है। 'आत्मा कमल में राम पूर्ण रूप से प्रकट हो रही है, परम पुरुष वहाँ प्रकाशमान् है। चन्द्रमा और सूर्य के बीच राम रहता है, जहाँ गगा-यमुना का किनारा है और त्रिवेणी का सगम है। और आश्चर्य—वहाँ निर्मल और स्वच्छ अपना ही जल दिखाई देता है जिसे देखकर आत्मा अन्तर्मुखी होकर प्रकाश के पुञ्ज में लीन हो जाती है।—दादू कहते हैं हसा अपने ही आनन्दोल्लास में मग्न है।'[2] दादू ने इस चित्र में प्रतीकों का आश्रय लिया है, पर यह बाह्यानुभूति का अलौकिक सकेत ही अधिक देता है। गरीबदास 'गगन मडल में पारब्रह्म का स्थान देखते हैं, जिसमें सुन्न महल के शिखर पर हस आत्मा विश्राम करती है। यह स्थिति भी विचित्र है—अन्तर्मुखी वक्नाल के मध्य में त्रिवेणी के किनारे मानसरोवर में हस क्रीडा करता है और वह कोकिल-कीर के समान बोली बोलता है। वहाँ तो सभी विचित्र है, अगम अनाहद द्वीप है, अगम अनाहद लोक है, फिर अगम अनाहद आकाश में अगम-अनाहद अनुभूति होती है।'[3]

अतिप्राकृतिक चित्रों में विचित्र वस्तुओं और गुणों का सयोग होता है। इनमें विचित्र परिस्थितियाँ उपस्थित की गई हैं, बिना कारण के परिणाम या वस्तु का होना बताया गया है। यह सब अलौकिक अनुभूतियों का परिणाम है जो प्रत्यक्ष को ही असीम का आधार देकर किसी अज्ञात और अलौकिक से अपना सम्बन्ध जोडना चाहती हैं। कभी-कभी इन चित्रों में उलटबाँसी का रूप मिलता है। एक सीमा तक ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु आगे देखेंगे कि उलटबाँसी में इनसे भेद है और इसका ऐसा लगना अलौकिकता के कारण है। धरनीदास के इस बिखरे हुए चित्र में कई प्रकार की योजनाएँ मिल जाती हैं—'गुरु का ज्ञान सुनकर त्रिकुटी में ध्यान करो—भ्रमर एक चक्र घूमता है, आकाश में शेष उडता है। चद्र के उदय से अत्यधिक आनन्द होता है और मोती की धार बरसाती है। बिजली के चमकने से चारों ओर प्रकाश छाया हुआ है और उसके सौन्दर्य का प्रसार अनत है। पाँच इन्द्रियाँ श्रमित हो गईं और पचीस का सृष्टि-क्रम रुक

---

१ ग्रन्था० कबीर, नानक, प्रथम भाग (पृ० ५००)।
२. शब्दा, दादू, पद० ४३८।
३ बानी०, गरीबदास, गुरु अ० ६२, ७३।

गया, प्रत्येक इन्द्रिय द्वार पर मणि-माणिक्य, मोती और हीरा झलमला रहे हैं। प्रत्येक दिशा में बिना मूल के फूल फूला है।....आकाश गुफा में प्रेम का वृक्ष फलने लगा, वहाँ सूर्य चद्रमा का उदय नही होता, धूप छाया भी नही होती। हृदय उल्लसित हो गया, मन मग्न होकर उसकी ओर आकर्षित हो गया। ..बिना मूल के फूल को खिला देखकर भ्रमर जाग्रत हो गया।'[1] इस प्रकार साधक प्रत्यक्ष-जगत् को अस्वीकार करके भी अपनी अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करने मे उसीका आधार लेता है।

**रहस्यवादी भाव व्यजना**—हम कह आए हैं कि सतो ने अपनी अभिव्यक्ति मे प्रतीको का उल्लेख अवश्य किया है, पर उनका उद्देश्य इस माध्यम से अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करना है। साथ ही प्रतीकात्मकता से अधिक सतो का ध्यान इनकी प्रयोग-योजना की ओर है। फिर सत प्रेम-साधक है, उसकी साधना प्रमुखत ज्ञानात्मक न होकर भावात्मक है। ऊपर के रूप-चित्रो मे भाव के साथ ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो उठना है। परन्तु दादू जैसे प्रेमी साधको ने अपनी अनुभूति के चरम क्षणो मे भी प्रेम की भावात्मकता को नही छोडा है—

बरसहि राम अमृत धार,<br>
झिलिमिलि झिलिमिलि सींचन हारा।<br>
प्राण बेलि निज नीर न पावै,<br>
जलहर बिना कॅवल कुम्हिलावै।

सूकै बेली सकल बनराई। रामदेव जल बरिखइ आई।<br>
आतम बेली मरै पियासी। नीर न पावै दादू दास॥[2]

इस चित्र मे अनुभूति की भावमयता अधिक है। अनुभूति के क्षणो मे प्रेम-भाव का सबसे अधिक माध्यम स्वीकार करने वाले साधक दादू ही हैं। अलौकिक प्रतीको से अनुभूति की भावुकता अधिक व्यक्त और स्पष्ट हो उठती है। परन्तु दादू स्वानुभूति को चित्रमय करने से अधिक उसके क्षणो के आनन्दोल्लास को प्रकट करते हैं और इसका कारण भी यही है कि इन्होंने प्रेम का आश्रय अधिक लिया है। 'अत्यन्त स्वच्छ निर्मल जल का विस्तार है, ऐसे सरोवर पर हस आनन्द-क्रीडा करता है। जल मे स्नात कर वह अपने शरीर को निर्मल करता है। वह चतुर हस मनमाना मुक्ताहल चुनता है।' इसके आगे अनुभूति का रूप दूसरे चित्र का आश्रय ग्रहण कर लेता है— उसी के मध्य मे आनन्दपूर्वक विचरता हुआ भ्रमर रस-पान कर रहा है—राम मे लीन भ्रमर कॅवल का रस इच्छा-पूर्वक पी रहा है, देखकर, स्पर्शकर वह आनन्द भोग करता है, पर उसका

---

१ बानी०, धरनीदास, ककहरा ३, ४, १०, १२, २०, २३।

२ बानी०, दादू, पद २३३।

मन सदा ही सचेष्ट रहता है।' चित्र फिर बदलता है—'आनन्दोल्लसित सरोवर मे मीन आनन्द-मग्न हो रही है, सुख के सागर मे क्रीडा करती है जिसका न कोई आदि है न अन्त है। जहाँ भय है ही नही, वहाँ वह निर्भय विलास करती है। सामने ही सृष्टा है, दर्शन क्यो न कर लो।'[1] इन परिवर्तित होते चित्रो मे केवल अलौकिक रूप नही है, वरन् आनन्द तथा उल्लास के रूप मे प्रेमी साधक की अपनी अनुभूति का योग भी है। पिछले चित्रो मे यह भावना प्रस्तुत अवश्य थी पर इतनी प्रत्यक्ष और व्यक्त नही।

दिव्य प्रकृति से—(क) इन्ही प्रकृति-रूपो की भाव-व्यजना के अन्तर्गत प्रकृति का दिव्य रूप आता है जिसमे अनन्त तथा चिर सौन्दर्य की भावना ब्रह्म विषयक आनन्दोल्लास का सकेत देती है। वस्तुत इस प्रकार के रूप चित्र कृष्ण-काव्य और प्रेमाख्यान-काव्य म ही अधिक हैं। सतो ने उनके ही प्रभाव से बाद मे ग्रहण किया है। चरणदास ऐसी दिव्य-प्रकृति की कल्पना करते हैं—

> दिव्य वृन्दावन दिव्य कालिन्दी। देखं सो जीते मन इन्द्री॥
> किनार निकट वृक्षन की छाहीं। आय परी यमुना जल माहीं॥
> झिलमिल शुभ की उठत तरगा। बोलत दादू अरु सुर भगा॥
> वन घन कुञ्जलता छबि छाई। झुकी टहनी धरणी पर आई॥
> नित बसत जहँ गध सुरारी। चलत मन्द जहँ पवन सुसारी॥[2]

इस लौकिक प्रकृति मे दिव्य भावना के द्वारा चिरतन उल्लास को उसी प्रकार व्यक्त किया गया है जिस प्रकार ऊपर के चित्रो मे अलौकिक रूपो द्वारा। परन्तु इन समस्त भाव-व्यजक प्रकृति-रूपो मे प्रकृतिवादी उल्लास तथा आह्लाद की भावना से स्पष्ट भेद है। जैसे कहा गया है यहाँ ब्रह्म की भावना प्रत्यक्ष है और प्रकृति माध्यम के रूप मे ही उपस्थित हुई है।

साधना मे उद्दीपक प्रकृति-रूप—सतो ने प्रेम का साधन स्वीकार किया है और माध्यम भी ग्रहण किया है। प्रेम की अभिव्यक्ति विरह भावना म चरम पर पहुँचती है। प्रकृति हमारे भावो की उद्दीपक है। व्यापक रूप से इस विषय की विवेचना अन्य प्रकरण म हो सकेगी। परन्तु आध्यात्मिक भावना के गम्भीर और उल्लसित वातावरण मे प्रकृति का उद्दीपन रूप साधना से अधिक सम्बन्धित हो जाता है। इस सीमा मे प्रकृति का उद्दीपन-रूप लौकिक भावो को स्पर्श करता हुआ अलौकिक मे खो जाता है और साधक अपनी साधारण भाव-स्थिति को भूल जाता है। दरिया साहब (विहार

---

१ बानी०, दादू, पद २४७।

२ भक्तिसागर, चरण०, ब्रजचरित, प्र० ६।

वाले) देखते हैं—'वसंत की शोभा मे हंसराज क्रीडा कर रहा है, आकाश मे सुर-समाज कौतुक क्रीडा करता है। सुन्दर पत्तेवाले सुन्दर वृक्षों की सघन शाखाएं आपस मे आलिंगन कर रही हैं। मधुर राग-रंग होता है, अनाहद नाद हो रहा है जिसमें ताल-भंग का प्रश्न नही उठता। बेला, चमेली आदि के नाना प्रकार के फूल फूल रहे हैं, सुगन्धित गुलाब पुष्पित हो रहे हैं। भ्रमर कमल मे संलग्न है और उससे अपना संयोग करता है।'[1] इस चित्र मे मधु-क्रीडाओ आदि का आरोप संयोग रति का उद्दीपन है, पर व्यंजना व्यापक आध्यात्मिक संयोग की करता है। सुन्दरदास की प्रकृति-रूप की योजना मे, उसके व्यापक प्रसार मे आध्यात्मिक प्रेम उल्लसित और आन्दोलित होकर अपने परम-साध्य संयोग को अनुभव करने के लिए उत्सुक होता है, उसके सुख को प्राप्त भी करता है। इसमे सहज आकर्षण के साथ सहज भावोद्दीपन की प्रेरणा भी है।[2] प्रकृति का समस्त रूप-शृंगार आध्यात्मिक प्रेम के उद्दीपन की पृष्ठभूमि बन जाता है।

अन्तर्मुखी साधना और प्रकृति—संतो की रहस्य-साधना मे व्यावहारिक यथार्थ महत्त्व नहीं रखता। जो कुछ दृश्यमान् जगत् दिखाई देता है सत्य उसके परे है। इन्होंने अन्तर्मुखी साधना की बात कही है, जिसमे समस्त बाह्य प्रवृत्तियो को हटाकर अन्तर्मुखी करने की भावना है। जीव की सांसारिक प्रवृत्ति को उलटना ही तो इसका अर्थ है। और प्रकृति या दृश्यमान् जगत् भी इस मार्ग पर स्रष्टा की ओर प्रवाहित होता है। लेकिन अन्तर्मुखी वृत्ति मे भी इन्द्रिय-प्रत्यक्षो का आधार तो उनके गुणों के माध्यम से लिया जा सकता है। यही कारण है कि संत-साधक कहता है—'साधक, यह बेडा तो नीचे की ओर चल रहा है—सत्य ही तो! साहब की सौगन्ध, इसके लिए *नाविक की क्या आवश्यकता। पृथ्वी भी अन्तर्मुखी निलय की ओर जा रही है* और शिखर भी। अधोगामिनी नदियाँ प्रवाहित हैं, जहाँ हीरे पन्नो का प्रकाश है और सेवक, नौका तो आँधी-पानी के बीच अधर ही में है। इसी अन्त में सूर्य चन्द्र हैं और चौदह भुवन इसी मे हैं। इसी अन्त मे उपवन और बेलें पुष्पित हैं और कुआँ-तालाब भी। इसी अन्तर्मुखी भावना मे आनन्दोल्लास मे झूलता हुआ माली फूले हुए पुष्प'

---

१ शब्द०, दरिया० बसंत ४।

२ प्रधा०, सुन्द०, अथ पूरबी भाषा बरवै—

"गंगा जमुन दोउ बहिरय ता'दरस-धार; सुमति नवरिया बैसल उतरब पार।
उनमँहि धावर प्रजन्यउ पन प्रकाग, एवन प्रफुल्लित भइल अधिक सुवास।
मन हार पर बैसल काकिल करु मधुर मधुर धुनि बोलइ सुराकर मर।
मन यह मन भावन सरस बगा, परल मदा कौतुक बारिनि बग।
निसिदिन प्रेम छिड़ुवत्ता दिहल मचार, मेघ नारि मलागिनी भूलइ जार।"

को देखता घूमता है।"[1] गरीब्दास जिस अधर की बात करते हैं, वह अन्तर्मुखी साधना का रूप है जिसमें प्रकृति का वाह्य-सौन्दर्य अन्तर्मुखी होकर साधक की अनुभूति से मिल जाता है। इस चित्र में रूपात्मकता अधिक और उल्लास कम है; पर सुन्दरदास के रूप-चित्र में उल्लास ही अधिक है—'इसी अन्तः में फाग और वसंत का उल्लास छाया हुआ है; और उसी में कामिनी-कंत का मिलन भी हो रहा है। अन्तः में ही नृत्य-गान होता है, उसी में वेन भी वज रही है। इसी शरीर के अन्दर स्वर्ग पाताल की कल्पना और काल-नाश की स्थिति है। इसी अन्तः साधना में युग-युग का जीवन और अमृत है।'[2] इस कल्पना में उद्दीपन जैसा रूप है और प्रकृति-चित्रों का विस्तार नहीं है। इस अन्तर्मुखी-प्रकृति का प्रयोग जीव और ब्रह्म के संयोग में अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इस योजना में यह संयोग सहज हो जाता है। जब अन्तर्प्रत्यक्षों में प्रकृति के गुणों का संयोग उपस्थित होता है, उस समय वाह्य आधार तो छूट ही जाता है। और ब्रह्म-संयोग की अभिव्यक्ति सरल हो जाती है। दरिया साहब के अन्तर्मुखी प्रकृति-चित्रण में यह स्पष्ट है—

अपना ध्यान तुम आप करता नहीं,
अपने आप में आप देखा।
आप ही गगन में जगह है आप ही,
आप ही तिरकुटी भँवर पेखा॥
आप ही तत्व निःतत्व है आप ही,
आप ही सुन्न में शब्द देखा।
आप ही घटा घनघोर आप ही,
आप ही बुन्द सिन्धु लेखा॥[3]

इस प्रकार समस्त प्रकृति के सर्जन को, अपने अन्दर देखता हुआ साधक में ब्रह्म-रूप आत्मानुभूति प्राप्त करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि संतों में ब्रह्म और आराध्य की भावना इतनी प्रत्यक्ष है कि प्रकृति-रूपक दूर तक नहीं चल पाते और वे हलके भी पड़ जाते हैं।

**उलटबाँसियों में प्रकृति-उपमान**—सिद्धों और योगियों की अपने सिद्धान्तों और सत्यों के कथन की शैली उलटबाँसी है। संतों ने इनसे ही ग्रहण किया है और यह इनके लिए आश्चर्य की बात नहीं।[4] पिछले अनुच्छेदों में हम देख चुके हैं कि संतों

१. बानी०; गरीबदास ; बैत १; पद ६।
२. ग्रंथा०; सुन्दर० ; राग सोरठ; पद ४।
३. शब्द०; दरिया० ; रेखता अष्टपदी, पद ८।
४. कबीर: पं० हजारी० द्वि० ; अध्या० ७, पृ० ८०।

ने परम्परा प्राप्त प्रतीको को सहज-भाव के अनुकूल रूप मे अपनाया है । उलटवाँसियो के प्रतीक और उपमानो का भी प्रयोग सतो ने इसी प्रकार किया है । योगियो से प्रति-द्वंद्विता लेने की बात दूसरी है, यहाँ प्रवृत्ति की बात कही गई है । कुछ मे सत्यो का उल्लेख किया गया है, इनमे अधिकाश ससार और माया को लेकर हैं । कबीर कहते हैं— 'कैसा आश्चर्य है ! पानी मे आग लग गई, और जलाने वाला जल गया । समस्त पडित विचार कर थक गए ।' इसमे अत समाधिसुख की बात कही गई है; और वह वैचित्र्य का आश्रय लेकर । कबीर दूसरा आश्चर्य प्रकट करते हैं —'समुद्र मे आग लग गई, नदियाँ जलकर कोयला हो गई, और जाग कर देखो तो सही, मछलियाँ वृक्ष पर चढ गई हैं ।' माया के नष्ट होने से अन्त समाधि की बात यहाँ प्रकृति की वैचित्र्य-भावना के आधार पर कही गई है । इन उलटवाँसियो मे प्रकृति की विचित्र स्थितियो के माध्यम से सत्यो की व्यजना की जाती है, और यह ढग अधिक आकर्षक है । कबीर इसी प्रकार सत्य का सकेत देते है—'आश्चर्य की बात तो देखो—आकाश मे कुँआ है वह भी उलटा हुआ और पाताल मे पनिहारी है, इसका पानी कौन हस पीयेगा, वह कोई विरला ही होगा ।'[1]

प्रेम का सकेत (क)—परन्तु जब इन उलटवाँसियो मे प्रेम की व्यजना को स्थान मिलता है, तो इनमे वैचित्र्य के स्थान पर अलौकिक भावना रहती है । इस ओर पहले सकेत किया गया है । दादू के अनुसार—'यह वृक्ष भी अद्भुत है जिसमे न तो जडें और न शाखाएँ—और वह पृथ्वी पर है भी नही, उसीका अविचल अनत फल दादू खाते हैं ।'[2] परन्तु जब प्रेम और अनुभूति के चरम क्षणो मे उलटवाँसी का रूपक भरा जाता है, उस समय अनुभूति की विचित्रता और अलौकिकता का योग भी सत्यों की विभिन्नता के साथ किया जाता है । दरिया साहब (बिहारवाले) की कल्पना में इसी प्रकार की उलटवाँसियाँ छिपी हैं—'सतो, निर्मल ज्ञान का विचार करके ही होली खेलो । कमल को जल से उजाड प्रेमामृत मे भिगोकर अग्नि म आरोपित करो । अनत जल के विस्तार मॅ अपने भ्रमो को जला डालो । फिर सरिता मे कोकिल ध्यान करेगा, और जल मे दीपक प्रकाशित होगा । सभी सशय छोडकर मीन ने अपना घर शिखर पर स्थिर किया है । दिन मे चन्द्र की ज्योत्स्ना फैल गई और रात्रि मे भानु की छवि छाई है । आँख खोलकर देखो तो सही । धरती बरस पडी, गगन मे बाढ आती जा रही है, पर्वतो से पनाले गिरते हैं । अर्द्ध-सीपी की सम्पुट खुल गई, जिसमे मोतियों की लडी लगी हुई है । यह अगम की अनुभूति का भेद है, इसे सम्हाल कर ही समझा जा

---

१. ग्रथा०, कबीर० ; ज्ञा० तथा पर० के अग से ।

२. बानी०; दादू ; अगपाश १२, १३ ।

सकता है।"[1] इन उलटवाँसियो के प्रतीको का सामञ्जस्य बैठाने से काम नही चल सकता; यह तो अलौकिक क्षणो की अनुभूति है, जो आत्मा को व्यापक रूप से घेरकर एक विचित्र जाल बिछा देती है। इस कल्पना मे इस प्रकार के रूप भी हैं जिनमे प्रत्यक्ष सत्ता को अस्वीकार करके ही कल्पना को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। गरीबदास अन्तर्दृष्टि की दुरबीन से इसी अस्तित्वहीन सृष्टि की कल्पना मे सत्य को प्रत्यक्ष करते है।[2] वस्तुत यह सब अलौकिक सत्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है।

चरम क्षण मे रूपो का विचित्र सयोग—अभी तक विभिन्न रूपो को अलग-अलग विभाजित करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। परन्तु अनेक रूप आपस म मिल जुलकर उपस्थित हुए है। अतिप्राकृतिक चित्रो के साथ उलटवाँसियों के सयोगो द्वारा सतो ने व्यापक सत्यो और गम्भीर अनुभूतियो को एक साथ अभिव्यक्त किया है। इस स्थिति म असाधारण चमत्कृत स्थिति की कल्पना द्वारा अनुभूति की असाधारण स्थिति का ही सकेत मिलता है। ऐसे पदो म साधना का रूप और अनुभूति की भावना का रूप मिल जुल गया है—

इहि बिधि राम सूँ ल्यौ लाइ।
चरन पावँ बूँद न सीप साइर, बिना गुण गाइ।
जहाँ स्वाती बूदन सीप साइर, सहज मोती होइ।
उन मोतियन मै नीर पायौ, पवन अबर धोइ।
जहाँ धरनि बरसै गगन भीजै, चद सूरज मेल।
दोइ मिलि जहाँ जुड़न लागे, करत हसा केलि।
एक बिरष भीतर नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पच सुवटा आइ बैठे उदै भई बन राइ।
जहाँ बिछ्ट्यौ तहाँ लाग्यो, गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाउवा, जिनि लियो चाइ॥[3]

कबीर की इस सहज लय मे, बिना सीप, बूँद और सागर के सयोग के मोती उत्पन्न हो जाता है, और उस मोती की आभा से अन्तरात्मा आर्द्र हो उठी है। जहाँ लौकिक

---

१ शब्द०, दरिया (बि०), होली छन्द ३।

२ बाना०, गरीबदास दैत पद ४

बंदे देख ले दुरबीन बे।
कर निगाह अगाह आमन, बरसना बिन बादर बे।
अधर बाग अनन फल, कायम कला करतार बे।

३ ग्रधा०, कबीर, पद २८०।

और अलौकिक का मिलन होता है, उस सीमा पर इन्द्रियों का विषय आत्मानन्द का विषय हो जाता है। आत्मा की वृत्तियाँ ब्रह्मोन्मुखी होकर प्रवाहित हैं—और नदी वृक्ष के भीतर समाई जा रही है, कनक कलस में लीन हुआ जा रहा है। पाँचों इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो उठीं—और उनके अन्तर्प्रत्यक्ष में दृश्य-जगत् भी अन्तर्मुखी होकर फैल गया। लेकिन आश्चर्य, यहाँ तो जहाँ पक्षी का वास-स्थान था वही जल-कर भस्म हुआ जा रहा है और वे आकाश में स्थित हो गए हैं। इस प्रकार संतों की आध्यात्मिक साधना के विकास क्रम के साथ चरम क्षणों की अनुभूति भी सन्निहित है, जो विभिन्न प्रकृति-रूपों के संयोग से व्यक्त की गई है। इसमें ज्ञान और प्रेम का रूप है, साथ ही अलौकिक तथा अन्तर्मुखी प्रकृति-रूपों के माध्यम से चरम लय की व्यंजना भी है।

## चतुर्थ प्रकरण

# आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप—२

### प्रेमियों की व्यंजना में प्रकृति-रूप

**फ़ारस के सूफ़ी कवि**—पिछले प्रकरण की विवेचना मे हम देख चुके हैं कि मध्ययुग की प्रत्येक धारा के पीछे एक परम्परा रही है जिससे उसने प्रभाव ग्रहण किया है। हिन्दी साहित्य के प्रेमी कवियो की, और विशेषत: सूफ़ी कवियो की आध्यात्मिक भावधारा मे फारस के सूफी कवियो के आध्यात्मिक विचारो का प्रभाव रहा है। हिन्दी काव्य के सूफी बाशरा हैं और इस कारण सामान्यत: वे कुरान और मुसलिम विचार-धारा को स्वीकार करके चले हैं। फारसी सूफी अपनी प्रेम-साधना मे नितात एकेश्वर-वादी तो नही रह सके हैं, परन्तु उन्होंने विचारो की प्रेरणा के रूप मे एकेश्वरवाद को छोडा नही है। उनके आध्यात्मिक प्रकृति-रूपो मे इसका बहुत अधिक प्रभाव है। पृष्ठभूमि मे एकेश्वर की भावना प्रस्तुत रहने के कारण फारस के सूफी कवियो के सामने प्रकृति की सप्राण योजना, उसका चेतन प्रवाह नही आ सका, वे उसको कर्त्ता और रचयिता के भाव से ही अधिक देख सके है। फिर भी फारसी कवि उन्मुक्त होकर प्रकृति से प्रेरणा ले सका है और उसके सामने उसका विस्तृत सौन्दर्य रहा है। उनकी प्रकृति-भावना मे एकेश्वर की अलग-थलग सत्ता का आभास मिलता है। उनकी प्रेम-व्यजना मे अवश्य एकात्म-भावना मिलती है।[1]

**एकेश्वरवादी भावना**—इसी प्रकार की एकेश्वरवादी भावना हमको हिन्दी मध्ययुग के सूफी प्रेम-मार्गी कवियो मे भी मिलती है। वरन् इनका क्षेत्र-अधिक विचार-प्रधान है। इस कारण इनका प्रकृतिवादी दृष्टिकोण तो है ही नही, साथ ही इनमे प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण भी नही है। प्रकृति को लेकर हिन्दी के सूफी कवि के मन

१. द्र० लेखक का फारस के सूफी प्रेमी कवियो की साधना में प्रकृति, नामक निबन्ध विश्ववाणी; जून १९४७।

मे कोई प्रश्न नही उठता। वह कर्त्ता और रचयिता की निश्चित भावना को लेकर उपस्थित हो जाता है, और आरम्भ करता है—

> सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह दीन्ह ससारू।
> कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू॥
> कीन्हेसि दिन दिनअर ससि राती। कीन्हेसि नखत तराइन पाँती।
> कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँही। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहि माँही॥[1]

इसी प्रकार जायसी सारे सर्जन को उसी रचयिता के माध्यम से गिना जाते हैं,—'उसी ने सातो समुद्र प्रसरित किए है, उसी ने मेरु तथा किष्किधा आदि पर्वतो को बनाया है। इन समस्त सर, सरिता, नाले, झरने, मगरमच्छ आदि को उसीने तो बनाया है। सीपी का निर्माण करने वाला तथा उसमे मोती ढालने वाला तो वही है। इस समस्त सृजना को करने मे स्रष्टा को एक क्षण भी नही लगता; और उसने आकाश को बिना आश्रय के ही खड़ा किया है।'[2] इस वर्णना को उपस्थित करने मे सूफी प्रेमी कवियो मे एकेश्वरवादी भावना सन्निहित है जिसमे सृष्टि से अलग स्रष्टा की कल्पना की गई है। इसका अर्थ यह नही है कि जायसी आदि मे एकात्म-भावना मिलती ही नही। भारतीय दर्शन के प्रभाव से, तथा प्रेम-व्यजना के रूप मे भी, सूफी प्रेमी अद्वैत की व्यापक भावना को अपना लेते हैं—

> परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नाँव।
> जँह देखौं तहँ ओही दूसर नहिं जँह जाँव॥[3]

परन्तु प्रमुख प्रवृत्ति मे ये कवि एकेश्वरवाद के आधार पर ही चले है, जिसमे इनकी प्रकृति-योजना मे प्रकृतिवादी चेतना-प्रवाह नही आ सका है।

परिव्याप्त सत्ता (क)—यह तो इनकी प्रमुख प्रवृत्ति की बात है, जहाँ तक केवल प्रकृति के प्रति जिज्ञासा या प्रश्न है। परन्तु इस प्रवृत्ति मे भी प्रकृति मे व्यापक आत्म-भावना का रूप क्रमशः आने लगा है। हिन्दी-कवियो मे इस भावना का होना स्वाभाविक है। दुखहरनदास अपनी 'प्रेम-कथा' मे प्रकृति मे व्याप्त ब्रह्म-भावना को ही प्रस्तुत करते है—'शशि, सूर्य और दीपक के समान प्रकाशित होने वाले तारो मे उसी की ज्योति प्रकाशमान है। सासारिक प्रकाश तो देखे और पहिचान जाते हैं, वह तो

---

१. ग्रंथा०, जायसी; पद्मावत, दो० १।

२. वही, दो० २; बाद के कवियो मे भी यही भावना मिलती है। इन्द्रावती, नूरमोहम्मद; स्तुति खंड, दो० १३ मे तुलनीय—

> "धन्य सार जग सिरजन हारा। जिन बिन खम्भ अकास सवारा॥
> गगन की शोभा चान्द सितारा। धरती शोभा मनुज सँवारा॥"

३. ग्रंथा०, जायसी; पद्मावत, २४ गधर्वसेन-मंत्री-खंड, दो० ६।

ऐसा प्रकाश है जो विश्व मे छिपा हुआ व्याप्त हो रहा है।' परन्तु भारतीय भावधारा मे स्रष्टा की कल्पना नवीन नही है। आगे कवि इसी प्रवाह मे कहता है—'प्रभु, तुमने ही तो रात और दिन, सन्ध्या और प्रात को रूप दिया है। यह सब शशि, सूर्य, दीपक और तारा आदि का प्रकाश तुम्ही को लेकर तो है। तुम्हारा ही विस्तार पृथ्वी, सागर सरिता के विस्तार मे हो रहा है।'[1] परन्तु इन दोनो प्रकार के प्रेमियो के स्रष्टा रूप मे भेद प्रत्यक्ष है। सूफियो का स्रष्टा अपने से अलग सर्जन करता है, जब कि स्वतन्त्र प्रेमी कवियो का स्रष्टा अपनी रचना मे परिव्याप्त है। आगे चल कर सूफी कवियो मे व्याप्त ईश्वर की भावना का सकेत मिलता है। उसमान अपनी सर्जना का रूप उपस्थित करते हैं,—'उसने पुरुष और नारी का ऐसा चित्र बना दिया, जल पर ऐसा कौन सर्जन कर सकता है। उसने सूर्य, शशि और तारागणो को प्रकाशमान् किया, कौन है जो ऐसा प्रकाशमान् नग बना सकता है। उसने दृश्यमान् जगत् को काले-पीले श्याम तथा लाल आदि अनेक रगो मे प्रकट किया है। जो कुछ वर्णयुक्त रूपमान् है और विश्व मे दिखाई देता है, उन सबको रचने वाला वह स्वय अदृश्य और अरूप है। अग्नि, पवन, पृथ्वी और पानी (आकाश तत्त्व मुसलमानी दर्शन मे स्वीकृत नही था) के नाना सयोग उपस्थित हैं, वह सभी म व्याप्त हो रहा है और उसको अलग करने मे कौन समर्थ हो सकता है? वह रचयिता प्रकट और गुप्त होकर सर्वत्र मे व्याप्त है। उसको प्रकट कहूँ तो प्रकट नही है और यदि गुप्त कहूँ तो गुप्त भी नही है।'[2] इस चित्र मे व्यापक रचयिता के साथ एकात्म की भावना भी मिलती है। इसपर सत-साधको का प्रभाव प्रकट होता है।

अन्य रूप—(ख) हिन्दी मध्ययुग के धार्मिक काव्य की विभिन्न धाराएँ आगे चल कर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं, क्योकि एक दूसरे से आदान-प्रदान चलता रहा है। 'नल-दमन' काव्य मे परम्परा के अनुसार—कीन्हसि परथम जोति प्रकासू' से आरम्भ किया गया है, परन्तु इसमे सृष्टि कल्पना विशिष्टाद्वैती भावना से अधिक प्रभावित है,—

ज्यो प्रकास समान समाना। वहै जान तिन्ही अनमाना॥
पै वह चेतन यह जड सोना। यह सजोत यह जोत बहूना॥
जैसे कँवल सुरज मिलि खिलै। पै या को गुन ताह न मिलै॥
कँवल खिलै कछु सुरज न खिला। औ ताके सुख मिलै न मिला॥
ज्यों चेतन जड माह समाना। अनमिल जाइ मिला सर जाना॥[3]

---

१. पुहुपावती, दुखहरनदास, स्तुति-खड।
२ चित्रावली, उसमान, स्तुति-खड, दो० १–२।
३. नल-दमन, ईश-वदना, पृ० १–२।

इस प्रकार विभिन्न भावनाओं से प्रभावित होकर इन प्रेमी कवियों ने प्रकृति की सर्जना का रूप उपस्थित किया है। परन्तु जैसा संकेत किया गया है इस वर्णना में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा अथवा आकर्षण का भाव नहीं है। यह तो ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को लेकर ही उपस्थित हुई है।

*वातावरण निर्माण में आध्यात्मिक व्यंजना*—प्रेम-काव्यों का आधार कथानक है। इन प्रबन्ध-काव्यों में प्रेमी कवियों ने अपनी साधना के अनुरूप सौन्दर्य की व्यापक योजना से विभिन्न रूपों में प्रेम की अभिव्यक्ति की है। वस्तुतः इन्होंने अपने काव्य के प्रत्येक स्थल में इसी आध्यात्मिक वातावरण को उपस्थित किया है। घटना स्थलों के प्रकृति-चित्रण में अलौकिक अतिप्राकृतिक रूपों को प्रस्तुत करके, उसकी चिरंतन भावना और निरंतर क्रियाशीलता से, तथा उसके अनन्त सौन्दर्य से आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया गया है। वस्तुतः प्रकृति के रूप और उसकी क्रियाशीलता में अलौकिक भाव उत्पन्न कर देना स्वयं ही आध्यात्मिकता के निकट पहुँचना है। आधिभौतिक प्रकृति जिन रूप-रंगों में उपस्थित होती है और जिन क्रिया-कलापों में गतिशील हो उठती है, वह धार्मिक परात्पर सत्य और पवित्र भावना के आधार पर ही है।[1] सूफी प्रेमाख्यानों में प्रकृति के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य और प्रेम-व्यञ्जना दोनों को प्रस्तुत किया गया है। और इनका ऐसा मिला-जुला रूप सामने आता है कि कोई विभाजन की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। जायसी ने सिंहल-द्वीप के वर्णन में अलौकिक भावना के आधार पर ही आध्यात्मिक वातावरण उपस्थित किया है—'जब उस द्वीप के निकट जाओ तो लगता है स्वर्ग निकट आ गया है। चारों ओर से आम की कुंजों ने आच्छादित कर लिया है। वह पृथ्वी से लेकर आकाश तक छाया हुआ है। सभी वृक्ष मलयगिरि से लाए गए हैं। इस आम की बाड़ी की सघन छाया से जगत् में अन्धकार छा गया। समीर सुगन्धित है और छाया सुहावनी है। जेठ मास में उसमें जाड़ा लगता है। उसी की छाया से रैन आ जाती है और उसी से समस्त आकाश हरा दिखाई देता है। जो पथिक धूप और कठिनाइयों को सहन कर वहाँ पहुँचता है वह दुःख को भूलकर सुख और विश्राम प्राप्त करता है।'[2] इस वर्णना में अलौकिक वातावरण के द्वारा आध्यात्मिक शांति और आनन्द का संकेत किया गया है। प्रकृति की असीम व्यापकता, नितांत सघनता, चिरंतन स्थिति तथा स्वर्गीय कल्पना आध्यात्मिक वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रसंग में कवि ने फल तथा फूलों के नामों के उल्लेख के द्वारा फुलवारी का वर्णन किया है (दो० ४, १०)। परन्तु इस समस्त वर्णना में फूलने फलने की व्यंजना में एक चिरंतन उल्लास तथा

१. नेचुरल हिन्द सुफ़नेजुम्म; पृ० १८६।
२ प्रधा०, जायसी, पद्मावत, २ सिंहल-द्वीप वर्णन-खण्ड, दो० ३।

विकास की भावना सन्निहित है, जिसे कवि इस प्रकार आध्यात्मिक संकेत में उद्भासित कर देता है—

तेहि सिर फूल चढ़हिं वै जेहि माथे मनि भाग।
आछहिं सदा सुगन्ध बहु जनु बसन्त औ फाग॥[1]

इसी प्रकार की भावना उसमान के फुलवारी वर्णन में लक्षित होती है। इस चित्रण में प्रकृति के उल्लास में प्रेम और मिलन की भावना सन्निहित है। इसमें साथ ही चिरन्तन प्रकृति का सौन्दर्य भी है। चित्रावली की बारी तो सिंहलद्वीप की आम्र-वाटिका के समान ही—

सीतल सघन सुहावन छाहीं। सूर किरिन तहँ संचरै नाहीं।
मंजुल डार पात अति हरे। औ तहँ रहहिं सदा फर फरे।
मूर सजीवन कलपतरु, फल अमिरित मधुपान।
देउ दहत तेहि लगि मर्जाहि, देखत पाइय प्रान॥[2]

इसमें जायसी के समान अधिक व्यक्त संकेत नहीं है, परन्तु अलौकिक रूप-योजना स्वयं संकेत ग्रहण करती है। इसी बारी के मध्य में 'चित्रावली की लगाई हुई फुलवारी है, जिसमें सोनजरद, नागकेसर आदि पुष्पित हैं, पुष्पित सुदर्शन को देखकर दृष्टि मुग्ध हो जाती है—कदम और गुलाल भी अनेक पुष्पों के साथ लगे हुए हैं, साथ ही बकुल की पत्तियाँ सुगन्धित हो रही हैं। इसी फुलवारी में पवन रात्रि में बसेरा लेता है और वहीं प्रातःकाल उन पुष्पों की सुगन्धि के रूप में प्रकट होता है।' प्रकृति के इसी सौन्दर्य तथा उल्लास के साथ चिरंतन और शाश्वत की भावना को जोड़कर, कवि आध्यात्मिक आनन्दोल्लास को सूचित करता है—

उड़हिं पराग भौंरा लपटाहीं। जनु बिभूति जोगिन लपटाहीं।
भरकडी भौंरन संग खेली। जोगिन संग लागि जनु बेली।
केलि कदम नव मल्लिका, फूल चंपा सुरतान।
छ ऋतु बारह मास तँह, ऋतु बसंत अस्थान॥[3]

सत्य और प्रेम (क)—इन सूफी प्रेम काव्यों के साथ ही स्वतन्त्र प्रेम काव्यों में भी प्रकृति के उल्लास और अलौकिक सौन्दर्य के द्वारा प्रेम की आध्यात्मिक व्यंजना की गई है। प्रेम की अनुभूति अपने चरम क्षणों की व्यापकता और गम्भीरता में आध्यात्मिक सीमा में प्रवेश करती है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा के कवियों ने

---

१ वही, वही०, दो० ११।
२ चित्रा०, उसमान १३ परवा खण्ड दो० १५८, ६।
३ वही, वही, दो० १५६।

एक-दूसरे का अनुसरण भी किया है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि प्रकृतिवादी रहस्यवाद तथा इन कवियों की भावना मे समता है, पर इनकी विभिन्नता उससे अधिक स्पष्ट है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी भी अपनी अभिव्यक्ति मे प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य और उसमें प्रतिबिम्बित उल्लास का आश्रय लेता है। पर प्रकृतिवादी इसीके माध्यम से अज्ञात सत्ता की ओर आकर्षित होता है, और प्रेमी का आराध्य प्रत्यक्ष होकर इस प्रकृति सौन्दर्य के माध्यम को स्वीकार करता है। दुखहरन इसी प्रकार की व्यंजना करते हैं—'विशाल वृक्ष सदा ही फलनेवाले हैं, सभी घने और हरे-भरे हैं। इनकी जड़ें पाताल मे और शाखाएँ आकाश में छाई हुई हैं।.......फिर इस बाग मे एक फुलवारी है जो ससार को प्रकाशित कर रही है। पीले, श्वेत, श्याम, रक्ताभ आदि नाना भाँति के फूल जिसमे सुगन्धित हो रहे है... ..सभी भाँति के फूल विभिन्न रगो मे छाए हुए हैं, जिनको देखकर हृदय मे उमग उठती है। इनकी गध का वर्णन अकथनीय है, जो गध लेता है वही मोहित हो जाता है। इस फुलवारी मे उन्मुक्त भ्रमर सुगन्ध लेता है और गुजारता है। इसकी गध तो पवन के लिए आश्रय है। जो इसके निकट जाता है, वह गध के लगने से सुगधित तेल हो जाता है। इस अलौकिक फुलवारी में सभी फूल सभी ऋतुओं मे और सभी मासो मे फूलते है और इन फूलों की सुगध से ससार के पुष्प सुगधित हो रहे हैं।"[1] इस चित्र मे रग-रूप गध आदि की अलौकिक योजना के साथ चिरतन सौन्दर्य तथा अनन्त मिलन की भावना भी सन्निहित है, जो आध्यात्मिक सत्य के साथ प्रेम-साधना का योग है। सूफी साधना मे प्रेम की व्यजना आध्यात्मिक सत्य हो जाती है। इस कारण स्वतन्त्र प्रेमियो तथा इनमे इस सीमा पर विशेष भेद नही है। कभी प्रेमी कवि प्रत्यक्ष रूप से सत्य तथा प्रेम के सकेत देने लगता है—

> नगर निकट फूली फुलवारी। धन माली जिन सींच सँवारी।
> जिन सब पुहुप प्रेम अनुरागी। बैरागी उपदेस बिरागी।
> कहै सिगार सिगार हार तन छारा। का सिगार भर आकसि हारा।
> लाला कहे लाल तन सोना। पेम दाह डर दाग बिहूना॥[2]

यहाँ प्रकृति स्वय आध्यात्मिक सदेश देती है। नूर मोहम्मद आध्यात्मिक सत्य की कल्पना फुलवारी के रूप में करते हैं, यहाँ फुलवारी अप्रस्तुत रूप में वर्णित है, प्रस्तुत आध्यात्म ही है। कवि का कहना है—'माली ने कृपाकर इस फुलवारी का साथ दिया है। ऐसे कठिन अवसर पर कोई भी साथ नही हुआ केवल फुलवारी ही हाथ रही। इसके अनन्त सौन्दर्य मे वह अपूर्व रूप छिपा नही रह सकता, अपने आप प्रकट होन

---

१. पुहुपा०, दुख० . अनूपगढ़ भट से।

२. नल०, फुलवारी-वर्णन मे।

का कारण उपस्थित कर देता है। जो इस फुलवारी के रूप और रस से प्रेम स्थापित करता है, वह प्रिय का दर्शन प्राप्त करता है। सृष्टि-कर्त्ता इस सौन्दर्य में छिपा नहीं रहता वह स्वयं ही अभिज्ञात होना चाहता है। इस सर्जन के द्वारा ही तो वह पहिचाना जाता है। मनुष्य पुष्प है और उसका प्रेम ही रस है, उसीको धारण कर वह सर्वत्र प्रकट हुआ है।"[1] आगे हम देखेंगे कि यह प्रकृति-रूप, परिव्याप्त सौन्दर्य के आधार पर तथा स्वर्गीय सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर किस प्रकार सूफी प्रेम-साधना की आध्यात्मिक-व्यजना प्रस्तुत करता है। यहाँ वातावरण-रूप में प्रकृति किस प्रकार आध्यात्मिक सकेत करती है, इसीकी विवेचना की गई है।

अलौकिक सौन्दर्य (रूपात्मक)—प्रेमी साधकों ने सरोवर आदि के वर्णनों में अलौकिक वातावरण प्रस्तुत किया है। परन्तु इन आध्यात्मिक सकेतों में निर्मलता और सौन्दर्य का भाव अधिक है। जायसी 'मान-सरोवर' के व्यापक सौन्दर्य के विषय में कहते हैं—

मानसरोदक बरनौं काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा।
पानि मोति अस निरमल तासू। अंम्रित आनि कपूर सुबासू।
फूला कँवल रहा होइ राता। सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता।
उलथहि सीप मोति उतिराहीं। चुगहिं हंस औ केलि कराहीं।

ऊपर पाल चहूँ दिसि अम्रित फल सब रूख।
देखि रूप सरवर कै गै पियास और भूख॥[2]

प्रकृति की इस अलौकिक योजना में आध्यात्मिक सौन्दर्य का रूप व्यापक होता है, और इस प्रकार प्रेमी-साधक अपने प्रेम के आलम्बन के लिए चिरतन सौन्दर्य की स्थापना करता है। उसमान भी सरोवर के सौन्दर्य-वर्णन में अपने को असमर्थ पाते हैं। जिसके निकट चित्रावली रहती है वह सरोवर अपने विस्तार में स्वर्ग हो जाता है और वही सुख का समूह है। मानव क्या देवता भी उस पर मुग्ध हैं। इस सौन्दर्य-रूप के साथ चित्रावली के सम्पर्क का उल्लेख करके कवि उस सौन्दर्य की प्रतिछाया के निकट पहुँचा देता है जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।[3] इसमें अलौकिक सौन्दर्य का रूप ही अधिक है।

---

१. इन्द्रा०, नूर० , १ स्तुति-खंड, दो १७-१८।

२. ग्रन्था०, जायसी, पद्मा०, २ सिंहल-द्वीप वर्णन खंड, दो० ३।

३. चित्रा०, उस० , १३ परेवा-खंड; दो० १५४।

"अति अमोघ औ अति विस्तारा। सूझन आइ वारहु त पारा।
जहाँ एक दिन करै निवासा। सोइ ठाँव होइ कविलासा।
सुख समूह सरवर सोइ, जग दूसर कोउ नाहि।
मानुष कर कर पूछवे, देवता देखि लोभाहि॥"

दुखहरनदास ने सरोवर-वर्णन में केवल अलौकिकता प्रस्तुत की है, उस के आधार पर प्रेम का संकेत लगाया जा सकता है—

तेहि सरवर महं अंबुज फूला। गुंजहि बहुतौ मधुकर भूला।
सहस पाखुरीक अंबुज होई। छुवै न पावै ताकहं कोई।
फूलि रहे कोई कँवल बास उठै महकार।
निरमल जलदरपन सम मीठा उचपहार॥[1]

'नलदमन' का कवि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सरोवर वर्णन में भी प्रेम का उल्लेख प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उसके सामने आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप प्रकृति से अधिक प्रत्यक्ष है, और वह प्रकृति-वर्णन के माध्यम से उसी को उपस्थित करता है —'*जलपूर्ण सरोवर का वर्णन नहीं किया जाता, जो प्रेमी को प्रेम सिखाता है,* और अपने आप में प्रेम की अवस्थाओं को प्रकट करके दिखाता है। सरोवर का निर्मल जल मोती के समान उज्ज्वल है, ब्रह्म-ज्योति जिस प्रकार हृदय में समाई रहती है। सरोवर की गहराई का अनुमान लगाना कठिन है, मन का प्रेम रहस्य मन में ही छिपा रहता है। यद्यपि प्रेम की हिल्लोर उठती है, उल्लास के भाव से जल हटने नहीं पाता। कमल लाल है, प्रेम के कारण नेत्र लाल हो रहे हैं और पुतली के रूप में भ्रमर मित्र मस्त गुञ्जारते हैं। दो तो नैन हैं, फिर अनन्त कमलों का वर्णन कौन करेगा। प्रिय-दर्शन की लालसा से सरोवर नेत्रमय हो उठा है। *फिर उस सरोवर के किनारे जो खग* रहते हैं, वे सभी ज्ञानवान् हैं—*उनके पंखों में जल प्रवेश नहीं करता, यद्यपि वे सदा जल में ही रहते हैं।*'[2] इस वर्णन में कहीं तो समासोक्ति पद्धति से और कहीं रूपात्मक मानवीकरण से प्रेम की व्यंजना की गई है।

भावात्मक (क)—यहाँ तक प्रकृति-चित्रण में अलौकिक रूप के माध्यम से आध्यात्मिक व्यञ्जना का उल्लेख हुआ है। परन्तु प्रकृति स्वयं अपनी क्रियाशीलता में, उल्लास की भावना में मानव के समानान्तर लगती है। प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में इसकी व्याख्या की गई है। *इस सीमा पर मानव के समानान्तर प्रकृति आध्यात्मिक भावना से व्याप्त जान पड़ती है।* अभी तक सत्य की बात ही अधिक कही गई है। इस सीमा में प्रकृति की क्रियाशीलता अपने उल्लास के साथ आध्यात्मिक रहस्य का रूप बन जाती है। *भौतिक प्रकृति आधिभौतिक की उल्लास भावना के रूप में आध्यात्मिक हो उठती है।*[3] जायसी सरोवर का वर्णन नहीं कर पा रहे हैं—'उसकी सीमाओं का कुछ वार-पार तो है नहीं। उसमें पुष्पित श्वेत कुमुद उज्ज्वल चमकते हैं, मानों तारों से खचित

१ पु०, दु०, सरोवर वर्णन में।
२. नल०, सरोवर-वर्णन में।
३. नेचुरल ऐण्ड सुपरनेचुरल, पृ० २२६।

आकाश हो। उसमे चकई चकवा नाना प्रकार से क्रीडा करते हैं—रात्रि मे उनका वियोग रहता है और दिन मे वे मिल जाते हैं। उल्लास मे सारस कुररता है, उनका युग्म जीवन-मरण मे साथ रहता है। अन्य अनेक पक्षी बोलते हैं, केवल मीन ही मौन भाव से जल मे व्याप्त हो रही है।"[1] इस चित्र मे पक्षी अपने क्रीडारमक उल्लास मे आध्यात्मिक प्रेम को व्यक्त करते है। 'चित्रावली' मे भी कवि इसी प्रकार की भाव-व्यजना सरोवर-वर्णन मे करता है—'सरोवर मे कमलिनियाँ पुष्पित हो रही हैं। जिनको देखकर दुःख दूर हो जाता है। श्वेत और लाल कमल फूले हुए हैं और भ्रमर रसमत्त होकर मकरन्द पीते हैं। दिन भर कमल और कुमुद फूला रहता है, रात भर चाँद और तारे विस्मृत होकर उस सौन्दर्य को देखते हैं। कमलो के तोडने से जो केसर गिर जाता है, उसकी गध से पानी सुवासित है। हस के झुण्ड चारो ओर क्रीडा करते हुए बोलते हैं, चकई और चक्रवाक के जोडा तैरते हैं। जिसको याद करते ही हृदय शीतल हो जाता है, उसी जल को चातक आकर पीता है। जितने प्रकार के जल-पक्षी होते हैं, वे सभी वहाँ क्रीडा करते हुए अत्यन्त सुशोभित हुए। आनन्द और उल्लास के साथ सभी क्रीडा करते हैं। भ्रमर कमलो पर गुजारते हैं। वहाँ रात-दिन आनन्द होता है जिसे देख कर नेत्र शीतल होते हैं।"[2] इस प्रकृति-रूप मे जो पुष्पित, सुगधित, क्रीडारमक तथा उल्लासमयी भावना है, वह आध्यात्मिक सत्य का प्रतीक है। अन्य वर्णनो मे प्रेमी कवियो ने पक्षियो की विविध क्रीडाओ तथा उनके स्वरो की योजना से उल्लास की भावना म आध्यात्मिक प्रेम साधना को व्यक्त किया है। इसमे भी जायसी ने अधिक व्यक्त रूप से प्रेम-भावना का सकेत दिया है, क्योकि उन्होने पक्षियो की बोली का अर्थ व्यक्त रूप से लगाया है—'वहाँ अनेक भाषा बोलने वाले अनेक पक्षी रहते हैं, जो अपनी शाखाओ को देख कर उल्लसित हो रहे हैं। प्रात काल फुलसुँघनी चिडिया बोलती है, पडुक भी कहता है—'एक तू ही है'। पपीहा 'पी कहाँ है' पुकार उठता है, गडुरी 'तू ही है' कहती है, कोयल कुहुक कर अपने भावो को व्यक्त करती है। भ्रमर अपनी विचित्र भाषा मे गुजारता है।' आगे कवि स्पष्ट कर देता है—'जितने पक्षी हैं, सभी इस कुञ्ज मे आ बैठे हैं, और अपनी भाषा म ईश का नाम ले रहे है।'[3] इस वर्णना मे जायसी ने जहाँ तक सम्भव हुआ है पक्षी के स्वर से ही अभिव्यक्ति की है। उसमान पक्षियो के कोलाहल मे सन्निहित उल्लास तथा आनन्द से यही सकेत देते हैं। इन्होंने किसी प्रकार का आरोप नही किया है, वरन् नाद-ध्वनियो मे जो स्वाभाविक उल्लास है उसी का आश्रय लिया है—

---

१ ग्रन्था०, जायसी, पद्मा०, २ सिहल द्वीप-वर्णन, दो० ६।
२ चित्रा०, उस०, १३ परेवा खड, दो० १५५।
३ ग्रन्था०, जायसी, पद्मा०, २ सिंहलद्वीप-वर्णन, दो० ५।

कोकिल निकर अमिरित बोलहि। कुज कुज गुजरत बन डोलहि।
खंजन जहँ तहँ फरकि देखावै। दहिअल मधुर बचन अति भावै।
मोर मोरनी निरतहिं बहुताई। ठौर ठौर छबि बहुत सोहाई।
चलहि तरहि तहँ ठमुकि परेवा। पडुक बोलहि मृदु सुख-देवा।[1]

प्रेम-सम्बन्धी व्यजना (ख)—जायसी की शैली मे 'नलदमन' काव्य मे आध्यात्मिक भावना उपस्थित की गई है। अभी तक प्रकृति मे व्यक्त होती सत्ता के प्रति उल्लास की भावना ही व्यजित हुई है। परन्तु 'नलदमन' मे प्रेम-व्यजना पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि इसमे उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही अधिक है—'शाखाओ पर पक्षी एकत्र होकर बैठे हैं, सभी प्रेम से युक्त भाषा मे बोलते हैं। पाडुक प्रेम व्यथा से रोता है और जग मे 'एक तू ही है' ऐसी रटना लगाए है। चातक अपने प्रियतम मे जी लगाए है और रात-दिन 'पीव-पीव' कूकता रहता है। महर पक्षी प्रेम-दाह से दग्ध हो रहा है और पीडा से नित्य 'दही' पुकारता है। मोर भी कठिन दुख देनेवाले प्रेम के कारण दिन-रात 'मेउँ-मेउँ' पुकारता है। कोकिल विरह से जलकर काली हो गई है और सारे दिन 'कुहू कुहू' पुकारती रहती है।'[2] इसमे कवि ने आध्यात्मिक व्यजना मे प्रेम के उल्लास को व्यक्त किया है। लेकिन अपनी कवित्व प्रतिभा के साथ जायसी रहस्यवादी अध्यात्म को प्रस्तुत करने मे सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमे प्रेम का अलौकिक तथा रहस्यवादी रूप अधिक मिलता है। कही कही जायसी ने आध्यात्मिक प्रेम से वातावरण को उद्भासित कर दिया है—और ऐसे स्थलो पर जैसा कहा गया है प्रकृति का अतिप्राकृत-रूप अलौकिक रग-रूपो, नाद-ध्वनियो मे उल्लास की भावना को व्यजित करता हुआ उपस्थित होता है। जायसी के चित्र मे केवल प्रेम की व्यजना नहीं वरन् प्रेमानुभूति के चरम क्षणो की अभिव्यक्ति है। रतनसेन की सिहल-यात्रा समाप्त होने को है, साधक के पथ की समस्त बाधाएँ समाप्त हो चुकी हैं। अत मे सिहल-द्वीप के पास का मानसरोवर आ जाता है जो प्रेम साधना के चरम स्थल के निकट की स्थिति है। प्रकृति के शांत तथा उल्लसित वातावरण मे प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति होती है—

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियार, रैनि मसि छूटी। भा भिनसार किरिन-रबि फूटी।
कवल बिगस तस बिहँसी देहीं। भौंर दसन होइ कै रस लेहीं।

1. चित्रा०, उस०, १३ परेवा गढ़, दो० १५७।
2 नल०, उपवन-वर्णन से।

भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका, झूर काठ तस खाइ॥[1]

इस चित्र में प्रकाश, रूप-रंग, विकास, गुंजार और क्रीडा आदि की योजना द्वारा जो अलौकिक रूप उपस्थित किया गया है, वह प्रेम साधना की चरम-स्थिति का द्योतक है। इस सीमा पर साधक अपने प्रियतम की झलक पाता है। यही सिंहल का दृश्य है जो अपनी चिन्मयता में अलौकिक है। इसमें कवि प्रेमानुभूति को व्यक्त करता है—'आज यह कहाँ का दृश्य सामने दृश्यमान् हो उठा है। पवन सुगंध और शीतलता ला रहा है जो शरीर को चंदन के समान शीतल कर रहा है। ऐसा तो शरीर कभी शीतल नहीं हुआ, मानों अग्नि में जले हुए को मलय समीर लग रहा हो। और सामने तो अद्भुत दृश्य है—प्रकाशमान् सूर्य निकलता चला आ रहा है और अन्धकार के हट जाने से संसार निर्मल प्रत्यक्ष हो उठा है। आगे मेघ-सा कुछ उठ रहा है और उसमें बिजली चमक कर आकाश में लगती है। उसी मेघ के ऊपर मानो चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है और यह चन्द्रमा ताराओं से युक्त है। और भी अनेक नक्षत्र चारों ओर प्रकाश कर रहे हैं—स्थान-स्थान पर दीपक ऐसे जल रहे हैं। ' दक्षिण दिशा में स्वर्ण पर्वत दिखाई देता है और बसंत ऋतु में जैसी सुगंध आती है, वैसी ही गंध संसार में छाई है।'[2] इस आलंकारिक वर्णना में कवि ने अलौकिक के सहारे आध्यात्मिक साधना का चरम, प्रेम की रहस्यानुभूति को व्यक्त किया है।

प्रतिबिम्ब भाव (ग)—प्रथम भाग के पंचम प्रकरण में मानवीय जीवन और भावना का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हुई प्रकृति का उल्लेख किया गया है। इसकी व्यापक भावना में आध्यात्मिक संकेत समन्वित किए जा सकते हैं। इस प्रकार का सफल प्रयोग जायसी ही कर सके हैं। प्रकृति जब मानवीय भावों को प्रतिबिम्बित करती उपस्थित होती है, उस समय आध्यात्मिक प्रेम की भावना उसके व्यापक विस्तार में प्रतिघटित हो जाती है। उस समय गिरगिट अपनी विरह-वेदना में रंगों को बदलता जान पड़ता है। मयूर विरह वेदना के पाश में बन्दी लगता है और उसी बन्धन के कारण वह उड़ भी नहीं पाता। पड़ुक, तोता आदि के गले में उसी प्रेम का चिह्न है। इस प्रकार प्रकृति मानवीय प्रेम विरह के प्रतिबिम्ब रूप में आध्यात्मिक प्रेम की पृष्ठभूमि बन जाती है।[3] प्रकृतिवादी रहस्यवादी इस प्रकार के प्रतिबिम्ब भाव में केवल

---

१. ग्रन्था०, जायसी; पद्मा०, १५ सात-समुद्र-खण्ड, दो० १०।

२ वही० वही०, २६ सिंहलद्वीप-खंड, दो० १।

३ वही० वही०, ६ राजा-सुआ-संवाद-खंड, दो० ६—

"पेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा।
पेम-फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा।

जीवन की छाया देखता है, सूफी-साधक उस प्रतिबिम्बित जीवन को आराध्यमय स्वीकार कर के चलता है।

**सौन्दर्य आलम्बन**—प्रेमी साधक जिस साधना को स्वीकार कर के चलता है, वह एक अज्ञात प्रियतम को प्रेम का आलम्बन मानती है। प्रेमी अपने प्रेम के आलम्बन का प्रतीक सासारिक (लौकिक) सौन्दर्य के रूप में स्वीकार अवश्य करता है, परन्तु उसकी समस्त साधना आध्यात्मिक प्रेम से सम्बन्धित है जिसमें लौकिक भी अलौकिक हो जाता है, जगत् का सौन्दर्य ही प्रिय का सौन्दर्य हो उठता है। जब प्रेम-भावना आलम्बन खोजती है उस समय सौन्दर्य की स्वीकृति स्वाभाविक है। परन्तु प्रेम सीमा से असीम, व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ता है, उसी प्रकार आलम्बन का सौन्दर्य भी लौकिक से अलौकिक हो उठता है। सूफी प्रेमी-साधकों की सौन्दर्य-योजना को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है। इस दिशा में निर्गुण सतों और सगुण भक्तों से इनका भेद है। सत साधकों ने रूप की कोई भी सीमा स्वीकार नहीं की है। यही कारण है कि उनकी सौन्दर्य योजना अलौकिक ही अलौकिक है। उनके चित्रों में रूप और रंग का प्रयोग मन में एक चमत्कृत भावना उत्पन्न कर देता है। परन्तु सूफी साधकों ने अपना प्रतीक और साथ ही अपनी साधना का रूप ससार से ग्रहण किया है। फलस्वरूप इनकी सौन्दर्य-योजना रूप को पकडने का प्रयास है, उसको सीमा में घेरने का भी प्रयत्न है। प्रतीक-नारी के सौन्दर्य से यह व्यापक सौन्दर्य प्रकृति में फैल कर आध्यात्मिक सकेत ग्रहण करता है। नारी इनकी साधना का प्रतीक है, उसका सौन्दर्य, आदर्श सौन्दर्य ही अपने चरम पर अलौकिक होकर व्यापक व्यजनात्मक सौन्दर्य हो जाता है। यही कारण है कि इन कवियों ने नख-शिख के रूप में जो सौन्दर्य वर्णन किया है वह व्यापक होकर प्रकृति के विस्तार में खो जाता है। उसमें न तो कोई रूप ही बनता है और न कोई क्रमिक स्वरूप ही उपस्थित होता है। प्रकृतिवादी साधक प्रकृति के विस्तार में अज्ञात के सौन्दर्य को फैला देखता है, वह उसी के सौन्दर्य में किसी सत्ता का आभास पाता है। और सूफी साधक अपने प्रतीक के सौन्दर्य को उसी सौन्दर्य में प्रतिष्ठित देखता है। ईरान के सूफी प्रेमियों ने प्रकृति के सौन्दर्य में इसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पाई थी।[1] यही सौन्दर्य की व्यापक भावना, उनका

---

चान पुकार जो भा मनवासो। रोव रोंव परे पाँद नगारा।
प रूइ सिरि सिरि सार सो पाँदू। अति न गहै सरभा भा बाँदू।
मन्र जिउ जो पाँद है, निठ पुकारे दाग॥
सो पि हकारि प द जिउ, मैं ी किन मारै हार मेंग॥"

[1] द्र० लेखक का 'ईरानी सूफियों की प्रेम-साधना में प्रकृति के रूप' नामक लेख, विशालभारत जून १९४७।

प्रतिबिम्बित भाव, तथा उसकी (साधक रूप) समस्त सृष्टि पर प्रभावशीलता, हमको हिन्दी के सूफी प्रेमी-कवियों के काव्य में विस्तार से मिलती है। यह सौन्दर्य इनकी प्रेम-भावना का आलम्बन है। प्रकृति का सौन्दर्य प्रियतम का रूप है या उसी के सम्पर्क से उद्भासित है। सौन्दर्य की रूपात्मकता के साथ सूफी साधक उसके प्रभावों का उल्लेख अधिक करता है; क्योंकि उसकी प्रेम-वेदना में इसीका अधिक स्थान है।

भावात्मक सौन्दर्य का प्रभाव—(क) सूफी कवि जब सौन्दर्य की भावात्मक कल्पना करता है, उस समय प्रकृति की हृदयात्मकता को सामने रख कर उसे व्यक्त करना चाहता है। वह कभी प्रकृति के सौन्दर्य को अपने आराध्य (नारी-रूप) के महान् सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब बताता है और कभी उसकी प्रभावात्मक शक्ति का उल्लेख ही करता है। जायसी नवजात पद्मावती में अनन्त सौन्दर्य की कल्पना करते हैं—'यह सौन्दर्य तो मानों सूर्य की किरण से ही निकाला गया है—और सूर्य का ऐश्वर्य तो कम ही है। इससे तो रात्रि भी प्रकाशमान हो उठी; और यह प्रकाश भी स्वर्गीय आभा से युक्त है। यह रूप-सौन्दर्य इस प्रकार प्रकट हुआ''''उसके सामने पूर्णिमा का शशि भी फीका हो गया। चन्द्रमा इसीसे घटता-घटता अमावस्या में विलीन हो जाता है''। इस सौन्दर्य में पद्म-गंध है। जिससे संसार व्याप्त हो रहा है और सारा ससार भ्रमर हो गया है।'[1] इस सौन्दर्य में कोई-रूप नहीं है और कोई आकार भी नहीं है। यह अपनी भावात्मकता में विश्व-सर्जन को व्याप्त ही नहीं करता, वरन् अपने प्रभाव से प्रभावित भी कर रहा है। वस्तुतः इन कवियों के सौन्दर्य-चित्रण को रूप, भाव तथा प्रभाव आदि के अनुसार विभाजित करना कठिन है; क्योंकि ये सब मिल-जुल जाते हैं। सूफी कवियों ने सौन्दर्य के भावात्मक-पक्ष को ऐसा ही व्यापक और प्रभावशील चित्रित किया है। 'चित्रावली' में रानी चित्र मिटाने आई है, पर उसके सौन्दर्य के सामने मुग्ध है,—

देखा चित्र एक मनियारा। जगमग मंदिर होइ उजियारा।
जिमि-जिमि देखें रूप मुख, हिये छोइ अति होइ।
पानी पानिहिं लै रही, चित्र जाइ नहिं धोइ॥

आगे इस सौन्दर्य की आध्यात्मिक व्याप्ति का और भी प्रत्यक्ष सकेत मिलता है—'ज्यों-ज्यों चित्र धोया जाता है, लगता है सूर्य को राहु ग्रस्त कर रहा हो। ज्यों-ज्यों चित्र मिटता है, आँखों में ही अँधेरा छाता जाता है।' इसके बाद जब चित्रावली आकर उस चित्र को नहीं पाती तो उसका शरीर पत्ते के समान हिल जाता है। 'वह सूर्य के सामान प्रकाशमान् चित्र कहाँ गया, जिसके बिना पूर्णिमा अमा हो जाती है।'[2]

---

१. ग्रंथा०; जायसी० ; पद०; ३ जन्म-खंड; दो० २।

२. चित्रा०; उस० ; ११ चित्रावलोकन-खण्ड दो० १३१ और १२ चित्र-धोवन-खंड; दो० १३२।

इस चित्र में व्यापक प्रभावशीलता का रूप है। नूर मोहम्मद ने नख शिख वर्णन को अधिक विस्तार नहीं दिया है, परन्तु उसमें रूप-सौन्दर्य का एक मौलिक अर्थ सन्निहित है और यह सौन्दर्य के प्रभाव के रूप में है। इन्द्रावती में स्वयं सौन्दर्य की चेतना जाग्रत होती है। दर्पण में अपने सौन्दर्य से उसे प्रेम की अनुभूति प्राप्त होने लगती है। आगे कवि कहता है 'यह सौन्दर्य की चेतना ही है जो प्रेम है और अपने ही सौन्दर्य द्वारा प्रिय-प्रेम की अनुभूति के बीच कोई नहीं है। यह प्रेम की व्याप्ति ही सौन्दर्य-भावना है जो प्रिय का ही रूप है, उसीकी अज्ञात स्मृति है।'[1] इस प्रकार अव्यक्त भावना सौन्दर्य का संकेत ग्रहण करती है। इसी प्रभावशील सौन्दर्य का रूप जायसी मानसरोवर के प्रसंग में उपस्थित करते हैं। 'इस सौन्दर्य के स्पर्श मात्र से मानसर-निर्मल हो गया और उसके दर्शन मात्र से रूपवान् हो उठा। उसकी मलय समीर को पाकर सरोवर का ताप शांत हो गया।' इसके आगे प्रकृति के समस्त सौन्दर्य को कवि इसी आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब रूप में देखता है—'उस चन्द्रलेखा को देखकर ही सरोवर के कुमुद विकसित हो उठे उस सौन्दर्य के प्रकाश में तो जिसने जहाँ देखा वहीं विलीन हो गया। उस सौन्दर्य में प्रतिबिम्बित होकर जो जैसा चाहता है सौन्दर्य प्राप्त करता है। सारा सरोवर उसी के सौन्दर्य से व्याप्त हो उठा है। उसके नयनों को देखकर सरोवर कमलों से पूरित हो गया, उसके शरीर की निर्मलता से उसका जल निर्मल हो रहा है। उसकी हँसी ने हंसों का रूप धारण कर लिया है और दाँतों का प्रकाश नग तथा हीरा हो गया है।'[2] उसमान ने भी 'चित्रावली' में एक स्थल पर रूप सौन्दर्य का वर्णन प्रमुखतः न करके, उसके प्रभाव का ही उल्लेख किया है। यह सौन्दर्य अनंत और व्यापक है जिसके प्रकाशित होने पर सभी जगत् आश्चर्य-चकित रह जाता है—

चित्रावली झरोखे आई। सरग चाँद जनु दीन्ह दिखाई।
भयो अँजोर सकल संसारा। भा अलोप दिनकर मनियारा।[3]

---

१ इन्द्रा०, नूर०, ६ पाती खण्ड, दो० ७८—

"रूप समुद्र अहै यह प्यारी। जब सों प्रेम पर्‌यो सिर भारी।
नामों लेन लहर अठिलानी। व्याकुल भै मन बीच सयानी॥
कोऊ नाहीं बीच मँ, अपने रूप लोभान।
अपनो चित्र चितेरा, देखि आप अरुझान॥"

२ ग्रंथा०, जायसी, पद०, मानसरोवर खंड, दो० ८। जायसी आध्यात्मिक प्रभावशील सौन्दर्य प्रस्तुत करने में अद्वितीय हैं। राघवचेतन के 'पद्मावती रूप-चर्चा-खंड' में व्यापक भावना से सौन्दर्य वर्णन आरम्भ करता है। वह इस व्यापक भावना को रूप और शृंगार युग में व्याप्त करता हुआ उसकी प्रभावात्मकता की ओर ही आकर्षित करता है। इसी प्रकार 'चित्रावली' में परेवा भी राजकुमार के सामने सौन्दर्य के प्रभाव का वर्णन गन्ध-पुष्प के माध्यम से करता है (१३ परेवा०, दो० १०१)।

३ चित्रा०, उस०, १० दर्शन-खण्ड दो० १०३।

संकेत-रूप और प्रकृति मे प्रतिबिम्ब भाव (ख)—यहाँ तक व्यापक सौन्दर्य की भावना और उसकी प्रभावशीलता पर विचार किया गया है। इस सौन्दर्य मे आकार या रूप की भावना किसी सीमा मे प्रत्यक्ष नही होती। यह केवल भावात्मक है जो कभी रूप, कभी प्रकाश और कभी गन्ध आदि के अलौकिक विस्तार मे आध्यात्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है। हम जानते हैं कि सूफी प्रेमी कवियो ने प्रतीको का आश्रय लिया है। जब लौकिक प्रतीक का आधार है, एक नारी (नायिका) की कल्पना है, तो सौन्दर्य प्रत्यक्ष रूप और आकार भरेगा। लेकिन सौन्दर्य यहाँ भी अपनी व्यापकता मे, आध्यात्मिक चमत्कार की अलौकिक सीमाओ मे, रूप भरकर भी रूप नही पाता; आकार धारण करके भी कोई प्रत्यक्ष आकार सामने नही उपस्थित कर पाता। यह बात हम सक्षिप्त रूप-चित्रो और विस्तृत नख-शिख वर्णनों मे देखेंगे। इन समस्त रूप के सकेतो मे प्रकृति उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है। प्रकृति-जगत् उसी असीम और चरम सौन्दर्य की छाया है, उसी के प्रभाव से समग्र विश्व आकर्षित हो उठता है। पद्मावती यौवन मे प्रवेश कर रही है। जायसी उस सौन्दर्य की कल्पना करते हुए उसके प्रभाव और प्रकृति पर उसके प्रतिबिम्ब का उल्लेख करते हैं—'विधि ने उसको अत्यत कलात्मक ढग मे रचा है। उसके शरीर की गध से ससार व्याप्त है। भ्रमर चारो ओर से उसे घेरे हुए हैं। वेनी नागिन मलयागिरि मे प्रवेश कर रही है...उस पद्मनी के रूप को देखकर ससार ही मुग्ध हो उठा है। नेत्र आकाश के विस्तार मे फैलकर खोजते हैं, पर ससार मे कोई नही दिखाई देता।'[1] यहाँ उत्प्रेक्षाओ को व्यक्त न करके कवि सौन्दर्य को प्रकृति के व्यापक माध्यम से व्यजित करता हुआ, उसके प्रतिबिम्ब के साथ प्रभाव का सकेत भी करता चलता है। इस अलौकिक सौन्दर्य मे व्यक्त रूप तथा आकार नही है; सूफी साधक आध्यात्मिक प्रियतमा के सौन्दर्य को सीमाओ मे बाँध भी कैसे सकता। उसमान चित्रावली के रूप की बात कहते हैं, उसमे किंचित् शरीर के साथ शृगार का वर्णन मिल गया है। परन्तु न तो शरीर मे आकार है और न शृगार मे रग-रूप, इसमे केवल चमत्कार की अलौकिकता व्यापक प्रभाव लेकर उपस्थित हुई है। चित्रावली दर्शन के लिए झरोखे पर आती है—'उसके शरीर पर बहुमूल्य चीर है, मानो लहरे लेता हुआ सागर चचल हो रहा हो। मुख के दिव्य प्रकाश को देखकर चकोर चकित रह गया, मानो चन्द्रमा ने प्रकाश किया। माँग सुन्दर मोतियो से युक्त है, नक्षत्रमालाओ ने मानो शशि को आकर प्रणाम किया है।...गरदन मे मुक्ता-माला है, मानो देव-सरि सुमेरु पर गिरी है।'[2] इसमे व्यक्त उत्प्रेक्षाओ के द्वारा जो चमत्कृत सौन्दर्य की योजना हुई है, वह भी आध्यात्मिक प्रभावशील सौन्दर्य का

१. ग्रन्था०, जायसी ; पद०; ३ जन्म-खण्ड, दो० ६।
२. चित्रा०; उस० ; २० दरसन खण्ड, दो० २७३।

रूप है। नूर मोहम्मद अपने नख-शिख वर्णन को रूप-संकेत में समाप्त कर देते हैं। वे रूप की साधारण रेखाओं के सहारे दिव्य-भावना को प्रस्तुत करते हैं—

झरना ता मुख मान को, मनमां रहा समाइ।
बूडी लोचन पूतरी, आँसू दृगमों जाइ॥
धन को बदन सुरज की चाँदू। अलकावर नागिन की फाँदू।
नैना मृग कि हैं मतवारी। की चचल खंजन कजरारी।[1]

एक स्थान पर नूर मोहम्मद भावात्मक सौन्दर्य को प्रकृति से एक रूप करके व्यक्त करते हैं—'इन्द्रावती का मुख पुष्प है तो उसके कपोल कली हैं, उसकी छवि और शोभा विमल है। आश्चर्य है! इस सौन्दर्य का कोई अनुमान ही नहीं लगा पाता। पुष्प है, पर विकसनशील भावना को लेकर कली के समान है। कली है, परन्तु उसमें पूर्ण-विकास की भावना विद्यमान है। वह रूप-सौन्दर्य फुलवारी है, और उसका रूप फुलवारी की शोभा है।'[2] यहाँ उपमान आध्यात्मिक सौन्दर्य की योजना करते हैं और व्यंजित सौन्दर्य ही आध्यात्मिक प्रकाश है। उसमान कुँअर को चित्रावली की याद फुलवारी के माध्यम से दिलाते हैं और उस समय फूल आदि में चित्रावली का रूप ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। पर यह रूप स्मृति ही दिलाता है—

जूही फूल दिष्टि भरि हेरा। लखे भाव चित्रावली केरा।
अली माल फूलन पर हेरी। होइ सूरति अलकावलि केरी॥
जाहि होइ चित की लगन, भूरख सों सों दूरि।
जान सुजान चहूँ दिसि, वोहि रहा भरि पूरि॥[3]

वस्तुतः सूफी प्रेमी प्रकृतिवादी रहस्यवादियों की भाँति ज्ञात प्रकृति से अज्ञात की ओर नहीं बढ़ते, वे तो उस अज्ञात को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखते हैं। इसी कारण उनमें प्रकृति-रूपक अधिक दूर नहीं चल पाते, उनका आराध्य व्यक्त हो उठता है।

सौन्दर्य से मुग्ध और विमोहित प्रकृति—(ग) ऊपर के रूप चित्रों के समान वे चित्र भी हैं जिनकी सौन्दर्यात्मक व्याप्ति में प्रकृति केवल प्रभावित ही नहीं वरन् मुग्ध तथा विमोहित लगती है। यहाँ रूप-सौन्दर्य के समस्त प्रसग में उपमानों की योजना में रूप के प्रकृति-चित्रों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह समस्त-योजना साधारण आलंकारिक अर्थ में नहीं मानी जा सकती, इसी कारण आध्यात्मिक व्यंजना में

---

१. इन्द्रा०; नूर०, पातीखण्ड, दो० ३४।
२ वही, मालिनखण्ड, दो० २।
३ चित्रा०; उस०, २५ दर्शनखण्ड, दो० २१५।

इसको प्रकृति-रूपो मे स्वीकार किया गया है। प्रकृति की अप्रस्तुत-योजना को इन काव्यो मे क्यो प्रमुखता मिली इसकी ओर कई बार सकेत किया गया है। जायसी पद्मावती के सौन्दर्य के साथ प्रकृति का विमुग्ध रूप प्रस्तुत करते है—'सरोवर के निकट पद्मावती आई, उसने अपना जूडा खोलकर केशमुक्त कर दिए। मुख चन्द्रमा है—शरीर मे मलयगिरि की सुगन्ध आती है और उसको चारो ओर से नागनियो ने छा लिया है।' कवि उत्प्रेक्षाओ के सहारे सौन्दर्य के प्रभाव की व्यजना भी करता है—'बादल घुमड कर छा गए—और ससार पर उसकी छाया पड गई। आश्चर्य ! इसके समक्ष चन्द्र की शरण राहु ले रहा है। प्रकाशमान सौन्दर्य के सामने सूर्य की कला छिप गई। नक्षत्रमालिका को लेकर चन्द्रमा उदित हुआ है। उसको देखकर चकोर अपने को भूल उसकी ओर एकाग्र हो गया।' उपमानो की रूप-कल्पना के बाद कवि प्रकृति को प्रत्यक्ष आनन्दोल्लास मे मग्न देखता है—

सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहि लेइ।
पॉव छुवै मकु पावौं, एहि मिसि लहरहि देइ॥

प्रकृति के उल्लास को कवि और भी व्यक्त करता है। अनन्त सौन्दर्य के सामने जैसे प्रकृति-सौन्दर्य चचल और विमुग्ध हो उठता है। यहाँ चकई के रूप मे प्रकृति ही मुग्ध और चकित है।[1] इस प्रकार का चित्र उसमान ने 'सरोवर खड' मे उपस्थित किया है। उसमे सकेतात्मक रेखाओ से प्रकृति-सौन्दर्य के प्रभाव के साथ मुग्ध भाव भी सन्निहित है। चित्रावली अपनी सखियो के साथ सरोवर मे प्रवेश करती है—'सभी कुमारियाँ स्वर्ण वल्लरियो के रूप मे फैल गईं, मानो कमलिनियाँ तोड कर जल मे डाल दी गई हैं। वे मानो चन्द्रमा के साथ स्वर्ग की तारिकाएँ है और वे नभ मे क्रीडा करती हुई सुशोभित हैं। हस उनकी शोभा को देख सरोवर छोडकर चले गए। कच रूपी विषधर ने सरोवर को डस लिया है, उस विष को उतारने की जडी तो मन्त्र जानने वाले के पास है। उस चित्रावली के नखशिख स उठने वाली सौन्दर्य की लहर सरोवर के समस्त विस्तार मे फैल गई है।[2] यहाँ प्रकृति आध्यात्मिक सौन्दर्य से मुग्ध ही नही वरन् विमोहित हो उठी है। नूर मोहम्मद ने 'नहान-खड' मे इसी प्रकार की व्यजना की है, परन्तु उनकी प्रवृत्ति उपदेशात्मक अधिक है। इस सौन्दर्य की कल्पना के साथ प्रकृति

---

[1] ग्रन्था०, जायसी, पद्०, ४ मानसरोवर खण्ड, दो० ४—५।

"सरवर नहि समाइ ससारा। चाद नहाइ पैठ लेइ तारा।
धनि सो नार ससि तरइ ऊई। अब कित दाट कमल औ कुई।
चकइ बिछुरि पुकारै, कहा मिलौं हो नाह।
एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल माह॥"

[2] चित्रा०, उस०, १० सरोवर खण्ड, दो० १०८।

मे मुग्ध होने का भाव तो है, पर उल्लास की भावना अधिक व्यक्त नही है—'इन्द्रावती ने अपनी केश-राशि मुक्त कर दी, उस समय मेघ की घटा मे चन्द्रमा जैसे प्रकाशित हो उठा। जब रानी ने जल मे प्रवेश किया, जल चन्द्रमा के प्रकाश से उद्भासित हो गया। उसको धारण कर सरोवर आकाश के समान था जिसमे कुमारी चन्द्रमा के समान सुशोभित हुई। इस प्रकार आकाश मे सूर्य और जल मे चन्द्रमा उदित है और कमल तथा कुमुद दोनो पुष्पित हैं, क्योंकि दोनो के प्रिय उनके पास हैं।''[1]

नख-शिख योजना : वैभव और सम्मोहन—*सूफी साधको ने इन सांकेतिक रूप*-चित्रो के अतिरिक्त नखशिख के विस्तृत वर्णन भी किए हैं। इन शरीर के अग-प्रत्यगो के वर्णनो मे प्रेमी कवियो ने किसी प्रकार का आकार या व्यक्तिगत रूप उपस्थित करने का प्रयास नहीं किया है। वरन् पिछले जिन सौन्दर्य-चित्रो का उल्लेख किया गया है, उनमे सौन्दर्य की व्यापक व्यजना रहती है। लेकिन नख-शिख के रूप मे सौन्दर्य की कोई भी कल्पना प्रत्यक्ष नही हो पाती। इनमे एक ओर प्रकृति-उपमानो की योजना से आध्यात्मिक वैभव प्रकट होता है और दूसरी ओर उस का आकर्पण तथा सम्मोहन व्यक्त होता है। वस्तुतः नख-शिख वर्णन ऐसी स्थिति मे किए गए है, जब किसीपर रूप का आकर्पण डालना है। इन समस्त प्रेमाख्यानो मे नख-शिख वर्णनो की दो परम्पराएँ है। सूफी भाव-धारा से प्रभावित काव्यो मे नख-शिख वर्णन आध्यात्मिक रूप के आकर्पण और उसकी सम्मोहक शक्ति की व्यजना को लेकर चलता है। *इनमे जायसी का अनुसरण अधिक है। यह बात 'चित्रावली,'* 'इन्द्रावती' तथा 'युसुफ जुलेखा' के वर्णनो से प्रत्यक्ष है। दूसरी परम्परा मे स्वतन्त्र *प्रेमी कवि हैं जिन्होंने प्रेम के आलम्बन-रूप मे नख-शिख का वर्णन किया, इनमे* 'नल-दमन काव्य' 'पुहुपावती', 'माधवानल कामकदला' तथा 'विरहवारीश' आदि का नाम *लिया जा सकता है।* रूप-सौन्दर्य के लिए इन दोनो परम्पराओ ने प्रकृति उपमानो का प्रयोग एक ही प्रवृत्ति के अनुसरण पर किया है, इसलिए इनमे विशेष भेद नही जान पडता। परन्तु स्वतन्त्र कवियो मे व्यापक प्रभावो को व्यजित करने की भावना बहुत कम है, साथ ही रीति-काव्य के प्रभाव मे चमत्कार उनकी प्रवृत्ति भी है। सूफी कवियो मे आध्यात्मिक व्यजना को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख कवि जायसी हैं। अन्य कवियो मे अनुसरण अधिक है। 'युसुफ जुलेखा' के कवि निसार मे यह अनुकरण सब से अधिक है।

जायसी की नख-शिख कल्पना—(क) जायसी ने नख-शिख के रूप मे सौन्दर्य की जो कल्पना की है उसमे प्रकृति-उपमानों की योजना के माध्यम से उस अलौकिक रूप के ऐश्वर्य तथा सम्मोहन के साथ उसके आकर्पण का उल्लेख भी है।—'वेणी के

१. इन्द्रा०; नूर० ; १२ नहान-खण्ड: दो० १।

खुलने से स्वर्ग और पाताल दोनों में अंधेरा छा जाता है और अष्टकुल नागों का समूह इन्हीं केशों में उलझा हुआ है। ये केश मानों मलयागिरि पर सर्प लगे हैं।' उसमान ने भी केशों की समानान्तर कल्पना की है—

प्रथमहिं कहौं केस की सोभा। पन्नग जनो मलयागिरि लोभा।
दीरघ विमल पीठि पर परे। लहर लेहिं विषधर विषभरे॥[1]

रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए दुखहरन दास भी केशों का वर्णन इसी प्रकार करते हैं। सौन्दर्य की व्यंजना इनका प्रमुख उद्देश्य है, परन्तु व्यापक प्रभाव का उल्लेख भी मिलता है—

कारे सघन रही जौ राटा। रैन अमावसी पावस घटा।
परही छुटी जो कबहु केसा। रवी छपाइ होई घनी सुपेखा॥[2]

इसी प्रकार जायसी माँग को 'दीपक मानते है जिससे रात्रि मे भी मार्ग प्रकाशित हो जाता है। मानो कसौटी पर खरे सोने की लकीर बनी हो या घने बादलो मे विद्युत की रेखा खिची हुई हो।"......और मस्तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान है उसका प्रकाश तो संसार मे व्याप्त है—सहस्र-किरण भी उसके सामने छिप जाता है।...भौंह तो मानों काल का धनुष है, यह तो वही धनुष है जिससे संहार होता है।...आकाश का इन्द्र-धनुष तो उसीकी लज्जा से छिप जाता है।......और नेत्र, वे तो मानो दो मानसरोवर लहरा रहे है। वे उछल कर आकाश मे लगना चाहते है। पवन झकोरा देकर हिलोर देता है और उसे कभी पृथ्वी और कभी स्वर्ग ले आता है। नेत्रों के फिरते ही ससार चलायमान हो जाता है। जब वे फिर जाते हैं तो गगन भी निलय होने लगता है।......बरूनी, वे तो बाण हैं जिनसे आकाश का नक्षत्र-मडल बेधा हुआ है।......और नासिका उसकी शोभा को कोई भी नही पाता; ये पुष्प इसीलिए तो सुगन्धित है कि वह उनको अपने पास करले। हे राजा, वे अधर तो ऐसे अमृतमय हैं कि सभी उनकी लालसा करते है, सुरग बिम्बा तो लज्जावश वनो मे जाकर फलता है। उसके हँसते ही ससार प्रकाशित हो उठता है—ये कमल किसके लिए विकसित हैं और इनका रस कौन भ्रमर लेगा? ....दांतों की प्रकाश किरणों से रवि, शशि प्रकाशमान है और रत्न माणिक्य और मोती भी उसीकी आभा से उज्ज्वल है। स्वभावतः जहाँ वह हँस देती है, वहाँ ज्योति छिटककर फैल जाती है।......जिह्वा से अमृत-वाणी निकलती है जो कोकिल और चातक के स्वर को भी छीन लेती है। वह उस वसत के बिना नही मिलता जिसमे लज्जावश चातक और कोकिल मौन होकर छिप जाते हैं। इस शब्द को जो सुनता है वह माता होकर घूम उठता है।......कपोल

१. चित्रा०; उस० ; १३ परेवा-खण्ड, दो० १७७।
२. पुहु०; दुख० ; सिंगार-खण्ड से।

पर तिल देखकर लगता है आकाश में ध्रुव स्थित है, आकाश रूपी सौन्दर्य उस पर मुग्ध होकर डूबता उतराता है पर तिल को दृष्टि-पथ से ओझल नहीं होने देता।...... कानों में कुंडलों की शोभा ऐसी भासित होती है, मानों दोनों ओर चांद और सूर्य चमकते हैं और नक्षत्रों से पूरित हैं जो देखे नहीं जाते। मोतियों से जड़ी हुई तरकी पर जब वह आंचल बार बार डालती है तो दोनों ओर जैसे विद्युत कांप-कांप उठती है। ...और उस सौन्दर्य की सेवा जैसे दोनों कानों में लगे हुए नक्षत्र करते हैं; सूर्य और चन्द्र जिसकी परिचर्या में हों ऐसा और कौन है? उसकी ग्रीवा के सौन्दर्य से हार कर ही तो मयूर और तमचुर प्रात संध्या पुकारा करते हैं।......उसकी भुजाओं की उपमा पद्मनाल नहीं है, इसी चिंता में वह क्षीण होता जाता है, उसका शरीर कांटों से विंध गया है और उद्विग्न होकर यह नित्य सांस लेता है।—और उसकी वेणी! मानो कमल को सर्प ने मुख में धारण कर लिया है और उस पर खंजन बैठे हैं।'' उसकी कटि से हारकर सिंह वनवासी हो गया और इसी क्रोध में मनुष्य को खाता है।''' जिसके नाभि कुंड से मलय-समीर प्रवाहित है, और जो समुद्र के भँवर के समान चक्कर लगाती है। इस भँवर में कितने लोग चक्कर खा गए और मार्ग को पूरा न करके स्वर्ग को चले गए।"[1] इस समस्त वर्णन में प्रकृति का प्रयोग जैसा पहले ही संकेत किया गया है, दो प्रकार से हुआ है। पहले तो सौन्दर्य के ऐश्वर्य तथा प्रभाव को दिखाने के लिए उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं आदि में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की प्रकृति-योजना में व्यापक सौन्दर्य और उसके व्यापक प्रभाव की अभिव्यक्ति हो सकी है। इन आलंकारिक प्रयोगों को प्रकृति-रूपों में इस लिए माना गया है कि यहाँ अलंकारों का प्रयोग व्यंग्यार्थ में हुआ है। कवि का मुख्य अर्थ इन चित्रों के माध्यम से व्यंजना करना ही है। दूसरे इस सौन्दर्य का प्रकृति पर प्रभाव अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि के माध्यम से प्रकट किया गया है। कभी-कभी सौन्दर्य योजना प्रकृति के माध्यम से की गई है, पर उसका प्रभाव मानव हृदय पर प्रतिघटित किया गया है। इस प्रकार नख शिख वर्णन में प्रसंग चाहे प्रकृति

---

१. प्रथा०, जायसी०, प०, १० नख-शिख-वर्णन-खंड। इसी प्रकार का वर्णन, ४० 'पद्मावती रूप वर्णन-खंड' में भी है जिसमें प्रभाव-वर्णन अधिक है—

"माँग जो मानिक सेंदुर रेखा। जनु बसंत राता जग देखा।
भोर साँझ रवि होइ जो राता। ओहि रेख राती होइ गाता।"

राघव चेतन के वर्णन का यह प्रवृत्ति है कि उसमें सौन्दर्य का प्रभाव अधिक दिखाने का प्रयास किया गया है जब कि हीरामनि ने प्रकृति पर अधिक प्रभाव दिखाया है। राघव चेतन मानव के प्रभाव के लिए प्रकृति से अवश्य उपेक्षा देता है—

"बिरवा सूख पात जस नीरू। सुनत बैन तस पलुह सरीरू।
बोल सेवाति बूंद जनु परहीं। स्रवन-सीप-मुख मोती भरहीं।"

के माध्यम से रूप और सौन्दर्य की योजना की दृष्टि से हो, अथवा प्रकृति उपमानो के माध्यम से उस सौन्दर्य की प्रभावशीलता के विचार से हो, आध्यात्मिक सौन्दर्य और प्रेम की व्यजना को लेकर ही चलते हैं।

अन्य कवि और नख-शिख—(ख) अन्य कवियो मे यही भावना मिलती है, केवल अपनी प्रतिभा के अनुसार उनको सफलता मिल सकी है। परन्तु उनपर जायसी का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। माँग का उल्लेख करते हुए उसमान कहते हैं—

सूर किरन करि बालहि धारा। स्याम रैनि कीन्हीं दुई पारा।
पथ प्रकास विकट जग जाना। कोन आइ योहि पथ भुलाना।

इस 'माँग' के सौन्दर्य को प्राप्त करना कठिन है, और फिर—

बेनी सीस मलयगिरि सीसा। माँग मोति मनि मार्यें सीसा।
सूर समान कीन्ह विधि दीया। देखि तिमिर कर फाट्यो हीया।
स्याम रैनि मँह दीप सम, जेंहि अँजोर जग होइ।
अछत भुअँगम माँहि बसि, दिया मलीन न होइ॥

इस प्रकार सौन्दर्य की भावना प्रकृति मे व्यापक प्रभाव के रूप मे प्रकट हो रही है। आगे उसमान जायसी का अनुसरण करते हैं—'मस्तक द्वितीया का चन्द्र है, जग उसी की वन्दना करता है, उसकी समता कौन करेगा, द्वितीया मे ही पूर्णिमा की ज्योति भासमान है। वह ललाट जैसे भाग्य से पूर्ण दीपक हो, जिससे तीनो लोक प्रकाशमान हैं।' यह सौन्दर्य प्रकाशमान ही नही वरन् वन्दनीय भी है। कभी कभी परवर्ती कवियो ने किसी वर्णन मे केवल सौन्दर्य के आधार पर प्रकृति उपमानो की योजना से आध्यात्मिक सत्य का सकेत दिया है। निसार ने अधिकतर तो जायसी का अनुसरण किया है। परन्तु कही कही उन्होने ऐसा चित्र उपस्थित किया है जिसमें केवल सौन्दर्य की व्यापकता है—

।सुरसरि जमुना बिच देखा।
औ ता महँ गूँथे गज मोती। राहु केतु महँ नखत के जोती।
दुओ दस घन बाहर जस छावा। मध्य कौंध चमकै दिखरावा।
दामिन अस मह माँग सोहाई। केस घमड घटा जस छाई।'

भौंहों को लेकर उसमान ने भी धनुष की उत्प्रेक्षा दी है और उसका प्रभाव भी व्यापक बताया है—'यह तो वक्र है, मानो धनुष ताना गया है। इन्द्र का धनुष तो उसको देखकर लज्जित हो जाता है। यह तो मानो ससार के लिए काल हो, जो रात-दिन

---

१. युसुफ और जुलेखा, निसार, जुलेखा-बरनन खण्ड।

चढ़ा रहता है। इस धनुष ने युद्ध में कामदेव को पराजित किया है।' और नेत्र अपने सौन्दर्य में—'लाल कमल में जैसे मधुप बंद हो। कहते लज्जा आती है, वह उनके सौन्दर्य की बराबरी में कहाँ! कमल तो चन्द्रमा को देखकर कुम्हला जाते हैं; और वे शशि के साथ भी प्रफुल्लित रहते हैं।' इसके साथ ही कवि उत्प्रेक्षा से उसके प्रभाव का संकेत देता है—

दोउ समुद्र जनु उठहि हिलोरा। पल मह चहत जगत सब बोरा।

दुखहरन दास ने सूफी आध्यात्मिक व्यंजना का आश्रय नहीं लिया है, परन्तु वे प्रेम की महिमा के साथ सौन्दर्य की व्यापकता का उल्लेख करते हैं—'इन नेत्रों का सौन्दर्य तो ऐसा है, लगता है दोनों नेत्र दो समुद्र हैं जो हिलोर ले रहे हैं, जिसके प्रसार में पृथ्वी, आकाश और सारा विश्व डूबता जा रहा है।' कवि इस सौन्दर्य की कल्पना इस प्रकार पूरी करता है—

*कैंदहु चंद सुरज दोउ, साजि धरो करतार।*
*मूदे जग अंधियार होइ, खोलत सम उँजियार॥*[1]

आगे उसमान परम्परा के अनुसार वर्णन करते हैं—'कपोल पर तिल इस प्रकार शोभा देता है, मानो मधुकर पुष्प पर मोहित हो रहा है। यदि यह तिल न होता तो प्रकाशहीन स्थिति में कोई किसी को पहिचानता भी नहीं, उसी एक तिल की परछाहीं से सबके नेत्रों में प्रकाश है।...कवि नासिका को फूल के समान कहते हैं पर पुष्प तो इसी लज्जा से पृथ्वी पर च्युत हो जाता है।' और अधर! उनके सामने विद्रुम तो कठोर और फीके हैं, वे तो सजीव, कोमल, रंगमय तथा हृदय को कष्ट देनेवाले हैं ''बिंबा उसकी तुलना क्या करेगा, वह तो लज्जा से वन में जा छिपा है।...उसके मुख-चन्द्र में संसार प्रकाशमान् है, और अमृत तुल्य अधर प्राणदान करता है।' आधिभौतिक प्रकृति चित्रों की योजना से उसमान ने दाँतों की कल्पना में आध्यात्मिक संकेत दिए हैं—'देवताओं ने चद्रमा में क्यारियाँ बनाई हैं, और अमृत सानकर बारी को ठीक किया है। उसमें दाड़िम के बीज लगाए हैं जिनकी रखवाली काले नाग करते हैं। वे रात-दिन उसके पास रहते हैं, नहीं तो शुक, पिक या खंजन उनको चुन लें।' कवि सौन्दर्य की इस अतिप्राकृत कल्पना के साथ व्यापक प्रभाव का उल्लेख भी करता है—

इक दिन विहँसो रहसि कै, जोति गई जग छाइ।
अब हूँ सौंरत वह चमक, चौंधि चौंधि जिय जाइ॥

'नल दमन काव्य' में 'दसन' को लेकर सौन्दर्य और प्रभाव संबन्धी उत्प्रेक्षाएं की गई हैं। सौन्दर्य को लेकर, प्रकृति के माध्यम से उसके व्यापक प्रभाव की बात कहना इन

१. पुहु०, दुख०, सिंगार-ना० ।

कवियों का उद्देश्य है—'दाँत जैसे हीरा छील कर गढ़े गए हों । बोलते ही संसार में प्रकाश हो जाता है, लगता है जैसे रात्रि में कौंधा चमक गया हो, और जो वह हँस कर बोलती है वही चंचल होकर चपला के रूप में चमक उठता है । इसीसे आगे कवि उत्प्रेक्षा द्वारा प्रकृति पर प्रतिबिम्बित सौन्दर्य की व्यंजना करता है,—

देख दसन दुति रतन दुर, पाहन रहे समाइ ।
तिनहिं लाज चपला मनौं, निकसत औ छिपि जाइ ॥[1]

रसना को लेकर सभी कवियों ने वाणी का उल्लेख किया है, पर उसमें प्रभाव की बात विशेष है । उसमान ने उसे सौन्दर्य रूप देने का प्रयास भी किया है,—

जेहि भीतर रसना रस भरी । कौंल पाँखुरी अमिरित भरी ।
दसन पाँति महँ रही छिपानी । बोलत सो जनु अमिरित बानी ॥
उकतिन बोलत रतन अमोली । आंब चढ़ी जनु कोइल बोली ।

परन्तु इसमें अमृत्व तथा जिलाने की बात ही अधिक महत्वपूर्ण हो उठी है —

त्यों त्यों रसन जिआवई, ज्यों ज्यों मारहिं नैन ।

वाणी के प्रसंग में 'नल दमन काव्य' में प्रकृति को लेकर अधिक व्यंजक उक्तियाँ हैं— 'वाणी की मधुर रसज्ञता को प्राप्त करने के लिए मृग नेत्र के रूप में आये हैं । पिकी लज्जित होकर काली हो गई, और उसने नगर को छोड़कर वन में विश्राम लिया है', और—

स्वाँत बुंद तिय बैन सुन, चातक मिटी पियास ।
सुतन सीप होइ उतरी, दुहौं फूल तिन्ह आस ।

इसी प्रकार उसमान चिबुक को 'अमृत तुल्य मानते हैं और उसे कूप के समान कहते हैं, जिसमें पड़कर मन डूबता उतराता है ।' कान और उसमें पहिनी हुई तरकी का वर्णन भी इन्हीं सौन्दर्य उपमानों के आधार पर व्यापक आकर्षण को लेकर हुआ है,—

निसि दिन मुकता इहै गुनाहीं । खंजन झाँकि-झाँकि जिमि जाहीं ।
कंचन खुटिला जान बखाना । गुरु सिष देइ लाग ससिकाना ।

आगे इसी भाव-धारा में कवि वर्णन करता जाता है—'नाचते हुए मोर ने ग्रीवा की समता की, और इसी कारण वह सिर धुनकर रो उठा । शंख भी उसकी समता नहीं कर सका और वह प्रात संध्या चिल्ला उठता है । "गले में सुन्दर हँसुली है, उसकी समानता चन्द्रमा और सूर्य भी नहीं कर पाते, इसी लिए व राहु की शंका से छिप जाते हैं । और भुजाएँ कमल नाल हैं जिनके हृदय में छिद्र है ।' कुच का वर्णन जायसी के

---

१ नल०, सिंगार-वरणन ।
२ वही०, वही० ।

समान उसमान ने भी सौन्दर्य मे प्रभाव उत्पन्न करके उपस्थित किया है—'बारीक वस्त्र मे इस प्रकार झलकते हैं, मानो अन्दर दो कमल की कलियाँ हों, मुक्ताहलों के बीच मे उनकी शोभा इस प्रकार की है, मानो चक्रवाक का जोडा बिछुड गया हो।' और उनका प्रभाव तो ऐसा है—

होइ भिखारी सब चर्हाह, जाइ पसारन हाथ।

और 'नाभि तो सिंधु मे भँवर के समान है, जिसमे गिरकर फिर निकलना नही होता; खिलती हुई कली सुशोभित हो, और जिसकी गंध आज भी भ्रमर ने प्राप्त न की हो। क्षीर सिन्धु से जब मथानी निकाली गई, तो वह जहाँ पहले खडी थी, वही भँवर यह नाभि है—जो उस नाभि कुंड मे पड जाय वह बाहर निकल नही सकता। गमन करते समय जघा की शोभा ऐसी है कि गज और हस का मद दूर हो जाता है। गज लज्जित होकर शीश धुनता है, और हस मानसरोवर डूबने चले गए हैं।'' इस प्रकार इन सूफी कवियो तथा एक सीमा तक स्वतन्त्र कवियो ने भी प्रकृति उपमानो के द्वारा अलौकिक ऐश्वर्य और प्रभाव का वर्णन किया है। और साथ ही यह सौन्दर्य प्रकृति पर प्रतिबिम्बित होकर उसे मुग्ध और विमोहित करता है। यह समस्त सौन्दर्य इनके आध्यात्मिक प्रेम का आलम्बन है। इस आध्यात्मिक भावना के क्षेत्र म प्रकृति के लिए अतिप्राकृत हो उठना स्वाभाविक है, यह सतो के विषय मे हम देख चुके है। उन्होंने व्यक्त रूप से लौकिक आश्रय नही लिया था। परन्तु सूफी प्रेमियो का लौकिक आधार प्रत्यक्ष है, और यही कारण है कि इनकी अलौकिक कल्पना नख-शिख की सीमाओ मे आने का प्रयास करती है।

**प्रकृति और पात्र**—हिन्दी मध्ययुग ने सूफी तथा अन्य प्रेमी कवियो ने लोक-प्रचलित परम्पराओ से बहुत कुछ ग्रहण किया है। इनमे से एक परम्परा प्रेमाख्यानो मे प्रकृति-पात्रो को ग्रहण करने की है। इन कवियोने इनको आध्यात्मिक प्रतीक के अर्थ मे लिया है। जायसी का सुआ गुरु के समान है, वह आध्यात्मिक साधना का सहायक है, पर वह स्वय पद्मावती को अपना गुरु (आराध्य) कहता है। इसी प्रकार अन्य काव्यो म अति-प्राकृत पात्रों का उल्लेख है। 'चित्रावली' मे देव राजकुमार को चित्रसारी ले जाता है। फिर इसम हाथी, पक्षी आदि का भी अतिप्राकृत के रूप मे उल्लेख है। इस प्रकार इन्होने लौकिक परम्परा को आध्यात्मिक व्यजना के लिए प्रयुक्त किया है। यह इनकी व्यापक प्रवृत्ति भी है। इन्होंने रूपकातिशयोक्ति से परिस्थिति के अनुकूल प्रकृति-पात्रो से आध्यात्मिक वातावरण प्रस्तुत किया है। इन वर्णनो म पात्रो के नाम के स्थान पर कवि प्रकृति-रूपो का प्रयोग करता है। इस प्रकार के उपमानों के प्रयोग से स्थितियो और भावो पर आध्यात्मिक प्रकाश आ जाता है। एस प्रयोग सभी कवियो

---

१ चित्रा०, उस०, १३ परवा-खड मे ममस्त नख शिख का प्रसग है।

के काव्य में फैले हुए हैं। 'मानसरोवर-खंड' में जायसी पद्मावती के साथ सखियों की कल्पना एक बार 'जनु फुलवारि सबै चलि आई' के रूप में कर लेते हैं, और आगे चित्र को प्रकृति उपमानों के रूप में पूरा करके आध्यात्मिक वातावरण प्रस्तुत करते हैं—

कोई चंपा कोई कुंद सहेली। कोइ सुकेत करना रस बेली।
कोई कूजा सद वर्ग चमेली। कोई कदम सुरस रस बेली।
चली सबै मालति संग, फूलों कँवल कुमोद।
बेधि रहे गन गधरब, बास परमदामोद॥[1]

इसी प्रकार की व्यंजना अन्यत्र सखियाँ पद्मावती को सम्बोधित करने में सन्निहित करती हैं—'हे पद्मिनी तू कँवल की कली है, अब तो रात्रि व्यतीत हो गई प्रात हुआ, तू अब भी अपनी पखडियों को नहीं खोलती जब सूर्य उदित हो गया है।' इस पर 'भानु का नाम सुनते ही कमल विकसित हो गया, भ्रमर ने फिर से मधुर गंध ग्रहण की।'[2] आगे अन्योक्ति या समासोक्ति के द्वारा कवि प्रेम और आध्यात्मिक व्यंजना को एक साथ उपस्थित करता है—'भ्रमर यदि कमल को प्राप्त करे, तो यह उसकी बडी मानना और आशा है। भ्रमर अपने को उत्सर्ग करता है, और कमल हँसकर सुगन्ध दान देता है।'[3] इसमें भ्रमर और कमल के आश्रय से एक ओर पद्मावती और रतनसेन का और दूसरी ओर साधक तथा उसकी प्रेमिका का उल्लेख है। इसी प्रकार के प्रयोग उसमान भी स्थान-स्थान करते हैं—'ससि समीप कुमुदिन मुँह खोला' या इसी खंड में आगे सखियों का फुलवारी के रूप में कवि वर्णन करता है—

खेलत सब निसरीं जेहि ओरी। होत बसंत आव तेहि ओरी।
मधुकर फिरहिं पुहुप जनु फूले। देखता देखि रूप सब भूले।[4]

इसी प्रकार एक भाव स्थिति का रूप प्रकृति उपमानों के आश्रय से उपस्थित किया गया है—

सुनि कै कौंल विकल होइ गई। मानहुँ साँझ उदय ससि भई।
मधुकर भँवै कंज ब रागा। कंजक मन सूरज सों लागा।[5]

इसमें प्रेम की व्यंजना के माध्यम से आध्यात्मिक सीमा का संकेत है।

**प्रकृति उपमानों से व्यंजना**—प्रेमी कवियों की व्यापक प्रवृत्ति है कि वे अपने

---

१ ग्रथा०, जायसी०, पद०, ४ मानसरोवर खंड, दो० १।
२ वही वही, २४ गधर्वसेन मन्त्री खंड, दो० १२।
३ वही, वही, २७ पद्मावती-रतनसेन भेंट खंड, दो० १६।
४ चित्रा०, उस०, चित्रावली-जागरण-खंड, दो० ११७।
५ वही, वही २७ सोहित खंड दो० ३८६।

आलंकारिक प्रयोगों में प्रकृति उपमानों की योजना से प्रेम, सत्य आदि के आध्यात्मिक संकेत देते हैं। इनकी विस्तार में विवेचना करना न सम्भव है और न आवश्यक ही। इन उपमानों के माध्यम से रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा अन्योक्ति आदि में प्रेम यौवन आदि की व्यंजना की गई है। जायसी प्रेम की तीव्रता का उल्लेख करते हैं—

सरग सीस धर धरती, हिया सो पेम समुद।
नैन कौडिया होइ रहे, लेइ लेइ उठहि सो बुद।[1]

फिर अन्यत्र इसी प्रेम को सरोवर, कमल, सूर्य, आदि की कल्पना में व्यंजित करते हैं। इसमें लुप्तोपमा के द्वारा जो रूपकातिशयोक्ति उपस्थित की गई है, उससे व्यंजना का सौन्दर्य बढ़ गया है।[2] प्रेम की आध्यात्मिक स्थिति, यौवन की विकलता को कवि ने समुद्र की गम्भीरता के माध्यम से व्यक्त किया है।[3] इस प्रकार की प्रेम और विरह आदि सम्बन्धी व्यंजनाएँ लगभग सभी कवियों ने प्रकृति उपमानों के माध्यम से की है। उसमान प्रेम की व्याकुलता को सूर्य, कमल और भ्रमर के माध्यम से व्यक्त करते हैं—

सोई सविता बाहरें, रहेउ कौंल कुम्हिलाइ।
भोर भौंर तन प्रान भा, निकसै कहँ अकुलाइ॥

और विरह की व्यापकता को इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

विरह समुद्र अथाह देखावा। औधि तीर कहुँ दृष्टि न आवा।
सुरति समिरन लहरं लेई। बूडत कोऊ न धीरज देई।[4]

नूर मोहम्मद ने कमल के प्रतीकार्थ से स्वप्न में आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की है—

कमल एक लागा जल माहीं। आधा बिकुसा आधा नाहीं।
मधुकर एक आइ रस लीन्हा। लै रसबास गवन पुनि कीन्हा।[5]

इन कवियों के आलंकारिक प्रयोग कमल, सूर्य, भ्रमर, चातक, चकोर चन्द्रमा, सागर, सरोवर तथा आकाश आदि को लेकर व्यंजक हो उठते हैं। समासोक्ति के द्वारा 'नल

---

१ ग्रंथा० जायसी पद० १३ राजा गजपति-संवाद दो० ४।
२ वही, वही, १६ सिंहलद्वार-वर्णन खण्ड दो० २—
"गगन सरोवर ससि कँवल, कुमुद-तराइन्ह पास।
तू रवि ऊआ भौंर होइ, पौन मिला लेइ बास॥"
३ वही, वही, १८ पद्मावती वियोग खण्ड दो० ६—
"परिउँ अथाह, थाह हौं नावन उदधि गँभीर।
तेहि चितवौं चारिहु दिस, को गहि लावै तीर॥"
४ चित्रा०, उस०, ४० हंस-खण्ड, दो० ५४६।
५. इन्द्रा० नूर० ५ पाग-खण्ड, दो० २१।

दमन काव्य' में मिलन को व्यक्त किया गया है,—

> मिला कँवल मधुकर कर जोरा। सेज सरोवर लीन्ह हिलोरा।
> भँवर समाइ कँवल मह रहे। कँवल सो सिमिट भँवर कह गहे।[1]

जीवन और जगत् का सत्य—साधना सम्बन्धी सत्यों के अतिरिक्त प्रेमी साधकों ने जीवन और जगत् के सत्यों का उल्लेख भी इसी प्रकार प्रकृति उपमानों की योजना से किया है। इन्होंने साधना के मार्ग की कठिनाइयों का जो वर्णन किया है, उसका उल्लेख अन्य प्रकरण में किया जायगा। यहाँ जीवन और सर्जन मे दिखाई देनेवाली क्षणिकता, परिवर्तनशीलता आदि को व्यक्त करनेवाले प्रयोगों को देखना है। प्रकृति सम्बन्धी इन दृष्टान्तों, रूपकों और समासोक्तियों मे भी व्यंजना आध्यात्मिक जीवन के प्रति ही की गई है। जीवन और उसके सम्बन्धों के विषय में उसमान कहते हैं—'यहाँ के लोग और यहाँ के सम्बन्ध—जिस प्रकार दिन बीतने पर अँधेरा छा जाता है, पक्षी वृक्षों पर आकर बसेरा लेते हैं। फिर दिन होने पर सूर्य प्रकाशित होता है, नेत्र-कमल फिर विकसित हो जाते हैं। रवि के प्रसाद से मार्ग सूझ जाता है, रात्रि का अंधकार मिट जाता है।—पक्षी वृक्ष की डाल छोड़कर जहाँ से आए थे चले जाते हैं।'[2] इसमें प्रकृति के दृष्टान्त से परिवर्तन और क्षणिकता तथा परम सत्य का संकेत किया गया है। सांसारिक प्रेम की क्षणिकता की ओर संकेत करता हुआ कवि लिखता है,—

> ना सो फूल न सो फुलवारी। दृष्टि परी सब बारी।
> ना वह भौंर जाहि रँग राती। विहरै लाग कौंल की छाती।[3]

पीछे कहा गया है कि नूर मोहम्मद में उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक है, इसलिए साधना विषयक उपदेशों में प्रकृति का आश्रय भी उन्होंने अधिक लिया है। प्रकृति के व्यापक विस्तार से कवि क्षणिकता और परिवर्तन का स्वरूप उपस्थित करता है—'तुम मरमी हो, चिन्ता कुछ नहीं है। यह तो नियम है अन्त में रंगमय पुष्प कुम्हला ही जाते हैं। फूल पहले दिन सुन्दर लगता है—दूसरे दिन उसका रंग फीका हो जाता है। पूर्ण चन्द्रमा जो इतना सुन्दर है—दिन-दिन घटता है। हे सभगे! और सब वृक्षों की ओर देखो—पत्ते लगते हैं और झरते भी हैं, जो वृक्ष की शाखा हरी-भरी है, उसमें पतझर होने वाला ही है।'[4] प्रकृति के माध्यम से कवि ने सांसारिक यौवन की

---

१ नल०, पृ० १०१।
२ चित्रा०, उस०, १४ उद्योग-खंड, दो० २१८।
३ वही, वही, २१ कुमीचर-खंड, दो० १४।
४ इन्द्रा० नूर०, ५ पाग-खंड, दो० १४।

क्षणिकता का उल्लेख किया है। 'फुलवारी खण्ड' मे प्रकृति-व्यापारो के द्वारा कवि पात्र के मुख से व्यजना कराता है—'धन्य है मधुकर और धन्य है पुष्प, जिसपर उसका मन भूला रहता है। ससार मे भ्रमर और पुष्प का प्रेम सराहनीय है। भ्रमर को पुष्प की चिन्ता है; और पुष्प अपनी गध तथा अपने रस का समर्पण उसे करता है।'[1] यहाँ प्रेम की आध्यात्मिक स्थिरता का उल्लेख किया गया है। पर क्षणिक और नश्वर सृष्टि के माध्यम से स्रष्टा का सकेत भी दिया गया है।

यह जग है फुलवारी, माली सिरजन हार।
एक एक सो सुन्दर, लावत ताहि मझार॥
जोरन यह जगती हम पाई। नितु एक आवं नितु एक जाई।
केतिक बरन के फूलन फूले। केतिक की लालस मन भूले।[2]

इस प्रकार प्रकृति उपमानो का यह आलकारिक प्रयोग साधना के मार्ग को परिष्कृत और स्पष्ट करने के लिए हुआ है।

---

१. वही, वही, ७ फुलवारी खण्ड दो० ५।
२. वही, वही, ७ फुलवारी-खण्ड दो० २५।

पंचम प्रकरण

# आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप—२

## भक्ति-भावना में प्रकृति-रूप

रूप की स्थापना—सगुणात्मक भक्ति मे ईश्वर की कल्पना पूर्ण गुणो मे की गई है और साथ ही अवतार के रूप मे ईश्वर का मानवीय व्यक्तीकरण हुआ है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म, जीव और प्रकृति तीनो सत्य हैं और अपनी सत्ता मे अलग होकर भी ब्रह्म मे जगत् सन्निविष्ट है। ब्रह्म (विशेष्य) का जीव और जगत् (विशेषणो) से अलग करके वर्णन नही किया जा सकता। ब्रह्म मे समस्त सर्जन का अन्तर्भाव हो रहा है। ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, पर वह ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नही है। वह तो सविशेष अर्थात् विशिष्ट है।[1] उनके अनुसार ब्रह्म पूर्ण व्यक्तित्व है और अन्य जीव अपूर्ण रूप से व्यक्ति हैं। व्यक्तित्व प्राप्त होने से उसमे पूर्ण गुणो की कल्पना सन्निहित है, जब कि जीव उन्ही गुणो की पूर्णता प्राप्त करने मे प्रयत्नशील है। वस्तुतः जैसा तीसरे प्रकरण के प्रारम्भ मे कहा गया है यह ब्रह्म के व्यक्तित्व के विकास का सामाजिक क्षेत्र है। इस व्यक्तित्व के सामाजिक गुणो, शक्ति, ज्ञान और प्रेम के अतिरिक्त भगवान् के व्यक्तित्व मे अवतारवाद के साथ रूपात्मक गुणो की कल्पना भी सन्निहित है। जब ब्रह्म भगवान् के रूप मे साधना का आश्रय होता है, उस समय सामाजिक भावो के रूप मे उस व्यक्तित्व से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। परन्तु इन भावो के लिए आलम्बन का रूप भी आवश्यक है। और इस रूप की कल्पना प्रकृति के सौन्दर्य के माध्यम से कवि करता है। प्रकृति के नाना रूपो से ही मानवीय सौन्दर्य रूपो की स्थिति है, और रूप की सौन्दर्य योजना मे भक्त कवि फिर इन्ही रूपो का आश्रय लेता है।[2] दार्शनिक दृष्टि से

१ इन्डियन फिलासफ़ी (भाग २), एस० राधाकृष्णन्, नवम प्रकरण, पृ० ६८३ ६।

२ प्रथम भाग के चतुर्थ प्रकरण में सौन्दर्यानुभूति और प्रकृति पर विचार किया गया है।

प्रकृति ईश्वर का निवास स्थान या शरीर मानी गई है। सगुण भक्ति के दास्य-भाव और *माधुर्य-भाव का आश्रय भगवान्* का जो व्यक्तित्व है, उसमे अपनी-अपनी सीमाओ के अनुसार चरित्र और रूप का आश्रय लिया गया है। हिन्दी सगुण भक्त कवियो ने प्रेम-भक्ति का आश्रय लिया है और यही कारण है कि उनके काव्य मे भगवान् के रूप-सौन्दर्य की स्थापना प्रमुखत मिलती है।

**प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना**—रूप-सौन्दर्य मे प्रकृति-रूपो की योजना पर विचार करने के पूर्व, प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना के सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक है। हम कह आए हैं, भारतीय भक्ति-युग के साहित्य मे भगवान् की प्रत्यक्ष भावना के कारण प्रकृतिवाद को स्थान नही मिल सका। वैदिक प्रकृतिवाद के बाद साहित्य मे उसकी स्थापना नहीं हो सकी। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि प्रकृति का सौन्दर्य-भाव आध्यात्मिक साधना का विषय नही बन सका। आगे की विवेचना मे हम देखेंगे, प्रकृति का राशि राशि विकीर्ण-सौन्दर्य भक्तो की भावना का आलम्बन हुआ है। पर यह समस्त सौन्दर्य उनके आराध्य के रूप निर्माण को लेकर ही है। पीछे के प्रकरणो मे प्रकृति की रूप-योजना का आध्यात्मिक रूप देखा गया है। पर उन साधको मे अपने उपास्य के आकार का आग्रह नही था। इस कारण उनकी सौन्दर्य योजना मे प्रकृति का रूप अरूप तथा अतिप्राकृत की ओर अधिक झुका हुआ है। लेकिन सगुण भक्तो की रूप साधना मे प्रकृति के सौन्दर्य का मूर्त रूप भी *प्रत्यक्ष होकर सामने आया है। फिर भी प्रकृतिवादी तथा वैष्णव* सौन्दर्योपासना मे एक प्रकार की अनुरूपता मिलती है, जो समानान्तर होकर भी प्रति-कूल दिशा मे चलती है। प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के फैले हुए सौन्दर्य के प्रति सचेष्ट और आकर्षित होकर उसकी क्रियाशीलता पर मुग्ध होता है। उसके माध्यम से किसी अज्ञात सत्ता की ओर वह अग्रसर होकर उसकी अनुभूति प्राप्त करता है। वैष्णव भक्त के लिए यही अज्ञात ज्ञात है, परिचित है। उसका साक्षात् उसे है। वह अपने आराध्य के व्यक्तित्व-आकार मे जिस सौन्दय का अनन्त दर्शन पाता है उसमे प्रकृति का सारा सौन्दर्य अपने आप प्रत्यक्ष हो उठता है। रूप सौन्दर्य की विवेचना मे हम देखेंगे कि उसके विभिन्न रूप प्रकृतिवादी भावना के समान स्थिर, सचेतन और सप्राण, अनन्त और अलौकिक रूपो से सम्बन्धित हैं। प्रकृतिवादी दृष्टि की तुलना रूप-सौन्दर्य तक ही नही सीमित है, वरन् प्रकृति चित्रण में प्रतिबिम्बित आह्लाद और उल्लास की भावना से भी की जा सकती है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी प्रकृति के सचेतन-सप्राण सौन्दर्य मे एक ऐसा सम प्राप्त करता है जो तर्क से परे होकर आन्तरिक आनन्द का कारण

बन जाता है।[1] इसीके विपरीत वैष्णव भक्त-कवि अपने आराध्य की प्रत्यक्ष सौन्दर्य भावना से ऐसा सम स्थापित करता है कि उस क्षण प्रकृति भी आनन्द भावना से उल्लसित हो उठती है।

**रूप मे शील और भक्ति**—सगुणात्मक भक्ति रूप की साधना है, उसमे भगवान् के व्यक्तित्व की स्थापना है। और व्यक्तित्व अपने मानवीय स्तर पर रूप को लेकर ही स्थिर है। वैष्णव कवि अपने आराध्य मे व्यक्तित्व को स्थापित करके चलता है और इस व्यक्तित्व का आलम्बन रूप है, जो भावात्मक साधना मे सौन्दर्य का ही अर्थ रखता है। इनमे दो प्रकार के भक्त व्यापक रूप से कहे जा सकते हैं। रूप-सौन्दर्य की भावना और स्थापना सभी कवियो मे पाई जाती है। परन्तु अपनी भक्ति के अनुरूप दास्यभाव की साधना करने वाले कवियो ने रूप के साथ भगवान् की शक्ति और उनके शील का समन्वय किया है। तुलसी और सूर के विनय के पदों से यह प्रत्यक्ष है। अपने आराध्य के रूप के साथ, तुलसी के सामने उनका शील, उनकी शक्ति भी है—'ससार के भयानक भय को दूर करने वाले कृपालु भगवान् रामचन्द्र का हे मन भजन कर! वे कितने सुन्दर हैं, कमल के समान लोचन हैं, कमल के समान मुख है, हाथ भी कमल के समान हैं और उनके पैर भी लाल कमल के समान हैं। उस नील नीरद के समान शरीर वाले की शोभा तो अनेक कामदेवो से भी अधिक है। जानकीनाथ के शरीर पर पीताबर तो मानो विद्युति छटा वाला है। ऐसे सौन्दर्य मूर्त्ति, सूर्य-वश मे श्रेष्ठ, दानव तथा दैत्यो के वश को नष्ट करने वाले शक्तिमान को, हे मन भज।'[2] इस पद मे तुलसी ने सौन्दर्य की कल्पना के साथ शक्ति का समन्वय भी किया है। 'विनयपत्रिका' मे राम के शील, उनकी करुणा आदि का अधिक उल्लेख है, रूप तो कही-कही झलक भर जाता है। इसी प्रकार सूर के विनय सम्बन्धी पदो मे भी रूप से अधिक भगवान् की करुणा, उदारता, शक्ति और शील की बात कही गई है। सूर विनय के प्रसग मे भगवान् के चरित्र का ही उल्लेख करते हैं—

—प्रभु को देखो एक सुभाई।
अति गभीर उदार उदधि हरि जान सिरोमनि राई।
तिनको सो अपने जनको गुण मानत मेरु समान।

---

१. हिन्दू मिस्टिसिज्म, महेन्द्रनाथ सरकार, प्रक० २—'फेज ऑव इमीडियेट इक्सपीरियन्स', पृ० ७—

"ऐसा प्रकृति का सप्राण अध्यात्म दृश्य (vision) रहस्यात्मक चेतना को स्पर्श करता है—जो तार्किक चेतना से भिन्न है। यह प्रकृतिवादी रहस्यवाद कहा जा सकता है और काव्यात्मक सौन्दर्य तथा माधुर्य के समान है। द्रष्टा सचेतन सप्राण प्रकृति का सत्य के दर्पण के समान अनुभव करता है। प्रकृति चेतन-शक्ति से स्थानान्तारित न होकर उसी से आपूरित हो जाती है।"

२. विनय०; तुलसी, पद ४५।

सकुचि समुद्र गनत अपराधहि बद समान भगवान।
बदन प्रसन्न कमल ज्यों सन्मुख देखत हौं हौ जैसे।[1]

इस पद मे सूर अपने आराध्य के मुख कमल के सौन्दर्य को प्रत्यक्ष सम्मुख देखते हुए भी उनके शील पर अधिक मुग्ध हैं। इस प्रसग मे यदि रूप की कल्पना होती भी है तो वह शक्ति और शील का स्मरण दिलाती है—'चरण कमलो की वन्दना करता हूँ। कमलदल के आकार वाले नेत्र हैं जिससे ऐसे सुन्दर श्याम की त्रिभगी सुन्दर छवि प्राणो को प्यारी है। जिन कमल-चरणो ने इतनो को तारा है, वे क्या सूरदास के त्रिविध ताप नही हरेंगे।'[2] परन्तु दास्य भक्ति के अतिरिक्त भक्ति साधना के अन्य रूपो मे भगवान् के व्यक्तित्व मे सौन्दर्य की योजना प्रमुख है।

**रूप-सौन्दर्य**—माधुर्य भाव के आलम्बन रूप मे भगवान् की कल्पना सौन्दर्यमयी होना स्वाभाविक है। यह सौन्दर्य कल्पना प्रकृति मे अपना रूप भरती है। प्रकृति के अनत रग-रूप, उसकी सहस्र-सहस्र स्थितियाँ उपमानो की आलकारिक योजना मे रूप को सौन्दर्य दान करती हैं। सौन्दर्य-चित्रण मे प्रयुक्त उपमानो की विवेचना अलकारो के अन्तर्गत की जा सकती है। परन्तु आध्यात्मिक सौन्दर्य की इस कल्पना मे भगवान् का रूप केवल अलकार का विषय न होकर साधना का आलम्बन है। भक्त कवि अपने आराध्य के रूप को अनेक अवस्था, स्थिति तथा परिस्थितियो मे रखकर देखता है और उस चिर नवीन रूप की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करता है। वह उस सौन्दर्य को व्यक्त करके भी व्यक्त नही कर पाता और स्वय मुग्ध मौन हो उठता है। मध्ययुग के उत्तर रीति काल मे सौन्दर्य कल्पना का आलम्बन तो यही रहा, पर साधन का मुग्ध भाव नही मिलता। भक्त कवियो ने कृष्ण के रूप का वर्णन विभिन्न अवस्थाओ और स्थितियो में किया है। साथ ही उनके रूप-सौन्दर्य को विभिन्न छायातपो मे भी उपस्थित किया गया है। सूर रूप-सौन्दर्य के वर्णन मे अद्वितीय हैं। एक ही स्थिति को अनेक प्रकाशो से उद्भासित करने की प्रतिभा सूर मे ही है। तुलसीदास ने 'गीतावली' मे इसी शैली को एक सीमा तक अपनाया है।

**रूप मे आकार और व्यक्तित्व**—सतो और प्रेमी-साधको के विषय मे कहा गया है कि उनके सामने जो रूप था उसमे आकार की सीमाएँ नही हैं। परन्तु भक्त कवियों के रूप मे आकार सन्निहित है। इनके सामने सौन्दर्य की प्रत्यक्ष कल्पना है जिसमे रूप के साथ आकार की सीमाएँ भी हैं। साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि इस रूप मे व्यक्तित्व का आरोप नहीं है और उसके आकार मे सीमाओ का बन्धन भी नही है। सौन्दर्य की अनन्त और अलौकिक भावना मे रूप खोकर अरूप हो जाता है और

---

१. सूरसागर, प्र० स्क०, पद ८।
२. सूरसागर, प्र० स्क, पद ३६।

उसके सप्राण-सचेतन आकार मे सीमा से असीम की ओर प्रसरित होकर मिट जाने की सभावना बनी रहती है। सूरदास के लिए आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकना कठिन है। यही कारण है कि उनके चित्रो मे चेतन, अनन्त और अलौकिक सौन्दर्य की ओर क्रमश. बढने की प्रवृत्ति है। सीमा के अनुसार भक्त कवियो की रूपोपासना के विषय मे यही कहा जा सकता है। रीति काल के कवियो मे वस्तु रूप स्थिर-सौन्दर्य को अलौकिक या चमत्कृत भावना मे परिसमाप्त करने की प्रकृति पाई जाती है। साथ ही इस काल की अलौकिक भावना चमत्कार से सम्बन्धित है। तुलसी अवश्य अपने आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकते हैं, क्योकि उन्हे रूपाकार के साथ शील तथा शौर्य का समन्वय भी करना था। लेकिन इनके सौन्दर्य मे भी अनन्त की भावना साथ चलती है। तुलसी ने 'रामचरित-मानस' मे राम के रूप और आकार के साथ व्यक्तित्व जोडने का प्रयास किया है। 'रामचरित-मानस' प्रबन्ध काव्य है और नायक के रूप मे राम के रूपाकार म व्यक्तित्व का सकेत देना कवि के लिए आवश्यक हो उठा है। फिर भी कवि ने इन वर्णनो मे अनन्त सौन्दर्य के सकेत सन्निहित कर दिए हैं। राम के नख-शिख का समस्त रूपाकार अपने व्यक्तित्व के साथ भी सौन्दर्य को सीमाएँ नही दे सका ' वह उसे पाने के प्रयास मे अलौकिक और अनन्त होकर अरूप ही रहा। तुलमी प्रसिद्ध प्रकृति-उपमानो मे राम के रूप की कल्पना करते हैं—

काम कोटि छवि स्याम सरीरा। नील कज वारिद गभीरा।
अरुन चरन पकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥

परन्तु इस सौन्दर्य के वर्णन मे रग-रूपो के आधार पर कोई चित्र उपस्थित करन से अधिक कवि का ध्यान कभी 'नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहा' कभी 'विप्र चरन देखत मन लोभा' और कभी 'अति प्रिय मधुर तोतरे बोला' पर जाता है। कवि का मन आराध्य के रूप से ऐसा उद्भासित हो रहा है कि उसको मौन होना पडता है—

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा।[१]

वस्तु-रूप स्थिर सौन्दर्य—वैष्णव भक्त-कवि अपने आराध्य के आकर्षक-रूप सौन्दर्य की स्थापना करता है, लेकिन उसके साथ ठहर नही पाता। प्रकृतिवादी साधक भी प्रकृति के रूपात्मक सौन्दर्य से आकर्षित होता है, परन्तु आगे अपनी चेतना के सम पर उसके सौन्दर्य को सर्वचेतनामय कर देता है। फिर भी व्यापक सौन्दर्य योजना मे वस्तु-रूप के स्थिर खड-चित्र आ जाते हैं और ये प्रकृति उपमानो की

१ रामचरितमानस, तुलसी, बाल०, दो० १९९। तुलसी के इन रूप वर्णनों में वर्णन-स्थिति का दृष्टिबिन्दु विशेष महत्व रखता है। उन्होंने जिस दृष्टि से अथवा जिस वस्तु स्थिति के अनुसार राम के रूप का वर्णन किया है, वहीं से उनको प्रारम्भ भी किया है (पुरगमन, बा० दो० २१९, उपवन प्रसग, बा०, दो० २३३)

आलंकारिक योजना पर ही निर्भर है। वस्तुत सौन्दर्य के प्रकृति सम्बन्धी स्थिर उपमानो को ये वैष्णव कवि अपनी साधना मे इस प्रकार मिला चुके हैं कि उनके बिना एक पग आगे चलते ही नही। इन कवियो मे ये उपमा और रूपक बिना प्रयास के आते जाते हैं और इनके प्रयोगो को हम रूढि-रूप या फार्मल कह सकते हैं। लेकिन इन भक्तो के साथ ये सजीव हैं। इनकी रूप-साधना के साथ एकाकार होकर ये सजीव ही नही वरन् अमृत-प्राण हो चुके हैं। वैष्णव भक्त कवि कमल-मुख, कमल-नयन, कमल-पद सहज भाव से कहता जाता है। परन्तु इन रूपक और उपमाओ के अतिरिक्त कवि कभी-कभी स्थिति आदि को लेकर वस्तूत्प्रेक्षा आदि के द्वारा स्थिर-सौन्दर्य की कल्पना कर लेता है। ये रूप की स्थितियाँ सारे भक्ति-काव्य मे व्यापक रूप से फैली हैं और इनमे अधिकाश अनन्त-सौन्दर्य की भावना मे डूब जाती हैं। सूर के चित्र मे बालकृष्ण की लट केन्द्र मे है—

लट लटकनि मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलिशावक पगति उठति मधुप छवि भारी।

फिर केन्द्र मे छोटे दाँतो की चमक आ जाती है—

अल्प दसन कलबल करि बोलनि नहिं विधि परति विचारी।
निकसत ज्योति अधरनि के बिच ह्वै विधु मे बीजु उज्यारी।[1]

इसी प्रकार यमुना तट पर खडे होकर व्रजनारियो के विहार को देख रहे कृष्ण के सौन्दर्य के विषय मे सूर कल्पना करते हैं—'मोर मुकुट को धारण किए हुए हैं, कानो मे मणि कुडल और वक्ष पर कमला की माला सुशोभित है, ऐसे सुन्दर सलोने श्याम के शरीर पर नवीन बादलो के बीच म बगलो की पक्ति सुशोभित है। वक्षस्थल पर अनेक लाल पीले श्वेत रग की वनमाला शोभित है, लगता है मानो देवसरि के किनारे नाना रग के तोने डर छोडकर बैठे है। पीताम्बर युक्त कटि पर इस प्रकार क्षुद्रघटिका बज रही है, मानो स्वर्ण-सरि के निकट सुन्दर मराल बोलते हैं।'[2] तुलसीदास 'गीतावली' मे राम के सौन्दर्य की कल्पना इस प्रकार अधिक करते हैं, क्योंकि उनके राम मे कृष्ण जैसी क्रीडात्मकता नही है। इस स्थिति मे कृष्ण के सचेतन गतिशील सौन्दर्य के समक्ष तुलसी राम का ऐश्वर्यशील सौन्दर्य उपस्थित कर सके हैं। इसका कारण है। तुलसी की दास्य-भक्ति ऐश्वर्य की रूप-साधना है, जब कि कृष्ण-भक्त कवियो की साधना मे लीलामय सौन्दर्य का माहात्म्य है। तुलसी राम के रग के विषय मे प्रकृति उपमानो की योजना करते हैं—'कामदेव और मोर की चन्द्रिकाओ की आभा के सौन्दर्य का भी राम के शरीर की ज्योति निरादर करती है—और नीलकमल, मणि, जलद इनकी

१ सूरसागर, दस० स्क०, पद १४०।
२. वही० दश० स्क०, पद १२६३।

उपमाएँ भी कुछ नही हैं।' रग के वाद कवि मुख पर आता है—'नील कमल से नेत्रो के भ्रू पर काजल का टीका सुशोभित है, मानो रसराज ने स्वय चन्द्र-मुख के अमृत की रक्षा के लिए रक्षक रखा है, ऐसी शोभा के समुद्र राम लला है।' इसके आगे के चित्र मे अलकावली के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए गम्योत्प्रेक्षा के द्वारा गतिशीलता का भाव व्यक्त किया गया है—'गभुआरी अलको मे सुन्दर लटकन मस्तक पर शोभित है, मानो तारागरण चन्द्रमा से मिलने को अंधकार विदीर्ण करते हुए मार्ग बनाकर चले हैं।'[1] कभी तुलसी रूप की एक स्थिति को उत्प्रेक्षा के माध्यम से चित्रित करते है—

> चारु चिबुक नासिका कपोल, भाल तिलक, भृकुटि।
> स्रवन अधर सुन्दर, द्विज-छवि अनूप न्यारी।
> मनहुँ अरुन कञ्ज-कोस मंजुल जुगपाँति प्रसव।
> कुंदकली जुगुल जुगुल परम सुभ्रवारी।[2]

कही-कही ऐश्वर्य के वर्णन के अन्तर्गत रूप के स्थिर खण्ड-चित्र बहुत दूर तक आते गए है और सब मिलाकर चित्र एक व्यापक शील और सौन्दर्य का समन्वित भाव प्रदान करता है—'माई री जानकी के वर का रूप तो सुन्दर है। देखो! इन्द्रनील मणि के समान सुन्दर शरीर की शोभा मनोज से भी अधिक है। चरण अरुण हैं, अगुलियाँ मनोहर हैं। द्युतिमय नखो मे कुछ अधिक ही लालिमा है, मानो कमल पत्रो पर सुन्दर घेरा बनाकर मगल नक्षत्र बैठे हैं। पीत जानु और सुन्दर वक्ष मणियो से युक्त हैं, पैरो मे नूपरो की मुखरता सोहती है, मानो दो कमलो को देखकर पीले पराग से भरे हुए अलिगण ललचा रहे हैं। स्वर्ण-कमलो की कोमल किंकनी मरकत शैल के मध्य तक जाकर भयभीत हो भुक गई है और उससे लावण्य चारो ओर विकसित हो रहा है। विचित्र हेममय यज्ञोपवीत और मुक्ता की वक्ष-माला तो मुझे बहुत भाती है, मानो बिजली के मध्य मे इन्द्र-धनुष और बलाको की पक्ति आ गई है। शख के समान कठ है, चिबुक और अधर सुन्दर हैं और दाँतो की सुन्दरता को क्या कहा जाय, मानो वज्र अपने साथ विद्युत और सूर्य की आभा को लेकर पद्मकोष मे बसा है। नासिका सुन्दर है और केशो ने तो अनुपम शोभा धारण की है, मानो दोनो ओर भ्रमरो से घिर कर कमल कुछ हृदय से भयभीत हो उठा है।'[3] इस वस्तु-रूप की स्थिर कल्पना मे, कवि ने प्रौढोक्ति के द्वारा जो प्रकृति-उपमानो की योजना की है वह स्वय सौन्दर्य को अलौकिक की ओर ले जाती है। यह राम के ऐश्वर्य और सौन्दर्य के अनुरूप भी है। तुलसी के सौन्दर्य चित्र अधिकतर

---

१. गीता० तुलसी, बा०, पद १६।
२. वही, वही, बा०, पद २२।
३. वही, वही, बा०, पद १०६

ऐसे ही हैं।[1] कृष्ण-गीतावली मे कृष्ण का रूप-वर्णन कम है पर जो चित्र हैं, उनमे ऐश्वर्य के स्थान पर गतिशील चेतना अधिक है। तुलसी कृष्ण की उनीदी आँखो का चित्र उपस्थित करते हैं—

> आजु उनींदे आए मुरारि।
> आलसवंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदत छिन देत उघारी॥
> मनहुँ इन्दु पर खञ्जरीट दोउ कछुक अरुन विधि रचे सँवारी॥

यहाँ तक वस्तूत्प्रेक्षा मे स्थिर रूप की कल्पना है; पर आगे—

> कुटिल अलक अनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यो सँभारी।
> मनहुँ उडन चाहत अति चचल पलक पखं छिन देत पसारी॥[2]

इस चित्र में स्फुरणशील गति का भाव सन्निहित है। राम-भक्ति परम्परा मे तुलसी के आगे कोई महत्त्वपूर्ण कवि नही हुआ है और कृष्ण-भक्त कवियो मे सूर को छोड़कर अन्य किसी मे सौन्दर्य का अधिक व्यक्त आधार नहीं है। बाद के भक्त कवियो का सौन्दर्य मानवी रूप और उसके शृंगार मे ही अधिक व्यस्त रहा है। इनमे प्रकृति के माध्यम से सौन्दर्य की स्थापना वैसी व्यापक नही मिलती। आगे हम देखेंगे कि रीति-परम्परा के कवियो ने बाद के भक्त कवियो की रूप और शृंगार की भावना को चमत्कृत रूप मे ग्रहण किया है।

**सचेतन गतिशील सौन्दर्य**—भक्त की सौन्दर्य-भावना रूप, आकार और रंग आदि तक ही सीमित नही है। यह सौन्दर्य रूपमय होकर भी गतिमय तथा स्फुरणशील है। वस्तुरूप की स्थिरता मे सौन्दर्य सीमित हो जाता है और कम लगने लगता है। इसी कारण भक्तो के सौन्दर्य का आदर्श स्थिरता से गति की ओर है। यह गति चेतना का भाव है जिसे अधिकतर कवियो ने गम्योत्प्रेक्षा के माध्यम से व्यक्त किया है। सूर के लीलामय कृष्ण के रूप मे यह अधिक व्यक्त हो सका है और सूर प्रकृति-उपमानो की उत्प्रेक्षाओ से इसको प्रस्तुत करने मे प्रमुख हैं। प्रकृति के क्रिया-व्यापार और उसकी गतिशील चेतना इस सौन्दर्य-योजना का आधार है। हम प्रथम भाग मे कह चुके हैं कि प्रकृति मानव जीवन के समानान्तर है। और इसी आधार पर प्रकृतिवादी कवि प्रकृति को रूपात्मक सौन्दर्य के साथ सप्राण और सचेतन देखता है।

---

१ तुलसी के इस प्रकार के कुछ चित्र बालकाण्ड के अन्तिम पदों में अधिक विस्तृत हैं। उत्तर-काण्ड में भी इस प्रकार के पद है। पद २ (भोर जानकी जीवन जागे) से आरम्भ होकर पद १६ (देखो रघुपति-छवि अतुलित अति) तक इसी प्रकार सौन्दर्य के वस्तु-रूप स्पष्ट चित्र है। इनमें उपमानों की प्रौढोक्ति सम्बन्धी योजना से ऐश्वर्य और शीलयुक्त रूप उपस्थित किया गया है जिसमें अलौकिक भावना भी है।

२ कृ० गीता०, तुलसी, पद २१।

तुलसी के राम लीलामय नही है, परिणामस्वरूप उनको अपने आराध्य के सौन्दर्य को सचेतन चित्रित करने का आग्रह नही है। परन्तु उनमे इन चित्रो का नितान्त अभाव नही है—'शिशु स्वभाव से राम जब अपने हाथो से पैर को पकडकर मुँह के निकट ले आते हैं, तो लगता है मानो दो सुन्दर सर्प शशि से कमलो मे सुधा ग्रहण करते हुए सुशोभित हैं। वे ऊपर सेलौना देख किलकी भरते हैं और वार वार हाथ फैलाते हैं मानो दोनो कमल चन्द्रमा के भय से अत्यन्त दीन होकर सूर्य से प्रार्थना करते हैं।'' इन रूप चित्रो मे स्थिति के साथ गति की व्यजना भी है। सूर इस प्रकार की व्यजना करने मे अद्वितीय हैं। इन्होने अपने लीलामय आराध्य के सौन्दर्य को इस प्रकार अधिक चित्रित किया है, यद्यपि उसमे अनन्त और अलौकिक होने की प्रवृत्ति है। कृष्ण की लीला मे गतिमय चेतना का भाव छिपा हुआ है, उनका चित्र इसीसे स्फुरणशील हो जाता है। सूर की उर्वर कल्पना मे कृष्ण का रूप-सौन्दय, चाहे वाल-क्रीडा के समय का हो, या गोपी-लीला के समय का हो, या गोचारण के वाद का हो अथवा रास के समय का हो, प्रत्येक स्थिति मे एक गति और क्रिया की भावना से युक्त हो जाता है। इस रूप की उद्भावना के लिए सूर प्रकृति-उपमाना की योजना के लिए स्वतःसम्भावी अथवा प्रौढोक्ति सभव आधार ग्रहण करते हैं और चित्र को गति तथा सप्राण भावना से सजीव कर देते है। अन्य कृष्ण भक्त कवियो मे यह कौशल कम है। वाद के कवियो मे यत्र-तत्र सूर का अनुकरण मिल जाता है। गदाधर कल्पना करते हैं—

मोहन वदन की शोभा।
जाहि निरखत उठत मन आनद की गोभा।
ओह सोहन कहा कहूँ छवि भाल कुकुम विंदु।
स्याम वादर रेख पय मानो अवही उदयो इदु।
ललित लोल कपोल कुडल मानों मकराकार।
युगल शशि सौदामिनी मानो नाचत नट चटसार।[2]

इसमे वादर की रेखा पर उदित चन्द्रमा स्थिर सौन्दर्य का रूप है और सौदामिनी की चटसार मे शशि का नृत्य गतिशीलता का भाव देता है। परन्तु सूर मे ऐसे चित्रो का व्यापक विस्तार है। वाललीला के क्रीडाशील रूप चित्रण म अनेक सौन्दर्य-चित्र हैं—'नीलवर्ण कृष्ण को जव जननी पीत वस्त्र से आच्छादित करती है तो एक अद्भुत चित्र की कल्पना उठती है, मानो तडित अपने चचल स्वभाव को छोडकर नील वादलो

१ गीता०, तुलसी वा०, पद २०। तुलनाय सूर क पद १४३, स्क० दशम।
२ कानसग्रह (भाग ३ उत्त०), पृ० १६।

को ग्रहण करता है। इस अभिव्यक्ति में भक्त कवि शृंगार, कामतरु, कामदेव, ऋतुराज तथा नन्दन वन आदि स्वर्गीय कल्पनाओं का आश्रय लेता है और आकर्षण के उल्लास को मिला देता है। समस्त चित्र में रूप और गति के उपमानों का योग तो रहता ही है। तुलसी 'राम की बाल-छवि का वर्णन किस प्रकार करें। यह सौन्दर्य तो सभी सुखों को आत्मसात् किए हुए है और सहस्रों कामदेवों की शोभा को हरण करता है, अरुणता मानो तरणि को छोड़कर भगवान् के चरणों में रहती है। रुनझुन करन वाली किंकिणी और नूपुर मन को हरते हैं। भूषण में युक्त सुन्दर श्यामल शिशु-वृक्ष अद्भुत रूप से फला हुआ है। घुटुरुओं से आँगन चलने से हाथ का प्रतिबिम्ब इस प्रकार सुशोभित होता है, मानो उस सौन्दर्य को पृथ्वी कमल-रूपी सम्पुटों में भर-भर कर लेती है।'[1] तुलसी के सामने 'लड़खड़ाते', किलकारी भरते' राम के सौन्दर्य का क्रीडात्मक रूप है जो कवि की प्रौढोक्ति-सम्भव उत्प्रेक्षाओं के अनन्त सौन्दर्य में खो जाता है। आगे दूसरे चित्र में तुलसी के सामने—मुनि के संग जाते हुए दोनों भाइयों का सौन्दर्य है। 'तरुण तमाल और चम्पक की छवि के समान तो कवि स्वभावतः कह जाते हैं, शरीर पर भूषण और वस्त्र सुशोभित हो रहे हैं, सौन्दर्य जैसे उमगित हो रहा है। शरीर में कामदेव और नेत्रों में कमल की शोभा आकर्षित कर रही है। पीछे धनुष, कर-कमलों में बाण और कटि पर निषंग कसे हैं, इस शोभा को देख कर समस्त विश्व की शोभा लघु लगती है।'[2] इस सौन्दर्य के चित्र में प्रकृति के उपमानों के स्थान पर स्वयं सौन्दर्य और लावण्य उल्लसित हो उठा है जिसके समक्ष विश्व का प्रत्यक्ष-सौन्दर्य फीका है। ऐसी स्थिति में प्रकृति-रूप का प्रयोजन ही नहीं रह जाता। तुलसी ने स्वर्गीय प्रतीकों के माध्यम से असीम की भावना प्रस्तुत की है—'हे सखी, राम-लक्ष्मण जब दृष्टि पथ पर आ जाते हैं, उस समय उस सौन्दर्य के समक्ष लगता है जनकपुर में अनेक आरम विस्मृत जनक हो गए हैं। पृथ्वीतल पर यह धनुष यज्ञ तो आश्चर्य देने वाला है, मानो सुन्दर शोभित देव-सभा में कामदेव का कामतरु ही फलित हो उठा है।'[3] यह भावात्मक रूप अनन्त की ओर प्रसरित है। इसके आगे एक चित्र में एक सखी दूसरी सखी को जिस सौन्दर्य की ओर आकर्षित करती है वह नितान्त भाव रूप है—

नेकु, सुमुखि चित लाइ चितौ, री।
राजकुँवर मूरति रचिबे की रुचि सुबरचि स्रम कियो है कितौ, री॥

---

१ गीता०, तुलसी, बा०, पद २७।
२ वही, वही, बा०, पद ७५।
३ वही, वही, बा०, पद ७४।

नख सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री ।
साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल-कल-कलस रितौ, री ॥[1]

इसमें रूप की रेखाएं नहीं हैं, केवल 'रूप-सुधा' और 'नयन कमल-कलस' की परम्परित रूपात्मकता सौन्दर्य-भाव की व्यंजना करती है। सूर में रूप से अनन्त की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति उतनी नहीं है जितनी गतिशीलता को अनन्त की भावना में परिसमाप्त करने की। साथ ही आगे हम देखेंगे कि सूर में अलौकिक सौन्दर्य की कल्पना अधिक है। जहाँ सूर ने अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त किया है, वहाँ भी प्रकृति-उपमानों के रूपात्मक चित्रों का आधार लिया है। सूर कहते हैं—'शोभा कहा से कही नहीं जाती, लोचनपुट अनन्त आदर से आचमन करते हैं पर मन रूप को पाता कहाँ है ?' आगे रूपात्मक चित्र आते हैं—'जलयुक्त घनश्याम के समान सुन्दर शरीर पर विद्युत के समान वस्त्र और वक्ष पर माला है। शरीर रूपी धातु शिखर पर शिखी-पक्ष लगता है पुष्प और प्रवाल लगे हैं '' कपोल पर कमल की किरण और नेत्र का सौन्दर्य लगता है कमलदल पर मीन हो ' फिर यही शोभा अनन्त सौन्दर्य में इस प्रकार लीन हो जाती है—

प्रति प्रति अंग अंग कोटिक छबि सुनि सखि परम प्रवीन।
अधर मधुर मुसकानि मनोहर कोटि मदन मन हीन।
सूरदास जहँ दृष्टि परत है होत तहीं लवलीन॥[2]

वस्तुतः इस अनन्त सौन्दर्य में दृष्टि टिकती नहीं, वह जहाँ का तहाँ लीन होकर आत्म-विस्मृत हो जाती है। यही इस सौन्दर्य का प्रभाव है और चरम सीमा भी।

**अलौकिक सौन्दर्य कल्पना**—रूप से अरूप और सीमा से असीम के साथ भक्त कवि सौन्दर्य की अलौकिक कल्पना करता है। इस विषय में संतों के प्रसंग में पर्याप्त उल्लेख किया गया है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि रूप-सौन्दर्य की व्यंजना जब आधार छोड़ना भी नहीं चाहती और साधारण प्रत्यक्ष के स्तर से अलग रहना चाहती है, तब वह अलौकिक कल्पना का आश्रय लेती है। तुलसी को रूप का उतना मोह नहीं है, इसी कारण उनकी सौन्दर्य भावना अनन्त में व्यंजित होती है, उसे अलौकिक का अधिक आश्रय नहीं लेना पड़ता। सूर ने अपने रूप चित्रों को अलौकिक उद्भावना में अधिक प्रस्तुत किया है। इसमें रूप व्यंजना का माध्यम स्वीकार करने के साथ परम्परा का अनुसरण भी समझा जा सकता है। इन अलौकिक चित्रों में भी दो प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष हैं। एक में सौन्दय की रूप भावना है जो प्रकृति उपमानों द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसमें अधिकतर रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग हुआ है जिसमें उपमेय अदृश्य रहता है। केवल उपमानों से चित्र अलौकिक हो उठता है। सूर अलौकिक सौन्दर्य

१ वही, वही, वा०, पद ७४।
२. सूरसा०, दशम०, स्क० पद ४२५।

पर नक्षत्रमाला की शोभा देखती है।" इस प्रकृति की प्रोटोरितसम्भव कल्पना में गतिमय सौन्दर्य का अद्भुत भाव है। कामदेवों के समूह की छाई हुई छवि के माध्यम से कवि अलौकिक भावना का संकेत देता है।—'माई री, सुन्दरता के सागर को तो देखो! बुद्धि-विवेक तो उसका पार ही नहीं पाता, और चतुर मन आकाश के समान प्रशस्त आश्चर्य चकित फैल जाता है। वह शरीर अत्यंत गम्भीर नील सागर है और 'कटिपट पीली उठती हुई तरगें हैं। वे जब इधर-उधर देखते हुए चलते हैं तो सौन्दर्य अधिक बढ जाता है' समस्त अंग में भँवर पड जाते हैं और उसमें नेत्र ही मीन है, कुडल ही मकर है और सुन्दर भुजाएँ ही भुजग हैं।" इस रूपक में वस्तु-स्थितियों के द्वारा प्रकृति-रूप सौन्दर्य की गतिशील व्यजना कवि करता है, सागर अपने सौन्दर्य-भाव के साथ तरंगित हो उठता है। सौन्दर्य के इस रूप को जैसे कवि बार-बार सम्बोधित कर उठता है—'देखो, यह शोभा तो देखो। यह कुडल कैसा झलक रहा है, देखो तो सही। यह सौन्दर्य कोई नेत्रों से देखेगा कैसे, पलक तो लगती नहीं। सुन्दर-सुन्दर कपोल और उसमें नेत्र हैं इस प्रकार चार कमल हैं। माना मुखरूपी सुधा-सरोवर में मकर के साथ मीन क्रीडा करती है। कुटिल अलकें, स्वभावत हरि के मुख पर आ गई हैं, मानो कामदेव ने अपने फदो से मीनो को भयभीत किया है।" सूर फिर दूसरे कोण से कुडल की शोभा की ओर संकेत कर उठते हैं—'देख! लोल कुडलों को तो देखो। सुन्दर कानो में पहन रखा है और कपोलो पर उनकी झलक पडती है। मुखमडल रूपी सुधा-सरोवर को देखकर मन डूब गया—और यह मकर जल को झकझोरता हुआ छिपता प्रकट होता है। यह मुख कमल का विकासमान सौन्दर्य है जिस पर युवतियों के नेत्र भ्रमर हैं और ये पलकें प्रेम-लहर की तरगें हैं।" यह समस्त सौन्दर्य इस प्रकार व्यक्त होता है कि अपनी चचलता में अधिक आकर्षक हो उठता है और देखने वाले की पकड में भी नहीं आता।—'चतुर नारियाँ उस सौन्दर्य को देखती हैं, मुख की शोभा ने मन अटककर लटका हुआ है और हार नहीं मानता। श्याम शरीर की मेघमयी आभा पर चन्द्रिका झलकती है। जिसको बार-बार देखकर नयन थकित हो रहे हैं और स्थिर नहीं होन। श्याम मरकत-मणि के बडे नग हैं और सखा नाचते हुए मोर हैं—इसे देखकर अत्यधिक आनन्द होता है। कोई कहता है सुरचाप गगन से प्रकाशित हुआ है—इस सौन्दर्य को देखकर गोपियाँ कहीं हर्षित और

१ सरसा०, दशमस्क०, पृ० १४३—'आगन चलत उरग्वन धाय।'

२ वही, वही, पद ७२४।

३. कीर्त० (भा० ३ उत्त०), पृ० १७—'देखिरी देख कुडल भलक।'

२ कीर्त० (भाग ३ उत्त०), पृ० १८—'देखिरी कुडल लोल।'

वही उदास है।" इसमें 'झलकते', 'नाचते' और 'प्रकाशित' आदि में गति का सौन्दर्य है। रास के प्रसंग में यह सौन्दर्य-चित्रण और भी प्रत्यक्ष हो उठता है—

देखो माई रूप सरोवर साज्यो।
ब्रज वनिता वार वारि वृन्द में श्री ब्रजराज विराज्यो॥
लोचन जलज मधुप अलकावली कुंडल मीन सलोल।
कुच चक्रवाल विलोकि वदन विधु विहरि रहे अनमोल॥
मुक्तामाल बाल बग-पंगति करत कुलाहल कूल।
सारस हंस मध्य शुक सैना वैजयन्ति समतूल॥
पुरइन कपिश निचोल विविध रंग विहँसत सचु उपजावै।
सूरश्याम आनंदकंद की शोभा कहत न आवै॥[1]

इस रास-लीला में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य प्रकृति के उपमानों से जैसे नृत्य कर उठा है। विभिन्न रंगों के छाया-प्रकाश के साथ पक्षियों के कोलाहल का आरोप सौन्दर्य की चेतना से सम उपस्थित करता है। यह स्फुरणशील चिरनवीन सौन्दर्य भक्त की पकड़ के बाहर का है, और इसीलिए सूर के शब्दों में 'कहत न आवै'। उस आनन्दकंद के विविध विलास को कोई कहेगा भी कैसे।

**अनन्त और असीम सौन्दर्य**—जब सौन्दर्य ठहरता नहीं, वह परिवर्तित होकर नवीन हो जाता है, उस समय उसमें सीमा से असीम की ओर और रूप से अरूप की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। सूर के पिछले चित्रों में यह भावना हम देख चुके हैं। चित्रों में गति का भाव असीम और अरूप की ओर ले जाता है। सूर के सामने आराध्य का रूप अत्यधिक प्रत्यक्ष है और उसको देखकर मति मुग्ध हो जाती है, बुद्धि स्तब्ध रह जाती है। इस प्रकार सूर के चेतनशील चित्रों में भी अनन्त की व्यंजना है। तुलसी में लीलामय की भावना के साथ गति का रूप भी नहीं है। इन्होंने राम के ऐश्वर्य रूप को ही असीम और अनन्त चित्रित किया है। इस अनन्त सौन्दर्य की कल्पना में प्रकृति-उपमानों की साधारण सौन्दर्य-बोध की भावना कुंठित हो जाती है, उनकी योजनाओं में सन्निहित गतिशीलता परिवर्तन के साथ जड़ तथा स्थिर हो जाती है, परन्तु आराध्य का सौन्दर्य उनकी सीमाओं का अतिक्रमण करके भी चिर नवीन है। प्रकृतिवादी के सामने जब प्रकृति की सचेतन भावना के आगे उसका सौन्दर्य प्रसरित हो जाता है, उस समय यह सौन्दर्य भाव इन्द्रियों की सीमा में अनन्त और असीम हो उठता है। वैष्णव कवि की स्थिति भी ऐसी है, वह अपने आराध्य को रूप से अरूप और सीमा से असीम में देखता है। इस रूप को व्यक्त करने के लिए वह प्रकृति की उसी असीम सौन्दर्य भावना

१ वही पृ० १७—'निरखन रूप नागरि नार।'
२ सूरसा०, दशम स्क०, पृ० ४३८।

की ओर सकेत करते हैं—'उस सौन्दर्य को देखो, कैसा अद्भुत है—एक कमल के मध्य मे बीस चन्द्रमा का समूह दिखाई देता है, एक शुक है, मीन है और दो सुन्दर सूर्य भी हैं।'[1] इसी प्रकार दूसरे स्थल पर—

नद नदन मुख देखो माई।
अग अग छबि मनहु उये रवि शशि अरु समर लजाई।
खजन मीन कुरग भृ ग वारिज पर अति रुचि पाई॥[2]

आदि मे उपमानो की विचित्र योजना अलौकिक सौन्दर्य की व्यजना करती है। दूसरे प्रकार के चित्रो मे रहस्य की भावना अलौकिकता के साथ पाई जाती है। इसमे अलौकिकता के आधार पर सौन्दर्य के विचित्र सामजस्यो का रूप आता है। एक सीमा तक इनमे उलटबाँसियो का भाव मिलता है और यह सूर के समस्त दृष्टकूटो के रूप-चित्रो के बारे मे कहा जा सकता है। यह भाव विद्यापति के पदो मे भी है, इससे यह प्राचीन परम्परा का अनुसरण लगता है। विचित्रता का आकर्षण इसका प्रमुख आधार है। जब सूर कहते हैं—'यह सौन्दर्य तो अनोखा बाग है। दो कमलो पर गज क्रीडा करता है और उसपर प्रेमपूर्वक सिंह विचरण करता है, सिंह पर सरोवर है, सरोवर के किनारे गिरिवर है जिस पर कमल पुष्पित है। उस पर सुन्दर कपोत बसे हैं और उनपर अमृत फल लगे हैं। फल पर पुष्प लगा है, पुष्प पर पत्ते लगे हैं और उसपर शुक, पिक, हिरन और काग का निवास है। चन्द्रमा पर धनुष और खजन हैं और उनपर एक मणिधर सर्प है। इस प्रकार सौन्दर्य की इस अलौकिक आभा मे प्रत्येक अग की शोभा अलग-अलग है, उपमाएँ क्या बराबरी कर सकेंगी। इन अधरों के सौभाग्य से विष भी सुधारस हो जाता है।'[3] इस चित्र मे रूपकातिशयोक्ति के द्वारा वैचित्र्य का भाव उत्पन्न किया गया है, जिसमे प्रकृति रूपो की अद्भुत योजना हृदय को अलौकिक सौन्दर्य से भर देती है। इस प्रकार के अधिकाश रूप-चित्र नारी (राधा) सौन्दर्य को लेकर हैं।

**युगल सौन्दर्य**—जिस प्रकार इन भक्त कवियो ने आराध्य के सौन्दर्य को विभिन्न प्रकृति-उपमानो की योजनाओ से चित्रित किया है, उसी प्रकार इन्होने युगल आराध्य के रूप-सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है। जिन समस्त प्रकृति-रूपो का उपयोग पिछले चित्रो मे किया गया है, उन सबका प्रयोग युगल के सौन्दर्य को व्यजित करने मे हुआ है। सूर ने राधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति का चित्रण अनेक प्रकार से किया है। इसका

---

१ वही, वही, पृष्ठ १३८—'देखो सखी अद्भुत रूप अनूप।'

२ वही, वही, पद ७१२।

३ वही, वही, पद १६८०। इस प्रकार अन्य अनेक पद हैं। पृ० ३६०—'विराजत अग अग रति बाल।' पृ० ४७१—'देख सखी पच कमल द्वै शम्भु।'

कारण है कि उनकी लीलाभक्ति, जिसमें भगवान् अपने भक्त के साथ निरन्तर लीला-मग्न हैं। तुलसी की भक्ति-भावना में न लीला का माहात्म्य है और न युगल सौन्दर्य का। 'गीतावली' में अवश्य राम और सीता के एक दो चित्र हैं जिनमें स्थिर रूपमयता से अनन्त में पर्यवसित होने की भावना है।'''राम और जानकी की जोड़ी सुशोभित है, क्षुद्र बुद्धि में उपमा नहीं आती। नील कमल और सुन्दर मेघ के समान वर है तथा विद्युत आभावाली दुलहिन है। विवाह के समय वितान के नीचे सुशोभित है, मानो कामदेव के सुन्दर मंडप में शोभा और शृंगार एक साथ छविमान है।" इसमें शोभा और शृंगार में सौन्दर्य अरूप और अनन्त हो गया है। आगे के चित्र में सौन्दर्य की अमूर्त भावना अधिक प्रत्यक्ष है—

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनि-वर बरन-हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही, री।
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुह मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल-भुवन-छवि मनहुँ मही, री।
तुलसीदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो सिला-लवनि रति-काम लही, री।[1]

परन्तु सूर के युगल-चित्रों में गतिशीलता तथा अलौकिकता अधिक है और अरूप तथा अमूर्त की भावना उनसे व्यंजित है। साथ ही इनमें संयोग-मिलन का रूप अधिक है। क्रीडा में, विहार में, लीला में, रास और विलास में राधा और कृष्ण की संयुक्त भावना भक्त के सामने आ जाती है। जिन प्रकृति रूपों की उद्भावना से इन चित्रों को प्रस्तुत किया गया है, उनमें चेतन भावशीलता के साथ गतिमय उल्लास सन्निहित है। प्रकृतिवादी तादात्म्य की मन स्थिति में प्रकृति सौन्दर्य की यही स्थिति रहती है। भेद यह है कि प्रकृतिवादी साधक दृश्यात्मक सौन्दर्य से अनन्त सौन्दर्य की ओर बढ़-कर उससे तादात्म्य स्थापित करता है, उसके लिए प्रकृति आलम्बन है, प्रत्यक्ष है। भक्त कवि के लिये आराध्य का रूप प्रत्यक्ष है, प्रकृति-रूपों का प्रयोग उसको व्यक्त करने के लिए उपकरण के समान है। यही कारण है कि भक्त की अपने आराध्य से तादात्म्य स्थापित करने की भावना युगल-रूप के संयोग में अभिव्यक्ति ग्रहण करती है। यमुना में क्रीडा करते राधा कृष्ण का चित्र सूर के सामने है—'उन्मुक्त रूप से सुन्दर यमुना-जल में श्यामा और श्याम विहार करते हैं। नील और पीत कमलों के ऊपर मानो प्रातःकालीन नीहार छाया है। श्री राधा अपने कर कमलों से बार-बार जल छिड़कती हैं, लगता है मानो पवन के संचरण में स्वर्णलता का मकरन्द झरता है

१. गीता०, तुलसी; बा०, पद १०३।
२. वही०, वही, बा०, पद १०४।

मोर अतिसी पुष्प के समान श्याम शरीर पर ये बूँदें एकान्त रूप से झलक उठती हैं, मानो सुन्दर सघन मेघ में प्रकाश-समूह बूँदों के आकार में बिखर गया है। और जब राधा को कृष्ण दौड़ कर पकड़ लेते हैं, उस समय शृंगार ही मुग्ध हो जाता है, मानों लालाभ जलद चन्द्रमा से मिलकर सुधाधर स्रवित करता है।"[1] इसमें क्रीडात्मक युगल का गतिशील सौन्दर्य है। आगे के चित्र में सयोग-मिलन की भावना को प्रकृति में प्रतिबिम्बित करके व्यंजित किया गया है—

किशोरी अग अंग भेंटी श्यामहिं।
कृष्ण तमाल तरल भुज माला लटकि मिली जैसे दामहिं।
अचरज एक लतागिरि उपजै सोउ दीने करुणामहिं।
कछुक श्यामता सांवल गिरि की छायी कनक अगामहिं।[2]

इस मिलन-सौन्दर्य में अलौकिक व्यजना और रहस्यात्मक भावना दोनों मिलती हैं। सयोग के एकान्त गोपनीय चित्र कूट के पदों में अलौकिक के साथ रहस्यात्मक हो उठते हैं। इनके आधार में वही भावना कार्य करती है जिसका उल्लेख किया गया है।[3] यहाँ इस प्रकार समस्त सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचना में प्रकृति-उपमानों की योजना पर विचार किया गया है। और हम देखते हैं सौन्दर्य को रूप देने में प्रकृति-रूपों का महत्वपूर्ण योग है।

अन्य वैष्णव कवियों में—वैष्णव भक्तों के बाद अन्य वैष्णव कवियों की सौन्दर्य योजना के विषय में उल्लेख कर देना आवश्यक है। वस्तुत भक्तों ने भारतीय रूप-सौन्दर्य वर्णन की परम्परा को अपनी साधना में अपनाया है, जो आगे चल कर रीतिकालीन वैष्णव कवियों में रूढ़िगत हो गई है। इन कवियों में भक्तों के सौन्दर्य का अरूप और असीम भाव आराध्य के मानवी शरीर की सीमाओं में अधिक सकुचित होता गया है। सूर के बाद भक्त कवियों में क्रमशः सौन्दर्य की व्यञ्जना के स्थान पर उसका रूपाकार अधिक प्रत्यक्ष होता गया है और शरीर के साथ अलकारों का वर्णन भी अधिक किया जाने लगा। आगे चलकर रीतिकाल म यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ती गई है। इस काल का स्वतन्त्र भक्त कवि कृष्ण के श्याम शरीर, मोर मुकुट और मकराकृत कुण्डलों पर अधिक आसक्त है, पर रीतिकालीन कवि आकार और शृङ्गार को प्रस्तुत करने में चमत्कृत उक्तियों का आश्रय लेता है। मीरा कृष्ण के सौन्दर्य की व्यजना नहीं करती। उनकी प्रेम साधना अतिमानवी कृष्ण को स्वीकार करके चलती है, जिसमें मोर-मुकुटधारी श्याम के रग में वे तल्लीन और भाव मग्न हैं। इसी प्रकार आगे के

१ सूरसा०, दश० पृ० ४५९—'श्यामा श्याम सुभग यमुना जल निर्भय करत विहार।'
२ वही, वही पृ० ३९३।
३ वही वही, पृ० ३९० में पद—'रसना युगल रस निधि बेलि।' देखना चाहिये।

उन्मुक्त प्रेमी कवि रसखान के सामने प्रिय का रूप है, पर उसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए उनको उपकरणों को जुटाने की आवश्यकता नहीं हुई—

कल कानन कुंडल मोर पखा उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि तरंग महाछवि छाजति है॥
रसखान लखै तन पीत पटा दामिनि की द्युति लाजति है।
यह बासुरी की धुनि कान परे कलकानि हियो तजि भाजति है॥[1]

इसमें सौन्दर्य-मूर्ति अपनी भाव-भंगिमा में आकर्षक हो उठी है।

विद्यापति (क)—सूर के पूर्व होने पर भी विद्यापति भक्तों की परम्परा से अलग हैं। इन्होंने एकान्त प्रेम और यौवन की भावना के साथ सौन्दर्य का चित्रण किया है। प्रेम-भावना का सम्बन्ध सौन्दर्य और यौवन से घनिष्ट है और विद्यापति में यौवन का सौन्दर्य अपने चरम पर है। विद्यापति का प्रेम सांसारिक सीमाओं से घिरा हुआ है और अपनी समस्त गम्भीरता और व्यापकता में वह लौकिक ही है। इसीके अनुसार इनका सौन्दर्य गतिमय और स्फुरणशील भावना में युक्त होकर भी अनन्त की ओर नहीं जाता। भक्त सूर के चित्रों में यदि सौन्दर्य का अनन्त प्रसार है, तो विद्यापति के रूप-चित्रों में खो जाने और विलीन हो जाने की भावना अधिक है। सूर के सौन्दर्य में आत्मतल्लीनता है और विद्यापति के सौन्दर्य में यौवन का उल्लास। साथ ही विद्यापति में स्त्री-सौन्दर्य का आकर्षण अधिक है—'नीले वस्त्र से शरीर छिपा हुआ है लगता है घन के अन्दर दामिनी की रेखा हो। ... कामिनी ने अपना आधा मुख हँसकर दिखाया और आधा भुजा में छिपा रखा है, जान पड़ता है चन्द्रमा का कुछ भाग बादल से ढका है और कुछ राहु द्वारा ग्रस्त है।'[2] फिर सौन्दर्य में शृंगारिक भावना की गोपनीयता के कारण रहस्यात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है, जिसमें कवि रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लेता है—

अभिनव एक कमल फुल सजनि दौना निमक डार।
सेंहो फूल ओनहि सुखायल सजनि रसमय फुलल नेवार।[3]

रीतिकालीन कवि (ख)—सौन्दर्य की इसी पार्थिव-भावना ने भक्ति-साधना में प्रेम का अनन्त आश्रय और आलम्बन प्रस्तुत किया था। परन्तु धीरे-धीरे रीतिकाल के कवियों में यह भावना शारीरिक रूप-वर्णन तक सीमित हो गई और इस काल में सौन्दर्य केवल भाव-भंगिमाओं तथा विचित्र कल्पनाओं से सम्बन्धित रह गया। रीतिकाल के वैष्णव कवियों के सामने आराध्य का रूप तो रहा है, पर उनकी सौन्दर्य व्यंजना कृत्रिम तथा अलंकृत हो गई है। उसमें प्रकृति-उपमानों का आश्रय कम लिया गया है;

---

१. सुन्दरीतिलक, भा० हरिश्चन्द्र, छंद ४०१
२. विद्यापति-पदावली, पद ८६।
३. वही, पद २६।

साथ ही उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह का आग्रह बढता गया है। रीतिकालीन सौन्दर्य-चित्रण की परम्परा को भक्तिकाल से अलग नही माना जा सकता। परम्परा एक है, केवल व्यजना मे भेद है। केशव जैसे आचार्य के सामने भी कृष्ण का रूप है, चाहे वह परम्परा से ही अधिक सम्बन्धित हो—'चपला हो पट हैं, मोरपक्ष का किरीट शोभित है, ऐसे कृष्ण इन्द्रधनुष की शोभा प्राप्त करते है। (इस वर्षाकालीन गगन-चित्र के रूप मे) कृष्ण वेणु बजाते, पद गाते, अपने सखा-रूपी मयूरो को नचाते हुए आते हैं। अरी, चातक के हृदय के ताप को बुझानेवाले इस रूप को देख लो सही—घनश्याम घने बादलो के रूप मे वेणु धारण किए हुए वन से आ रहे हैं।"[1] इसमे स्पष्ट ही एक ओर भाव-भगिमा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और दूसरी ओर उक्ति-निर्वाह पर कवि का विशेष ध्यान है। कभी-कभी कवि आलकारिक प्रतिभा से सौन्दर्य की कल्पना करता है—'पीत वस्त्र ओढे हुए श्याम ऐसे लगते हैं, मानो नीलमणि पर्वत पर प्रभात का आतप पड गया हो' और कभी अलकार-योजना के प्रयास मे सौन्दर्य अलौकिक भी जान पड़ता है—

> लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
> भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥[2]

रीतिकाल मे यही भावना बढती गई है। मतिराम कृष्ण के सौन्दर्य को शृगारिक वर्णनो तथा अनुभावो मे व्यक्त करते है—

> मोरपखा मतिराम किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सोहाई।
> मोहन की मुसकानि मनोहर कुडल डोलनि मैं छवि छाई ॥
> लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस आई।
> वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान सुनाई।[3]

इस चित्र मे प्रकृति-उपमानो के माध्यम से सौन्दर्य व्यजना के स्थान पर भाव-भगिमा के आकर्षण की ओर अधिक ध्यान है। इसका कारण भी प्रत्यक्ष है, इस काल मे कृष्ण साधारण नायक के रूप मे स्वीकार किए गए हैं। रीतिकालीन कवि कृष्ण को भगवान् स्वीकार अवश्य करता है, पर उनके रूप और चरित्र को साधारण नायक के रूप मे ही ग्रहण करता है। साथ ही इन कवियो मे आलकारिक प्रवृत्ति के बढ जाने से सौन्दर्य को विचित्र रूप मे अपनाने की भावना अधिक पाई जाती है। कवि के सामने सौन्दर्य की विचित्र कल्पना है और नायक-नायिका के प्रसग को लेकर शृगार के आलम्बन

---

१. रसिक प्रिया: केशव, ७१।
२. बिहारी-सतसई; दो० २१,१६५।
३. सुन्द०, मा० हरि० ; छद ३५४

रूप मे नायिका का सौन्दर्य उसके लिए अधिक आकर्षक हो गया है।[1] नारी सौन्दर्य मे हाव-भाव के साथ वैचित्र्य की भावना अधिक है, प्रकृति का आश्रय नही के बराबर रह गया है।

× × ×

**विराट-रूप की योजना**—वैष्णव भक्तो ने भगवान् को रूप और गुण की रेखाओ मे बाँधकर भी उसे अद्वैत माना है और विराट रूप मे उसे व्यापक असीम भी स्वीकार किया है। रामानुजाचार्य ने विश्व को ब्रह्म-विवर्त मानकर सत्य माना है; जब ब्रह्म सत्य है तो उसीका रूप विश्व-सर्जन भी सत्य है। इसी सत्य को लेकर भक्तो ने भगवान् की व्यापक भावना के साथ विराट प्रकृति-योजना उपस्थित की है। वल्लभाचार्य के अनुसार लीला मे प्रकृति का सत् भगवान् के सत् का ही रूप है। इस प्रकार राम और कृष्ण दोनो ही भक्तो के सामने भगवान् का विराट रूप प्रत्यक्ष है जिसमे प्रकृति का समस्त विस्तार समा जाता है। प्रकृतिवादी प्रकृति मे एक विराट योजना पाकर किसी व्यापक अज्ञात सत्ता का आभास पाता है। परन्तु भक्त का भगवान् अपनी विराट भावना मे प्रत्यक्ष है और प्रकृति उसीके प्रसार मे लीन होती जान पडती है। तुलसी ने राम के विराट स्वरूप का सकेत कई स्थानो पर किया है। काकभुशु डि गरुड से कहते हैं—'हे पक्षिराज, उस उदर मे मैंने सहस्र-सहस्र ब्रह्माडोंके समूह देखे। वहाँ अनेक लोकों की सर्जना चल रही थी जिनकी रचना एक से एक विचित्र जान पडती थी। करोडो शकर और गणेश वहाँ विद्यमान थे, वहाँ असख्य तारागण, रवि और चन्द्रमा थे और असख्य लोकपाल, यम तथा काल थे। असख्य विशाल भू-मडल और पर्वत थे और अपार वन, सर, सरि आदि थे। इस प्रकार वहाँ नाना प्रकार से सृष्टि का विस्तार हो रहा था।'[2] इसी प्रकार भगवान् के विराट रूप की व्याप्ति कौशल्या के सामने भी है—

> देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखड।
> रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

---

१. हजारा, हाफिज खा ; कृष्ण की छवि वर्णन के कवित्तों में इस प्रकार के उदाहरण अनेक हैं। कृष्ण कवि इस प्रकार वर्णन करते हैं—

> "मैं निरख्यौ ब्रजराज लला द्युति पुज हिए हित साजि रहे हैं।
> कृष्ण कहै दृगदीरघ देखि प्रभात के पकज लाजि रहे है॥
> मजुल आनन में मकराकृत कु डल यों छवि छाजि रहे हैं।
> मानों मनोज धर्यो हिय में अरु द्वार निशान बिराजि रहे हैं॥"

२. रामचरितमानस, तुलसी, उत्त०, दो० ८०।

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन।
कालकर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥[1]

समान रूप से सूर मे भी भगवान् कृष्ण के विराट रूप की योजना प्रकृति मे प्रतिघटित की गई है। इस विराट रूप मे लगता है प्रकृति का निलय ब्रह्मभावना के साथ हो जाता है। कथानक के प्रसग मे यह चित्रण आध्यात्मिक छायातप का कार्य करता है। 'माटी को' प्रसग मे बडी ही स्वाभाविक स्थिति मे विराट की यह भावना—

वदन उघारि देखायौ त्रिभुवन बन घन नदी सुमेर।
नभ ससि रवि मुख भीतर है सब सागर धरनी फेर॥[2]

आकर जननी को आश्चर्य-चकित कर देती है और उसमे 'मीठी माटी' कुछ भी कहते नही बनती। सूर इस प्रसग मे कई पदो मे विभिन्न भाव-स्थितियो के साथ इस भावना को उपस्थित करते हैं और अत मे स्वय वह उठते हैं—

देखो रे यशुमति बौरानी।
जानत नाहिं जगतगुरु माधौ यहि आये आपदा निशानी।
अखिल ब्रह्माड उदर गति जाकी ज्योति जल थलहि समानी।[3]

इस प्रकार भगवान् के विराट-स्वरूप मे प्रकृति-सर्जना सिमट जाती है और यह प्रकृति में व्यापक ब्रह्म-भावना का अध्यन्तरित रूप है। •

प्रकृति का आदर्श रूप—भक्त कवियो ने अपने आराध्य के सम्पर्क मे प्रकृति को आदर्श रूप मे उपस्थित किया है। जब प्रकृति भगवान् के सम्पर्क मे आती है या उनके सामने होती है उस समय उसमे परिवर्तन और क्षणिकता के लिये स्थान नहीं रह जाता। इस सीमा म प्रकृति चाहे राम के निवास-स्थल के रूप में हो अथवा राम-राज्य मे स्थित हो, उसम चिरन्तन-सौन्दय और सजीवता पाई जाती है। कृष्ण की लीला-स्थली गोकुल हो या वृन्दावन, सवत्र प्रकृति म चिर वसत की भावना रहती है। यह प्रकृति का आदर्श रूप सभी भक्त कवियो मे मिलता है। परन्तु तुलसी के राम आदर्श हैं और इनके अनुसार प्रकृति लीलामय की क्रीडास्थली नहीं है। इस कारण इनके प्रकृति-रूपों म अधिकतर आदर्श-भावना मिलती है। इनम उल्लसित भावमयी प्रकृति के स्थल कम हैं। तुलसी म आदर्श प्रकृति के स्थल वन प्रसग म तथा राम-राज्य के प्रसग मे मिलते हैं। वाल्मीकि ने वन प्रसग म अनेक प्रकृति-स्थलो को

---

१ वही, बहा, बा०, दो० २०१–२।

२. सूरसा०, दशम स्क०, पृ० १६५—'देखत स्थान परि के बाहर—।'

३. वही, वही, पृ० १६६—'मा देखत यशुमति तेरे ढोटा अबहा माटा खाद।' में भी यही भावना है।

न्दर रूप से चित्रित किया है। परन्तु तुलसी के सामने राम को लेकर ही सब कुछ है, यदि प्रकृति है तो वह भी राम को लेकर ही। उसमे यथातथ्य चित्रण सत्य नही, भगवान् के साथ वह चिर-नवीन और चिरन्तन है—'वह वन-पथ और पर्वत मार्ग धन्य है जहाँ प्रभु ने चरण रखे हैं। वन मे विचरण करने वाले विहग और मृग धन्य हैं जिन्होंने प्रभु के सौन्दर्य को देखा है।' आगे यह वर्णन इस प्रकार है—'जब से राम इस वन मे आकर रहे हैं, तभी से वन प्रकृति आनन्दमयी हो गई है। नाना प्रकार के वृक्ष फलने फूलने लगे, सुन्दर बेलियो के वितान आच्छादित हो गए, सभी वृक्ष कामतरु हो गए, मानो देव वन छोड़कर चले आए हैं। सुन्दर भ्रमरावलियाँ गुंजार करती हैं और सुखद त्रिविध समीर चलता है। नीलकंठ तथा अन्य मधुर स्वर वाले शुक, चातक, चकोर आदि भाँति भाँति के पक्षी कानो को सुख देते हैं।'[1] इसी प्रकार राम के मार्ग मे प्रकृति चिरतन आदर्श भावना के साथ बिखरी है—

राम सैल बन देखत जाहीं। जँह सुख सकल सकल दुख नाहीं।
झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रिविध तापहर त्रिविध बयारी।
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती।
सुन्दर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं।
सरनि सरोरुह जल बिहग, कूजत गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत विपिन, मृग विहग बहुरंग॥[2]

इस चित्र मे आदर्श भावना के साथ भगवान् के सामीप्य का सुख भी मिला हुआ है। गीतावली मे चित्रकूट वर्णन के प्रसग मे एक चित्र इस आदर्श से भी युक्त है।[3] परन्तु प्रकृति की यह निरन्तरता, चिर नवीनता और आदर्श कल्पना राम के व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित है। राम के अयोध्या लौट आने पर, राम राज्य के अन्तर्गत प्रकृति मे वही आदर्श-कल्पना सन्निहित है—'वन मे सदा ही वृक्ष फूलते फलते हैं, एक साथ हाथी और सिंह रहते हैं। खग-मृगा ने स्वाभाविक अपना द्वेष भाव भुला दिया है, सबमे परस्पर प्रीति बढ गई है। नाना भाँति के पक्षी कूजते हैं और अनेक प्रकार के पशु

१ रामच०, तुलसी, अयो०, दो० १३६-७।

२ वही, वही, वही, दो० २४९।

३. गीता०, तुलसी०, अयो०, पद ४४—

चित्रकूट अति विचित्र, सुन्दर बन महि पवित्र।
पावनि पय सरित सकल, मल निकन्दिनी॥
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुन्दर गिरि निर्झर भर।
जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की॥
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, सतत बहै त्रिविध बाउ।
जनु विहार-वाटिका नृप पंच बान की॥

आनन्दपूर्वक वन में विचरण करते हैं। शीतल सुगन्धित पवन मन्दगति से प्रवाहित होता है। भ्रमर गुंजारता हुआ मकरंद लेकर उड़ता है।"[1] इस आदर्श रूप में राम-राज्य की व्यवस्था का भाव भी छिपा है। प्रकृति भगवान् के सामने अपनी चिरतना में मग्न है, साथ ही राम-राज्य के आदर्श के समानान्तर भी दिखाई देती है। 'गीतावली' के उत्तरकाण्ड में इस प्रकार का प्रकृति-रूप आया है। तुलसी भक्ति को राम से अधिक महत्व देते हैं। इसीके अनुसार काकभुशुंडि के आश्रम का प्रकृति-वातावरण भक्ति के प्रभाव से द्वंद्वों और माया की नश्वरता से मुक्त है—

सीतल अमल मधुर जल जलज विपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन गुंजत मंजुल भृंग।।[2]

यह आश्रय अपनी स्थिरता में चिरंतन और अपने सौन्दर्य में चिरनवीन है।

कृष्ण-काव्य में (क)—कृष्ण-भक्त कवियों ने भी भगवान् के संसर्ग में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। परन्तु इनमें लीला की भावना प्रमुख है और इस लिए इनके काव्य में प्रकृति लीला की पृष्ठ भूमि के रूप में प्रभावित, मुग्ध या उल्लसित हो उठती है। इन सभी कवियों ने वृन्दावन, यमुना, गोकुल आदि की आदर्श कल्पना की है। ये स्थल कृष्ण की नित्य लीला से सम्बन्धित होने के कारण चिरंतन प्रकृति के रूप हैं। सूर आदर्श वृन्दावन की कल्पना करते हैं—

वृन्दावन निजधाम कृपा करि तहाँ दिखायो।
सब दिन जहाँ वसंत कल्प वृक्षन सों छायो।।
कुंज अद्भुत रमणीय तहाँ बेलि सुभग रहीं छाइ।
गिरि गोवर्धन धातुमय झरना झरत सुभाइ।।
कालिंदी जल अमृत प्रफुल्लित कमल सुहाई।
नगन जटित दोउ कूल हंस सारस तहँ छाई।।
क्रीडत स्याम किशोर तहाँ लिए गोपिका साथ।
निरखि सो छवि श्रुति चकित भई तब बोले यदुनाथ।।[3]

यही वृन्दावन है जिसमें कृष्ण की नित्य-लीला होती है और जहाँ भक्त भगवान् की लीला में आनन्द लेते हैं। परमानन्द भी इसी वृन्दावन में चिर सौन्दर्यमयी प्रकृति की आदर्श कल्पना करते हैं—जिसका मंजुल प्रवाह है और अवगाहन सुखद है ऐसी यमुना सुशोभित है। इसमें श्याम लहरें चंचल होकर झलकती हैं और मंदवायु से प्रवाहित होती है। जिसमें कुमुद और कमलों का विकास हो रहा है, दसों दिशाएँ सुवासित हो

१ रामच०, तुलसी० उत्त०, दो २३।
२ वही, वही, वही, दो० ५६।
३ सूरसा०, दशम स्क०, पृ० ४६२।

रही हैं। भ्रमर गुंजार करते हैं और हंस तथा कोक का शब्द छन्दायमान हो रहा है। ...ऐसे यमुना के तट पर रहने की कामना कौन नहीं करता।'[1] यह यमुना का तट साधारण नहीं है; यह अपनी कल्पना में आध्यात्मिक लीला-भूमि है। आगे परमानन्द वृन्दावन की आदर्श उद्भावना करते हैं—'वन प्रफुल्लित है—यमुना की तरंगों में अनेक रंग झलकते हैं। सघन सुगन्धित दृश्य अत्यन्त प्रसन्न करने वाला मुहावना है। चिंतामणि और सुवर्ण से जटित भूमि है जिसकी छवि अद्भुत है। झूमती हुई लता से शीतल मंद सुगन्धित पवन आती है। सारस, हंस, शुक और चकोर चित्रमय नृत्य करते हैं और मोर, कपोत, कोकिल सुन्दर मधुर गान करते हैं। युगल रसिक के श्रेष्ठ विहार की स्थली अपार छविवाली वृन्दा-भूमि मन-भावनी है, उसकी जय हो।'[2] गोविन्ददास युगल-आराध्य की लीला-भूमि को चिर-वसंत की भावना से युक्त करके चित्रित करते हैं—

> ललित गति विलास हास दंपति अति मन हुलास।
> विगलित कच-सुमन बास स्फुरित-कुसुम-निकर तेसीहे शरदरैन झुनाई।
> नव-निकुंज भ्रमरगुंज कोकिला-कल-कूजित-पुंज सीतलसुगंध मंद बहत
> पवन सुखदाई।[3]

यह प्रकृति का आदर्श चित्र लीला की पृष्ठ-भूमि है और आध्यात्मिक वातावरण से युक्त है। इसी प्रकार रास के अवसर पर यमुना-पुलिन का चित्र कृष्णदास के सामने है—'यमुना-पुलिन के मध्य में रास रचा हुआ है; जल की शीतलता के साथ मन्द मलय पवन प्रवाहित हो रहा है; पुष्पों के समूह फूल रहे हैं। शरद की चाँदनी फैली है; भ्रमरावली जैसे चरणों की वन्दना कर रही है....कृष्ण की गयदगति मानो शरद-चन्द्र के लिए फंदा है।'[4] यहाँ अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के साथ प्रकृति में आदर्श कल्पना है। यह समस्त प्रकृति का रूप यथार्थ से भिन्न होकर अलौकिक नहीं है। इनमें यथार्थ की चिर-नवीन और अनश्वर स्थिति को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। कृष्ण-भक्तों ने इस रूप को रूप-रंग आदि की गम्भीर प्रभावशीलता के साथ व्यक्त किया है; जब कि तुलसी के आदर्श में नियमन की भावना सन्निहित है।

**प्रभावात्मक क्रीड़ाशील प्रकृति**—हम कह चुके हैं कि सगुण-भक्तों के लिए प्रकृति की सार्थकता और उसका अस्तित्व भगवान् की कल्पना को लेकर है। भगवान् धराधाम पर लीला या चरित्र करने अवतरित हुए हैं—और प्रकृति उनसे प्रभाव ग्रहण

१. कीर्त० (भाग ३ उत्त०); पृ० ८—'अति मंजुल जलप्रवाह'।
२. वही (वही); पृ० ८—'प्रफुल्लित वन विविध रंग'।
३. वही (वही); पृ० ३०२।
४. वही (वही); पृ० ३०१।

करती रहती है। भगवान् के सामने प्रकृति किस प्रकार गतिमान और क्रियाशील है, इसी ओर भक्तों का ध्यान जाता है। प्रकृतिवादी कवि अपने समक्ष प्रकृति में सहानुभूति और सचेतना का प्रसार पाकर उल्लसित या मुग्ध-मौन हो जाता है। वस्तुत यह उसीकी अन्त चेतना का बाह्य प्रतिम्बिव भाव है जो प्रकृति से तादात्म्य करता जान पड़ता है। इसी प्रकार की भावना दूसरे प्रकार से सगुण-भक्तों के प्रकृति रूपों मे मिलती है। प्रकृतिवादी के लिए आलम्बन प्रकृति है और तादात्म्य की भाव-स्थिति कवि की आत्मचेतना है। परन्तु यहाँ भगवान् के आलम्बन रूप के साथ प्रकृति सहचरी मात्र है। इस कारण प्रकृति का रूप भगवान् की भावना मे प्रभावित होता है और उसीसे तादात्म्य स्थापित करता है। इस स्थिति मे प्रकृति की सारी प्रभावशीलता, मुग्धता और उल्लास भगवान् के सामीप्य को लेकर है। प्रकृति का स्थान गौण होने के कारण, उसका चित्र प्रमुख भी नही होने पाया है। इस प्रसग मे यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तुलसी की भक्ति-भावना मे लीला के स्थान पर चरित्र का महत्त्व है। इस प्रकार तुलसी के प्रकृति-रूपों मे उल्लास की भावना या मुग्धता का भाव नही मिलता जो कृष्ण के लीलामय रूप से सम्बन्धित है। तुलसी मे भगवान् के ऐश्वर्य से प्रभावित और क्रियाशील प्रकृति का रूप अवश्य मिलता है और यह उनकी चरित्र-साधना के अनुरूप भी है।

ऐश्वर्य का प्रभाव (क)—राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति दोनो ही परम्पराओ मे प्रकृति प्रभाव ग्रहण करती हुई उपस्थित हुई है। बार बार आकाश से पुष्पवर्षा होती है, आकाश मे देव विमानो पर आ जाते हैं, गन्धर्व गान करने लगते हैं। ये सब अतिप्राकृतिक रूप हैं जिनसे भगवान् का ऐश्वर्य प्रदर्शित होता है। तुलसी ने चित्रकूट मे प्रकृति को राम के सकेत पर क्रियाशील उपस्थित किया है, जिसमे ऐश्वर्य की भावना व्यजित होती है —'विपुल और विचित्र पशु-पक्षिओ का समाज राम की प्रजा है।.... अनेक पशु आपस मे वैर छोडकर चरते है *मानो राम की चतुरगिणी सेना ही हो। झरना* झरते हैं और मत्त हाथी गरजते हैं, ऐसा लगता है विविध निशान बजते हैं। चक्रवाक, चकोर, चातक, शुक, पिक के समूह कूजन करते हैं, मराल भी प्रसन्न मन है। भ्रमर समूह गान कर रहे हैं और मोर नाचते हैं। और मानो सुराज का मगल चारो ओर फैला हुआ है।"[1] यह वर्णना आदर्श रूप के समान है, पर इसमे व्यजना राम के ऐश्वर्य के प्रभाव की ध्वनित होती है। इसी प्रकार एक प्रकृति का चित्र गीतावली मे भी है, उसमे भगवान् के असीम ऐश्वर्य का प्रभाव प्रकृति पर प्रतिबिम्बित हो रहा है—

आइ रहे जब तें दोउ भाई।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई।
फूलत फलत पल्लवत पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदाई।

---

१. रामच०, तुलसी, अयो०, दो० २३६।

सरित सरनि सरसीरुह-सकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई ।
कूजत विहग मजु गुजन अलि जात पथिक जनु लेत बुलाई ।[1]

जहाँ तक प्रकृति का भगवान् के प्रभाव से आन्दोलित हो उठने का प्रश्न है, तुलसी मे ऐसे स्थल कम हैं। धनुष-भग होने के समय अवश्य एक बार विश्व-सर्जन जैसे अस्थिर हो उठता है और इसी प्रकार जब राम सिन्धु पर क्रुद्ध होकर वाण सधानते हैं, उस समय समुद्र का अस्तित्व स्थिर हो जाता है। भगवान् राम को ऐश्वर्य-रूप मे जभी कुछ आक्रोश आता है तुलसी की प्रकृति भयभीत और आदोलित हो उठती है—

जब रघुबीर पयानो कीन्हों ।
छुभित सिंधु डगमगत महीधर सजि सारँग कर लीन्हो ।
सुनि कठोर टकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि ।
पवन पगु पावक पतग ससि दुरि गए थके बिमान ।[2]

इसी प्रकार प्रकृति भगवान् के इगित पर चलती है और यह भक्त की अपनी दृष्टि है।

लीला की प्रेरणा (ख)—सूर तथा अन्य कृष्ण भक्तो ने भी भगवान् के प्रभाव म प्रकृति को क्रियाशील दिखाया है। ऐसे स्थलो पर वह कृष्ण की शक्ति से सचरित लगती है या उससे प्रेरित जान पडती है। मगल प्रकृति के मुग्ध या उल्लसित रूपो पर भी भगवान् का किसी न किसी प्रकार का प्रभाव है। परन्तु यहाँ प्रभाव से हमारा अर्थ है, प्रकृति का भगवान् की शक्ति से प्रेरित तथा क्रियाशील होना। बाल रूप कृष्ण अँगूठा मुँह मे डालते हैं और— सिंधु उछलने लगा, कमठ अकुलाकर काँपने लगा। हरि के पाँव पीते ही, शेष अपने सहस्रो फनो से डोलने लगा। वट वृक्ष बढ़ने लगा देवता आकुल हो उठे, आकाश म घोर उत्पात होन लगा—महाप्रलय के मेघ जहाँ-तहाँ आघात करके गरज उठे।[3] इसी प्रकार की एक स्थिति परमानददास ने उपस्थित की है। वसुदेव कृष्ण को लेकर भादो की अँधेरी रात मे गोकुल जा रहे हैं और प्रकृति भगवान् की प्रेरणा से सचलित होती है—

आठैं भादो की अँधियारी ।
गरजत गगन दामिनी कोधति गोकल चले मुरारी ।
शेष सहस्र फन बूँद निवारत सेत छत्र सिर तान्यो ।

---

१ गीता०, वही, अयो०, पद ४६ ।

२ वही वही सुन्द०, पद २५ ।

३ सूरसा०, दश०, पृ० १३६—'चरण गहे अँगुठा मुख मेलत ।'

वसुदेव अंक मध्य जगजीवन कहा करेयो पान्यो।
यमुना थाह भई तिहि ओसर आवत जात न जान्यो।[1]

इन प्रकृति-रूपो के अतिरिक्त कृष्ण कस के भेजे हुए जिन दैत्यो से व्रज की रक्षा करते हैं वे प्रकृति सम्बन्धी प्रकोपो मे प्रकट होते हैं। और उनको विध्वस्त करने मे भगवान् की शक्ति का परिचय मिलता है। यह तो पहले ही सकेत किया गया है कि भगवान् की लीलाओ पर आकाश के देवता तथा अन्य प्रकृति से सम्बन्धित पात्र जय-जयकार करने लगते है।

लीला के समक्ष प्रकृति—हम जिस प्रकृति-रूप का उल्लेख करने जा रहे हैं, उसके आधार मे आचार्य वल्लभ की लीला-भावना है। वल्लभ के अनुसार चित् और *आनन्द से अलग प्रकृति सत् मात्र है। परन्तु जिस प्रकार जीव भगवान् की लीला मे* भाग लेकर आनन्द प्राप्त करता है, उसी प्रकार प्रकृति इस लीला की स्थली होकर आनन्द को अपने मे प्रतिबिम्बित कर लेती है। यही कारण है, जब प्रकृति कृष्ण की रास-लीला या वशी-ध्वनि के सम्पर्क मे आती है, उस समय वह मौन मुग्ध हो उठती है। यह मुग्धता केवल मौन ही नही हो जाती, वरन् स्वय मे आनन्दप्रद आकर्षण बन जाती है। आगे चलकर यह आनन्द की भावना उल्लास के रूप मे प्रकृति मे प्रतिघटित होती है। पहले प्रकृति के उसी रूप पर विचार करना है जो मुग्ध होकर मौन हो उठता है। तुलसी मे यह रूप लीला से सम्बन्धित न होकर रूप-सौन्दर्य से सम्बन्धित है—'वन मे मृगया खेलते हुए राम सुशोभित हैं, वह छवि वर्णन करते नही बनती। मृग और मृगी इस अलौकिक रूपक को देखकर, न तो हिलते हैं और न भागते हैं। उनको वह रूप पचशायक धारण किए हुए कामदेव लगता है।'[2] भगवान् की लीला के सम पर प्रकृति का रूप कृष्ण-भक्त कवियो मे ही आ सका है। यहाँ फिर प्रकृतिवादी दृष्टि से एक बार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। प्रकृतिवादी अपनी साधना मे प्रकृति के माध्यम से एक ऐसा सम प्राप्त करता है कि उस भाव स्थिति में प्रकृति तादात्म्य स्थापित करती हुई मुग्ध लगती है और आगे चलकर साधक के आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर उल्लसित भी होती है। परन्तु भक्त के सामने आराध्य का लीला मय रूप है, उससे वह अपने मन का सम ढूँढता चलता है। लीला के इसी सम पर उसकी प्रकृति मुग्ध मौन है और आनन्द भावना मे उल्लसित भी। प्रकृति के इस रूप को दो भागो म विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि इन रूपो मे एक दूसरे का अन्तर्भाव है। कुछ स्थलो पर प्रकृति कृष्ण की वशी के प्रभाव से मुग्ध है और कही रास के समक्ष मौन-चकित है। इसके अतिरिक्त प्रकृति कभी वशी के प्रभाव से मुग्ध है और

---

१ कीर्त० (भाग ३ उत्त०), पृ० ६१।
२ कवितावली, तुलसी, अयो०, छद २७।

सभी रास की क्रीडा से उल्लसित जान पड़ती है। इस प्रकृति-रूप पर आनन्द का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है।

स्तब्ध और मौन-मुग्ध (क)—कृष्ण-भक्त कवियो के लिए वशी भगवान् की आकर्षण-शक्ति का प्रतीक रही है, उसीसे समस्त सर्जन भगवान् की लीला की ओर आकर्षित होता है। यही कारण है कि वशी की ध्वनि के प्रभाव मे प्रकृति स्तब्ध है। सूर कहते हैं—'मेरे श्याम ने जब मुरली अधरो पर रख ली, उसकी ध्वनि सुनकर सिद्धो की समाधि टूट गई। सुनकर देव-विमान चकित हो गए, देव-नारियाँ स्तब्ध चित्र-लिखित रह गई। ग्रह-नक्षत्र रासमय हो उठे · इसी ध्वनि मे बँधे हुए हैं। आनन्द उमग मे पृथ्वी और समुद्र के पर्वत चलायमान हो गए। विश्व की गति विपरीत हो गई, वेणु की गति-कल्पना से झरना झरने लगे, गधर्व सुन्दर ज्ञान से मुग्ध हो गए। सुनकर पक्षी और मृग मौन हो गए, फल और तृण खाना भूल गए। · · द्रुम और बल्लरियाँ चचल हो गई और उनमे किसलय प्रकट हो गए। वृक्ष पत्ता मे चचल हैं, मानो निकट आने को अकुलाते हैं। · · · सुनकर चचल पवन चकित रह गया और नदी का प्रवाह रुककर स्थिर हो गया।'[1] सूर के इस प्रकृति-रूप मे मुग्ध तथा स्तब्ध रह जाने का भाव अधिक व्यक्त होता है, फिर भी इसमें उल्लास का भाव निहित है। रास के अवसर पर मुरली का प्रभाव अधिक व्यापक और मुग्धकारी है, साथ ही आह्लाद की भावना भी मिली हुई है—

> मुरली सुनत अचल चके।
> थके चर जल झरत पाहन विफल वृक्षन फले।
> पय स्रवत गोधननि थनते प्रेम पुलकित गात।
> झरे द्रुम अकुरित पल्लव विटप चचल पात।
> सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्त की अनुहारि।[2]

वस्तुत: प्रकृति की यह स्तब्ध-मौन स्थिति भी उल्लास की अतिशय भावना को लेकर है, केवल उल्लासमय प्रकृति रूपा मे प्रकृति की सप्राणता और गतिशीलता अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है। यही कारण है कि प्रकृति के इन मुग्ध चित्रो मे उल्लास का भाव मिल गया है। कृष्णदास रास के अवसर पर वशी ध्वनि के प्रभाव का उल्लेख करते हैं—'आज नन्दनन्दन गोवर्धन धारण करने वाले कृष्ण ने यमुना के पुलिन पर अधरो पर वशी रखी—जिसको सुनकर देवागनाएँ अपना घर छोडकर आकाश से फूल बरसाने लगी, इस ध्वनि को सुनकर बछडे, पक्षी और मृग सभी ध्यान-मग्न हो गए,

---

१ सूरसा०, दशम स्क०, पृ० २३५—'मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी।'
२ वही, वही पृ० ४४१।

सभी द्रुमबेलियाँ प्रफुल्लित हो गई ···· कमल-वदन को देखकर सहस्रों कामदेव मोहित हो गए।"[1] इस चित्र में मुग्ध-भाव के अन्तर्गत ही प्रकृति की तीन स्थितियों का समन्वय है—प्रकृति स्तब्ध है, उल्लसित है और भ्रमित भी है। हितहरिवंश भी इसी प्रकार के प्रकृति-रूप की ओर संकेत करते हैं—

मोहनी मदन गोपाल लाल की बाँसुरी।
मधुर श्रवण पुट सुनत स्वर राधिके करत।
रतिराज के ताप को नाश री।
शरद राका रजनी विपिन वृन्दा शरद अनिल।
तन मंद अलि शीतल सुवासी।
सुभग पावन पुलिन भृंग सेवत नलिन कल्पतरु।
रुचिर वलवीर कृतरास री।"[2]

नन्ददास ने 'रास पंचाध्यायी' में प्रकृति का रूप इसी प्रकार चित्रित किया है; साथ ही कुछ स्थलों पर रास के प्रसंग में उल्लास की भावना भी व्यक्त हुई है। रास की शोभा को देखकर प्रकृति मुग्ध हो उठती है—'मोहन ने अद्भुत रास की रचना की, संग में राधा और चारों ओर गोपियाँ हैं—एक ही बार मुरली के सुधामय स्वर से देवता मोहित हो गए, जल-थल के जीव भी मुग्ध हो गए, समीर भी थकित हो गया और यमुना उलटी प्रवाहित होने लगी।' ··· श्याम इस प्रकार निशा में विहार करते हैं।'[3]

आनन्दोल्लास में मुखरित (ख)—मुग्धता का यही भाव उल्लास में मुखरित और गतिशील हो जाता है। वंशी ध्वनि से, रास-लीला के समक्ष अथवा अन्य लीलाओं के अवसर पर प्रकृति भगवान् के आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हुई उल्लसित हो जाती है। प्रकृतिवादी अपने मन के आनन्दोल्लास को प्रकृति के गतिमय सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त करता है। लेकिन भक्ति-भावना में प्रकृति का उल्लास भगवान् के आनन्द-रूप का प्रभाव है। तुलसी के सामने भगवान् का लीलामय रूप नहीं है, इस कारण उनमें यह रूप नहीं मिलता। परन्तु भगवान् के ऐश्वर्य से उल्लास ग्रहण करती प्रकृति का रूप कहीं-कहीं मिल जाता है। 'गीतावली' में राम पथिक भेष में हैं—

देख राम पथिक नाचत मुदित मोर।
मानत मनहुँ सतडित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टकोर।

---

१ कीर्त० (भाग १ उत्त०), पृ० ३०१—'आज नन्दनन्दन गोविन्द गिरिवर धरन'।
२. वही, पृ० ३२४।
३. रास पंचाध्यायी; नन्ददास, प्र० स्क०।

कंपे कलाप वर बरहि फिरावत गावत कल कोकिल किसोर ।।
जहँ जहँ प्रभु विचरत तहँ तहँ सुख दडक बन कौतुक न थोर ।
सघन छाँह तम-रुचिर रजनी भ्रम बदन-चन्द चितवत चकोर ।
तुलसी मुनि खग मृगनि सराहत भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ।।[1]

इस प्रकृति में उल्लास की भावना भगवान् के रूप और सामीप्य से सम्बन्धित है। परन्तु कृष्ण-काव्य में प्रकृति का रूप भगवान् की लीला से तादात्म्य स्थापित करता है। वशी-वादन और रास-लीला के प्रसग में प्रकृति के अधिकांश चित्रों में मुग्ध भाव के साथ उल्लास भी सन्निहित है। हितहरिवश रास के प्रसग में प्रकृति का उल्लेख करते हैं—'यमुना के तट पर आज गोपाल रसमय रास क्रीडा करते हैं। शरत चन्द्र आकाश में सुशोभित हो गया है, चपक, बकुल, मालती के पुष्प मुकुलित हो रहे हैं और उनपर प्रसन्न भ्रमरों की भीड़ है। इन्द्र प्रसन्न होकर निशान बजाते हैं जिसको सुनकर मुनियो का भी धैर्य छूटता है। मनमना श्यामा मन की पीडा को हरती है।'[2] यहाँ प्रकृति की क्रियाशीलता में उल्लास की व्यजना हुई है। गदाधर भी इसी प्रकार के प्रकृति-रूप का सकेत देते हैं—'आज मोहन ने रास मडली रची है। पूर्ण चन्द्र उदित है, निर्मल निशा है और यमुना का सुन्दर किनारा है। पवन के सचरण से द्रुम पखे के समान जान पडते हैं कुन्द, मन्दार और कमल के मकरन्द से आच्छादित कुज-पुजो में भ्रमर सुन्दर गुजार करते हैं।'[3] इन प्रसगो के अतिरिक्त वसत, फाग और हिंडोला आदि लीलाओं में भी प्रकृति भावमग्न चित्रित की गई है। परन्तु ऊपर के दोनों प्रसग आध्यात्मिक भावना से अधिक सम्बन्धित हैं और उनमें लीलामय भगवान् के सम्पर्क में प्रकृति के सत् को 'चिदानन्द' की ओर आकर्षित होते दिखाया गया है। वसत आदि के प्रसगो में प्रकृति का उल्लास उद्दीपन भावना से प्रभावित है और इनपर प्रचलित परम्पराओं का अधिक प्रभाव है। इनमें प्रकृति का प्रयोग भक्तों की मन स्थिति में भगवान् की शृगार लीला के लिए प्रकृति उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई है। नन्ददास वसत के उल्लास का रूप उपस्थित करते है—

चल बन देख सयानी यमुना तट ठाढ़ो छैल गुमानी ।
फूले कदम्ब गहर पलास द्रुम त्रिविध पवन सुखकारी ।।
बहुरग कुसुम पराग बहक रह्यो अलि लपेट गुंजत मृदुबानी ।
करि कपोत कोकिला ध्वनि सुनि ऋतु वसत लहकानी ।।[4]

---

१ गीता०, तुलसी, अर०, पद १।
२ कार्त० (भाग १), पृ० ३०७।
३ वही, पृ० ३२४—'आज मोहन रची रासमन्डली।'
४ वही, पृ० ३२२।

यहाँ प्रकृति की भावात्मकता अन्य भाव-स्थिति को लेकर है, इसलिए इन रूपों की विवेचना 'उद्दीपन-विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरण में की जायगी। फिर भी भगवान् की शृंगार-लीला में यह प्रकृति-रूप आध्यात्मिक भावना को उद्दीप्त करने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

× × ×

इस समस्त विवेचना के पश्चात् हम देखते हैं कि मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना में प्रकृति की परिकल्पना अनेक प्रकार से की गयी है। इन रूपों में प्रकृति प्रमुख नहीं है अर्थात् वह आलम्बन प्रमुखत. नहीं है। फिर भी रूपों में अनेकता और विविधता है और व्यापक दृष्टि से भगवान् के माध्यम से प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान भी मिला है। साथ ही इन कवियों तथा प्रकृतिवादियों की प्रकृति-परिकल्पना में एक प्रकार की समानान्तरता भी देखी जा सकती है।

## षष्ठ प्रकरण

# विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति

**काव्य की परम्पराएँ**—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की प्रमुख प्रवृत्तियो के विषय मे विचार करते समय उस युग की स्वच्छदवादी भाव-धारा की ओर भी संकेत किया गया है। साथ ही उसकी विरोधी शक्तियो का उल्लेख किया गया है। इस पिछली विवेचना के आधार पर मध्ययुग के विभिन्न काव्य-रूपो और उनमे प्रयुक्त प्रकृति-रूपो पर विचार करना है। मध्ययुग के धार्मिक काल मे हमको साहित्यिक अनुकरण की प्रवृत्ति मिलती है, जो आगे चलकर रीतिकाल मे प्रमुख हो उठी है। इस कारण धार्मिक साहित्य मे भी प्रकृति के रूपो का प्रयोग साहित्यिक रूढियो के अन्तर्गत हुआ है। यद्यपि कहा गया है कि मध्ययुग के काव्य मे प्रकृति के अनेक स्वच्छद और उन्मुक्त रूप मिलते हैं। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध धार्मिक काल मे स्वच्छद भावना का योग विभिन्न काव्य-रूपो मे विभिन्न प्रकार से हुआ है। इन काव्य-रूपो के विकास मे इस भावना का अपना योग रहा है। इस कारण इन काव्य-रूपो के अनुसार प्रकृति पर विचार करना अधिक उचित होगा। इन काव्य रूपो की परम्पराओ मे स्वच्छदवादी प्रवृत्तियो के साथ प्रतिक्रियात्मक शक्तियो का हाथ रहा है। फलस्वरूप इनमे हम प्रकृति को मिश्रित सम्बन्धों में देख सकेंगे। जो काव्य परम्परा जिस सीमा तक जिन प्रवृत्तियो से प्रभावित हुई है, उसमे प्रकृति के रूप भी उसी प्रकार प्रभाव ग्रहण करते हैं। इस प्रकरण में मध्ययुग की समस्त काव्य परम्पराओ मे प्रकृति के स्थान के विषय मे विचार किया जायगा। परन्तु इस विवेचना मे प्रकृति के उद्दीपन-रूपो को छोड दिया गया है, क्योकि यह अगले प्रकरण का विषय है। इसका अर्थ यह नही है कि इस प्रकरण मे प्रकृति का आलम्बन सम्बन्धी दृष्टि-विन्दु है। वस्तुत यहाँ विभिन्न काव्य-रूपो मे प्रकृति के प्रयोगो को स्पष्ट किया जायगा, साथ ही विशुद्ध उद्दीपन विभाव मे आने वाले रूपो को छोडकर अन्य रूपो को भी प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ सुविधा के अनुसार मध्ययुग के समस्त काव्य-रूपो को चार परम्पराओ मे विभाजित किया जा सकता है।

पहली परम्परा कथा-काव्य की है जिसमें कथानक और प्रबन्ध को लेकर चलने वाले काव्य हैं। दूसरी परम्परा गीति-काव्य की है जिसमें स्वतन्त्र तथा घटना-स्थिति आदि से सम्बन्धित पद-काव्य-रूप आता है। तीसरी परम्परा मुक्तक-काव्य की है जो गीति काव्य से एक सीमा तक समान है; परन्तु इसमें भाव-शीलता के स्थान पर छंद-मयता तथा कवित्व अधिक रहता है। चौथी परम्परा रीति-काव्य की है जिसमें काव्य-शास्त्र का प्रतिपादन हुआ है और स्वतन्त्र उदाहरण जुटाए गए हैं। इनके उदाहरण के छंद मुक्तकों के समान हैं, केवल उनमें कवित्व का चमत्कार तथा रूढ़ि-वादिता अधिक है।

## कथा-काव्य की परम्परा

मध्ययुग के कथा-काव्य का विकास—जिस समय संस्कृत साहित्य में महा-काव्यों की परम्परा चल रही थी और उनका रूप अधिक अलंकृत होता जा रहा था, उसी समय अपभ्रंश साहित्य में 'रामायण' और 'महाभारत' के समान चरित काव्यों (प्रबन्ध-काव्यों) का प्रचार हो गया था। इन चरित-काव्यों के प्रचार का कारण, जैनों का इस माध्यम से अपने धर्म को जनता तक पहुँचाने का विचार था। इन काव्यों में दोहा-चौपाई छंद का प्रयोग भी मिलता है। इनके विषय में एक प्रमुख बात यह है कि इनमें कलात्मकता तथा आलंकारिता से अधिक ध्यान कथा और धार्मिक सिद्धान्तों की ओर दिया गया है। फिर भी अपभ्रंश के कवियों के सामने साहित्यिक परम्परा अवश्य थी। वर्णनों को लेकर यह बात स्पष्ट है, इनमें ऋतुओं, वन-पर्वतों तथा प्रात-सन्ध्या आदि का वर्णन संस्कृत काव्यों के समान मिलता है। लेकिन ऐसा होने पर भी इन गाथा-काव्यों में कथात्मकता को लेकर लोक-रुचि का ध्यान है, साथ ही प्रकृति-रूपों में स्थान-स्थान पर स्वच्छंद भावना है और वर्णना में स्थानगत विशेषताओं का प्रयोग हुआ है। कथा के प्रति आकर्षण लोक की स्वाभाविक रुचि है। लोकगीतों में भी लोक-प्रचलित कथाओं का आधार रहता है। लोकगीतों की कथाओं में भावों का प्रगुम्फन और प्रकृति का वातावरण उन्मुक्त और स्वच्छंद रहता है। अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में धार्मिक वातावरण है और सामन्ती कवियों में शृंगार की भावना अधिक है। इसी अपभ्रंश साहित्य के लगभग समानान्तर संस्कृत का पौराणिक साहित्य चलता है। एक सीमा तक ये दोनों साहित्य एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग में रासो की परम्परा अपभ्रंश के सामन्ती वीर-काव्यों की परम्परा है। इसमें भी हमको शृंगार और वीर-रस की भावना प्रमुखतः मिलती है और साहित्यिक रूढ़ियों का अनुकरण तथा अनुसरण दोनों ही पाया जाता है।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के कथा-काव्यों पर इन पिछली परम्पराओं का

प्रभाव है। यह प्रभाव कथा और उसके रूप से सम्बन्धित तो है ही; साथ ही राम-काव्य तथा सूफी प्रेमाख्यानो मे धार्मिक प्रतिपादन और साहित्यिक आदर्शों का पालन भी है। परन्तु जैसा द्वितीय प्रकरण मे देखा गया है व्यापक रूप मे इस युग के कथा-काव्य मे उन्मुक्त वातावरण मिलता है। इस युग मे 'ढोला मारूरा दूहा' जैसे कथात्मक लोकगीत भी मिलते हैं। इसमे भावो के साथ प्रकृति को भी उन्मुक्त वातावरण मिल सका है। वस्तुत इस युग की कथात्मक लोक-भावना को समझने के लिए यह काव्य बहुत महत्वपूर्ण है। प्रेम-काव्यो मे जिनमे सूफी तथा स्वतन्त्र दोनो ही कथानक आ जाते हैं, यही भावना प्रचलित रूपो के साथ ग्रहण की गई है। इनमे साहित्यिक परम्परा की झलक किसी किसी स्थल पर मिलती है। सूफियो की आध्यात्मिक भावना बहुत कुछ स्वच्छद भावना से तादात्म्य स्थापित करती है। तुलसी के 'रामचरित-मानस' मे पौराणिक धार्मिक-प्रतिपादन शैली के साथ साहित्यिक आदर्शों को भी अपनाया गया है। अपनी प्रवृत्ति मे आदर्शवादी होने के कारण, एक सीमा तक काव्य के स्वच्छद वातावरण को अपनाकर भी तुलसी प्रकृति के प्रति उन्मुक्त नही हो सके हैं। इस मध्ययुग मे सस्कृत महाकाव्यो के समान कोई रचना नही हुई है, लेकिन अलकृत भावना को लिए हुए कुछ काव्य मिलते हैं। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' और पृथ्वीराज की 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' इस प्रकार के प्रमुख काव्य हैं। इनमे परम्परा-पालन तथा रूढिवादिता अधिक है, इसी कारण इनमे प्रकृति-वर्णना अलकृत हो उठी है। इन काव्यो मे हम देखेंगे सस्कृत महाकाव्यो के समान प्रकृति के स्थलो का चुनाव है और वर्णनो मे वैचित्र्य की भावना भी है।

**लोक गीत तथा प्रेम कथा काव्य**—कथा-काव्यो मे प्रेम-काव्य अपनी प्रवृत्ति और परम्परा दोनो मे जन-जीवन के अधिक निकट है। इनमे जन-जीवन से सम्बन्धित प्रेम के सयोग वियोग, दु ख-सुख के चित्रो का समावेश है। इसीके अनुसार इनमे जन-रुचि के अनुकूल कहानियो को लिया गया है। प्रेम-काव्यो की कथात्मक शृखला मे गीति-भावना का सम्मिलन हुआ है। जन-जीवन की निकटतम दुःख-सुख-मयी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के उन्मुक्त और स्वच्छद वातावरण मे ही गीतियाँ पलती हैं। जीवन की छोटी परिस्थिति भावना की हलकी अभिव्यक्ति से मिल-जुलकर जनगीतियो मे आती है। वस्तुत जीवन की यही परिस्थिति, भावना का यही रूप जन-कथा की लोकप्रियता के साथ हिलमिल जाता है। और तब वही जन-गीति कथात्मक हो उठती है। परन्तु अपने समस्त विस्तार मे जन-गीति कथात्मक होकर भी कथामय नही हो पाती। जन-गीति और कुछ दूर तक काव्य-गीति भी, किसी वस्तु-स्थिति को आधार के रूप मे ही ग्रहण करती है। यही कारण है कि इसमे कथा का रूप भाव-स्थितियो को आधार देने के लिए होता है। इसमे कथा अपने आप कहीं भी प्रमुख

नहीं होती। मध्ययुग के कथा-काव्य का सम्बन्ध इन गीतियों से अवश्य रहा है। प्रबन्धात्मक कथा-काव्यों की मूल प्रेरणा का स्रोत ये ही हैं। बाद में अवश्य इनको पौराणिक कथा-साहित्य का आधार और जैन कथा-परम्परा का रूप मिल सका है। इन कथा-काव्यों में प्रेम का उन्मुक्त वातावरण लोक प्रचलित कथा-गीतियों से अधिक सम्बन्धित है। इस प्रकार के कथात्मक गीति-काव्य के रूप में हमारे सामने केवल 'ढोला मारूरा दूहा' है जिसके आधार पर हम देख सकेंगे कि अन्य समस्त प्रेम-कथाओं का रूप किस प्रकार की स्वच्छंद भावना से विकसित हो सका है। इस प्रकार की प्रेम-कथाओं के साहित्य में दो रूप मिलते हैं। एक रूप में प्रेम-कहानी को लौकिक अर्थ में ग्रहण किया गया है और दूसरे में आध्यात्मिक अर्थ में। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। लोककथा-गीति 'ढोला मारूरा दूहा' और अन्य प्रेम-सम्बन्धी स्वतन्त्र काव्यों में भेद है और इसको लेकर इनके प्रकृति-रूपों में भी अन्तर है। प्रेमाख्यान काव्यों में कथानक सम्बन्धी प्रबंध-काव्यों की परम्परा का प्रभाव पड़ा है और इस सीमा में स्वतन्त्र तथा सूफी दोनों प्रेम-काव्य की परम्पराएँ समान हैं। जहाँ तक 'ढोला मारूरा दूहा' का प्रश्न है यह कथा-काव्य के उन्मुक्त और गीति-काव्य के स्वच्छंद रूप की मिश्रित वस्तु है। इस लोक-गीति में प्रेम-कथा और प्रेम-गीति दोनों के मूल रूप निहित हैं। यही कारण है कि इसमें जो प्रकृति सम्बन्धी भावना पाई जाती है, उसका एक दिशा में विकास कथात्मक प्रेम-काव्यों में हुआ है और दूसरी दिशा में गीतियों में हो सका है।

स्थानगत रूप-रंग (देश)—'ढोला मारूरा दूहा' कथा-काव्य होकर भी लोक-गीत के रूप में है। लोक भावना में व्यंजना ही प्रधान है, पर लोक-गीति अपनी गीतात्मकता में वस्तु और स्थिति का आधार ग्रहण करती है। यही बात कथात्मक गीतियों को लेकर भी है। इनमें कथा की भूमि प्रेम-शृंगार के संयोग वियोग पक्षों से सम्बन्धित रहती है। लेकिन यह कथा विभिन्न भाव-व्यंजनाओं को सूक्ष्म आधार प्रदान करती है। इस कारण कथात्मक लोक-गीतियों में वस्तु या स्थिति के आधार रूप में प्रकृति-चित्रण को स्थान नहीं मिल सका। प्रकृति का यह रूप प्रबन्ध-काव्यों और महाकाव्यों में उपस्थित होता है। फिर भी केवल आधार प्रस्तुत करने के लिए, देश-काल की स्थिति का भान कराने के लिए 'ढोला मारूरा दूहा' में ऐसे चित्र आए हैं, परन्तु देश का वर्णन हो अथवा ऋतु के रूप में काल का वर्णन हो, यह प्रकृति रूप गीति की प्रवाहित भावना का आधार प्रस्तुत करने के लिए ही है। इसमें मारवणी और मालवणी के वार्तालाप में मारू और मालव का देशगत वर्णन हुआ है। यहाँ वर्णन तो प्रशंसा और निन्दा की दृष्टि से किया गया है, लेकिन इसीके साथ रेखा-चित्रों में देशों का वर्णन भी हुआ है। लोक-कवि की भावना राजस्थान के मारू प्रदेश के प्रति अधिक

संवेदनशील रह सकी है। इन वर्णनों में विशेषताओं का उल्लेख अधिक है, प्रकृति-चित्रण का तो संकेत मात्र है। मालवणी निन्दा के साथ मारु-प्रदेश का रेखा-चित्र उपस्थित करती है—'हे बाबा, ऐसा देश जला दूं जहां पानी गहरे कुओं मे मिलता है और जहां (लोग) आधी रात से ही पुकारने लगता है; मानों मनुष्य मर गया हो।··· हे मारवणी, तुम्हारे देश मे एक भी कष्ट दूर नही होता, या तो प्रयाण होता है, या वर्षा नही होती अथवा फाका या टिड्डी पडती है।···जिस देश मे पीणे साँप हैं, जहाँ करील और ऊँटकटारा घास ही पेड गिने जाते हैं, जहाँ आक और फोग के नीचे ही छाया मिलती है।'[1] इसी प्रकार मारवणी के उत्तर मे मालव का हलका रेखा-चित्र है। 'बाबा, उस देश को जला दूं जहाँ पानी पर सेवार छाया रहता है। जहाँ न तो पनिहारियो का झुण्ड आता-जाता रहता है और न कुओ पर पानी भरने वालों का लय-पूर्ण स्वर सुनाई देता है।'[2] इनमे केवल उल्लेख है, प्रदेशगत प्रकृति का रूप नही आ सका है। इन गीतियो मे गायक की भावना के साथ छोटे-छोटे संकेत भी पूरे चित्र की व्यंजना रखते हैं और इन्ही संकेतो के आधार पर गायक की कथा चलती रहती है। इसी प्रकार का एक संकेत-चित्र वीसू चारण ढोला को देता है—'मारवाड की रेतीली भूमि वर्षा के अधिक भाग मे भूरे रंग की दिखाई देती है; वहाँ के वन विशीर्ण और झखाड हैं—चंपा उत्पन्न नही होती, लेकिन चंपा से भी बढकर अपने गुणो से सुगंधित करने वाली स्त्रियाँ होती हैं।'[3] ढोला मार्गस्थ कुएँ का उल्लेख करता है—'पानी कुओं मे बहुत गहरा मिलता है और डूंगरी पर कठिनाई से चढा जाता है। मारवणी के कारण ऐसे अपूर्व देशों को देखा ···कुओ मे पानी इतना गहरा है कि तारे की तरह चमकता है।'[4]

काल (क)—इस लोक-गीत मे जिस प्रकार देश की कोई निश्चित रूप-रेखा नही है, उसी प्रकार काल भी किसी सीमा मे प्रस्तुत नही हुआ है। व्यापक रूप से साधारण विशेषताओ के साथ ऋतुओ का उल्लेख किया गया है। इसका कारण भी वही है। लोक-गीति की भाव-धारा मे देश और काल दोनो साधारण रूप मे आधार भर प्रस्तुत करते हैं। ढोला के प्रस्थान के प्रसंग मे इसी प्रकार ऋतुओ का उल्लेख किया गया है। मालवणी ग्रीष्म के बारे में कहती है—'भूमि तपी हुई है, लू सामने है। हे पथिक, (यदि मारवणी के देश गए) तो तुम जल जाओगे। जो हमारा कहना करो तो घर ही रहो।' आगे ढोला और मारवणी के वार्तालाप मे वर्षा का वर्णन आता है।

१. ढो० मा० दू० ; सं० ६५५, ६६०, ६६१।
२. वही ; सं० ६६४।
३. वही ; सं० ४६८।
४. वही , स० ५२३, ५२४।

मारवणी के द्वारा वर्णित प्रकृति में भावात्मक उत्सुकता (उद्दीपन रूप में) सन्निहित है, उसके द्वारा वह ढोला को रोकना चाहती है। परन्तु ढोला द्वारा उल्लिखित चित्रों में संक्षिप्त संश्लिष्टता है।···'पग-पग पर मार्ग में पानी भर गया है, ऊपर आकाश में *बादलों की छाया हो गई है। हे पद्मनी, वर्षा ऋतु समाप्त हो गई, अब कहो तो पूगल* जावें। रात भर झुं झों का शब्द सुहावना लगता है, सरोवर का जल कमलिनियों से आच्छादित हो गया है।' आगे वर्षा का चित्र अधिक स्पष्ट हो उठता है—'बाजरियाँ हरी हो गई और उनके बीच की बेलों में फूल छा गए। यदि भादों भर वर्षता रहा *तो मारू देश अमूल्य होगा।*'[1]

वातावरण में भाव-व्यंजना (ख)—मालवती अपने वर्णनों में भावात्मक वातावरण उपस्थित करती है—'जिस ऋतु में वर्षा खूब झड़ी लगाती है और पपीहे बोलते हैं, उस ऋतु में, हे प्रिय स्वामिन्, बताओ भला कौन घर छोड़ता है।' मालवणी द्वारा प्रस्तुत चित्रों में मन स्थिति के समानान्तर उद्दीपन का रूप छिपा हुआ है, पर उनसे वातावरण का निर्माण भर होता है—'पपीहा पिउ पिउ कर रहा है, कोयल सुरंगा शब्द बोल रही है... ..। पहाड़ियाँ हरी हो गई, वनों में मोर कूकने लगा ''  । बादलों की घटाएं फौज हैं, बिजली तलवारें हैं और वर्षा की बूँदें बाण की तरह लगती हैं ''' '। वर्षा ऋतु में नदियाँ, नाले और झरने पानी से भरपूर चढ़े हुए हैं। ऊँट कीचड़ में फिसलेगा'''। घने बादल उमड़ आए हैं। अत्यन्त शीतल झड़ी की वायु चल रही है। बेचारे बगुले पृथ्वी पर पैर नहीं रखते। चारों ओर घने बादल हैं, आकाश में बिजली चमकती है।······ऐसी हरियाली की ऋतु भली है। ······पपीहा करुण शब्द करता है और वर्षा की झड़ी लगी रहती है। पृथ्वी पर मोर मण्डप बनाकर (पिच्छ फैला कर) नाच रहे हैं। ' *वन हरियाली धारण करते हैं और नदियों में पानी कलकल* करता हुआ बहता है। ······वर्षा की झड़ी लगी रहती है और ठण्डी हवा चलती है। ······काली कठुलीवाली बदली बरस कर हवा को छोड़ रही है।'[2] इस वर्षा-ऋतु के चित्र में स्थानगत रूप-रंगों की कल्पना वातावरण का निर्माण करती है, परन्तु इस समस्त चित्र योजना में मन स्थिति का एक रूप प्रत्यक्ष हो उठता है—'इस ऋतु में कोई घर छोड़ता है? कैसे बीतेगी? और ऋतु में प्यारे बिना कोई जिएगा कैसे? प्रिय बिना रात कैसे बीतेगी और विरहिणी धैर्य धारण कैसे करेगी?' यह अहृदय समानान्तर भावना प्रकृति को उद्दीपन-रूप के निकट पहुँचा देती है। प्रकृति का यह रूप अन्य प्रकरण का विषय है। वस्तुत लोक-गीति में मानवीय भावों का प्रसार ऐसा व्यापक हो उठता है कि उसमें गीतकार की आश्रित भावना का आलम्बन स्वतन्त्र रूप से प्रकृति

१ वही, स० २४१, २४३, २२४, २५०।
२. वही, स० २४६, ४७, २५२—६७।

नही हो पाती। यद्यपि इन गीतियो मे प्रकृति के प्रति सहज सहानुभूति और स्वाभाविक सहचरण की प्रवृत्ति रहती है। इस कथात्मक लोक-गीति को काव्य का रूप मिला है, इस कारण कुछ स्थलो पर पृष्ठ-भूमि का सकेत मिलता है। ...ढोला के मार्ग मे—'दिन बीत गया, आकाश मे अबर-डबर छा गए। झरने नीलायमान हो गए।' और आगे—'काली कठुलीवाले मेघो में बिजली बहुत नीचे होकर चमक रही है...मध्या समय आकाश मे बादलो की काली कोरोवाली घटा उमडती आ रही है।'[1]

लोक-गीति मे स्वच्छन्द भावना—हम कह चुके हैं कि मध्ययुग के काव्य ने स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियो को अपनाया है। स्वच्छन्दवादी कवि जब प्रकृति के प्रति आकर्षित होता है और उसे अपना आलम्बन बनाता है, उस समय प्रकृति के प्रति उल्लास और आनन्द की भावना व्यक्त होती है। साथ ही वह अपने जीवन, अपनी चेतना तथा भावना को प्रकृति मे प्रतिबिम्बित पाता है। व्यापक अर्थों मे यह कवि की अपने 'स्व' के प्रति ही सहानुभूति की भावना, सहचरण की प्रवृत्ति है जो इस प्रकार प्रकृति मे प्रतिघटित हो उठती है। इसी प्रकार जब आलम्बन का माध्यम दूसरा व्यक्ति होता है, उस समय भी प्रकृति इस भाव स्थिति से प्रभावित होकर उपस्थित होती है। यह भी प्रकृति के प्रति हमारी सहज और उन्मुक्त भावना का ही रूप है। यह रूप उद्दीपन-विभाव के निकट होकर भी उससे भिन्न है। लोक-गीतियो मे यह भावना अधिक मुक्त और स्वच्छन्द रहती है, इस कारण भी उद्दीपन की साधारण रूढि से यह रूप अलग लगता है। अन्य गीतियो के समान ही 'ढोला मारूरा दूहा' मे वियोग की भावना व्यापक है। इस व्याप्त भावना की स्थायी स्थिति के साथ प्रकृति का रूप बहुत सहज बन पडा है।

व्यापक सहानुभूति (क)—इस लोक गीति मे सहानुभूति के वातावरण और सहचरण की भावना मे प्रकृति निकट के सम्बन्ध मे उपस्थित हुई है। प्रकृति का उल्लास वियोग की स्थिति मे उद्दीपन का काम करता है, पर प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की भावना सन्निहित है उससे वियोगिनी प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करती हुई उपालम्भ देती है—

बिज्जुलियाँ नीलज्जियाँ, जलहर तूँ ही लज्जि।
सूनी सेज विदेश प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्जि॥

मारवणी के इस उपालम्भ मे मेघ के प्रति गहरी आत्मीयता का भाव छिपा हुआ है। इसी प्रकार मालवणी भी हार्दिक सहानुभूति के वातावरण मे उपालम्भ की भावना से प्रश्नशील हुई है—'हे बूर (घास), तू सूखे और रेतीले थल पर जल बिना क्यो डहडही हो रही है। तूने मिष्टभाषी और सहनशील प्रियतम को दूर भेज दिया है। थली पर स्थित हे जाल तू जल बिना कैसे हरी हो रही है, क्या तुझे प्रियतम ने सींचा है या अकाल

---

१. वही, सं० ४६१, ५११, ५२२।

मर्पा हुई है ।" वियोग वेदना मे प्रकृति के उपकरणों के प्रति इस ईर्ष्या की हलकी भावना मे भी सहानुभूति का प्रसार है। मानव के हृदय मे प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की स्थिति है, वही अपने दुःख-सुख मे प्रकृति से समान व्यवहार की आशा करती है। मानव प्रकृति को उसी भावना से युक्त समान आचरण करता हुआ पाता भी है। साहित्य मे चातक, पपीहा और चकोर आदि का प्रेम उदाहरण माना गया है। लोक-गीति की वियोगिनी अपनी व्यथा मे इन पक्षियो को समान रूप से उद्वेलित पाती है—

यावहियउ मइबिरहणी, दुहुवों एक सुहाव।
जय ही बरसइ घण घणउ, तब ही कहइ प्रियाव॥

पपीहा ही नहीं सारस भी अपनी व्यथा मे समान है—

राति जु सारस कुललिया, गुञ्जु रहे सब ताल।
जिण की जोणी बीछडी, तिणका कवन हेवाल॥

साथ ही कुररी पक्षी का करुण रव वियोगिनी को अपनी व्यथा की याद दिलाता है। वह उसके दुःख मे जैसे अपनी व्यथा मे भी संवेदनशील हो उठती है—'करील की ओट मे बैठकर कुझ पक्षी कुरलाए, जिसको सुनकर प्रियतम की स्मृति शरीर मे सार की तरह सालने लगी। समुद्र के बीच मे बीट का तेरा घर है, जल मे तेरी संतान की उत्पत्ति होती है। हे कुझ, कौन से बडे अवगुण के कारण तू आधी रात को कूक उठी। कुररी पक्षियो ने करुण-रव किया और मैने उनके पखो की वायु सुनी। जिसकी जोडी बिछुड गई हो, उसको रात मे नींद नहीं आती।"

सहचरण की भावना (ख)—हम कह सकते हैं कि मानव मे सम भावना के आधार पर प्रकृति-रूपों के प्रति सहचरण की प्रवृत्ति है। यह मानवीय आलम्बन की किसी भाव-स्थिति मे उद्दीपन-विभाव से सम्बन्धित है, परन्तु इसका मूल प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति में है। इस सीमा में प्रकृति का रूप उद्दीपन नही माना जा सकता। सहचरण की प्रवृत्ति के साथ प्रकृति के विभिन्न रूप अनेक सम्बन्धो मे उपस्थित होते हैं। इस स्तर पर वे प्रिय सखा, सहचर या दूत हो जाते हैं। लोक गीति की वियोगिनी पशु-पक्षियो से अपने सुख-दुःख की बात कहती है और प्रिय के प्रति अपना सदेश भी भेजती है। मारवणी पपीहा की सहायता चाहती है—

---

१. वही, स० ५० [बिजलियाँ तो निलज्ज है। हे जलधर तू ही लज्जित हो। मेरी शैया सूनी है, मेरा प्यारा विदेश में है मधुर मधुर शब्द से गरज] ३६०—६१।

२. वही, स० २७, ५३ [ पपीहा और विरहिणी दोनों ही का एक स्वभाव है। जब जब मेघ बरसता है, ये दोनों ही 'पी आव' पुकारते हैं। रात में सारस जो करुण स्वर से बोले तो सरोवर गूँज उठा। भला जिनकी जोड़ी बिछुड़ गई हो उनकी क्या दशा होती होगी], ५६—५८।

बाबहिया, चढि गउखसिरि, चढ़ि ऊँचइरी भीत।
मत ही साहिब बाहुडइ, कउ गुण ग्रावइ चीत॥

फिर वियोगिनी पपीहे के स्वर से अपनी बढती हुई व्यथा से विह्वल होकर उसे मना करती है—'हे नीले पखोवाले पपीहे, तेरी पीठ पर काली रेखाएँ हैं। तू मत बोल। वर्षा ऋतु मे तेरा शब्द सुनकर विरहिणी कहीं तडप-तडपकर प्राण न दे दे।' फिर वह उसके शब्द से क्रुद्ध हो उठती है और आक्रोश मे कहती है—'हे नीले पखोवाले पपीहे, तू नमक लगाकर मुझे काट रहा है। 'पिउ' मेरा है, और मैं 'पीउ' की हूँ, भला तू 'पिउ पिउ' कहनेवाला कौन है।' और अन्त मे आग्रह के साथ समझाने लगती है—

बाबहिया रत पखिया, बोलइ मधुरी वाँणि।
काइ लवबउ माठि करि, परदेसी प्रिय आँणि॥[1]

इस मीठे आग्रह मे कितनी निकटता और साहचर्य की भावना प्रकट होती है। मारवणी कुररी से पख माँगती है और इसमे भी यही भावना क्रियाशील है। प्रकृति की उन्मुक्त स्वतन्त्रता से जैसे सम स्थापित करती हुई वह कहती है—

कुझा घेउ नइ पखडी, थाँकउ विनउ वहेंसि
सायर लधा प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछो देसि।[2]

मालवणी की आकांक्षा मे प्रकृति के साथ सहचरण की भावना का यही रूप सन्निहित है। मारवणी की प्रार्थना मे जो प्रत्यक्ष है, वही मालवणी की लालसा मे मन की भावना का रूप है। दोनो ही प्रकृति की स्वतन्त्र चेतना से सम स्थापित करती हैं। इस प्रसग मे वियोग के स्थायी रति-भाव के साथ प्रकृति का उद्दीपन रूप भी है, जिसका अन्य प्रकरण मे उल्लेख किया गया है। मालवणी अपने प्रिय से मिलने की उत्सुकता मे कहती है—'हे विधाता, तूने मुझे मरु देश के रेतीले स्थल के बीच मे बबूल क्यो नही बनाया, जिससे पूगल जाते समय प्रियतम छडी काटते और उनके हाथो के स्पर्श का फल पाती। हे विधाता, मुझे श्यामल बदली ही क्यो न बनाया जिससे मैं आकाश मे छाई रहती और साल्हकुमार के मार्ग पर छाया करती रहती।'

दूत का कार्य—प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना से प्रेरित होकर पक्षियो आदि से सदेश भी भेजा जाता है। इसीके आधार पर सस्कृत साहित्य में दूत-काव्यो

१. वही, स० २८ [हे पपीहा, गोखे पर चढ़ या ऊँची भीत पर बैठ और टेर लगा। प्रियतम को कदाचित कोई गुण याद आवे और आते हुए कहीं वे लौट जाय?], ३१, ३३, ३४ [हे लाल परों वाले पपीहे, तू मीठी वाणी बोलता है। तू या तो बोलना बद कर दे और या मेरे परदेशी प्रियतम को यहाँ ला दे]

२ वही, स० ६२ [हे कुंझ, मुझे अपना पख दो। मैं तुम्हारा बाना बनाऊँगी और सागर को लाँघकर प्रियतम से मिलूँगी और मिल कर तुम्हारी पाखें लौटा दूँगा।]

की परम्परा चली है। हिन्दी साहित्य मे ऐसी परम्परा तो नही चल सकी है, पर इसका रूप प्रेम-काव्यो मे मिलता है। इस लोकगीति मे भी प्रकृति से यह सम्बन्ध सहज रीति से स्थापित किया गया है। सहानुभूति के सहज वातावरण मे मारवणी कुझो से अपना सदेश ले जाने की प्रार्थना करती है—

उत्तर दिसि उपराठियाँ, दक्षिण साँमहि थाँह।
कुरझाँ, एक सँदेसडउ, ढोलानइ कहियाँह॥

प्रकृति के प्रति इस मानवीय सहानुभूति के साथ यदि कुझ मारवणी को उत्तर देती है, तो आश्चर्य नही। लोक-गीति भावना के अनुरूप ही यह उत्तर है—'मनुष्य हो तो मुख से कहें, हम तो बेचारी कुझ हैं। यदि प्रियतम को सदेशा भेजना हो तो हमारी पाँखो पर लिख दो।' और मारवणी के उत्तर मे निकट स्नेह की व्यजना ही हुई है—

पाँखे पाँणी थाहरइ, जलि काजल गहिलाइ।
सपडाँ तणाँ सँदेसडा, मुख वचने कहिवाइ॥[1]

लोकगात की भाव-धारा मे इसी प्रकार ऊँट बोलता और कार्य करता है। जन-गायक उसके चरित्र मे सहानुभूति, उदारता, स्वाभिमान आदि मानवीय गुणो का आरोप करता है। मालवणी ने ढोला को मार्ग से लौटाने के लिए सुए को भेजा है।

× × ×

**प्रेम कथा-काव्य**—इसी लोक गीत की कथात्मक परम्परा मे प्रेम-काव्यो का विकास हुआ है। परन्तु जैसा कहा गया है प्रेम कथा-काव्यो मे जैनी चरित्र-काव्यो का तथा सूफी मसनवियो की प्रतीक भावना का प्रभाव पडा है। इस कारण इनका वातावरण लोक-कथा-गीति जैसा उन्मुक्त नही है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग मे इन प्रेम-काव्यो की दो परम्पराएँ हैं। परन्तु वे एक दूसरे से इतनी प्रभावित हैं कि प्रकृति-रूपो के क्षेत्र मे उनमे कोई भेद नही है। केवल उन्मुक्त प्रेम-काव्यो मे प्रेम का स्वतन्त्र वर्णन है और सूफी काव्यो मे प्रेम की आध्यात्मिक व्यजना है। वैसे अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे अपनी प्रतिभा और व्यापक सवेदना के कारण जायसी मे प्रेम सम्बन्धी अधिक स्वच्छद वातावरण मिलता है। और उनके काव्य मे प्रकृति के प्रति भी अधिक उन्मुक्त भावना है। *उन्मुक्त प्रेम-काव्यो पर सूफ़ी काव्यो की छाप है।*[2] आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को

---

१ वही, स० ६४ [हे कुझ, उत्तर दिशा की ओर पीठ किए हुए दक्षिण दिशा की ओर चलकर ढोला से एक सँदेश कहना], ६५, ६६ [तुम्हारा पाँखों पर पानी पड़ेगा, जिससे स्याहा जल में बह जायगा। प्रियतम का सदेश तो मुख से ही कहलाया जाता है]

२ उन्मुक्त प्रेम-काव्यों में प्रमुखत माधवानल कामकदला, नलदमन काव्य, पुहुपावती तथा विरहवारीश (माधवानल कामकदला आलमकृत) का उपयोग यहाँ किया गया है जो सभी जायसी क 'पद्मावत' के परवर्ती काव्य हैं।

छोड़कर, प्रेम की व्यंजना और प्रकृति के रूपों के सम्बन्ध में इन काव्यों में सूफी परम्परा से समता है। इन समस्त प्रेम कथा-काव्यों मे वर्णना के क्षेत्र मे अपभ्रंश चरित-काव्यो का अनुसरण है, केवल इन कवियों ने प्रेम तथा आध्यात्मिक सत्यों की व्यंजना इन वर्णनो के माध्यम से की है। जहाँ तक ऋतु-वर्णन, बारहमासा अथवा अन्य प्रकृति-रूपों का प्रश्न है इनमे लोक-गीतियो का स्वच्छंद वातावरण मिलता है। ये काव्य अपने कथानकों मे प्रबन्धात्मक हैं। कथा के रूप मे इनमे घटनाओं और क्रियाओं की शृंखला चलती है। घटना-क्रिया की शृंखला मे देश-काल की सीमाएँ भी आवश्यक हो जाती हैं। इसलिए इन काव्यों में कथानक के बीच मे स्थानगत प्रकृति-वर्णना को स्थान मिल सका है। सकेत किया गया है कि सस्कृत महाकाव्यो में कथा का मोह अधिक नही है, उनके चरित्र प्रसिद्ध और ज्ञात ही हैं। इसलिए उन काव्यो मे वर्णना सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति को स्थान मिला है। परन्तु मध्ययुग के प्रबन्ध-काव्यों की स्थिति भिन्न है। इन काव्यो मे घटनात्मक कथानको का मोह कम नही है, क्योकि ये काव्य जनता के निकट के हैं। लोक-रुचि मे कथात्मक कौतूहल के लिए स्थान रहता है। इसलिए इनमे प्रकृति को केवल वर्णना-सौन्दर्य की दृष्टि से स्थान नही मिला है। साथ ही कथाकार अपनी प्रेम-भावना से इतना अधिक आकर्षित रहा है कि उसको कथा के आधार मे प्रस्तुत प्रकृति के आकर्षण का ध्यान ही नही है। जिन स्थलो पर प्रकृति उपस्थित हुई है उनमे वह भावो को प्रतिम्बिबित अथवा उद्दीप्त करती है।

**प्रकृति का वर्णन**—इन प्रेम-काव्यो मे विशुद्ध आलम्बन के रूप मे प्रकृति का चित्रण नही के बराबर हुआ है। जहाँ स्थान या वातावरण के रूप मे प्रकृति का चित्रण किया गया है उनमे भी या तो कथा-स्थित भावो की पृष्ठ-भूमि के रूप मे उसका प्रयोग हुआ है, या उसपर आध्यात्मिक भावना का प्रतिबिम्ब है। परन्तु आध्यात्मिक भावना कवि के हृदय के आश्रय में अवलम्बित है, इस कारण इस रूप मे प्रकृति आलम्बन के समान है। यद्यपि जिस रूप मे प्रकृतिवादी कवि के लिए प्रकृति आलम्बन है, उस रूप मे इन प्रेमी कवियो के लिए नही है। सूफी साधको के लिए लौकिक कथा के आधार पर चलने वाली भावनाएँ ही अलौकिक और अप्रत्यक्ष का सकेत देती हैं। इस कारण प्रकृति मे भावो का प्रतिबिम्ब, उनकी व्यजना, उद्दीपन-रूप प्रकृति के समान सामाजिक और आध्यात्मिक भाव-स्थितियो से अधिक सम्बन्धित है। प्रकृति के इन रूपो की विवेचना 'आध्यात्मिक साधना' के प्रसग मे की जा चुकी है। यहाँ इन स्थलों का कथानक मे क्या स्थान है, इसपर विचार करना है। साथ ही इन वर्णनो की शैली के विषय मे भी सकेत किया जायगा।

**आलम्बन के स्वतन्त्र चित्र** (क)—प्रेम-काव्यो के प्रारम्भ मे, बोधा कृत 'विरह-वारीश' को छोड़कर लगभग सभी में स्रष्टा के रूप मे ईश्वर की वन्दना है। यह व्यापक

रूप से प्रकृति का वर्णन ही कहा जा सकता है। परन्तु इन वर्णनो में किसी प्रकार की वर्णनात्मक योजना नहीं है। इनमें अधिकतर उल्लेखात्मक चित्र हैं। प्रेम-काव्य का कवि बताता जाता है स्रष्टा ने ऐसा किया, ऐसा किया, कहीं चित्र को संश्लिष्ट बनाने की चेष्टा नहीं करता। कहीं एक दो स्थल ऐसे आ गए हैं जिनमें व्यापक रेखा-चित्रों का भास मिलता है—

> जहवाँ सिन्धु अपार अति, बिनु तट बिनु परिमान।
> सकल सृष्टि तेहिमाँ गुपुत, बालू कनक समान॥[1]

उसमान के इस रेखा-चित्र मे असीम समुद्र के व्यापक प्रसार के साथ व्याप्त स्रष्टा के सर्जन का रूप 'बालू कनक' के समान व्यक्त हो उठा है। उसी प्रकार दुखहरनदास कहते हैं—'रात्रि और दिवस, फिर प्रात' और सन्ध्या तुम्हींने तो बनाया है। यह सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा दीपक का प्रकाश तुम्हारा ही किया है।'[2] इसमें एक व्यापक सर्जन का अस्पष्ट-सा रेखा-चित्र आ गया है। इस प्रकार इन काव्यों में कथानक की भाव-धारा से अलग केवल घटना-स्थिति के आधार रूप में प्रकृति को स्थान नहीं मिला। इसका कारण है। प्रेम-कथा का कवि अपनी प्रेम भावना से इतना संवेदनशील हो जाता है कि प्रकृति के स्थानगत रूपों में भी उसीकी व्यंजना करने लगता है। इन काव्यों में वन, उपवन, पर्वत, सरोवर, समुद्र आदि के वर्णन का अवसर आया है, परन्तु इन सभी स्थलो पर चित्रण की रूपात्मकता से अधिक भावात्मक व्यंजना है। जायसी मे एक भी स्थल ऐसा नहीं है जिसके चित्रण मे आध्यात्मिक अथवा भावात्मक व्यंजना न हो। उसमान की 'चित्रावली' मे ऐसे चित्र अवश्य हैं। कवि एक आँधी का वर्णन करता है—

> आधे पंथ पहूँचे आई। उठी बाउ आँधी धुधुआई।
> स्याम घटा आँधी अधिकाई। भयो अँधेर सरग छिति छाई॥
> ऊबट बाट जाइ नहिं बूझा। निअरहिं दूसर जाइ न सूझा॥
> परी धूरि लोचन मुख माहीं। दुहूँ कर बदन छिपाए जाहीं॥[3]

इस चित्र मे यथार्थ संश्लिष्टता है और योजना से स्थिति का रूप प्रत्यक्ष होता है। लगता है उसमान प्रकृति के प्रति यथार्थदर्शी भी रह सके हैं। उनकी दृष्टि इस विषय मे अधिक सचेष्ट है, यद्यपि अपनी परम्परा के अनुसरण में उनको ऐसे प्रकृति-रूपों को उपस्थित करने का अवसर कम मिला है। उसमान ने अन्धकार का वर्णन भी इसी प्रकार किया है—'उसने कुँवर को एक अँधेरी खोह मे ले जाकर डाला जिसके

---

१. चित्रा०, उस०, १ स्तुति-खण्ड, दो० २।
२ पुहु०, दुख०, स्तुति खंड से।
३. चित्रा०, उस०; ४ जनमखण्ड, दो० ६६।

अन्धकार मे दिन मे दीपक जला कर ढूंढने से भी नही दिखाई देता। दिन में जहाँ रवि की किरणो का प्रवेश नही होता, रात मे जहाँ शशि और तारागणों का सचरण नही होता। अधे ने अधेरे स्थान को इस प्रकार पाया जैसे मसि के ऊपर मसि डाली गई हो।"[1] इसमें आलकारिक सकेत से कवि ने चित्र को अधिक व्यक्त कर दिया है। एक स्थल पर रूपनगर की पहाडी का वर्णन इसी प्रकार का है—

> पूरब दिसि जो आहि पहारी। जनु बिस करमें आपु उतारी॥
> झरना झरैं सोहावनि भाँती। तरुवर लागे पाँतिन पाँती॥
> बोलहि पछी अनबन भाया। आपन आपन बैठे साया॥
> सिखर चढ़े कूकहि बहु मोरा। परवत गूंजि उठै चहुँ ओरा॥[2]

यह चित्र सरल वस्तु-स्थितियो और क्रिया-व्यापारो के साथ प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इस प्रकार के वस्तु-स्थिति के आलम्बन चित्र अन्य कवियो मे नही के बराबर हैं। जायसी प्रत्येक वर्णना को किसी आध्यात्मिक सत्य की व्यजना से सम्बन्धित कर देते हैं और अन्य कवियो ने इसीका अनुसरण किया है।

वर्णन की शैलियाँ (ख)—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण मे प्रकृति रूपो की व्यजना के विषय मे कहा गया है। यहाँ उनकी वर्णन की शैलियो के विषय मे सकेत कर देना है। वस्तुत इन समस्त रूपो मे तीन प्रकार की शैलियो का प्रयोग किया गया है। पहली शैली मे केवल उल्लेखो के आधार पर सत्यो की स्थापना अथवा आध्यात्मिक व्यजना की गई है। इन उल्लेखो मे किसी सीमा तक सश्लिष्ट चित्रण भी आ जाता है, पर ऐसा बहुत कम हुआ है। इन वर्णनो मे उपवन के वृक्षो तथा फूलो आदि का उल्लेख है।[3] दूसरी शैली मे स्थिति-व्यापारो की निश्चित योजना द्वारा प्रेम आदि की व्यजना हुई है। इस प्रकार की वर्णना मे व्यजनात्मक चित्रमयता मिलती है, यद्यपि रूपात्मक चित्रमयता इनमे भी कम है।[4] पर कोई-कोई चित्र कलात्मक है। जायसी सिंहल के तालाब का वर्णन करते हैं—

---

१. वही, वही, २१ कुटाचर खड, दो० २३५।

२. वही, वही, १७ यात्रा-खड, दो० २३५।

३. जायसी के पद्मावत में २ सिंहलद्वीप-वर्णन खड में दो० ४ में वृक्षों का उल्लेख है, दो० १० में फलों का, दो० ११ में फूलों का। इसी प्रकार उसमान की चित्रावली में १३ परेवा-खड में दो० १५६ में वृक्षों का तथा दो० १५८ में फूलों का उल्लेख किया गया है।

४. जायसी ने सिंहलद्वीप-वर्णन-खड में दो० ५ में पक्षियों के शब्द के माध्यम से, दो० ६ में सौन्दर्य चित्र के साथ सरोवर में जल-परियों की क्रीड़ा द्वारा, और १५ सात-समुद्र-खड के दो० १० में मानसर के वर्णन में प्रकृति व्यापार योजना में साधक के उल्लास से तादात्म्य स्थापित कर के यह अभिव्यक्ति की गई है। उसमान ने १३ परेवा-खड में दो० १५५ में सरोवर के अनन्त सौन्दर्य के साथ जल

ताल तलाव बरनि नहिं जाहीं। सूझै वार पार किछु नाहीं ॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे ॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी ॥[1]

परन्तु इस प्रकार के आलंकारिक वर्णन भी कम हैं। तीसरे प्रकार की शैली में अति-प्राकृतिक चित्रों की योजना है। इनमें भी कुछ में आदर्श कल्पना की भावना है और कुछ में अलौकिक चमत्कार है। उसमान के इस वर्णन में आदर्श कल्पना ही प्रधान है—'सरोवर तट की सराहना कहाँ तक की जाय जिसमें पानी मोती है और ककड ही हीरा है। अत्यन्त गहरा है, थाह नहीं मिलती। निर्मल नीर में तल दिखाई देता है—अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है जिसकी सीमाओं का भान नहीं होता—।'[2] वस्तुत इस प्रकार की आदर्श कल्पना, इन समस्त काव्यों में नायिका से सम्बन्धित वन, उपवन तथा सरोवर आदि के वर्णनों में मिलती है। इनमें सदा वसंत या चिरन्तन सौन्दर्य की भावना है। इसके अतिरिक्त मार्ग-स्थित वर्णनों या अन्य प्रसंगों के अलौकिक अति-प्राकृतिक चित्रों में भी चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। जायसी 'बोहित-खंड' में सागर का उल्लेख इसी शैली में करते हैं—

जस बन रेंगि चलै गज-ठाटी। बोहित चले समुद्र गा पाटी।
धावहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं।
समुद्र अपार सरग जनु लागा। सरग न घाल गनै बैरागा।
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा।
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी।[3]

इसी प्रकार के वर्णन जायसी ने 'सात समुद्र-खंड' में किए हैं, इनमें बीच-बीच में सत्यों का उल्लेख भी किया गया। उसमान ने रूपनगर के दृश्य को इसी प्रकार अलौकिक वर्णना के द्वारा प्रस्तुत किया है।[4] परन्तु जायसी में यह प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने अलौकिक चित्रणों के माध्यम से आध्यात्मिक सत्यों का संकेत दिया है। स्वतंत्र प्रेम-काव्यों में प्रवृत्ति आदर्श चित्रण की है, अलौकिक चित्रण इनमें कम हैं।

---

क्रीड़ा से, दो० १५७ में पक्षियों के शब्द के माध्यम से यह व्यंजना की गई है। नूरमोहम्मद ने २ जन्म खंड में दो० ७ में पुष्प और भ्रमर के माध्यम से यह संकेत दिया है। नलदमन काव्य में पृ० १६ में पक्षियों के नादों से और पृ० १७ में सरोवर वर्णन में तरंगों आदि के माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकी है।

१. पद्मा०, जायसी ; पद० ; २ सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, दो० ६।
२. चित्रा०, उस० , २३ परेवा-खंड, दो० १४५।
३. पद्मा०, जायसी ; पद, १४ बोहित-खंड, दो० २।
४ चित्रा०, उस० ; १७ यात्रा खंड, दो० २३२।

**कथा की पृष्ठ-भूमि में**—इन प्रकृति वर्णनों को लेकर कहा जा सकता है कि इन कवियों ने प्रकृति का उपयोग अपनी कथा में भावात्मक व्यंजना के लिए किया है। जिस प्रकार इनकी कथा का समस्त वातावरण प्रेम या आध्यात्मिक भावना से पूर्ण है, उसी प्रकार कथा को आधार प्रदान करने वाली प्रकृति भी इसी दृष्टि से प्रस्तुत की गई है। प्रकृति का यह रूप कथानक की पृष्ठभूमि में वातावरण को भाव-व्यंजना प्रदान करता है। सूफी कवियों में पृष्ठभूमि मे प्रकृति का रूप कथानक के भावात्मक उल्लास से उद्भासित किया गया है। अन्य सकेतात्मक उल्लेखों के अतिरिक्त सरोवर में स्नान के प्रसंग को लेकर यह भावात्मक उल्लास-मग्न प्रकृति का रूप जायसी के बाद कवियो ने परम्परा के रूप में ग्रहण किया है। इस स्थल पर प्रकृति के अन्दर एक उल्लास की भावना है जो आध्यात्मिक वातावरण का प्रतिबिम्ब है। स्वच्छंदवादी दृष्टि से प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर, उसकी चेतना की अनन्त भावना से सम-स्थापित्त करके अपने मन का उल्लास प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है। वही स्वच्छदवादी प्रवृत्ति सूफी साधको ने इस प्रकार ग्रहण की है। आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में इसकी विवेचना विस्तार से की गई है।[1] इनकी साधना का साध्य प्रत्यक्ष है जो कथानक के रूपक में सन्निहित है और वातावरण के रूप में प्रकृति उसीकी प्रेम-भावना से उल्लसित और प्रभावित हो उठती है। जायसी के इस वर्णन-चित्र में प्रकृति और सौन्दर्य का भाव तादात्म्य देखा जाता है—

विगस कुमुद देखि ससि रेखा। भै तँह ओप जहाँ जोइ देखा।
पाया रूप रूप जस चाहा। ससि मुख दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर।[2]

और इसमे प्रकृति मे प्रतिबिम्बित रूप से उल्लास की भावना भी व्यक्त होती है।

**लोकगीतियों की परम्परा : बारहमासा**—जहाँ तक प्रत्यक्ष रूप से भावो को उद्दीप्त करनेवाले प्रकृति-रूपो का सम्बन्ध है, उनकी विवेचना अन्य प्रकरण मे की जायगी। परन्तु यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इन कथा-काव्यो मे प्रकृति सम्बन्धी लोक-गीतियो

१. जायसी ने ४ मानसरोवर-खड में दो० ४ में प्रकृति को मुग्ध और भावों से प्रतिबिम्बित उपस्थित किया है। इस प्रसग में रूप के आधार पर प्रकृति, स्थल स्थल पर उद्भासित हो उठती है और आह्लादित लगती है। दो० ८ में प्रकृति और पद्मावती के सौन्दर्य के तादात्म्य में भी यही भाव सन्निहित है। उसमान की चित्रावली के १० सरोवर-खंड में दो० ११८ में प्रकृति आश्चर्य से चकित और मुग्ध-मौन लगती है। नूरमोहम्मद की इन्द्रावती में इसी प्रकार १२ नहान खड के दो० २ में यही भावना मिलती है।

२. ग्रंथा०; जायसी; पद; ४ मानसरोवर-खड; दो० १५।

की स्वच्छंद-भावना का क्या सम्बन्ध है। प्रकृति का व्यापक विस्तार हो अथवा बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा हो, सर्वत्र भावनाओं का स्वतन्त्र रूप इन काव्यों में मिलता है। बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा का विकास साहित्य में भी हुआ है और आगे चलकर इनका रूप रूढ़िवादी होता गया है। लोक-गीतियों के समान ही इन काव्यों में प्रकृति का आश्रय लेकर भावों की उद्दीप्त स्थिति का वर्णन किया गया है। शैली की दृष्टि से कहीं-कहीं रेखा-चित्र आ जाते हैं। जायसी के बारहमासे में—'जेठ में जग जल उठा है, लू चलती है, बवडर उठते हैं और अगार बरसते हैं। चारों ओर से पवन झकझोर देता है, मानो लंका को जलाकर पलंग में लग गई है। आग सी भभक उठती है, आँधी आती है। नेत्र से कुछ नहीं सूझता, दुःख में बँधी मैं मरती हूँ।'[1] इस चित्र में रेखाओं के साथ यथार्थ योजना भी है। जायसी के बारहमासा में प्रकृति के कालगत रूपों का सहज भाव सन्निहित है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें प्रकृति और मानवीय भावों का सहज तादात्म्य सम्बन्ध है जो लोकगीतियों की उन्मुक्त भावना में ही सम्भव है। उसमान का बारहमासा जायसी के अनुसरण पर है, पर उसकी प्रवृत्ति उल्लेख की अधिक है। साथ ही इसमें प्रकृति के सहज सम्बन्ध के स्थान पर विरह वर्णन प्रमुख हो उठा है।[2] दुखहरनदास ने बारहमासा का वर्णन संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है। इसमें प्रकृति का केवल उल्लेख मात्र है और संयोग-सुख तथा उल्लास-उमंग का अधिक वर्णन है। ये बारहमासों के वर्णन लोक गीतियों की परम्परा से सम्बन्धित है। लोक-गीतियों में गायक की भावना के साथ बारहमासों का ऋतु परिवर्तन उपस्थित होता जाता है। इसी प्रकार की भावना, जैसा कहा गया है इनमें भी पाई जाती है। विरहिणी नायिका स्वयं अपनी विरह-व्यथा परिवर्तित ऋतु-रूपों के माध्यम से कहती है, अतः लोक-गीतियों में प्रकृति का मानवीय भावों से अधिक उन्मुक्त सम्बन्ध स्थापित होता है। इस अनुसरण के कारण जायसी का बारहमासा अधिक स्वच्छंद है, उसमें वियोगिनी नागमती अपनी व्यथा की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति से अधिक सहृदयता स्थापित करती है। जायसी के इन वर्णनों में वह प्रत्यक्ष सामने रहती है। प्रत्येक मास के चित्र के साथ वह अपनी भावना को लेकर स्वयं उपस्थित होती है—

---

१ वही; वही, वही, ३० नागमती वियोग-खंड, दो० १५।

२ चित्रा०, उस०, ३२ पाती-खण्ड में दो० ४४३ से चैत्र का वर्णन आरम्भ होता है और दो० ४५५ में फागुन वर्णन के साथ बारहमासा समाप्त होता है। उदाहरण के लिए जेठ का वर्णन इस प्रकार है—

"जेठ तपै रवि सहसन तेजा। सोइ जाने जेहि कंत न सेजा।
अस लग तपन तपै एहि मासू। पूतरिन्ह माँह सुखावै आँसू।
विरह बवंडर भा बिनु नाहा। निमि जिउ पात गिरै तेहि माँहा।
पौन उसास उठै जस आँधी। परगट होइ न लाज कि बाँधी॥"

भा भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी।
मदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा।

आगे भी विरहिणी अपनी विरह व्यथा को व्यक्त करते हुए कहती है—'अगहन मास मे दिन घट गया और रात बढ गई—यह कठिन रात्रि किस प्रकार व्यतीत की जाय, इसी विरह मे दिन रात हो गया है, और मैं अपने विरह मे इस प्रकार जल रही हूँ जैसे दीपक मे बत्ती।' इसी भाव-स्थिति मे विरहिणी को प्रकृति अपने से विरोधी जान पडती है—'चित्रा मे मीन ने मित्र पाया, पपीहा 'पिउ' को पुकारता है सरोवर का स्मरण करके हस चला गया है, सारस क्रीडा करता है, खजन दिखाई देता है। दिशाएँ प्रकाशित हो गईं, वन मे कॉस फूल उठे। यह समस्त प्रकृति का उल्लास तो आया कन्त नही लौटे, विदेश मे भूल रहे।' फिर वह प्रकृति को सहानुभूति के द्वारा सवेदनशील भी पाती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसडा, हे भौंरा! हे काग!
सा धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवां हम्ह लाग।[1]

उसमान का बारहमासा भी वियोगिनी की आत्माभिव्यक्ति के रूप म है। पर उसमे वह अधिक प्रत्यक्ष नही हो सकी है। इस कारण उसमे व्यक्तिगत स्वच्छद अनुभूति का रूप कम है। यह वर्णन साहित्यिक ऋतु-वर्णन की परम्परा से अधिक प्रभावित है। साथ ही उसमान मे प्रकृति से सहज सम्बन्ध नही स्थापित हुआ है, उनमे विरह वर्णन की प्रवृत्ति अधिक है। दुखहरनदास का बारहमासा सयोग-शृगार के अतर्गत है और उसमे साहित्यिक रूढि के अनुसार मानवीय क्रीडा व्यापारो की योजना ही अधिक है। बोधा कृत 'माधवानल कामकन्दला' (विरहवारीश) मे बारहमासा विप्रलम्भ के अन्तर्गत है, लेकिन उसपर रीति परम्परा का अत्यधिक प्रभाव है। परन्तु सब मिलाकर प्रेम-काव्यो मे बारहमासा का वातावरण लोक-जीवन और लोक-भावना के अधिक निकट है।

साहित्यिक प्रभाव—प्रेम कथा-काव्यो मे ऋतु-वर्णन भी बारहमासा के समान लोक-गीतियो से प्रभावित है। परन्तु इनमे प्रचलित ऋतु वर्णन की परम्परा का अधिक अनुसरण है। ये कथानक के सयोग तथा वियोग पक्षो मे प्रस्तुत किए गए हैं। जायसी ने ऋतु-वर्णन सयोग शृगार के अन्तर्गत किया है परन्तु बारहमासे के समान इसमे स्वाभाविक वातावरण नही है। इसमें क्रिया-व्यापारो का उल्लेख अधिक हुआ है, इन के बीच मे यत्र-तत्र प्रकृति का उल्लेख मात्र कर दिया गया है।[2] जायसी ने वसत-

---

१. ग्रथा०, जायसी, पद०, ३० नागमती वियोग-खण्ड; दो० ६, ६।
२ वही, वही, पद०, २६ षट-ऋतु-वर्णन-खण्ड।

वर्णन की परम्परा का रूप भी प्रस्तुत किया है, इसमें अवसर के अनुरूप हास विलास के वर्णन की प्रधानता है। वसंत आदि के अवसर पर उल्लास की प्रेरणा लोक-जीवन को मिलती रहती है और यह उनकी गीतियों में व्यक्त भी होता है। इसीके आधार पर साहित्य में भी ऐसे वर्णनों की परम्परा चली है, यद्यपि साहित्य में उन्मुक्त भावना के स्थान पर रूढ़िगत परम्परा को अधिक स्थान मिला है। जायसी का वर्णन अधिक अंशों में साहित्यिक है।[1] नूर मोहम्मद ने इसी उल्लास-विलास का वर्णन फाग-खंड में किया है। फाग भी वसंत के अन्तर्गत होता है। इस वर्णन में लोक-जीवन का उल्लास तो आ सका है, पर प्रकृति का वातावरण बिल्कुल हट गया है। अन्य प्रेम-काव्यों में ऋतु-वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आया है। इनमें वियोग-व्यथा का उल्लेख अधिक और प्रकृति के क्रिया व्यापारों की योजना कम हुई है। इनका विवेचन उद्दीपन विभाव के प्रकरण में विस्तार से किया जायगा।[2] उसमान ने ऋतु वर्णन प्रसंग में प्रकृति-वर्णन के माध्यम से किसी-किसी स्थल पर विरह की व्यंजना की है। इस व्यंजना का आधार प्रकृति से मानवीय भावना कभी विरोध उत्पन्न करके ग्रहण करती है, कभी समानान्तर रूप में।

सहानुभूति का स्वच्छंद वातावरण—कहा गया है कि प्रेम-काव्यों में एक सीमा तक लोक-गीतियों का कथात्मक वातावरण है। इस क्षेत्र में इनकी कथाओं में प्रकृति सहज सम्बन्धों में उपस्थित हो सकी है। बारहमासा और ऋतु सम्बन्धी वर्णनों में हम इस भावना का संकेत कर चुके हैं। इनमें कुछ स्थलों पर प्रकृति सहज रूप में मानवीय भावों के छायातपों में उपस्थित हुई है। साथ ही इन कथानकों के पात्र प्रकृति के रूपों से सहज सम्बन्ध उपस्थित करते हैं। लोक-गीतियों की विरहिणी प्रकृति के रूपों को अपना सहचर मानकर उनसे अपने दुःख सुख की बात कहती है, उनके द्वारा अपने विदेशी प्रियतम को संदेश भी भेजती है। सहानुभूति के इसी स्वच्छंद वातावरण में इन काव्यों में वियोगिनी प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करती है, सहानुभूति प्राप्त करती है। जायसी ने ही इस प्रकृति सम्बन्ध को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। बाद के कवियों में वह भाव ग्राही प्रतिभा नहीं थी, उनके परम्परा पालन में साहचर्य का सरल भाव नहीं आ सका है। जायसी ने नागमती के विरह प्रसंग में इसी व्यापक सहानुभूति को अभिव्यक्त किया है। वह पक्षियों को अपनत्व की निकटता में सम्बोधित करती है—

---

१ वही, वही, पद०, २० वसंत-खंड।

२ चित्रावली में १८ विरह-खंड नलदमन काव्य में ऋतु-वर्णन, पृ० १०३, पुहुपावती में छठा रितु रूपवना बारहै खंड, माधवानल कामकंदला (आलम) ऋतु-वर्णन, में यही प्रवृत्ति है।

भई पुधार लीन्ह बनवासू। बैरिन सवति दीन्ह चिलवांसू।
होइ खर बान बिरह तनु लागा। जौं पिउ आवै उड़हि तो कागा।
हारिल भई पंथ में रोवा। अब तेंह पठवौं कौन परेवा।[1]

इसी प्रकार वह अन्य पक्षियों से भी संदेश कहती है, पर उनको वह अपनी-अपनी व्यथा मे व्यस्त पाती है। आगे एक पक्षी संवेदनशील होकर संदेश ले जाने को प्रस्तुत भी हो जाता है; यह प्रेम काव्य के सहानुभूतिपूर्ण उन्मुक्त वातावरण मे ही सम्भव है। इन काव्यों में पशु-पक्षी कथानक के पात्र के रूप में उपस्थित हुए हैं। बोधा के 'विरह-वारीश' (माधवानल कामकंदला) मे वर्षा-ऋतु वर्णन के प्रसंग में माधवानल लीलावती के वियोग में मेघ से संदेश कहता है। इसमें संस्कृत दूत-काव्य का अनुकरण अधिक है, प्रकृति के प्रति सहज सहचरण की भावना नही है। दक्षिण की श्याम घटा को देखकर विप्र के हृदय को अत्यन्त कष्ट हुआ; अति भय मानकर माधवानल ने प्रीतिपूर्वक उससे अपनी विरह वेदना कही—

हो पयोध विरहिन दुखलायक। मेरो दरद सुनो तुम नायक।
पुहुपावती पुरी मम प्यारी। नव यौवन बाला सुकमारी।[2]

बाद में माधवानल वियोग-व्यथा से व्याकुल वन मे खग-मृगो से पूछता घूमता है और इस वर्णना मे अधिक सहानुभूति का वातावरण है—

कहत द्रुमन सों तुमन हो, सुमन सहित छविदार।
कहीं दार मेरो लख्यो, तो छवि अजब बहार॥
बिटपन अपनो दरद सुनावै। जब चलि छांह किसी की आवै।
नाम आपने प्रिय कर लेही। यो पुनि ताहि उरहना देही।[3]

'इन्द्रावती' मे कुंअर अपना संदेश पवन के हाथ भेजता है। इस स्थिति की कल्पना आध्यात्मिक संकेत के साथ भी सुन्दर हुई है—'जब प्रभात हुआ और प्रकाश फैला, फुलवारी मे पवन प्रवाहित हुआ, पवन को पाकर कली प्रसन्न हुई—बहुत-सी मुसकराईं (अर्द्ध मुकुलित हुई) और बहुत-सी विहसी (खिल गई)।' ऐसे ही वातावरण में कुंअर अपनी सहानुभूति का आरोप प्रकृति पर करता हुआ पवन से कहता है—

जो तेहि ओर बहो तुम आही। दीन्हेउ मोर सँदेस सुनाई।

और पवन संवेदनशील होकर प्रार्थना स्वीकार भी करता है—

कुंअर संदेस पवन जो पावा। इन्द्रावती सों जाइ सुनावा।[4]

---

१. चित्रावना में १८ विरह-खंड, नलदमन काव्य में ऋतु-वर्णन।
२. विरह०; बोध; पहली तरंग।
३. वही; वही, बारहवीं तरंग।
४. इन्द्रा०; नूर०; ६ पाती-खंड, दो० ३०।

इसमें प्रकृति मानवीय सहानुभूति से युक्त है। आगे इसी प्रकार के संवेदनात्मक सम्बन्ध में सुआ वार्तालाप करता है।[1] 'चित्रावली' में यद्यपि संदेश आदि के सम्बन्ध में प्रकृति का रूप नहीं आया है, फिर भी चित्रावली के वियोग में प्रकृति वातावरण के रूप में पूर्ण सहानुभूति रखती है। इन वर्णनों में आध्यात्मिक व्यंजना तो है ही, साथ ही कथात्मक प्रवाह में प्रकृति से भावात्मक तादात्म्य भी है। चित्रावली प्रकृति को सहानुभूतिशील स्थिति में अपनी वेदना की सहभागिनी पाती है—

> जो न पसीजसि जिउ मोर भाखी। पूछि दुखु गिरि कानन साखी॥
> करे पुकार मजोरन गोवा। कुहुकि कुहुकि वन कोकिल रोवा॥
> गयो सोखि पपिहा मम बोला। अजहूँ घोखत बन वन डोला॥
> उड़ा परेवा सुनि मम बाता। अजहुँ चरन रक्त सों राता॥

केवल पक्षी ही नहीं वरन् वनस्पति जगत् भी उसकी व्यथा में सहानुभूतिशील हो उठता है—'टेसू जल कर अँगार हो गया, फरहद ने आग लगा कर सिर जला दिया। वनस्पति जगत् मेरी व्यथा को सुन कर बारहो महीना पतझड़ करता है। घुँघुँची दुखी होकर रोती है, वह वल्लरी नहीं छोड़ती, काली मुखवाली होकर उसीमें लगी रहती है।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम कथा-काव्यों में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति तथा कथात्मक परम्परा का अनुसरण होते हुए भी उन्मुक्त रूप से प्रकृति को स्थान मिल सका है। प्रकृति की इस स्वच्छंद भावना में इन कवियों की प्रकृतिवादी दृष्टि नहीं है और जिस आधार-भूमि पर ये कवि चले हैं उस पर यह सम्भव भी नहीं था।

× × ×

**राम-काव्य की प्रेरणा**—राम काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध की दृष्टि से 'रामचरित मानस' ही प्रमुख ग्रन्थ है। हम कह चुके हैं कि इस पर पौराणिक शैली का अधिक प्रभाव है। पौराणिक शैली में धार्मिक उपदेश और प्रवचनों का विशेष स्थान रहा है। इसी कारण कथा के देश कालगत आधार और वातावरण से अधिक पुराणकार इनकी ओर ध्यान देता है। अधिक अंशों में धार्मिक श्रद्धा और विश्वासों का प्रतिपादन ही इनका उद्देश्य है। फिर इनमें प्रकृति को व्यापक रूप से स्थान नहीं मिल सका तो आश्चर्य नहीं। इनका आदर्श काव्यात्मक, चित्रमय और प्रत्यक्ष वर्णन का नहीं रहा है। फिर भी यह प्रवृत्ति की बात है, वैसे पुराणों में, विशेषकर 'श्रीमद्भागवत' में सुन्दर काव्यमय स्थल हैं। इसी परम्परा में लिखी गई 'अध्यात्म रामायण' में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति

---

१. वही, वही, १० सुवा-खंड—
"बैठा पत्री पर एक सुवा। रोवा सुवा नयन जल चुवा।
देखा कुँवर कीर सों कहा। ढारेउ आँसू कवन दुख अहा॥"

२. चित्रा०, उत्त० ३२ पाती खंड, दो० ४४०—१।

है। जिन स्थलों पर वाल्मीकि की कल्पना रम जाती है और वे प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं, उन्हीं स्थलों पर अध्यात्मकार केवल ज्ञान और मोक्ष की भूमिका प्रस्तुत करता है—

एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम् ।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम् ॥

मायाजनित संसार को विच्छेद और आवरण के रूप मे विवेचित करने वाले लक्ष्मण के लिए प्रकृति का चतुर्दिक प्रसरित सौन्दर्य उपेक्षणीय ही है।"[1] 'रामचरितमानस' में तुलसी की भी वहुत कुछ यही प्रेरणा रही है। परन्तु यह प्रवृत्ति की बात है, वैसे तुलसी की प्रतिभा वहुमुखी, सर्वग्राही है और इनका आदर्श समन्वय है। यहाँ प्रकृति-चित्रण के विषय मे भी यही सत्य है। 'अध्यात्म रामायण' की प्रवृत्ति को ग्रहण करके भी इनके सामने 'वाल्मीकीय रामायण' तथा 'श्रीमद्भागवत' के प्रकृति स्थल सामने रहे हैं। राम-कथा मे वन-गमन प्रसंग के बाद प्रकृति का विशाल क्षेत्र सामने आ जाता है। इस प्रसंग मे तुलसी ने भी ज्ञान और भक्ति के उल्लेख ही अधिक किए हैं। लेकिन प्रकृति का यथास्थान उल्लेख अवश्य आया है, तुलसी कथा की वस्तु-स्थिति को बिलकुल भुला नही सके हैं। वन-भ्रमण के अन्तर्गत इन्होंने अनेक स्थलो का वर्णन किया है और इनमें अधिकतर वे ही स्थल हैं जिनका वर्णन वाल्मीकि मे मिलता है। इन स्थलों मे वाल्मीक रामायण मे यथातथ्य का सश्लिष्ट चित्रण है, परन्तु तुलसी के वर्णन आदर्श प्रकृति का रूप प्रस्तुत करते हैं। इनका उल्लेख आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में किया गया है। इनके साथ जनकपुरी प्रसंग के चित्रण भी आदर्शात्मिक हैं। इन प्रकृति-रूपों मे चिर-वसन्त की भावना के साथ स्थान-काल की सीमा भी स्वीकृत नही है।[2] इन वर्णनो की शैली व्यापक रेखा चित्रो की है और कही इनमे क्रिया व्यापारो की संक्षिप्त योजना भी हुई है। कभी आदर्श-प्रकृति के वर्णनो के साथ चित्रण मे भावात्मक प्रतिविम्ब भी मिलता है; प्रकृति पर यह भावो का प्रतिविम्ब कथानक को लेकर है।[3]

---

१. अध्यात्म रामायण, अरण्य काण्ड; १६; २२—

"नैव माया तथै वासौ ससारः परिकल्प्यते ।
रूपे द्वै निश्चिते पूर्वं मायाया· कुलनन्दन· ॥"

२. बाल०, दो० २१२ में नगर के वातावरण का हलका रेखा-चित्र; दो० २१७ में वाटिका-वर्णन में कुछ क्रिया-व्यापारों की योजना, अयो०, दो० १३७ में चित्रकूट वर्णन, हलकी सश्लिष्टता, दो० २४३ में चित्रकूट वर्णन, उल्लेखात्मक; उत्त०, दो० २३ में रामराज्य के अन्तरगत प्रकृति, व्यापक संश्लिष्टता; दो० ५६ में काकभुशुंडि का आश्रम।

३. अयो०, दो० ३३६ में राम के आगमन पर चित्रकूट में उल्लसित प्रकृति; दो० २७-८६ में चित्रकूट में अनुकूल प्रकृति, अर०, दो० १४ में सुखमयी प्रकृति (गोदावरी)।

कभी-कभी तुलसी मार्ग-स्थित वातावरण का उल्लेख भी कर देते हैं, राम को मार्ग में वाल्मीकि आश्रम मिलता है—

देखत बन सर सैल सुहावन। बाल्मीकि आश्रम प्रभु आए।
राम दीख मुनि बास सुहावन। सुन्दर गिरि काननु जल पावन॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥[1]

इस चित्र में प्रकृति के आदर्श का रूप तो व्यक्त होना ही है, साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि तुलसी साहित्यिक प्रकृति-सम्बन्धी परम्पराओं से परिचित थे और इन्होंने उनसे प्रभाव भी ग्रहण किया है।

स्वतन्त्र वर्णन—इस आदर्श प्रवृत्ति के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी के सामने प्रकृति का यथार्थ रूप नहीं था। 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत कुछ प्रकृति-रूप ऐसे हैं जिनसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि तुलसी ने केवल अनुकरण नहीं किया है और उनके सामने प्रकृति का यथार्थ रूप भी रहा है। पहली बात तो यही है कि इन आदर्श प्रकृति-चित्रों को उपस्थित करने में परम्परा से अधिक तुलसी का आध्यात्मिक अर्थ है। इसको भुलाकर इन रूपों पर विचार करना कवि के प्रति अन्याय होगा। इनके राम पूर्ण पुरुष हैं, उनके प्रभाव में प्रकृति की चिरतन और उल्लासमयी भावना सहज है। परन्तु तुलसी की कथा में आध्यात्मिक आदर्श चरित्र का आधार सहज स्वाभाविक मनोभावों पर है। इसी प्रकार जो प्रकृति-रूप राम के सीधे सम्पर्क में नहीं है, वह यथार्थ चित्रमयता के साथ है। केवल तुलसी को ऐसे स्थल कम ही मिले हैं।

ऋतु वर्णन (क)—साधारणतः ऋतु-वर्णन की परम्परा प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत मानती आई है परन्तु तुलसी ने 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर स्वतन्त्र रूप से उपस्थित किया है। वर्षा और शरद दोनों ही ऋतुओं के वर्णन के विषय में यही बात है। वर्णन के आरम्भ में हलका संकेत दिया गया है—

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

या कथा प्रसंग से मिलाते हुए—

बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥

तुलसी ने इन वर्णनों को इस रूप में एक विशेष सौन्दर्य की दृष्टि से ही अपनाया है। इनमें एक ओर प्रकृति-वर्णना की संश्लिष्ट योजना की गई है जिसमें प्रकृति का यथार्थ रूप अपने क्रिया-व्यापारों के साथ उपस्थित हुआ है, साथ ही मानवी समाज ने उनके

१. वही, अयो०, दो० १२४।

लिए उत्प्रेक्षाएँ तथा उदाहरण आदि प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हीं को लेकर उपदेशो की व्यजना की बात कही जाती है। इसका एक पक्ष यह है भी। परन्तु यदि इनको प्रकृति के पक्ष मे लगाया जाय तो यह वर्णना को भाव-व्यजक करने का आलकारिक प्रयोग है। प्रकृति-वर्णन मे चित्रमयता के साथ भाव व्यजना के लिए आरोप किया जाता है। इस व्यजना म प्रकृति के साथ भाव-स्थितियाँ भी उपस्थित हो जाती हैं, और कभी-कभी तो प्रकृति से व्यजित भाव ही प्रधान हो जाता है। तुलसी के ऋतु-वर्णनो मे अलकार विधान सामाजिक सार पर हुआ है, इस कारण व्यजना उपदेशात्मक हुई है। परन्तु वस्तुत प्रकृति का वर्णन यहाँ प्रमुख है और समस्त आलकारिक योजना प्रकृति के रूप को प्रत्यक्ष करने और कथा के अनुरूप भाव-व्यजना को प्रस्तुत करने के लिए हुई है। प्रकृति के रूपात्मक पक्ष के साथ भाव व्यजना की शैली रही है, परन्तु अधिकतर इस भावना मे रति स्थायी-भाव प्रधान रहा है। तुलसी ने भागवत के अनुसरण पर यहाँ शात स्थायी भाव को आधार रूप मे स्वीकार किया है। लेकिन इनकी वर्णना मे भाव-व्यजना उसी प्रकार चलती है—'बादलो के बीच मे बिजली चमक रही है—खल की प्रीति स्थिर नही रहती। बादल पृथ्वी पर झुक झूमकर बरसते हैं—विद्या प्राप्त कर बुद्धिमान् नम्र ही होते हैं, वर्षा की बूँदो की चोट पर्वत सह लेता है—दुष्ट के वचन को सज्जन बिना किसी अवरोध के सह लेते हैं। और यह क्षुद्र नदी (देखो तो सही) कैसी भरी हुई इतरा रही है—नीच थोडा धन पाकर इतरा चलता है। पृथ्वी पर पडते ही पानी मैला हो जाता है जैसे जीव को माया लिप्त कर लेती है।'[1] यह वर्णन कथानक ने निरपेक्ष लगता है। परन्तु इस यथार्थ चित्रण के विषय मे दो बातें कही जा सकती हैं। इस वर्णन को राम स्वय करते हैं जो पूरे कथानक मे निरपेक्ष हैं फिर इस स्थल पर उनका और उनके द्वारा वर्णित प्रकृति का निरपेक्ष होना स्वाभाविक है। ज्ञानात्मक उपदेश भी उनके चरित्र के अनुरूप है। परन्तु तुलसी ने राम के चरित्र को सर्वत्र दृढ मानवीय आधार दिया है। इस प्रकार इस प्रकृति वर्णन में एक व्यजना सन्निहित है—'लक्ष्मण, यहाँ ऐसा ही होता है। सुग्रीव यदि अपना कर्तव्य भूल गया तो यह उसके अनुरूप है। पर महान् व्यक्तियो मे सहनशीलता होनी चाहिए।' इस प्रकार तुलसी का यह प्रयोग कलात्मक है और इसमे प्रकृति का रूप बिलकुल शान्ति के क्षणो मे देखा गया है। शरद् ऋतु के वर्णन के विषय मे भी यही सत्य है—

> फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई।
> सरिता सर निर्मल जल सोहा। सत हृदय जस गत मद मोहा।

१ वही, किष्कि०, दोहा १४।

रस रस सूखि सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी।
जानि सरद रितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए।[1]

इस चित्र में उपदेशात्मक व्यंजना के साथ कथात्मक भाव-व्यंजना इस प्रकार की लगत है—'हे बन्धु, सज्जन अवसर की प्रतीक्षा संतोषपूर्वक करते हैं; अवसर के अनुसा धीरे-धीरे कार्य होता है।'

कलात्मक चित्र (ख)—इन वर्णनों के अतिरिक्त भी कुछ स्थल हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि तुलसी का अपना प्रकृति-निरीक्षण है। जैसा कहा गया है ऐसे स्थल बहुत कम हैं और उनमें चित्र भी छोटे हैं। एक विशेष बात इनके विषय में यह है कि ये राम के सम्पर्क अथवा प्रभाव में नहीं हैं। कदाचित् इसलिए इनमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ की चित्रमयता है। प्रतापभानु की मृगया के प्रसंग में वराह का रूप और उसके भागने की गति दोनों का वर्णन कलात्मक हुआ है—

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।
बड़ बिधु नहि समाइ मुख माहीं। मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं।
कोल कराल दसन छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई।
घुरुघुरात हय आरौ पाएँ। चकित बिलोकत कान उठाएँ।
नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटिकि नृप, हाँकि न होई निबाहु॥

यहाँ तक बराह के रूप का वर्णन है, इसमें कवि की सूक्ष्म दृष्टि के साथ प्रौढ़ोक्ति भी व्यंजक है। आगे वराह के भागने का चित्र भी सजीव है—

आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुत गति भाजी।
तुरत कीन्ह नृप सर सधाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना।
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा।
प्रगट दुरत जाइ मृग भागा। रिसि बस भूप चलेउ संग लागा।
गयउ दूरि बन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू।[2]

इस वर्णन का यथार्थ चित्र शब्द योजना से और भी अधिक व्यक्त हो उठा है। इस वर्णन के अतिरिक्त चित्रकूट के आदर्श चित्रों के साथ केवट द्वारा वर्णित कलात्मक चित्र भी इसी कोटि का है। इसमें प्रौढ़ोक्तिसम्भव उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया गया है—'*हे नाथ, इन विशाल वृक्षों को देखिए, उनमें पाकड़, जामुन, आम और तमाल हैं जिनके बीच में वट वृक्ष सुशोभित है, जिसकी सुन्दरता और विशालता को देखकर मन मोहित हो जाता है। जिनके पल्लव सघनता के कारण नीलाभ हैं, फल लाल हैं, घनी*

१. वही : वही, दो० १६।
२. वही : बाल०, दो० १५६—५७।

छाया सभी समय सुख देती है, मानो अरुणिमायुक्त तिमिर की राशि ही हो जिसको विधि ने सुषमा के साथ निर्मित किया है।"[1]

सहज सम्बन्ध का रूप—हम कह चुके हैं कि तुलसी मे विभिन्न प्रवृत्तियो और परम्पराओ का समन्वय हुआ है। 'रामचरितमानस' मे साहित्यिक परम्परा के अनुसार प्रकृति का उद्दीपन रूप मिलता है जिसका सकेत अन्यत्र किया जायगा। इनके काव्य मे प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना भी मिलती है, यद्यपि लोक-गीतियो जैसा स्वच्छन्द वातावरण इसमे नही है। सीता हरण के बाद राम सीता का समाचार—'लता, तरु, खग, मृग तथा मधुकरो से पूछते हैं। परन्तु यह सहानुभूति की स्थिति इसके आगे ही प्रकृति की विरोधी भावना के रूप मे उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आ जाती है। अगले प्रसग मे राम पशुओ मे भावारोप करते हुए सहानुभूति के वातावरण मे प्रकृति को सम्बोधित करते हैं—

हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहि तुम्ह कहँ भय नाहीं।
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कचन मृग खोजन ये आए।
सग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं।[2]

इस वर्णन मे विरोधी भावना के साथ व्यगात्मक प्रकृति भी मानव की सहचरी है।

× × ×

अलकृत काव्य परम्परा 'रामचन्द्रिका'—प्रारम्भ मे कहा गया है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग मे सस्कृत महाकाव्यो के समान कोई काव्य नही है। परन्तु अलकृत शैली के अनुसार इस शैली मे 'रामचन्द्रिका' और वेलि क्रिसन रुकमणी री को लिया जा सकता है। इन दोनो काव्यो मे महाकाव्यो के सभी नियमो का पालन नही है। 'रामचन्द्रिका' मे सर्ग के स्थान पर प्रकाश हैं परन्तु इनम अनेक छदो का प्रयोग किया गया है, जबकि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' मे कथा एक ही साथ कह दी गई है। परन्तु वर्णना शैली के अनुसार ये दोनो काव्य सस्कृत महाकाव्यो का अनुसरण करते हैं। वर्णन प्रसगो में लगभग समस्त महाकाव्यो मे वर्णित होने वाले स्थलो को ग्रहण किया गया है। साथ ही ये वर्णन कलात्मक तथा चमत्कृत शैलियो म किए गए है। केशव की 'रामचन्द्रिका' मे प्रकृति-वर्णन के स्थल दो परम्पराओ का अनुसरण करते हैं। पहली मे 'रामायण' की कथावस्तु के अनुसार प्रकृति स्थलो के चुनाव की परम्परा है, जिसमें वन-गमन में मार्गस्थित, वन का वर्णन, पचवटी का वर्णन, पपासर का वर्णन तथा प्रवर्षण पर्वत

---

१ वही, अयो०, दो० २३७।
२ वही०, अयो०, दो० ३७।

पर वर्षा तथा शरद् का वर्णन आता है।[1] इनके अतिरिक्त कुछ प्रकृति-स्थलों को केशव ने महाकाव्यों की परम्परा के अनुसार उपस्थित किया है। इनमें से सूर्योदय का वर्णन यथा के अन्तर्गत ही आ जाता है, पर प्रभात-वर्णन, चन्द्र-वर्णन, उपवन-वर्णन और जलाशय-वर्णन महाकाव्यों के आधार पर लिए गए हैं। केशव ने कृत्रिम पर्वत और नदी का वर्णन किया है जिनका उल्लेख सस्कृत काव्यों में क्रीडा-शैल के नाम से हुआ है। यह राजसी वातावरण का प्रभाव माना जा सकता है। केशव सस्कृत के पडित थे और हिन्दी के आचार्य कवियो में हैं। ये अपनी प्रवृत्ति मे अलकार-वादी हैं। इन कारणो से इनके वर्णनों में सस्कृत के कवियो का अनुकरण और अनु-सरण दोनो ही मिलता है। इन्होने प्रमुखत. कालिदास, बाण, माघ तथा श्रीहर्ष से प्रभाव ग्रहण किया है। कालिदास की कला का तो यत्र तत्र अनुकरण मात्र है, अधिक प्रेरणा इनको अन्य तीनो कवियो से मिली है। ऐसा नही हुआ है कि केशव ने किसी एक स्थल पर एक ही शैली का अनुसरण किया हो। वस्तुत किसी एक प्रकृति-रूप को उपस्थित करने में इन्होने विभिन्न शैलियो का प्रयोग किया है। इसका कारण है। केशव का उद्देश्य वर्णना को अधिक प्रत्यक्ष तथा भाव-गम्य बनाने का नही है। उनके सामने प्रकृति का कोई रूप स्पष्ट नही है। वे तो वर्णन शैलियो के प्रयोग के उद्देश्य को लेकर चलते हैं।

**वर्णना का रूप और शैली**—विश्वामित्र के आश्रम के वर्णन-प्रसग मे केशव पहले केवल उल्लेखात्मक ढग से, देश-काल की सीमा का बिना ध्यान किए वृक्षो को गिना जाते हैं—

> तरु ताली सतमाल ताल हिंताल मनोहर।
> मजुल बजुल तिलक लकुच नारिकेर वर।
> एला ललित लवग सग पूगीफल सोहैं।
> सारी शुक कुल कलितचित्त कोकिल अलि मोहैं।
> शुभ राजहस कलहस कुल नाचत मत्त मयूर गन।
> अति प्रफुल्लित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन।[2]

वृक्षो के साथ इसमे पक्षियो का उल्लेख भी मिला दिया गया। इस वर्णन से प्रत्यक्ष है

---

१ रामचन्द्रिका में वन वर्णन, प्रका० तीसरा छ० २—३, पचवटी-वर्णन, प्रका० ग्यारह १६ २३, पपासर-वर्णन, प्रका० बारह ४४ ४६, प्रवर्षण पर वर्षा और शरद्, प्रका० तेरह १२ २७, सूर्योदय-वर्णन, प्रका० पाँचवाँ १० १५, प्रभात वर्णन, प्रका० तीस १८-२३, वमन-वर्णन, प्रका० तीस ३२-४०, चन्द्र-वर्णन, प्रका० तीस ४१-४६, उपवन-वर्णन, प्रका० बत्तीस ३-२०, जलाशय-वर्णन, प्रका० बत्तीस २३-३६, कृत्रिम-पर्वत और नदी, प्रका० बत्तीस २१-३१।

२. राम०, कराव, प्रका० तीसरा, छ० २।

कि केशव ने वन-वर्णन के लिए शास्त्रीय कवि परम्परा का पालन किया है। इस ऋषि-आश्रम के वर्णन मे आदर्श भावना का सकेत मिलता भी है, आगे के वर्णन मे केशव बाण के अनुकरण पर परिसख्या की योजना मे घटना-स्थिति को बिलकुल भुला देते हैं। इसी प्रकार सूर्योदय प्रसग मे स्वत सम्भावी कल्पना के आधार पर ये कालिदास और भारवि का अनुसरण करते हैं—'(मानो) आकाश रूपी वृक्ष पर अरुण मुखवाला सूर्य रूपी वानर चढ गया, और उसने उसको झुकाकर हिला दिया जिससे वह तारे रूपी आकाश कुसुमो से विहीन हो गया।' इसी प्रकार पूर्व दिशा की कल्पना प्रौढोक्ति-सम्भव होकर भी कलात्मक है—'मुनिराज, आकाश की शोभा को देखिए, लाल आभा से उसका मुख सुशोभित हो गया है। जान पडता है, मानो सिंधु मे वडवाग्नि की ज्वाल-मालाएँ शोभित हो अथवा सूर्य के घोडो की तीक्ष्ण खुरी से उडकर पद्मराग की धूल से दिशा आपूरित हो उठी है।' परन्तु इस चित्रपट के आरम्भ मे ही कवि ने चमत्कृत कल्पनाएँ की हैं—

परिपूरण सिंदूर पूर कैंधौं मगल घट।
किधौं शुक्र को छत्र मढ्यौ मानिक-मयूखपट।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैंधौं लसत दिग्भामिनी के भाल को।।[1]

इस वर्णन मे माघ से श्रीहर्ष की ओर जाने की प्रवृत्ति है। इन समस्त वर्णन शैलियो को मिलाने का कारण यही है कि केशव ने सभी कवियो से ग्रहण किया है और साथ ही ये अलकारवादी हैं। पचवटी तथा भारद्वाज-आश्रम के वर्णन बाण की अलकृत शैली में किए गए हैं। इनमे अनुकरण तथा आलकारिता की ओर विशेष ध्यान है जिससे बाण जैसी रूप-योजना का नितान्त अभाव है। इसमे अनेक कल्पनाएँ केशव ने वैसी ही ले ली हैं। श्लेष-परिपुष्ट उत्प्रेक्षा द्वारा दडक-वन का वर्णन इस प्रकार है—

बेर भयानक सी अति लसै। अर्क समूह उहाँ जगमगै।
नैनन को बहु रूपन ग्रसै। श्री हरि की जनु मूरति लसै।
पाण्डव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सुन्दर की तिलकावलि रूरी।

इसी प्रकार केशव बिना प्रकृति-रूप को समक्ष रखे ही आलकारिक योजना प्रस्तुत करते जाते हैं। जिस स्थल पर कल्पना चित्रमय हो सकी है, एक रूप सामने आता है। पर वह चित्र समग्र योजना मे अलग-सा रहता है और उसका रूप आलकारिक सौन्दर्य तक सीमित रह जाता है—'गोदावरी अत्यत निकट है, जो चचल तुग तरगो मे प्रवाहित हो

१ वही, वही, प्रका० पाँचवाँ १४, १३, ११।

रही है। वह कमलो की सुगन्ध पर क्रीडा करते हुए भ्रमरो से सुन्दर लगती है, मानों सहस्रो नयनो की शोभा को प्राप्त हुई है।'[1] इस चित्र मे भी कवि की मान्यता के साथ काल्पनिकता अधिक है। भरद्वाज के आश्रम-वर्णन में बाण की 'कादम्बरी' के आश्रम-वर्णन का अनुकरण है। परन्तु बाण मे सुन्दर वातावरण की योजना की गई है, जब कि केशव केवल आलंकारिक चमत्कार दिखा सके हैं—

सुवा हो जहाँ देखिये वक्ररागी। चलैं पिप्पलैं तिक्ष वुध्यैं सभागी।
कँपैं श्रीफलैं पत्र हैं यत्र नीके। सुरामानुरागी सबै राम ही के।
जहाँ वारिदै वृन्द बाजानि साजैं। मयूरैं जहाँ नृत्यकारी बिराजैं।[2]

परिसख्यालंकार की यह योजना नितान्त वैचित्र्य की प्रवृत्ति है। पपासर का वर्णन साधारण उल्लेखो के आधार मात्र पर हुआ है, केवल एक उत्प्रेक्षा कवि की प्रौढोक्ति के रूप मे अच्छी है—

सुन्दर सेत सरोरुह में करहाटक हाटक की द्युति को है।
तापर भौंर भलो मन रोचन लोक बिलोचन की रुचि रोहै॥
देखि दई उपमा जलदेविन दीरघ देवन के मन मोहै।
केशव केशवराय मनों कमलासन के सिर ऊपर सोहै।[3]

इस चित्र का सौन्दर्य रूप या भाव को प्रत्यक्ष करने से अधिक उक्ति से सम्बन्धित है। प्रवर्षण पर्वत का वर्णन श्लेष के द्वारा चमत्कार योजनाओ मे हुआ है। इस प्रसग मे वर्षा का वर्णन अधिक कलात्मक हो सका है। साथ ही इसमे वर्षा की व्यापक सीमाओ के साथ कुछ चित्रमयता भी आ सकी है—'घन मद-मद ध्वनि से गरजते हैं, बीच-बीच मे चपला चमकती है, मानो इन्द्रलोक मे अप्सरा नाचती है। आकाश मे घने काले बादल सुशोभित हैं। उनमे बको की पक्तिया मन को मोहित करती हैं, मानो बादलो ने जल से सीपियो को पी लिया है और उसे ही बलपूर्वक उगल दिया है। अनेक प्रकार के प्रकाश घन मे दिखाई देते हैं, मानो आकाश के द्वार पर रत्नो की अवली बँधी हो जो वर्षा के आगमन मे देवताओ ने बाँधी है।'[4] आगे के वर्णनो मे आरोप की भावना के माध्यम से प्रकृति का उद्दीपन रूप मे प्रयोग हुआ है। परन्तु इन वर्णनो मे कवि की अलकार-प्रियता के कारण स्वाभाविक रूप नही आ सका है। शरद्-वर्णन मे यह प्रवृत्ति अधिक प्रत्यक्ष है।

**कथानक के साथ प्रकृति**—जहाँ तक कथानक की घटना स्थिति और भाव स्थिति

---

१. वही, वही: प्रका० ग्यारहवाँ २१, २२, २४।
२. वही, वही, प्रका० बीसवाँ ३८, ६१।
३. वही, वही, प्रका० बारहवाँ ४६।
४. वही, वही, प्रका० तेरहवाँ १३, १४, १५।

से सम्बन्धित प्रकृति के रूप का प्रश्न है, केशव अपनी प्रवृत्ति के कारण सामञ्जस्य स्थापित करने मे असफल रहे है। सस्कृत महाकाव्यो के आधार पर जिन रूपो को व्यापक उद्दीपन-विभाग के अन्तर्गत लिया गया है, उनमे भी वर्णन-वैचित्र्य ही अधिक है। प्रात का वर्णन केशव कालिदास के 'रघुवश' के आधार पर करते हैं। 'रघुवश' मे प्रकृति-रूप के साथ ऐश्वर्य का तादात्म्य स्थापित किया गया है, परन्तु केशव के वर्णन मे ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी उपदेशात्मक उदाहरण दिए गए हैं, जिनमे कथानक के प्रति कोई आग्रह नही है। केशव के सामने तुलसी के सामान कोई क्रमिक रूप-रेखा भी नही है। वे केवल कुछ उक्तियो को जुटाकर सजाना चाहते हैं—

अमल कमल तजि अमोल, मधुप लोल टोल टोल,
बैठत उडि करि कपोल, दान-माद कारो।
मानहु मुनि ज्ञानवृद्ध, छोडि छोडि गृह समृद्ध,
सेवत गिरिगण प्रसिद्ध, सिद्धि सिद्धि-धारी।
तरणि किरण उदित भई, दीप जोति मलिन गई,
सदय हृदय बोध उदय, ज्यों कुबुद्धि नासै।
चक्रवाक निकट गई, चकई मन मुदित भई,
जैसे निज ज्योति पाय, जीव ज्योति भासै।[1]

इस वर्णन की रेखाएँ माघ के अनुसार चलती हैं जब कि उदाहरण की शैली पौराणिक है जिसे तुलसी ने अपनाया है। वसत वर्णन मे आरोप के आधार पर साहित्यिक परम्परा के अनुसार प्रकृति रूप उद्दीपन के अन्तर्गत है। चन्द्र-वर्णन केवल ऊहात्मक है जो हर्ष के अनुसरण पर है। इसमे चित्रमयता के लिए स्थान नही है, केवल विचित्र कल्पनाएँ जुटाई गई हैं जो सस्कृत के कवियो से ग्रहण की गई हैं— (सीता जी कहती है) यह चन्द्रमा फूलो की नवीन गेंद है जिसे इन्द्राणी ने सूँघकर फेंक दिया है, यह रति के दर्पण के समान है या काम का आसन है। यह चन्द्रमा मानो मोतियो का झुमका है जिसे सूर्य की स्त्री असावधानी से भूल गई है। ( राम कहते हैं ) नही, यह तो वालि के समान है क्योकि तारा साथ लिए है।'[2] उद्दीपन के रूप म उपस्थित करके भी इस चित्र म केवल उक्ति-वैचित्र्य है। बाग आदि के वर्णनो म यही प्रवृत्ति है। केशव की प्रवृत्ति प्रकृति के सहचरण रूप को प्रस्तुत करने के बिलकुल विपरीत है। इनमे स्वच्छन्द वातावरण की कल्पना नही की जा सकती। परम्परा के अनुसार उपालम्भ आदि का प्रयोग कर दिया गया है।

वेलि, कलात्मक काव्य—हमारे सामने दूसरा अलकृत काव्य पृथ्वीराज रचित 'क्रिसन रुकमणी री' है। कलात्मक दृष्टि से यह काव्य भी इसी वग मे आता है।

---

१ वही वही प्रका० त मर्वा २०।
२ वही, वही, प्रका० संसर्वा ४१,४२।

पर इसमे और केशव की 'रामचन्द्रिका' मे एक भेद है। यह भेद इनके काव्यगत आदर्शों का है। पृथ्वीराज कवि और कलाकार है, जब कि केशव आचार्य तथा रीतिकार हैं। इसी कारण पृथ्वीराज अपनी कला मे भी रसात्मक है पर केशव अपनी अलकार-प्रियता मे वर्णन-विषय की मर्यादा का ध्यान भी नहीं रख पाते। वैसे पृथ्वीराज के सामने भी सस्कृत कवियो का आदर्श है। *इस क्षेत्र मे कवि ने कालिदास का अनुसरण किया है।* वेलि की कथा सक्षिप्त है, इस कारण इसमें वस्तुस्थिति के रूप में प्रकृति को उपस्थित करने का अवसर नही रहा है। केवल एक स्थल पर द्वारिका के निकट ब्राह्मण को ध्वनिचित्र मिलता है—

घुनि वेद सुणति कहूँ सुणति सख धुनि
नद भल्लारि नीसाण नद।
हेका कह हेका हिलोहल,
सायर नयर सरीख सद॥[1]

अन्य समस्त प्रकृति के वर्णन कवि ने कथा समाप्त करके प्रस्तुत किए हैं। यह प्रकृति योजना बाद के सस्कृत महाकाव्यो के अनुरूप हुई है जो व्यापक उद्दीपन के रूप में कथा की पृष्ठ भूमि मे रखकर उपस्थित की गई है। इन वर्णनो मे आरोपो द्वारा अथवा भाव-व्यजना के माध्यम से प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के अन्तर्गत हुआ है। परन्तु इन रूपो मे कला के साथ रसात्मकता भी है। इनके अतिरिक्त ऋतु-वर्णनो मे मानवीय क्रिया-कलापो का योग भी किया गया है जिस प्रवृत्ति का विकास सस्कृत ऋतु-वर्णनो म देखा जाता है।

*कलापूर्ण चित्रण (क)—इन समस्त वर्णनो के बीच में कवि ने* सुन्दर चित्रों की उद्भावना की है जिसमे कवि की प्रतिभा, मौलिकला तथा उसके सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है। पृथ्वीराज राजस्थानी कवि हैं, इस कारण इनके सामने ग्रीष्म और वर्षा का रूप अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इनके वर्णनो में सबसे अधिक स्वाभाविक और चित्रमय रूप भी इन्ही ऋतुओ मे है। अन्य ऋतुओ मे विशेषकर वसत तथा मलय पवन के वर्णन म आरोप और उद्दीपन की भावना अधिक है, साथ ही इनमे परम्परा-पालन भी अधिक है। ग्रीष्म का यथाथ रूप कवि के सामने है—'*तब सूर्य ने जगत् के सिर के ऊपर होकर मार्ग बनाया, सघन वृक्षो ने जगत् पर छाया की, नदी और दिन बढने लगे, पृथ्वी में कठोरता और हिमालय मे द्रव भाव आ गया।*' यह रेखाओ का उल्लेख केवल ग्रीष्म का व्यापक सकेत देता है। आगे कुछ अधिक गहरी रेखाएँ हैं—

---

१ वेलि क्रिमन रुकमणी रा पृथ्वीराज छ० ४८ [ ( जगाने पर ब्राह्मण को ) कहीं वेदपाठ की ध्वनि सुनाई दी, कहीं शख की ध्वनि सुनाई दी कहीं भालर की झकार तो कहीं नगाड़े का नाद सुन पड़ा। हिल्लोल शब्द क कारण सागर और नगर एक ही समान शब्दायमान हो रहा था। ]

'मृगवात ने चलकर हरिणो को किंकर्त्तव्यविमूढ कर दिया, धूलि उडकर आकाश से जा लगी। आद्रा मे वर्षा ने पृथ्वी को गीलाकर दिया, गड्ढे भर गए और किसान उद्यम मे लगे।' ग्रीष्म का अगला चित्र कलात्मक है और अधिक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देता है—'मनुष्यो को सूरज से तपे हुए आषाढ मास के मध्याह्न मे माघ की मेघ-घटाओ से आच्छादित कृष्णवर्ण अर्द्धरात्रि की अपेक्षा अधिक निर्जनता का भान हुआ।'[1] इसी प्रकार कवि वर्षा की उद्भावना करता है—'मोर ध्वनि करने लगे, पपीहा टेर करने लगा, इन्द्र चचल बादलो से आकाश को शृगारने लगा। ' बडे ज़ोर से वरसने से पर्वतो के नाले शब्दायमान होने लगे, सघन मेघ गम्भीर शब्द से गर्जने लगा, समुद्र मे जल नही समाता, और बिजली बादलों मे नही समाती।' इन चित्रो में कलात्मक चित्र-मयता है। अगले चित्र मे उपमा के द्वारा भावाभिव्यक्ति की गई है—

काली करि कांठलि ऊजल कोरण
धारे श्रावण धरहरिया।
गलि चलिया दिसो दिसि जलभ्रम
थंभि न विरहिण नयन थिया॥[2]

इसमे स्वाभाविक वस्तु-योजना मे भाव व्यजना के द्वारा विरह भावना की अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु यह मानवीय भावना के सम पर प्रकृति की भावमयता है। इस कारण यह प्रकृति-रूप उद्दीपन की विशुद्ध सीमा के बाहर का है। जब इसीमे आरोप की भावना प्रत्यक्ष हो जाती है, उस समय प्रकृति शुद्ध उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है।

× × ×

एक कथात्मक लोक-गीति—'ढोला मारूरा दूहा' के समान गणपति रचित 'माधवा-नल काम-कन्दला प्रबन्ध' कथात्मक लोक-गीति से बहुत निकट है।[3] इसमे भी गीतियो का स्वच्छन्द वातावरण मिलता है। यह कथा अत्यधिक लोकप्रिय रही है और अनेक प्रदेशो मे इसका प्रचार रहा है। इसी नाम के दो प्रेम-काव्यो का उल्लेख किया भी गया है। इसमे बारहमासा वर्णन के दो अवसर आए हैं। एक म माधव के विरह का प्रसग है

---

१ वही, वही, छ० १८७, १६०।

२ वही, वही, छ० १६४, १६६, १६५ [ काले काले वर्तुलाकार मेघों में प्रान्तभागस्थ श्वेत बादलों की कोरवाली घटाओं सहित श्रावण मूसलाधार वृष्टि से पृथ्वी को जल-प्लावित करने लगा। दिशा दिशा के बादल पिघल चले। वे थमते नहीं, विरहिणी स्त्री के नेत्र हो रहे है।]

३ यहां इसका विवेचन बाद में इसलिए किया गया है कि इसका खोज कुछ बाद में मिल सकी। एम० आर० मजूमदार ने गणपति का समय १६वीं श० माना है, जिसने इस लोक गीति को काव्य-रूप में समदृत किया है।

सप्तम प्रकरण

# विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति—२

## गीति-काव्य की परम्परा

पद गीतियाँ तथा साहित्यिक गीतियाँ—हिन्दी मध्ययुग के गीति-काव्य का विकास लोक गीतियो के आधार पर हुआ है। मध्ययुग का गीति-काव्य पदो मे सीमित है, जिसका विकास दो परम्पराओं से सम्बन्धित है। सतो की पद परम्परा का स्रोत सिद्धो की पद शैली है जिसका विकास लोक गीतियो के उपदेशात्मक अश को प्रमुखता देकर हुआ है। वैष्णव पद-गीतियों का विकास भारतीय सगीत के योग से भावात्मकता और वर्णनात्मकता को प्रधानता देने वाली लोक गीतियो से सम्भव है।[1] सस्कृत मे जयदेव के 'गीतगोविन्द' के अतिरिक्त कोई प्रमुख गीति काव्य नहीं है। इसका कारण सस्कृत काव्य का अपना आदर्श है जिसमे स्वानुभूतियों की मनस् परक अभिव्यक्ति के लिए स्थान नही रहा है। साहित्य मे लोक गीतियो की उपेक्षा का कारण भी यही रहा है। इनमे व्यक्तिगत वातावरण प्रमुख रहता है। गायक अपनी ही बात, अपनी ही अनुभूति को प्रमुखत· व्यक्त करना चाहता है। साहित्यिक गीतियो मे यही व्यक्तिगत अनुभूति लोकगीति के स्थूल आधार को छोडकर स्पष्ट मनस् परक अभिव्यजना मे व्यापक और गम्भीर होकर सामाजिक हो जाती है। हिन्दी के पद काव्य के विकास मे कवि की स्वानुभूति को अभिव्यक्ति का अधिक अवसर नही मिला है। फिर भी भक्तो के विनय के पद और मीरा तथा सतो की प्रेम-व्यजना मे आत्माभिव्यक्ति का रूप है। इन गीति के पदो और पश्चिम की साहित्यिक गीतियो मे बहुत बडा अन्तर है। मध्ययुग के आत्माभिव्यक्ति के रूप मे लिखे गए पदो मे स्वच्छद वातावरण अधिक है। भक्त या साधक ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए लोक गायक के समान प्रेम और विरह का

---

१ वैष्णव पदों का प्रचार मन्दिरों में था, और ये भगवान् की सेवा के विभिन्न अवसरों पर गाये जाते थे। इस प्रकार ये पद रागों में बँध गए हैं। साथ ही इन में जिन छदों का प्रयोग है वे अधिकाश लोकगीतियों के हैं।

उल्लेख तीव्र भावो मे और स्थूल आधार पर किया है। जबकि साहित्यिक गीतियो मे कवि की भावना और वेदना का मनस्-परक चित्र व्यंजनात्मक चित्रमयता के साथ उपस्थित किया जाता है। इसी विभेद के कारण हिन्दी मध्ययुग के आत्माभिव्यक्ति के पदो मे भी प्रकृति का स्थूल आधार भर लिया गया है और अभिव्यक्ति के लिए भी विशेष रूप से प्रकृति का आश्रय नही लिया गया। पश्चिम की साहित्यिक गीतियो मे कवि की मानसिक प्रभावशीलता के सम पर प्रकृति दूर तक आती है; साथ ही इनकी व्यंजना प्रकृति के माध्यम से की गई है। वन्दना के पदो मे प्रकृति के माध्यम का कोई प्रश्न नही उठता, उपमानो के रूपगत सौन्दर्य कल्पना मे प्रकृति के माध्यम पर विचार किया गया है।

स्वच्छंद भाव-तादात्म्य—प्रेम के सयोग-वियोग पक्षो की व्यजना जिन पदो मे की गई है, उनमे भावान्दोलन के प्रवाह मे प्रकृति का रूप सकेतो मे आया है। प्रयोग की दृष्टि से प्रकृति के इस रूप मे भाव-तादात्म्य है। सतो ने ऐसे प्रयोग प्रतीकार्थ में किए हैं। परन्तु इस क्षेत्र में मीरा की वाणी प्रकृति के प्रति अधिक स्वच्छंद तथा सहानुभूतिशील है। सतो ने अपनी प्रेम विरह की अभिव्यक्ति अदृश्य विरहिणी की व्यथा के रूप में की है। उन्होने अपनी करके जो बात कही है, वह उनके अनुभूति के क्षणो की अभिव्यक्ति है। इस क्षेत्र में मीरा ही अपनी विरह-वेदना को स्वय व्यक्त करती सामने आती हैं। उस समय प्रकृति उनकी सहचरी है और इसी सहानुभूति के वातावरण में मीरा पपीहे को उपालम्भ देती हैं—

> प्यारे पपइया रे कब को बैर चितार्‌यो।
> मैं सूती छी अपने भवन मे, पिय पिय करत पुकार्‌यो।
> उठि बैठो वो वृच्छ की डाली, बोल बोल कठ सार्‌यो।[1]

और यह विरहिणी अपने मिलन के उल्लास में प्रकृति के सहचरण की बात उससे भाव-तादात्म्य स्थापित करती हुई कहना नही भूलती—

> बदला रे तू जल भरि ले आयो।
> छोटी छोटी बूँदन बरसन लागी, कोयल सबद सुनायो।
> सेज सँवारी पिय घर आये, हिल मिल मगल गायो।[2]

सस्कृत काव्य के समान हिन्दी मध्ययुग के काव्य में आत्माभिव्यक्ति का स्थान अधिक न होने के कारण मन स्थिति के समानान्तर प्रकृति को स्थान नही मिल सका। हम अगले प्रकरण में देखेंगे कि काव्य में प्रकृति अधिकतर परम्परागत उद्दीपन-रूप में

---

१. पदावली मीरा; पृ० ८१।
२. वही, वही; पृ० ६७।

और दूसरे में कामकदला के विरह का। भारतीय जीवन में नारी का विरह ही अधिक उन्मुक्त रहा है, यही कारण है कि इस लोक-गीति में भी कामकदला का बारहमासा अधिक भाव व्यंजक है। जैसा 'ढोला मारूरा दूहा' के विषय में देखा गया है इसमें प्रकृति के साथ मानवीय भावों की स्वच्छन्द व्यंजना हुई है। फाल्गुन मास में कोयल के स्वर से वियोगिनी विह्वल हो उठती है—

> कायलडी श्रवण पडी, काजिल कयण हारि।
> काम करइ धण कटकई, जिहा अकेलडी नारि॥

और चैत्र मास में पुष्पित पल्लवित वसंत के साथ विरहिणी व्याकुल हो उठी है—

> चंपक चपक फुंअलग्रां, होडीं ले सीहकार।
> तरुअर बहु पल्लव धरइ, 'मारि' करइ बहु मार॥

आषाढ के उमड़ते बादलों और चमकती बिजली से वह चंचल हो उठती है—

> चिहुँ-दिशि चमक्इ बीजली, बादल वा वंतोल।
> दुख-दरिया मोंहा हूँ गई टल बलती द्रुहि बोल॥[1]

इसी प्रकार वियोगिनी की व्यथा प्रकृति के साथ व्यक्त होती है।

साहचर्य भावना (क)—कामकदला के विरह प्रसंग में प्रकृति से निकट का सम्बन्ध उपस्थित करती हुई उपस्थित होती है। कहा गया है कि गीतियों की स्वच्छन्द भावना में यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। वह सूर्य, चन्द्र, पवन, जल, चातक, मयूर, कोकिला आदि प्रकृति के रूपों को उपालम्भ देती है। विरोध में उपस्थित प्रकृति के प्रति यह उपालम्भ सहज सहानुभूति को ही प्रकट करता है। कामकदला चातक से उसके उत्तेजक शब्द के लिए उपालम्भ देती है—

> तू सभारइ शब्द तउ, हूँ, मुकु खिण मात्र।
> पीउ पीउ मुखि पोकरतां, गहि वरिउ सवि गात्र॥

मोर के प्रति उसे कितना आक्रोश है—

> माझिम-राति मोर ! तू, म करसि मुआ ! पोकार।
> सूता जाणी सटक दे, 'मारि' करइ मुझि मारि॥

कोकिल के प्रति उसकी अभ्यर्थना में मार्मिक वेदना है—

> काली राति कोकिल ! तू पणि काली कोय।
> बोलइ रखे बीहामणो ! मुझ प्रीउ गामि होय॥[2]

---

१. माधवा०, गणपति छं० ५२६, ५२८, ५५७।
२ वही, वही, छं० ३६३, ३६७, ४००।

और अन्त में वह अत्यन्त निकटता से पवन को अपना दूत बनाकर अपने परदेसी प्रिय के पास भेजती है—

पवन ! संदेसु पाठवउ, माहरु माधव-देसि ।
तपन लगाडो ते गयु, मझ मूकी पर देसि ॥[1]'

इस समस्त वातावरण के साथ भी इस गुजराती गीति कथा-काव्य में 'ढोला मारूरा दूहा' जितनी स्वच्छन्द भावना नहीं है । इसका कारण है कि इसमें साहित्यिक रूढ़ि का प्रभाव अधिक है ।

१ वही, ~ ?, छं० ६१७ ।

उपस्थित हुई है। लेकिन मीरा ने अपनी मनोभावना के साथ प्रकृति को एक सम पर उपस्थित किया है—

> बरसै बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
> सावन मे उमग्यो मेरे मनवा, भनक सुनि हरि आवन की।
> उमड-घुमड चहुँ दिसि से आयो, दामण दमक झर लावन की।
> नन्हीं-नन्हीं बूँदन मेहा बरसै, सीतल पवन सोहावन की।
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आनन्द मंगल गावन की।[1]

यहाँ मीरा के प्रिय मिलन के उल्लास के साथ प्रकृति उल्लसित हो उठी है। इस रूप में वह भावों को सीधे अर्थों में उद्दीप्त न करके मानवीय भावना से सम प्राप्त करती है। आगे उद्दीपन-विभाव के प्रकरण में देखा जा सकेगा कि मीरा और सतों में उस क्षेत्र में भी चित्रमयता नहीं है, पर स्वच्छद भावना का वातावरण अवश्य है।

**पद-गीतियों मे अभ्यन्तरित भाव-स्थिति**—मध्ययुग की पद-गीतियो मे घटना और वस्तु स्थिति का आश्रय भर लिया गया है। पद-शैली मे किसी विशेष वस्तु या भाव को केन्द्र मे रख कर उसीका छाया-प्रकाशो मे चित्र अकित किया जाता है। ऐसी स्थिति मे पदो मे अधिकतर भावाभिव्यक्ति ही हुई है और उनमे केन्द्रीभूत भावना व्यक्तिगत लगने लगती है। इस प्रकार इन पदों में कवि की स्वानुभूति की व्यजना न होकर भी उसकी अभ्यन्तरित भावना का रूप आ जाता है। परन्तु इन पदो मे भावों की मानसिक चित्रमयता की ओर उतना ध्यान नही दिया गया है, जितनी भावों की वाह्य व्यजना की ओर। इस कारण इन पदो मे भी प्रकृति का आधार स्थूल सकेतों मे रहा है। पद-काव्य पर विचार करते समय विद्यापति का उल्लेख आवश्यक है। हिन्दी पद-गीतियों का आरम्भ इन्हीं से माना जाता है। विद्यापति की भावना ने उनके पदों में अभिव्यक्ति का एक विशेष रूप स्वीकार किया है, इस कारण भी उनका महत्व अधिक है। विद्यापति के पदो में राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है। परन्तु इस प्रेम में यौवन तथा उन्माद इतना गम्भीर हो उठा है कि उसमें कवि की अभ्यन्तरित भावना आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती है। ऐसा सूर में भी है, परन्तु विद्यापति मे भक्ति-भावना का आवरण नही है। वे राधाकृष्ण के प्रेम के यौवन-उन्माद से अपनी भावना का उन्मुक्त तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। इसी सम पर कवि ने मानसिक भावस्थितियो की अभिव्यक्ति करने का प्रयास भी किया है। इस कारण उनके पदो मे साहित्यिक गीतियो का सुन्दर रूप मिलता है। परन्तु ये गीतियाँ प्रकृतिवादी गीतियाँ नहीं हैं। इनमे सौन्दर्य और यौवन, विरह और सयोग की भावना व्यक्त

---

१. वही, वही, पृ० ६६।

हो सकी है। विद्यापति के वर्णनों मे मनस्-परक पक्ष की व्यजना इस प्रकार सन्निहित हो गई है। जब सौन्दर्य और यौवन प्रेम की मानसिक स्थिति को छू कर व्यक्त होते हैं, उस समय अनुभूति का गहरा और प्रभावशाली होना स्वाभाविक है। इस गम्भीर अनुभूति के कारण विद्यापति की अभिव्यक्ति साधकों और भक्तों की प्रेम-व्यजना के समान लगती है। परन्तु विद्यापति मे भी मानसिक स्थिति के सवेत्त अवस्था और व्यापारो मे खो जाते हैं जो भक्तियुग के कवियो की समान विशेषता के साथ भारतीय काव्य की भी प्रवृत्ति है।

विद्यापति यौवन और सौन्दर्य—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण मे सौन्दर्य-योजना सम्बन्धी प्रकृति परिकल्पना पर विचार किया गया है। विद्यापति ने सौन्दर्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का सकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौन्दर्योपासक प्रकृतिवादी प्रकृति के रहस्यात्मक रूप मे यौवन की व्यजना के साथ आकर्षित होता है, उसीके समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृति के अप्रस्तुत विधान के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं—'कनकलता म कमल पुष्पित हो रहा है, उसके मध्य मे चन्द्रमा उदित हुआ है। कोई कहता है—सेवार से आच्छादित हो रहा है, किसी का कहना है—नही, यह तो मेघो से झाँप लिया गया है। कोई कहता है—भौंरा भ्रमराता है, कोई कहता है—नही, चकोर चकित है। सभी लोग उसे देखकर सशय म पडे हैं। लोग विभिन्न प्रकार से उसको बताते हैं। विद्यापति कहते हैं भाग्य से ही गुणवान् पूर्ण रूप प्राप्त करता है।'[1] इसमे अन्य सगुण भक्तो के समान रूपकातिशयोक्ति के द्वारा रूपात्मक सौन्दर्य की स्थापना की गई है, साथ ही यौवन की चपलता का भाव भी सन्निहित है जो प्रकृति के स्फुरणशील रूप मे स्थित है। इस प्रकार की प्रकृति-परिकल्पना का विवेचन सौन्दर्य साधना के प्रसग मे किया गया है, परन्तु वह भगवान् के लीलामय रूप से अधिक सम्बन्धित था। विद्यापति ने प्रकृति के माध्यम से यौवन के सौन्दर्य को अनेक स्थलो पर व्यञ्जित किया है—

> सखि हे कि कहव किछु नहि फूरि।
> तडित लतातल जलद समारल आँतर सुरसरि धारा॥
> तरल तिमिर शशि सूर गरासल चौदसि खसि पडु तारा।
> अम्बर खसल धराधर उतरल उलटल धरणी डगमग डोले॥
> खरतर वेग समीरन सञ्चर चञ्चरिगण कर रोल।
> प्रणय पयोधि जले तन झाँपल ई नहि युग अवसाने॥[2]

---

१ पदावली विद्यापति, पृ० १६।

२ वही वही, पृ० ५८६।

सगुण भक्तो ने इसी प्रकार की अलौकिक योजना की है। विद्यापति ने इस परम्परा को उनसे पहले ग्रहण किया है। परन्तु उन्होंने इसमें सौन्दर्य के यौवन पक्ष को चचल-रूप मे व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कवि यौवन प्रेम के उन्माद की व्यजना भी प्रकृति के माध्यम से करता है। कवि के सम्मुख प्रकृति प्रस्तुत रूप में जान पड़ती है, परन्तु व्यग्यार्थ में यौवन का उद्दाम प्रेम है—'जाती, केतकी, कुन्द और मदार और भी जितने सुन्दर फूल दिखाई देते हैं, वे सभी परिमल युक्त मकरन्द युक्त हैं। बिना अनुभव के अच्छा और बुरा नही जाना जाता। हे सखी तुम्हारा वचन अमृतमय है, भ्रमर के व्याज से मैंने अपना प्रियतम पहिचाना।'[1] इसमे यौवन के छिपे हुए आकर्षण का भाव है, आगे मालती और भ्रमर के उदाहरण से प्रेम का सकेत है। यहाँ प्रकृति प्रमुख है, इस कारण इन प्रयोगो को केवल अलकारो के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। कवि कहता है यौवन और सौन्दर्य अनत हैं, पर जिसका जिससे स्नेह हो—

कतक न जातकि कतकि कुसुम बन विकास।
तइअओ भमर तोहि सुमर न लेअ कबहु बास।
मालति बधओ जाएत लागि।
भमर बापुरे विरह आकुल तुअ दरसन लागी।
जखन जतए वन उपबन ततहि तोहि निहार।[2]

इस प्रेम मे उद्वेगशील यौवन के प्रति आकर्षण की भावना बनी रहती है। इस समस्त प्रसग मे आध्यात्मिक सकेत का बिलकुल अश नही है। यौवन का आवेग समस्त आकर्षण का केन्द्र है जिसे भ्रमर और मालती के माध्यम से कवि व्यक्त करता है—

मालति काँहक करिअ रोस।
एक भमर बहुत कुसुम कमल बाहेरि दोस।
जातकि केतकि नवि पदिमिनि सब सम अनुराग।
ताहि अवसर तोहि न विसर एहे तोर बड भाग।[3]

भावात्मक सम—सिद्धान्त की दृष्टि से मानोभावो के समानान्तर या अनुरूप प्रकृति उद्दीपन के अतर्गत आती है। परन्तु इस स्थिति मे उससे एक ऐसा मानसिक सम उपस्थित हो जाता है जिसके कारण हम इस रूप को विशुद्ध उद्दीपन से अलग मानकर उल्लेख करते आए हैं। इस रूप में प्रकृति का सम्बन्ध घटना स्थिति तथा भाव स्थिति से है, जबकि विशुद्ध उद्दीपन मे वह किसी आलम्बन की प्रत्यक्ष स्थिति से उत्पन्न भावो को प्रभावित करती है। उद्दीपन विभाव के प्रसग में इसको अधिक

१ वही वही, पृ० ४६७।
२ वही वही, पृ० ६६।
३ वही, वही, पृ० ४४०।

स्पष्ट किया जा सकेगा। विद्यापति ने प्रकृति को मानवीय भावों के सम पर या विरोध मे उपस्थित किया है पर ये वर्णन अभिसार का उद्दीपक वातावरण निर्माण करते हैं। इन चित्रो मे अधिकाश मे विरोधी भावना लगती है जो रुकावटो के रूप मे है और इस सीमा पर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आवेगी। लेकिन यहाँ हृदय के उद्वेग और उसकी विह्वलता को लेकर प्रकृति का वातावरण भी उसीके सम पर चचल है—

गगने अब घन मेह दारुण सघन दामिनि झलकइ।
कुलिश पातन शब्द झनझन पवन खरतर बलगइ।
सजनि आजु दुरदिन भेल।
कन्त हमरि नितान्त अगुसरि सङ्केत कुञ्जहि गेलि।
तरल जलधर बरिखे झर-झर गरजे घन घनघोर।[1]

इस समस्त योजना मे प्रकृति पर प्रतिघटित सम भाव-स्थिति मे उद्दाम कामना का रूप झलक जाता । विद्यापति मे प्रकृति भी यौवन के उल्लास के साथ उपस्थित होती है—

झलकइ दामिनि रहत समान। झनझन शब्द कुलिश झन झान।
चढब मनोरथ सारथि काम। तोरित मिलायव नागर ठाम॥[2]

विरह और सयोग के पक्षो मे प्रकृति का उद्दीपन-रूप उपस्थित होता है, साथ ही इनमे बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा भी मिलती है। इनका रूप अधिक स्वतत्र है, इनमे प्रकृति के सक्षिप्त उल्लेख के साथ भावो की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति के पदो मे साहित्यिक कलात्मकता के साथ प्रकृति के प्रति स्वच्छन्द सहचरण की भावना भी मिलती है। इस पद मे वियोगिनी की भावाभिव्यक्ति प्रकृति के प्रति सहज सौहार्द्र के साथ हुई है—

मोराहि रे अँगना चांदन केरि गछिया
ताहि चढि कुरुरल काक रे।
सोने चञ्चु बँधए देब मोरा बायस
जओ पिया आओत आज रे॥[3]

**पद-गीतियों के विभिन्न काव्य-रूप**—मध्ययुग मे कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत पद-गीतियो का अधिक विकास हुआ है। अनेक कवियो ने पदो मे कृष्ण की कथा और लीलाओ का वर्णन किया है। कृष्ण-काव्य के विस्तार मे पद-शैली का प्रयोग विभिन्न काव्य-रूपों मे हुआ है। पदो का प्रयोग कथा के लिए भी हुआ है, इस कारण इनमे

१. वही, वही, पृ० २६० ।
२. वही, वही; पृ० २६२ ।
३. वही, वही; पृ० ८०२ ।

गीतियों की भावात्मकता के साथ वर्णना को भी विस्तार मिला है। इन पदों में अभ्यन्तरित भावों की अभिव्यक्ति का रूप मिला है, साथ ही इनमें वस्तु और घटना का वर्णनात्मक आधार भी प्रस्तुत हुआ है। पीछे हम देख आए हैं कि भक्तों के लिए भगवान् की लीला-भूमि और विहार-स्थली आदर्श और अलौकिक है। उसमें प्रकृति का रूप भी ऐसा ही चित्रित है। गोकुल, वृन्दावन और यमुना-पुलिन तक कृष्ण-लीला का क्षेत्र सीमित है जिसके आदर्श रूप की ओर आध्यात्मिक प्रसंग में संकेत किया गया है। यही बात तुलसी की 'गीतावली' के चित्रकूट आदि वर्णनों के विषय में सत्य है। वर्णनशैली की दृष्टि से इनमें व्यापक संश्लिष्टता है, कुछ स्थलों में कलात्मक चित्रण भी हैं। लीला से सम्बन्धित स्थलों को प्रमुखता देकर स्वतन्त्र काव्य रूपों की परम्परा भी चली है। लेकिन कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत ही इन रूपों का विकास हुआ है। उसका कारण है कि कृष्ण-भक्ति की साधना में लीला के साथ विभिन्न लीला पदों का विकास हुआ और बाद में इन्हीं के आधार पर काव्य-रूपों की परम्परा चल निकली। लीला की भावना के आकर्षण के कारण इनका प्रयोग राम-भक्तों ने तथा एक सीमा तक संतों ने भी बाद में किया है।

वृन्दावन वर्णन (क)—भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन है। उसके आदर्श सौन्दर्य तथा उल्लासमयी भावना के विषय में कहा जा चुका है। यह वृन्दावन भगवान् की चिरंतन लीला-स्थली का प्रतीक है। इस कारण भक्तों ने लीला प्रसंग में इसका वर्णन किया है। बाद में वृन्दावन से सम्बन्धित काव्य रूपों का विकास हुआ।[1] इस काव्य-रूप में वृन्दावन की स्थली के चित्रण के साथ भक्ति की भूमिका के रूप में उसका माहात्म्य भी वर्णित है। लीला-स्थली के रूप में वृन्दावन का चित्रमय और भावमय वर्णन रास और विहार-वर्णनों में ही आया है। इनमें प्रकृति की उल्लासमयी भावना में मानवीय भावों की सम स्थिति है। कृष्णदास भक्त की भावना के सम पर वृन्दावन को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

कुसमित कुंज विविध वृन्दावन चलिए नंद के लाला।
पाडर जाई जुही केतकी चंपक बकुल गुलाला।
कोकिल कीर चकोर मोर खग जमुना तट निकट मराला।
त्रिगुण समीर बहत अलि गुंजत नीकी ठौर गोपाला।
सुनि मृदु बचन चले गिरिधरधर कटि तटि किंकन जाला।
नाना केलि करत सखियन संग चंचल नैन विसाला।[2]

---

१ वृन्दावन से सम्बन्धित काव्य—वृन्दावन-शतक, भागवतमुनि, वृन्दावन शतक, रसिक प्रीतम, वृन्दावन-शतक, ध्रुवदास, और मुक्तकों की शैली में वृन्दावन प्रकाशमाल, चन्द्रलाल।

२ पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह; पृ० १८, प० ५२।

इस पद मे क्रीडा की पृष्ठ-भूमि मे वृन्दावन पर भक्त रूप गोपियों की मन स्थिति की प्रतिछाया पड रही है। आगे के स्वतन्त्र रूपों मे लीलामयी भावमयता के स्थान पर उसका महत्व और माहात्म्य ही बढता गया है। कहीं-कहीं भावों का प्रतिबिम्ब आ जाता है—'वृन्दावन की शोभा देखकर नेत्र प्रसन्न हो गए। रवि-शशि आदि समस्त प्रकाशवान् नक्षत्रों को उसपर न्योछावर कर दे। जिसमे लता-लता कल्पतरु है, जो एक रस रहती हैं और जहाँ यमुना तट छलकता है। उसमें आनन्द समूह बरसता है, सुगन्ध और पराग रस मे लुब्ध भ्रमर मधुर गुंजार करते हैं।'[1] पर आगे वृन्दावन के प्रसंगो मे माहात्म्य कथन है—

> केलि कल जोहत विमोहत सु ह्वै है कब
> वृन्दकुंज पुंज भ्रमर अमीवका।
> आनद मे झूम घूम थसौंगो विलास भूमि
> आरत कौ तूमि जैसें सुख पावै होव का।[2]

यही काव्य-रूप कवित्त-सवैया मे रीति-परम्परा से प्रभावित होकर अधिक वैचित्र्य-युक्त होता गया है। भक्ति-भावना से आरम्भ होने वाली काव्य-परम्परा को रीति-काल के कवियों ने इस प्रकार अपना लिया है—

> कुंज मांह ह्वै घाट हैं सीतल सुखद सुढार,
> तहाँ अनूठी रीति सौं झूमि झुकी द्रुम डार।
> वह डारी प्यारी लगे जल मैं झलकै पात,
> वा सोभा को देखि कै पेड चल्यो नहिं जात।[3]

रास और विहार (ख)—कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत लीला और विहार को लेकर एक अन्य काव्य-रूप की परम्परा चली है। इस परम्परा मे दो प्रकार के काव्य रूप पाए जाते हैं। एक म विहार की व्यापक-भावना को लेकर चला गया है और दूसरे मे विशेष रूप से रास-लीला प्रसग लिया गया है। परन्तु इन दोनो मे प्रकृति का प्रयोग समान रूप से हुआ है।[4] इनमे पृष्ठ-भूमि के रूप मे लीला की उल्लासमयी भावना को

१. वृन्दावन शतक, ध्रुवदास, १२, १४, १६।

२ वृन्दा०; भागवत मुदित।

३ वृन्दा०, चन्द्रलाल।

४ विहार-वर्णन का परम्परा में अनेक काव्य-ग्रन्थ हैं। सूर और नन्ददास के पदों में अनेक प्रसग हैं, गदाधर की बानी रहसि मंजरी; ध्रुवदास जुगुल-सतक, श्री भट्ट श्री हरिदास के पद; श्री किशोरदास के पद रगभर; सुन्दर कुमारी विहार-वाटिका, नागरीदास अनुराग बाग; दीनदयाल गिरि: सुख-मनरो, रतिमनरा, ध्रुवदास सुख-उल्लास, वल्लभ रसिक वेनिमाला; हरिदास स्वामी महाबानी; हरि व्यास देव राधारमण रस सागर, मनोहरदास रसिकलता, अनन्दलता, हुलासलता

प्रतिबिम्बित करती हुई प्रकृति उपस्थित हुई है, साथ ही इनमें आदर्श-भावना भी सन्निहित है। नन्ददास रास की स्थली को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'देवताओं में रमारमण नारायण प्रभु जिस प्रकार हैं उसी प्रकार वनों में वृन्दावन सुन्दर सर्वदा सुशोभित है। वहाँ जितने वृक्षों की जातियाँ हैं सभी कल्पद्रुम के समान हैं, चिन्तामणि के समान भूमि है। सभी वृक्ष आकांक्षित फल को देने वाले हैं, उनके बीच एक कल्पतरु लगा हुआ है उसका प्रकाश जगमगा रहा है, पत्र फल फूल सभी तो हीरा, मणि और मोती हैं। और उस कल्पतरु के बीच में एक और भी अद्भुत छवि सुशोभित है—उसकी शाखाओं, फल-फूलों में हरि का प्रतिबिम्ब है। उसके नीचे स्वर्णमयी मणि-भूमि मन को मोहती है। उसमें सबका प्रतिबिम्ब ऐसा लगता है मानो दूसरा वन ही हो। पृथ्वी और जल में उत्पन्न होनेवाले फूल सुन्दर सुशोभित हैं, बहुत-से भ्रमर उड़ते हैं जिनसे पराग उड़-उड़कर पड़ता है और छवि कहते नहीं बनती। प्रेम में उमगित यमुना तटों पर ही अत्यधिक गहरी प्रवाहित है और उमग कर अपनी लहरों से मणि-मंडित भूमि का स्पर्श कर रही है।"[1] इस चित्र में भगवान् की लीला-स्थली होने के कारण प्रकृति का आदर्श रूप है जिसका उल्लेख साधना के प्रसंग में विस्तार से किया गया है। परन्तु इसकी कलात्मक वर्णना शैली का उल्लेख करना आवश्यक है, साथ ही भावात्मक पृष्ठभूमि की व्यंजना भी इसमें सन्निहित है। यह लीला का विशेष अवसर है, पर अन्य लीला प्रसंगों में भी इस प्रकार के चित्र आए हैं। गदाधर भट्ट लीला की पृष्ठ-भूमि कालिन्दी-पुलिन को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

> कालिन्दी जहँ नदी नील निर्मल जल भ्राजै।
> परम तत्त्व वेदांत वेद्य नव रूप विराजै।
> रक्तपीत सित असित लसित बन सोभा।
> टोल टोल मद लोल भ्रमत मधुकर मधुलोभा।
> सारस अरु कलहंस कोक कोलाहल कारी।
> अगनित लक्षन पक्षि जाति कहतहिं नहिं हारी।

---

आदि, रसिकदास (देव) नित्य विहार जुगुल ध्यान, रूपनाग गोस्वामी नित्य विहार जुगुल ध्यान, आनन्दरसिक चौरासी पद, हित हरिवंश। इन लीलाओं के अतिरिक्त रास सम्बन्धी काव्यों में सूर का सूरसागर और नन्ददास के पद तथा 'रास पंचाध्यायी' रस विलास, पीताम्बर रास पंचाध्यायी, रास विलास, रास-लीला, दमोदरदास रासविहार लीला, भगवदास रासपंचाध्यायी, रामकृष्ण चौबे पंचाध्यायी, सुन्दर सिन्धु।

१ रासपंचाध्यायी, नन्ददास प्र० अध्या०। यह काव्य प्रबन्धात्मक है, परन्तु लीला के अन्तर्गत होने से यहाँ इसका उल्लेख किया गया है। यह रोला छन्द में लोक-गीतियों से सम्बन्धित है और इसमें संगीतात्मक प्रवाह भी है।

पुलिन पवित्र विचित्र रंजित नाना मनि मोती ।
लज्जित हैं ससि सूर निसि बासर होती ।[1]

इस विहार की आधार-भूमि के आदर्श-चित्रण में आनन्द व्यजना निहित है जो स्थिति के अनुकूल है । यह उल्लास की भावना परिस्थिति के सम पर प्रकृति के क्रिया-कलापों से और भी प्रतिघटित जान पडती है—'विहार की लीला-स्थली में कुज-कुज इस प्रकार बने हैं मानो मस्त हाथी हो, पवन के सचरण से लताएँ तुरग के समान नृत्य कर उठती हैं; अनेक फूल पुष्पित हो गए हैं; मानो वृन्दावन ने अनेक रग के वस्त्र धारण किए हैं ।'[2] इस चित्र में कलात्मकता के साथ भाव-व्यजना है जो आरोप के आश्रय पर हुई है । रास के अवसर पर नन्ददास ने प्रकृति को भावोल्लास में प्रस्तुत किया है । इस लीला-भूमि में परिस्थिति के उपयुक्त आनन्दोल्लास को प्रकृति ध्वनित करती है—

छवि सों फूले अबर फूल, अस लगति लुनाई ।
मनहुँ सरद की छपा छबीली, बिहसति आई ।
ताही छिन उडगन उदित, रस रास सहायक ।
कुंकुम-मडित प्रिया-वदन, जनु नागर नायक ।
कोमल किरन-अरुनिमा, वन में ब्यापि रही यों ।
मनसिज खेल्यो फाग, घुमडि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों ।
मंद-मद चाल चारु चन्द्रमा, अस छवि पाई ।
उझकत है जनु रमारमन, पिय-कौतुक आई ।[3]

इस चित्र की शैली कलात्मक और भाव-व्यजक है । श्रीमद्भागवत के रास-प्रसंग के अनुकरण पर होकर भी इस योजना में गति के साथ अपना सौन्दर्य है । यह प्रकृति का वातावरण अपने सौन्दर्य के साथ उस रास के महान् अवसर का सकेत भी देता है जो भक्तो के भगवान् की चिरतन लीला का एक भाग है ।

सहचरण की भावना—रास और विहार प्रसग के अन्तर्गत प्रकृति के प्रति साहचर्य-भावना का रूप भी मिलता है । इसका इस दिव्य प्रसग में विशेष अवसर नहीं है । रास के अवसर पर भक्तों के अहकार को दूर करने के लिए क्षणिक वियोग की कल्पना की गई है । इस स्थिति मे मानवीय सहज भाव-स्थिति में गोपियाँ कृष्ण का पता वृक्षों आदि से पूछती फिरती हैं—'हे मदार, तुम तो महान् उदार हो । और हे करवीर, तुम तो वीर हो और बुद्धिमान् भी हो । क्या तुमने मनहरण धीरगति

१. बानी, गदाधर भट्ट, पद ३, ४ ।
२ वनविहार लीला; भगवदास, १३, १४ ।
३. रास प०, नन्द, प्र० अध्या० ।

कृष्ण को कही देखा है। हे कदब, हे आम और नीम, तुम सबने मौन क्यो धारण कर रखा है। बोलते क्यो नही। हे बट, तुम तो सुन्दर और विशाल हो। तुम ही इधर-उधर देखकर बताओ।'[1] यह प्रसग 'भागवत' के आधार पर उपस्थित किया गया है। परन्तु नन्ददास मे यह स्थल संक्षिप्त है साथ ही अधिक स्वाभाविक है। हम देख चुके हैं कि सहानुभूति के वातावरण मे प्रकृति के प्रति सहचरण भावना मे उससे निकट का सम्बन्ध स्थापित करना लोक-गीतियो की प्रवृत्ति है। काव्य मे प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उससे सहज सम्बन्ध उपस्थित करती है और यह भावना काव्य मे लोक गीतियो से ग्रहण की गई है। भक्तो के पदो मे इसके लिए अधिक स्थान नही रहा है। फिर भी साधक के मन का कवि प्रकृति के इस सम्बन्ध के प्रति आकर्षित अवश्य हुआ है। सूर इसी विरह-प्रसग के अवसर पर गोपियो की मन स्थिति को प्रकृति के निकट सहज रूप से सवेदनशील पाते है। गोपियाँ वियोग-वेदना मे प्रकृति को अपनी सहचरी मानकर जैसे पूछती है—'हे वन की वल्लरी, कही तुमने नन्दनन्दन को देखा है। हे मालती, मैं पूछती हूँ क्या तूने उस शरीर के चदन की सुगन्ध पाई है .. ..मृग-मृगी, द्रुम-वेलि, वन के सारस और पक्षियो मे किसीने भी तो नही बताया। अच्छा तुलसी तुम्ही बताओ, तुम तो सब जानती हो, वह घनश्याम कहाँ है? हे मृगी, तू ही दया करके मुझसे कह .....हे हस तुम्ही फिर बताओ।'[2] यह प्रसग जैसा कहा गया है 'भागवत' के अनुसरण पर है, परन्तु सूर ने इसको सहज वातावरण प्रदान किया है जो पदो की भावात्मकता से एक रस हो जाता है। यहाँ गोपियो का बार-बार उपालम्भ देना—

मृग मृगिनी द्रुम बन सारस खग काहू नहीं बतायो री।

स्थिति को अधिक सहज रूप मे सामने रखता है, और 'गोद पसार' कर प्रकृति के रूपो रूपो 'मया' की याचना करना अधिक स्वाभाविक भाव-स्थिति उत्पन्न कर देता है।

**अन्य प्रसगों मे प्रकृति-साहचर्य**—रास तथा विहार आदि प्रसगो के अन्य प्रकृति-रूपों की विवेचना या तो आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत की जा चुकी है या उद्दीपन-विभाव के साथ की जायगी। परन्तु यहाँ इन पद गीतियो के समस्त विस्तार मे प्रकृति के प्रति साहचर्य भावना का जो स्वच्छन्द रूप मिलता है उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। अभी रास के प्रसग मे इसका उल्लेख किया भी गया है। रास और विहार सयोग के अन्तर्गत है। परन्तु प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उत्सुक वियोग के क्षणो में उससे अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करती है। गोपियों क

---

१ वही, वही, द्वि० अध्या०।

२. सूरसा०, दश०, पद १८०८।

विरह-प्रसंग मे प्रकृति उद्दीपन के रूप मे प्रस्तुत हुई है, परन्तु उसी प्रसग मे गोपियाँ अधिक सवेदनशील होकर उससे निकटता का अनुभव करती हैं। इस क्षेत्र मे सूर की सवेदना गोपियो के माध्यम से अधिक व्यक्त तथा सहज हो सकी है। सूर की गोपियाँ प्रकृति को भी अपनी व्यथा मे भावमग्न पाती हैं। उनके सामने यमुना उनके समान विरह-व्यथा से व्याकुल प्रवाहित है और इस माध्यम से वे अपनी मन स्थिति का प्रतिविम्ब प्रकृति पर छाया देखती हैं—

दिखिग्रति कालिंदी अतिकारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सो भई विरह ज्वर जारी।
मनु पर्यंक ते परी धरणि धुकि तरग तलफ नित भारी।
तट वारू उपचार चूर जल परी प्रसेद पनारी।
विगलित कच कुच कास पुलिन पर पकजु काजल सारी।
मन मे भ्रमर ते भ्रमत फिरत है दिशि दिशि दीन दुखारी।
निशि दिन चक्ई यादि वकत है प्रेम मनोहर हारी।
सूरदास प्रभु जोई यमुन गति सोइ गति भई हमारी।[1]

इस प्रकृति-रूप मे गोपी की भावना का तादात्म्य स्थापित हुआ है। इसमे बाह्य आरोपो का आधार लिया गया है और यह भारतीय काव्य की अपनी प्रवृत्ति है। इस ओर सकेत किया जा चुका है कि भारतीय साहित्य मे भाव-व्यजना को वाह्य अनुभावो के आधार पर व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। इस कारण कवि की भावना को इसी आधार पर अधिक उचित रूप से समझा जा सकता है। अन्यथा कवि के प्रति अन्याय होना सम्भव है, जैसा कि कुछ आलोचको ने किया भी है। इसी प्रकार का सहानुभूति पूर्ण वातावरण सूर बादल को लेकर उपस्थित करते हैं। गोपियाँ उसके प्रति अपना सौहार्द स्थापित करती हुई परदेशी कृष्ण को उपालम्भ देती हैं और इस स्थिति मे जैसे वे अपनी सहानुभूति को निकट सम्बन्ध मे पाती हैं—'ये बादल भी बरसने के लिए आ गए, हे नदनन्दन, देखो तो सही। ये अपनी अवधि को समझ कर ही आकाश मे गरज घुमड कर छा गए है। हे सखि, कहते हैं ये तो देवलोक के वासी हैं और फिर दूसरे के सेवक भी हैं। फिर भी ये चातक और पपीहा की व्यथा को समझकर उतनी दूर से धाये हैं और देखो इन्होने तृणों को हरा कर दिया है। लताओ को हर्षित कर दिया है और मृतक दादुरो को जीवन दान किया है। सघन नीड मे पक्षियों को सिंचित करके उनका मन भी प्रसन्न कर दिया है। हे सखी, अपनी चूक तो कुछ जान पडती नही, हरि ने बहुत दिन लगा दिये। रसिक-शिरोमणि ने तो मधुवन मे बसकर हमे भुला

१. वही, वही, पद २७२८।

ही दिया ।''[1] इस वर्षा के सुन्दर चित्र मे, बादलो के प्रति ही नही, वरन् समस्त प्रकृति के प्रति गोपियो की भावप्रवणता प्रत्यक्ष हो उठी है । इसमे भारतीय जीवन के साथ वर्षा का सम्बन्ध भी व्यक्त हुआ है । यद्यपि यह स्थल सूर मे अकेला है, परन्तु सूर की व्यापक सहानुभूति का साक्षी है । इस चित्र मे उद्दीपन की भावना बिलकुल नही, इसमे प्रकृति सहज तथा सहानुभूतिपूर्ण वातावरण को उपस्थित करती है ।

उपालभ की भावना (क)—इसीसे सम्बन्धित प्रकृति के प्रति उपालभ की भावना का रूप आता है । उपालभ की भावना मे स्नेह की एक गम्भीर व्यजना ही छिपी रहती है । भ्रमर-गीत मे प्रकृति के प्रति यह भावना अनेक प्रकार से व्यक्त हुई है । परन्तु इस प्रकार का रूप विरह के प्रसग मे अन्यत्र भी आया है । सूर की गोपियाँ मधुवन को उपालभ देती हैं—

मधुवन तुम कित रहत हरे ।
विरह वियोग श्याम सुदर के ठाढ़े क्यों न जरे ।
तुम हो निलज लाज नहि तुम कह फिर शिर पुहुप धरे ।
शश सियार अरु बनके पखेरू धिक धिक सबन करे ।
कौन काज ठाढे रहे बन मे काहे न उकठि परे ।[2]

गोपियो के इस उपालभ मे मधुवन के प्रति जो आत्मीयता की भावना है वह व्यापक सहानुभूति के वातावरण मे ही सम्भव है । परन्तु इस प्रकार की भावना भ्रमर-गीत के प्रसग मे व्याजोक्ति और व्यगोक्ति के आधार पर व्यक्त हुई है । इस प्रसग की उपालभ की भावना कृष्ण के प्रति मधुकर के व्याज से दी गई है ।[3] गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अटूट लगन को उपालभ के माध्यम से व्यक्त करती हैं—

---

१ वही, वही, पद २८२२ यह अत्यत भाव-व्यजक पद है—

"बरु ये बदराऊ बरसन आए ।
अपनी अवधि जानि नँदनदन गरजि गगन घन छाए ।
कहियत है सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराए ।
चातक पिक की पीर जानि कै तेउ तहाँ ते धाए ।
तृण किए हरित हरषि बेली मिलि दादुर मृतक जिवाए ।
साजे निबिड़ नीड़ तृन सिचि सचि पच्छिनहू मन भाए ।
समुभत नहीं चूक सखि अपनी बहुतै दिन हरि लाए ।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि मधुवन बसि बिसराए ।।"

२ वही, वही, पद २७४१ ।

३ इस भ्रमर-गीत सम्बन्धी व्याजोक्ति के विषय में 'कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत' के 'आमुख' में लेखक का मत अधिक स्पष्ट हो सका है ।

रहु रहु मधुकर मधु मतवार ।
कौन काज या निर्गुण सो चिर जीवहु कान्ह हमारे ।
लोटत पीत पराग कीच मे नीच न अंग सम्हारे ॥
बारंबार सरक मदिरा की अपसर रटत उघारे ।
द्रुम-बेली हमहूँ जानत हौ जिनके हौ अलि प्यारे ॥[1]

इस भाव-स्थिति मे प्रेम, ईर्ष्या, विश्वास का सम्मिलित भाव उपालभ के रूप मे व्यजित हुआ है। आगे उपालभ मे व्यथा और व्याकुलता प्रकृति के माध्यम से अधिक व्यक्त हुई है—'यह मधुकर भी किसी का मीत हुआ है ? चार दिन के प्रेम व्यवहार मे रस लेकर अन्यत्र चला जाता है। केवल मालती से मुग्ध होकर अन्य समस्त पुष्पो को छोड देता है। कमल क्षणिक वियोग मे भी व्याकुल हो जाता है और केतकी कितनी व्यथित हो उठती है।' इसमे गोपियो ने अपनी मन स्थिति मे प्रकृति के साथ स्थान-स्थान पर अपने को भी मिला दिया है—

छांडन नेहु नाँहि मैं जान्यो लै गुण प्रगट नए ।
नूतन कदम तमाल बकुल वट परसत जनम गए ।
भुज भरि मिलनि उहत उदास ह्वै गत स्वारथ समए।
भटकत फिरत पात द्रुम बेलिन कुसुम करञ्ज भए॥
सूर विमुख पद अबुज छांडे विदय निमिष वर छए।[2]

अपनी आत्मविस्मृति स्थित मे गोपिया पुष्पो के साथ प्रत्यक्ष रूप से अपनी बात भी कहने लगती हैं। इस प्रसग मे एक स्थल पर गोपियो ने अपने मन की झुँझलाहट को इसी प्रकार व्यक्त किया है—

मधुकर कहा कारे की जाति
ज्यों जल मीन कमल मधुपन को छिन नाँहि प्रीति खटाति।
कोकिल कपट कुटिल वायस छलि फिरि नाँहि वह बन जाति।[3]

इन उदाहरणो मे जो प्रतारण का आरोप किया गया है वह भी सहज निकटता को ही व्यजित करता है। वह समस्त आक्रोश और उपालभ इसी भाव को लेकर चला है।

अन्यत्र (ख)—इस प्रकार के प्रकृति-रूप अन्य कवियो मे नही मिलते। इन स्थलो पर प्रकृति का केवल उद्दीपन रूप सामने आ सका है। कदाचित् सूर के अनुकरण पर तुलसी ने 'गीतावली' मे राम के घोडों के माध्यम से कौशल्या की व्यथा को व्यक्त किया है। कौशल्या कहती हैं—

---

१. सूरसा०, दश०, पद २६६०।
२. वही, वही, पद २६६२।
३ वही, वही, पद ३०६८।

प्रालो ! हौं इन्हि बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि पति को हित मातु हेत सुत जैसे।
बार बार हिनहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे।
ग्रंग लगाइ लिए बारे तें, करुनामय सुत प्यारे।
लोचन सजल सदा सोवत से, खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम सुरति उर लाए।[1]

परन्तु इस अनुकरण मे भी तुलसी की व्यजना अत्यन्त भावपूर्ण और चित्रमय है। इसमे पशुओ की मानव के साथ सहानुभूति को व्यक्त किया गया है और साथ ही उनके अनुभावो का सजीव चित्रण भी हुआ है। घोडे आदि पशु मानवीय सम्पर्क मे वियोग का अनुभव करते देखे जाते हैं; यह प्रतिदिन के जीवन का सत्य है जिसके माध्यम से कवि ने भाव-तादात्म्य स्थापित किया है।

ऋतु सम्बन्धी काव्य-रूप—भक्त कवियो के पदो मे वियोग और सयोग के साथ लोक प्रचलित ऋतु के परिवर्तित दृश्यो का आश्रय भी लिया गया है। हम कह चुके हैं कि सस्कृत काव्य मे ऋतुओ का वर्णन रूढिगत हो चुका था। भक्त कवियो ने इस परम्परा के साथ लोक-गीतियो के उन्मुक्त वातावरण का भी आश्रय लिया है। इनकी प्रमुख प्रवृत्ति प्रकृति-रूपो को उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत लेने की रही है। पद गीतियो मे इनको अलग काव्य-रूप भी नही मिला है, अन्य वर्णनों के अन्तर्गत ही सम्मिलित किए गए हैं। आगे चलकर रीति-कालीन परम्परा मे इन वर्णनो ने एक निश्चित रूप ग्रहण किया है। इन वर्णनों मे ऋतुओ तथा मासो का क्रम भी स्थापित नही हुआ है और जो ऋतु अथवा मास अधिक प्रभावशील है उसीको प्रमुख रूप से ग्रहण किया गया है। इन ऋतुओ में पावस और वसत की प्रमुखता है। सूर तथा अन्य कवियो ने इन्हीका वर्णन किया है। इस काल मे ऋतु-वर्णन की परम्परा मिलती है, नन्ददास ने 'विरह-मजरी' मे बारह मासों का वर्णन किया है। परन्तु यह साहित्यिक परम्परा पद-गीतियो की उन्मुक्त भावना के आधार पर नही चली है।

अन्य रूप (क)—इन दोनो से सम्बन्धित भक्ति पद-साहित्य मे अन्य काव्य-रूप भी विकसित हुए हैं। इनमे पावस से सम्बन्धित झूला या हिंडोला, और वसत से सम्बन्धित वसत, फाग तथा होली के काव्य-रूप हैं। इनका प्रकृति से अधिक सम्बन्ध नही है; इनमे लोक-भावना का उल्लसित रूप सन्निहित है जो प्रकृति के उद्दीपन विभाव मे मानवीय भावना से अधिक सम्पर्क रखता है। इन वर्णनो मे प्रकृति का रूप उद्दीपन की प्रेरणा के अर्थ मे या उल्लेखो मे आया है या परोक्ष मे ही रहता है। साहित्यिक

१. गीता०, तुलसी ; अयो० पद ८६, पद ८७ में भी इसी भाव को दूसरे प्रकार से व्यक्त किया गया है।

परम्परा के ऋतु वर्णनो मे भी केवल मानवीय क्रिया-कलाप, हास-उल्लास, व्यथा-विलाप सामने आता है। परन्तु पावस से सम्बन्धित हिंडोला तथा झूला मे वातावरण कुछ अधिक स्वतन्त्र है। इनमे उल्लास की भावना लोक-जीवन की उल्लास भावना से अधिक सम्बन्धित है। इनके द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक वातावरण की ओर सकेत किया गया है। आगे चलकर मुक्तको की रीति-परम्परा मे इन रूपो का विकास नही हुआ है। इसका कारण है। ऋतु वर्णन और बारहमासा के काव्य-रूपो मे इनको मिला लिया गया है, और उल्लास के स्थान पर क्रिया-कलापो की योजना अधिक होती गई है। इस सीमा पर भक्त कवियो और रीति कवियो मे अन्तर है। इन ऋतु सम्बन्धी उत्सवो मे भक्त कवियो ने मानवीय भावो को प्रकृति मे प्रतिघटित किया है, प्रकृति पर मानवीय उल्लास प्रतिबिम्बित है। इसके विपरीत रीति-काव्यो मे प्रकृति के सकेतो के आधार पर मानवीय उद्दीप्त भावस्थिति के अनुभावो को प्रमुखता दी गई है। कभी-कभी भक्त कवि प्रकृति का रूप उपस्थित करके उल्लासमयी भावना का सकेत अप्रत्यक्ष रूप से ही देता है—

> ब्रज पर श्याम घटा जुर आई।
> तेहीये दामिनि चुहु दिशि कौंधत लेत तुरग सुहाई।
> सघन छाय कोकिला कूजत चलत पवन सुखदाई।
> गुजत अलिगण सघन कुज मे सौरभ की अधिकाई।
> विकसत श्वेत पाँत बगलन की जलधर शीतलताई।
> नव नागर गिरिधरन छबीलो कृष्णदास बलि जाई॥[1]

कृष्णदास ने इसमे सश्लिष्टता के आधार पर भाव व्यजना की है, यहाँ प्रकृति और मानवीय भावो मे प्रत्यक्ष समानान्तरता नही प्रस्तुत की गई है। परन्तु इन भक्त कवियो की प्रमुख प्रवृत्ति प्रकृति की उल्लसित क्रीडाशीलता के समक्ष मानवीय भावना के उल्लास को रखने की चेष्टा की है। परमानन्द दास कहते हैं—'बादल पानी भरने को चले हैं, चारो ओर से घिरती श्याम घटा को देखकर सभी को उल्लास हुआ। दादुर, मोर और कोकिला कोलाहल करते हैं। बादला की श्याम छवि मे इन्द्र-धनुष और बको की पक्ति की शोभा अधिक सुखकर है। घनश्याम अपनी मडली के साथ कदम्ब वृक्ष के नीचे हैं। वेणु बजती है और अमृत तुल्य स्वर मे मृदग तथा आकाश के बादल साथ गरजते हैं। मन भाई ऋतु आई और सभी जीव क्रीडामग्न हैं।'[2] इस चित्रण मे वर्षा का दृश्य स्वाभाविक है और मानवीय उल्लास के सम पर उपस्थित

---

१ कीर्तन संग्रह, कृष्णदास।

२. कीर्त०, परमानददास—'बादुर भरन चले हैं पानी।'

हुआ है। भक्त कवियों ने साहित्यिक परम्परा का पालन किया है, पर उनके साम दृश्यों के स्वाभाविक रूपों की कल्पना भी रही है। सूर इन्द्र-रोष के प्रसंग में मे का वर्णन सहज ढंग पर करते हैं—

> गरज गरज घन घेरत आवैं, तरक-तरक चपला चमकावैं।
> नर नारी सब देखत ठाढ़े, ये बदरा परलोक के काढ़े।
> हरहरात घहरात प्रबल अति, गोपी ग्वाल भए औरे गति।[1]

इसी प्रकार प्रभाती के प्रसंग में गोपाल कृष्ण को जगाते हुए कवियों ने प्रातःकाल का चित्र व्यापक रेखाओं में उपस्थित किया है। इन चित्रों को साधारण चित्रण शैली का माना जा सकता है। सूर गोपाल लाल को जगा रहे हैं—'गोपाल जागिए, ग्वाल द्वार पर खड़े हैं... ..रात्रि का अन्धकार तो मिट चुका है, चन्द्रमा मलीन हो चुका है, सूर्य किरण के प्रवाह में तारा समूह अदृश्य हो चुका है। कमलों का समूह पुष्पित हो गया है, पुष्प वृन्दों पर भ्रमर समूह गुंजार रहा है और कुमुदिनी मलीन हो चुकी है।'[1] नन्ददास भी इसी प्रकार दृश्यों का आधार लेते हुए प्रभाती गा रहे हैं—'चकई की वाणी सुनकर चिड़िया चुहचुहाने लगी, यशोदा कहती हैं मेरे लाल जागो। रवि किरण के प्रवाह को समझकर कुमुदिनी सकुचित हो गई, कमलिनी विकसित हो गई, और गोपियाँ दधि मथ रही हैं।'[2] वस्तुतः प्रभाती आदि का रूप साम्प्रदायिक विधानों में भगवान् के दिनचर्या के लीला सम्बन्धी पदों के आधार पर चला है। पहले कवियों ने कुछ अपने निरीक्षण तथा अधिकांश में साहित्यिक परम्पराओं से प्रकृति का आधार प्रस्तुत भी किया है, परन्तु बाद में इन लीलाओं के साथ शृंगार और क्रियाओं का उल्लेख ही बढ़ता गया। लीला प्रसंग में गोचारण लीला में एक सीमा तक पशु-चारण काव्य की भावना मिलती है। पर यह प्रसंग अत्यन्त संक्षेप में लिया गया है, और अधिकतर उसमें रूप आदि का वर्णन है। परन्तु गायों के प्रति सहानुभूति का वातावरण और ग्वाल-बालों की क्रीडाशीलता तथा उनका उल्लास इस प्रसंग की विशेषता है। इस प्रसंग में ग्वाल जीवन का सहज चित्र है—

> चरावत वृन्दावन हरि गाईं।
> क्रीडा करत जहाँ तहाँ सब मिलि आनन्द बढ़इ बढ़ाइ॥
> बगरि गईं गैयाँ बनवीथिनि देखी अति बहुताइ।
> कोउ गए ग्वाल गाइ बन घेरन कोउ गए बछरू लिवाइ॥

---

१ सूरसा०, दश०, पद ६६०, इस प्रसंग में अनेक पद इसी प्रकार के हैं।
२ कीर्त०, नंददास।

बंशीवट शीतल यमुनातट अतिहिं परम सुखदाइ।
सूरश्याम तब बैठि विचारत सखा कहाँ बिरमाइ॥[1]

चरा कर लौटते समय ग्वालो का तथा गायो का उल्लास तथा व्यग्रता भी कुछ स्थलो पर व्यक्त हुई है। परन्तु लीला की भावना के कारण इस परम्परा का रूप पशु-चारण-काव्य के उन्मुक्त वातावरण म विकसित नही हो सका।

## मुक्तक काव्य परम्परा

**मुक्तकों की शैली**—गीतियो की पद शैली और मुक्तको की कवित्त-सवैया शैली मे समानता है और भेद भी है। दोनो मे एक ही प्रसग, एक ही स्थिति और एक भाव स्थिति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। एक पद मे जिस प्रकार भावो की एक स्थिति को अथवा चित्र के एक रूप छायातप को प्रमुखता दी जाती है उसी प्रकार मुक्तक छद मे भाव या स्थिति के एक पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। परन्तु पद मे व्यजना भावो का आधार अधिक ग्रहण करती है, उसमे चित्र भावो की तूलिका से रूपमय किए गए हैं। उसमे अलकार का प्रयोग किया गया है परन्तु भाव को अधिक व्यक्त करने के लिए। जहाँ पदो मे अलकार प्रमुख हो जायेगा, उक्ति ही उसका उद्देश्य हो जायेगा, पद अपनी गीति भावना से हट जायेगा। पद गीति की सीमा मे भावात्मक होकर ही है, उसमे रूप का आधार भाव का आलम्बन है। परन्तु मुक्तक छन्द अपने प्रवाह मे कलात्मक होता है, वह कुछ रुक-रुक ठहरकर चलता है। ऐसी स्थिति म उसम भावो को चित्रमय, कलामय करने की अधिक प्रवृत्ति होती है। हिन्दी मध्ययुग के मुक्तक काव्य मे यह प्रवृत्ति बढकर ऊहात्मक कथन की सीमा तक पहुँच गई है। फिर पद मे भावो के केन्द्र बिन्दु से आरम्भ करके समस्त भावधारा का उसीके चारो ओर अगुम्फित कर देते हैं, जबकि मुक्तक छन्द मे किसी प्रसग, किसी घटना या भाव स्थिति को कलात्मक ढग से प्रारम्भ करके, अन्त मे उसीके चरम क्षण मे छोड देते हैं। मुक्तक छन्दो की इस गठन मे उसके अलकृत और चमत्कृत प्रयोग का इतिहास छिपा है। मुक्तक छन्दो मे कवित्त और सवैया के साथ बरवै तथा दोहा भी स्वीकृत रहे हैं वरन् इनका प्रयोग पूर्व का है। इन दोनो छन्दो का प्रयोग काव्य शास्त्र के ग्रन्थो मे हुआ है या उपदेश आदि के लिए। कवित्त और सवैया का प्रयोग मुक्तको के रूप मे भक्ति-काल के तथा रीति काल के स्वतत्र कवियो के द्वारा किया गया है। ये कवि एक ओर भक्ति काव्य के प्रभाव मे है और उसकी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं दूसरी ओर रीति कालीन साहित्यिक रूढियो से भी प्रभावित हैं। परम्परा के अनुसरण से इनमे चमत्कार की आलकारिक भावना अधिक बढती गई है

---

१ सूरसा० दश पद ५२२

*वातावरण और सम्बन्ध*—जिन कवियों ने भक्ति-भावना को मुक्तकों मे व्यक्त किया है उनमे भी प्रकृति का उद्दीपन रूप अधिक है। परन्तु इनमे कुछ चित्र ऐसे अवश्य हैं जिनमे प्रकृति के रूप की प्रमुखता है। इन रूपों मे वियोग आदि की भाव-स्थिति अन्तर्निहित रहती है। ठाकुर कवि पावस की उमड़ती घटाओं के साथ वेदना को भी व्यक्त कर देते हैं—

> सननात आँध्यारी छटा छननात घटा घनकी अरी घेरती सी।
> झनझात झिल्ली सुरसोर महा परहो फिरैं मेघन टेरती सी॥
> कवि ठाकुर वे पिय दूर बसै तन मैन मरोर मरोरती सी।
> यह पीर न पावति आवति है फिर पापिनी पावस फेरती सी।[1]

इस वर्णन मे पावस की उमड़ती घटा के सम पर व्यथा की व्यजना की गई है। ठाकुर के दूसरे प्रकृति वर्णन मे भावात्मक व्यजना को अनुभावो के रूप में दृश्य के समक्ष रखने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। बादल की उमडन तथा दामिनि की चमक के साथ पिकी की पुकार और रिमझिम वर्षा स्वतः ही—'रटै प्यारी परदेश पापी प्रान तरसतु हैं' के द्वारा समस्त भाव-व्यजना को प्रस्तुत कर देती है।[2] चित्रण शैली की दृष्टि से इन समस्त वर्णनो मे उल्लेखात्मक तथा व्यापक संश्लिष्ट योजना मात्र है। इन कवियो की उन्मुक्त प्रेम-भावना मे मानवीय सम्बन्ध ही प्रधान है, इसलिए प्रकृति को विशेष स्थान नही मिल सका है। कही किसी स्थल पर ही सहानुभूति पूर्ण सम्बन्ध मे प्रकृति अंकित हो सकी है। रीति परम्परा के प्रभाव के कारण भी यह रूप अधिक नही आ सका है। एक दो स्थलो पर रसखान और घनानन्द की प्रेम भावना के प्रसार मे गोकुल तथा वहाँ की प्रकृति के प्रति आत्मीयता की भावना व्यक्त हुई है। रसखान व्रज-भूमि के प्रति अत्यधिक आत्मीयता प्रकट करते हैं।

> मानस हौं तो वही रसखानि बसौं व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
> जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
> पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
> जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।[3]

---

१. शतक ठाकुर, छ० ५०।

२. वही, वही, छ० ५३—

"दौरि दौरि दमकि दमकि दुर दामिनि यौं दुन्द देत दसहूँ दिसान दरसतु है।
घूमि घूमि घहरि घहरि घन घहरात घेरि घेरि घेरि घोर घनो सोर सरसतु है।
ठाकुर कहत पिक पीकि पीकि पीकौ रटै प्यारी परदेश पापी प्रान तरसतु है।
झूमि झूमि झुकि झुकि झमकि झमकि आली रिमझिमि असाढ़ बरसतु है।"

३ सुजान-रसखान ; छं० १।

अपने प्रिय को लेकर रसखान की यह आकांक्षा व्रज के 'गिरि, धेनु, खग और कदम्ब' से निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आकुल है। प्रकृति के प्रति सहानुभूति तथा उसके सहचरण की आत्मीयता को लेकर बोधा की विरहिणी आत्मा कोकिल को उपालम्भ देती है—'रसालो के वन मे बैठी हुई री कोयल, तू आधी रात मे अज्ञात स्थान से रण के समान प्रचारती है। तू नाहक की विरहिणी नारियो के पीछे पड़ी है और उन्हे लूको से जलाती है।' इस उक्ति पर रीति कालीन प्रभाव प्रत्यक्ष है। यह उपालम्भ अधिक सहज हो जाता है, जब बोधा की विरहिणी कोकिल से कहती है—

कूक न मारु कोइलिया करि करि तेह।
लागि जात बिरहिन के दूबरि देह॥

पर इसमे उक्ति का वैचित्र्य न हो, ऐसा नही है। साथ ही कवि प्रकृति से भाव साम्य स्थापित करके उसके माध्यम से वियोग लक्षित करता है—

लीने सग भ्रमरिऐ भइस वियोग।
रोवत फिरत भँवरवा करिकै सोग॥[1]

अप्रस्तुत प्रस्तुत विधान से यह व्यजना सुन्दर हुई है, पर ऐसे स्थल इन कवियो मे कम हैं।

पृष्ठ भूमि—मुक्तक परम्परा के कवियो ने कृष्ण लीला अथवा नायक नायिका के प्रसग को लेकर अनेक छन्द लिखे हैं। इनमे हास विलास, वियोग व्यथा आदि का रूप उपस्थित हुआ है। इन स्थलो पर प्रकृति केवल उद्दीपन रूप म आ सकी है। अधिकाश कवियों ने कृष्ण भक्त कवियो के अनुसरण पर प्रसगो को चुना है, परन्तु इन्होने अलकृत तथा चमत्कृत शैली रीति के कवियों की अपनाई है।[2] इन सब मे ऋतु अथवा स्थानो का वर्णन उल्लेखो मे हुआ है और उनमे भी चमत्कार की भावना अधिक है। साथ ही भावात्मकता के स्थान पर क्रीडा कौतुक हास विलास का समावेश अधिक हुआ है। यमुना-पुलिन को कवि इस प्रकार उपस्थित करता है—

जमुना पुलिन माह नलिन सुगन्ध लै लै,
सीतल समीर धरी वहै चहूँ ओर तै।
फूलो है विचित्र कुंज गुजत मधुप पुज,
कुसमित सेज प्रिया पीय चित चोर तै॥
हास परिहास रस ददन प्रणय बस,
सुघराई बैन सैन नैनन की कोर तै।

---

१ इस्क-चमन, बोधा, द्वि० ८, ६, १०।

२ ऐसे कुछ काव्य-रूपों के उदाहरण के लिए, राधारमण रससागर, मनोहरदास जनकेलिपचीसी; प्रियदास प्रीति पावस, आनदघन का भी उल्लेख किया जा सकता है।

राधिका रमण प्रीति छिनु-छिनु नई रीति;
वोर्वे मनोहर मीत बेलें मेहजार तें।[1]

इस वर्णन में प्रकृति का उल्लेख तो परम्परा पालन है, उसका केन्द्र तो विलास है। यह प्रवृत्ति इन कवियों के सभी काव्य रूपों में पाई जाती है।

बारहमासों की उन्मुक्त भावना—भक्ति-काव्य में विहार के अन्तर्गत वसंत, भूला तथा हिंडोला आदि का उल्लेख किया गया है। इनका वर्णन मुक्तक काव्यों में स्वतन्त्र रूप से मिल जाता है, पर इनमें इस काव्य-रूप की परम्परा अधिक नहीं मिलती।[2] वर्णन की दृष्टि से इनमें भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। इन मुक्तक काव्यों में ऋतु-वर्णनों तथा बारहमासों के रूप अधिक पाए जाते हैं। इनमें प्रकृति अधिकतर उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई है। शैली के विचार से चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक है तथा क्रिया व्यापारों की योजना अधिक की गई है। यह तो इनकी मुख्य विचार धारा की बात है, वैसे कुछ स्थलों पर सुन्दर चित्र-रूपों की उद्भावना भी हो सकी है। इनमें भावात्मक सामंजस्य बन पड़ा है। प्रारम्भ में कहा गया है कि बारह-मासों की परम्परा का मूल लोक-गीतियों की उन्मुक्त भावना में है। इन गीतियों की भावधारा में वियोगिनी की व्यथा के साथ परिवर्तित होते काल का रूप और उसकी वियोग की प्रतीक्षा मिलकर आई थी। प्रत्येक मास की प्रमुख रूप रेखा के आधार पर वह अपने प्रिय को याद कर लेती है और उसके लिए विकल हो उठती है। प्रकृति में व्यतीत होते काल और परिवर्तित होते रूपों के साथ विरहिणी की प्रतीक्षा के क्षण भारी होते जाते हैं, और इसस्थिति में वह अपनी संवेदना में प्रकृति के प्रति भी सहानुभूतिशील हो उठती है। इस प्रकार उसे कभी प्रकृति अपनी मन स्थिति के सम पर जान पड़ती है और उस समय वह भी दुःखी तथा विह्वल उपस्थित होती है। संयोग की स्थिति में यह भावप्रवणता नहीं होती, वैसे इसमें प्रकृति उल्लास में प्रस्तुत होती है। विरोध की भावना के साथ वह वियोगिनी की व्यथा को तीव्र ही करती है, ऐसी स्थिति में विरहिणी प्रकृति के प्रति उपालम्भशील भी होती है। स्वच्छन्द रूप से प्रकृति में भावों की छाया, उसका उद्दीपन रूप और उसकी सहचरण भावना बारहमासों के उन्मुक्त वातावरण में मिलती है, और यह सब प्रकृति पर मानवीय भावों का प्रसार है। आगे चलकर इस परम्परा में प्रकृति की समस्त भावना रूढ़िवादी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत जड़ बनती गई। हम देख चुके हैं कि बारहमासों को विद्यापति, सूफी कवियों तथा अन्य प्रेमी कवियों ने भी अपनाया है। भक्त कवियों ने परम्परा रूप से इसको नहीं

---

१ राधारमण ६, मनो०।

२ इस प्रकार के काव्यों में भूला पचीसी, प्रियदास हिंडोला; पृथ्वीसिंह का उल्लेख किया गया है।

अपनाया, लेकिन नन्ददास के बारहमासा से प्रकट होता है कि यह परिपाटी बराबर चलती रही है।[1]

मुक्तकों में इसका रूप (क)—मुक्तक काव्यों में बारहमासों के अन्तर्गत, जैसा कहा गया है प्रकृति का रूढ़िवादी रूप अधिक है, पर कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जिनमे भावों के सम पर उसे उपस्थित किया गया है। कवि राधा और कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिका प्रसग में चैत मास से वर्णन आरम्भ करता है— चारो ओर वृक्षो पर लताएँ सुशोभित हैं, पुष्प सुगन्धित हैं, पवन अतिशय मद-गति से प्रवाहित है। मधुप मत्त मकरद पीता है और कुजो मे गुजार करता है। तोता मैना मधुर स्वर करते हैं, कोकिला कोलाहल करती है, वनो मे मोर नाचते हैं। प्रिय, ऐसे समय विदेश की चरचा सपने मे भी भूलकर नही करनी चाहिए।'[2] इस वर्णन के अंतिम उल्लेख से समस्त वातावरण भावात्मक हो गया है। अन्यत्र लोकगीतियों की भाँति काल से सम्बन्धित प्रमुख रूप या विशेषता का उल्लेख करके प्रकृति के सामने विरह व्यथा आदि को प्रस्तुत किया गया है—

> लगत असाढ़ गाढ़ मुहि परी, विरह अगिन अतर पर जरी।
> ज्यों ज्यों पवनु चलतु चहु ओरनि, त्यों त्यों जरी जाति झकझोरन।

फिर

> जेठ लागें उठे हू तें अवर उमडे घरी,
> घरी भरि प्यारी कल क्यू हू न परत है।
> वृष के रथ वृष शशि बैठे भान तपै,
> मेरे प्रान कपै ऐसो सीत की अरति है।[3]

इनमे प्रथम कवि मे कुछ उन्मुक्त भावना है, परन्तु जेठ के वर्णन मे उक्ति चमत्कार ही अधिक है। कुछ वर्णनों में केवल विरह के शारीरिक अनुभावो तथा क्रिया-व्यापारो का उल्लेख हुआ है जिनका उल्लेख उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आया है। इनमें भी किसी में विरह-दशा का सकेत किया गया है—

> यह जेठ तपि तपि तपन तापन पथ पथिका थकावई।
> एक जरों पिय के विरह दूने लपट अग लपटावई।
> यह दसा मेरी हाय पिय सों कौन जाय सुनावई।
> उन रसिक रास रसाल हरि बिनु धीर धीर न आवई।[4]

---

१. पद शैली में बारामासी, पवन कुँवरि का उल्लेख है।

२ बारामासी, बलभद्रसिंह।

३ बारामासी, देवसिंह।

४ बारहमास, रसाल कवि।

सब मिलाकर लगता है कि इस काव्य-रूप को साधारण लोक-गीतियों से प्रेरणा मिलती रही है; जबकि ऋतु-वर्णनों में साहित्यिक रूढ़ियों का अधिक अनुसरण हुआ है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है। लोक-गीतियों में प्रकृति का आश्रय सकेतात्मक रहा है जो उसकी व्यापक रूप-रेखा में प्रस्तुत हुआ है। इन साहित्यिक बारहमासों में प्रकृति का रूप एक बँधी हुई परिपाटी में है जो इनमें आदर्श (माडेल) के रूप में स्वीकृत रही है। इन कवियों ने प्रकृति का सकेतात्मक आश्रय इसीसे ग्रहण किया है। और इसीलिए सर्वत्र चित्र एक समान लगते हैं। भारतीय कलाकार का आदर्श यही रहा है जिसे भक्ति-काव्य ने स्वीकार किया था और इनसे रीति-काल ने भी ग्रहण किया है। साथ ही इन काव्यों में राधा-कृष्ण के रूप में नायक-नायिका भी फार्मल हो जाते हैं जिनमें व्यक्तिगत जीवन का स्पदन नहीं है। इनके माध्यम से निश्चित अनुभावों और सचारियों की योजना की गई है। जैसा आमुख में सकेत किया गया है, इस युग को समझने के लिए भारतीय आदर्श-भावना के साथ उसकी रूपात्मक रूढ़ि (Formalism) को समझना आवश्यक है। यही कारण है कि इन बारहमासों की उन्मुक्त भावना के साथ भी प्रकृति को एक निश्चित रूप में ग्रहण किया गया है। वस्तुतः यह अन्य रूपों के विषय में भी सत्य है।

इन बारहमासों में मासों को प्रस्तुत करने की प्रमुखतः तीन रीतियाँ हैं। एक में वर्णन चैत से आरम्भ होता है, दूसरी में आषाढ से और तीसरी में अवसर के अनुसार। भारत में दो ऋतुएँ प्रमुख हैं जिनमें नवचेतना का प्रवाह मनुष्य में होता है, वर्षा तथा वसत। दोनों का आगमन भावोद्दीपक है। इस कारण दो प्रकार से वर्णन आरम्भ होते हैं। कथा के अनुसार चलने वाले बारहमासों और ऋतु-वर्णनों का आरम्भ प्रसग के अनुसार होता है।[1] सतों ने भी बारहमासों का प्रयोग अपनी प्रेम-व्यजना तथा उपदेश पद्धति के लिए किया है।

ऋतु-वर्णन काव्य (ख)—इनके अतिरिक्त काल परिवर्तन से सम्बन्धित दूसरा रूप ऋतु-वर्णनों का है। अन्य काव्य-रूपों में ऋतु-वर्णनों का उल्लेख किया गया है। परन्तु मुक्तक-काव्यों के अन्तर्गत ऋतु-वर्णन की एक परम्परा है। इसको सस्कृत के ऋतु-काव्यों के समान मान सकते हैं। बारहमासों से भी अधिक इनकी प्रवृत्ति मानवीय क्रिया-विलासों को अपनाने की है और इनमें वैचित्र्य का रूप भी अधिक है। इसके अन्तर्गत आए हुए प्रकृति-रूपों का उल्लेख अगले प्रकरण में किया गया है। वर्णना शैली की दृष्टि से इनमें व्यापक सकेतों को अपनाया गया है जिसका कारण अभी

१. चैत्र से, बारा०; बन०  बारा, पच० (पदों में)। आषाढ़ से, बारा०, देवा०, बारा, सुन्दर (ग्वालियर)' बारह०; रस० . अराधा-कृष्ण की बारहमासिका' जवाहर। प्रसग के अनुसार, पद्मावत में नागमती का बारहमासा, जायसी : रामचन्द्र की बारहमासी, छेदालाल (कार्तिक)।

बताया जा चुका है।[1]

कुछ अन्य रूप—मुक्तको से सम्बन्धित रूपो की विवेचना समाप्त करने के पूर्व दो काव्य-रूपो का सक्षेप मे उल्लेख करना आवश्यक है। पहला नदियो की वन्दना सम्बन्धी काव्य-परम्परा है जिसमे अधिकतर गगा तथा यमुना का माहात्म्य कथन है। इनके बीच-बीच मे उल्लेख आ गए हैं। इनमे भी यमुना का महत्त्व अधिक है, जिसका कारण प्रत्यक्ष है।[2] इसके अतिरिक्त पक्षियो को लेकर काव्य लिखने की परम्परा रही है। तुलसी की 'दोहावली' के अन्तर्गत चातक का प्रसग है जिसमे कवि ने उसके प्रेम और नियम की सराहना की है और समासोक्ति से प्रेम की व्यजना भी की है। दीनदयाल गिरि ने अपनी 'अन्योक्तिमाला' तथा कुडलियो मे विभिन्न प्रकृति-रू ो के माध्यम से अनेक व्यजक उक्तियाँ कही हैं। यह प्रसग अपने आप मे मौलिक है, इससे कवि की प्रकृति सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। इन्ही के समान अमेठी के गुरुदत्त ने दो प्रकार के 'पक्षी-विलास' लिखे हैं और इस विषय मे इनका कार्य अकेला तथा सराहनीय है। एक पक्षी-विलास मे कवि ने परम्परा प्रचलित पक्षियो के स्वभाव का वर्णन किया है और उसके माध्यम से सत्यो तथा भावो को व्यजित किया है। पपीहा का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

पीव कहा कहि देव तो सावस पावस मे रस बीच कहा है।
जीवन नाथ के साथ बिना गुरुदत्त कहे जग जीव कहा है।
बानी सुनी जब ते तब ते यह आनीन जात सरतीव कहा है।
पीव कहाँ कहि कै पपिहा केहि सों तुम पूछत पीव कहा है।[3]

दूसरा 'पक्षी-विलास' और भी महत्त्वपूर्ण है क्योकि इसमे पक्षियो की स्वाभाविक विशेषता का सकेत दिया गया है। सुरखाव के विषय मे कवि का कथन है—

लक्ष लक्ष पक्षीन को नहिं उडिबे की ताव।
भुव लोकहु ध्रुव लोक पर फरकत पर सुरखाव॥

पर कवि का ध्यान प्रमुख विशेषता को लेकर उक्ति की ओर अधिक रहा है। इस विशेषता के उल्लेख के साथ भाव-व्यजना की गई है—

लेखत पुष्ट तिहीपन तेखत देखत दुष्टन के उरदागे।
भूपर में फरके पर ऊपर ह्वै तनहूँ मनहूँ अनुरागे॥

---

१. प्रमुख ऋतु-वर्णन, षट्-ऋतु-वर्णन, सरदार : हृदय विनोद, ग्वाल कवि : षट्०; माननाथ : रसरिपुनिधि; सोमनाथ : षट्०; रामनरायण : अनुराग बाग : दीनदयाल गिरि। षट्ऋतुवर्णन; पद्माकर।

२. जमुना-लहरी; ग्वाल : अमु०; पद्माकर भट्ट अमु०; जमुनादास।

३. पक्षी विलास, गुरुदत्त (अमेठी)।

भाय भरे धुवलोक लौ धावत चाह भरे अगवाउ के लागे।
पद्मिन के उडिबे को उमग को ताव नहीं सुरखाव के आगे ।।[1]

इन परिचयात्मक वर्णनो मे कवि ने काव्यात्मक सहानुभूति का वातावरण प्रस्तुत किया है।

## रीति काव्य की परम्परा

काव्य शास्त्र के कवि—मध्ययुग के उत्तरार्ध मे रीति परम्परा का विकास हो चुका था और रीति ग्रन्थो का प्रणयन भी आरम्भ हो गया था। हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दी साहित्य के रीति ग्रन्थों में विवेचना से अधिक उदाहरण जुटाने की प्रवृत्ति रही है, इस कारण इन ग्रन्थो मे काव्य का रूप अधिक है। रीति-काव्यो की परम्परा मे अलकारों और उक्ति-चमत्कार को अधिक स्थान मिल सका है, यद्यपि रस सिद्धान्त को मानने वाले कवि हुए हैं। इन काव्यो मे मुक्तक छदो का अधिकतर प्रयोग है और इनमें उक्ति का निर्वाह अच्छा होता है। रस के प्रसग को लेकर इन कवियो में आदर्श के स्थान पर रूपात्मक रूढिवाद ही अधिक है। इस परम्परा में दो प्रकार के काव्य मिलते हैं। एक प्रकार के काव्यो मे शास्त्रीय उल्लेखो के साथ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनमे विवेचना का रूप स्पष्ट तथा विकसित नही है, केवल उदाहरण भाग पर कवि अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। दूसरे काव्यो मे विवेचना का रूप नही है, इनमे रस और अलकार को लेकर स्वतत्र प्रयोग किये गये हैं। मुक्तक काव्यो से इनका अन्तर यही है कि इनमे काव्य-शास्त्र के आदर्श तथा उसकी रूढियो का पालन अधिक है। वस्तुत इन दोनो रूपो म काव्य प्रवृत्तियो को लेकर भेद नही है। शास्त्रीय काव्यो मे कुछ रस पर लिखे गए हैं, जिनमे प्रकृति का उल्लेख उद्दीपन-विभाव के अन्तगत किया गया है। रस निरूपण प्रसग मे शृगार के उद्दीपन विभाव मे वन, उपवन तथा ऋतुओ का उल्लेख हुआ है।[2] इन वर्णनो मे कही-कही चित्रण में आरोपात्मक क्रियाशीलता से भाव-व्यजना की गई है जो भावो की प्रकृतिगत छाया के रूप मे स्वीकार की जा सकती है। सैयद गुलाम नबी वसत का उल्लेख करते हैं—

कहूँ लागत बिगसन कुसुम, कहूँ डोलत है बाइ।
कहूँ बिछावति चांदनी, मधुरितु दासी आइ।।
सरवर माहि अन्हाइ अरु, बाग बाग बिरमाइ।
मद मद आवत पवन, राजहस के भाइ।।[3]

---

१ पद्मी विलास द्वि०, वही।

२. रसिक प्रिया, केशवदास रसराज मतिराम भाव विलास देव काव्यनिर्णय भिखारीदास रस-प्रबोध, सैयद गुलाम नबी हिततरगिनी, कृपाराम जगद्विनोद, पद्माकर।

३ रसप्रबोध, गुला० पृ० ८३, दो० ६४६, ६५०।

इसमे प्रकृति की क्रियाशीलता मे मानवीय आरोपों से उद्दीपन का वातावरण प्रस्तुत किया गया है; परन्तु इसमे प्राचीन कवियो से ग्रहीत सरल चित्र हैं। देव की प्रतिभा अधिकतर मानवीय भावो और सचारियो की योजना मे प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति के परम्परा प्राप्त रूप मे भी इन्होने कुछ स्थलो पर भाव-व्यजना सन्निहित की है। इस सीमा पर उसमे उद्दीपन का रूप प्रत्यक्ष है—

सुनि के धुनि चातक मोरनि की चहु ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन मे सखि रागत राग अचूकनि सों॥
कवि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराति हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥[1]

इस वर्षा के वर्णन मे यथार्थ की चित्रमयता है; साथ ही प्रकृति मे जो क्रिया और गति द्वारा भावोल्लास व्यजित किया गया है वह 'अनुराग भरी वेणु' के साथ मानवीय भावो को अपने मे छिपाए है। परन्तु इन कवियो के अधिकाश चित्रण उद्दीपन के अन्तर्गत ही आते हैं। नायिका के वर्णनो में प्रोषितपतिका, उत्कठिता तथा अभिसारिका नायिकाओ के प्रसग मे प्रकृति के उद्दीपन-रूप को अधिक अवसर मिला है। इन रूपो की विवेचना अगले प्रकरण के अन्तर्गत की जायगी। इनमे प्रकृति का चित्रण अधिक उल्लेखनीय हुआ है। मतिराम की नायिका के लिये अपने प्रिय के वियोग मे प्रकृति केवल उद्दीपन का कारण है—

चंद के उदोत होत नैन-कंज तपे कंत,
छायो परदेस देव दाहनि दगतु है।
कहा करो? मेरी बीर! उठी है अधिक पीर;
सुरभी समीर सीरो तीर सौ लगतु है॥[2]

इसमे प्रकृति का उल्लेख केवल नाम मात्र को कर दिया गया है। अभिसारिकाओ के प्रसग मे उक्ति के लिए कवियो ने प्रकृति और नायिकाओ के सम-रूप दिखाने का प्रयास किया है। परन्तु इसमे ऊहात्मक वैचित्र्य से अधिक कुछ नही है। मतिराम कृष्णाभिसारिका का अँधेरी रात के साथ वर्णन करते हैं—

उमडि-घुमडि दिग मडल-मडि रहे,
झूमि-झूमि बादर कुहू की निसिकारी में।
अगनि में कीनो मृगमद अगराग तैसो,
आनन ओढाय लीनो स्याम रंग सारी मे॥[3]

---

१. भाव विलास, देव; प्रम०।
२. रसराज, मतिराम, छ० ११४।
३. वही, वही, छ० १६७।

प्रकृति को यहाँ पृष्ठभूमि के रूप में माना जा सकता है, परन्तु न तो इसमें किसी स्थिति का रूप प्रत्यक्ष है और न किसी भाव की व्यंजना ही निहित है। इन वर्णनों से इन कवियों ने परम्परा के अनुसरण के साथ चमत्कार मात्र उत्पन्न किया है।

बिहारी के संक्षिप्त चित्र—*रीति-परम्परा के स्वतन्त्र कवियों में से बिहारी तथा सेनापति ही प्रमुख हैं जिनके काव्य में प्रकृति का उल्लेखनीय प्रयोग हुआ।* अन्य कवियों में किसी ने प्रकृति को किसी भी सीमा तक स्वतंत्र रूप नहीं दिया है। इनके रूढ़िगत उद्दीपन रूपों का उल्लेख प्रसंग के अन्तर्गत आवश्यकता के अनुसार किया जायगा। इन दोनों कवियों के ग्रंथ लक्षण-ग्रंथ नहीं है, फिर भी अपनी प्रवृत्ति में ये कवि रीति परम्परा में आते हैं। उद्दीपन विभाव में आने वाले प्रकृति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त इन कवियों में कुछ स्वाभाविक चित्र हैं। इस दृष्टि से इस परम्परा में इनका महत्त्व अधिक है। बिहारी ने उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह के साथ ग्रीष्म का स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है—

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥

अगला पावस का वर्णन भी अपनी अत्युक्ति में अंधकार के साथ घनी घटाओं का संकेत देता है, यद्यपि इसमें कवि का ध्यान अपनी उक्ति निर्वाह की ओर है—

पावस निसि अँधियार में, रह्यो भेद नहि आन।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥

वस्तुतः इन कवियों का आदर्श अलंकार का निर्वाह है अथवा रस के अंगों की योजना है। इस कारण इनसे प्रकृति के नितान्त यथार्थ तथा स्वाभाविक चित्रों की आशा नहीं की जा सकती। कुछ दोहों में प्रकृति पर मानवीय क्रीडाओं के आरोप से भाव-व्यंजना की गई है। इस चित्र में इसी प्रकार चैत्र मास का वातावरण उपस्थित हुआ है—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर भौंर मधुगंध॥

इस चित्र में उपवन, लताकुंज तथा भ्रमर गुञ्जार की संक्षिप्त योजना में एक रूप उभरता है जिसमें भाव-व्यंजना भी निहित है। दक्षिण पवन का चित्र बड़ी सजीव कल्पना में बिहारी ने उपस्थित किया है। पवन का प्रवाह मानवीय भावों के आरोप के साथ व्यंजक हो गया है—

चुवत सेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दक्षिण देस ते, थक्यो बटोही बाय॥

इस थके बटोही के रूपक से पवन का चित्र भावमय हो उठा है। नायक रूप में पवन

की कल्पना अनेक सस्कृत तथा हिन्दी कवियो ने की है, परन्तु श्रात पथिक का यह चित्र अधिक स्वाभाविक और सुन्दर है। एक स्थल पर बिहारी ने प्रकृति के प्रति मानवीय सहानुभूति को व्यक्त किया है। स्मृति के आधार पर प्रकृति के पूर्व सुखद सहचरण की भावना इस दोहे मे व्यक्त होती है—

सघन कुज छाया सुखद, सीतल मद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥[1]

सेनापति—प्रकृति वर्णन की दृष्टि से रीति परम्परा म सेनापति का विशेष स्थान है। हम देख चुके हैं कि मध्ययुग मे प्रकृति-चित्रण को स्वतन्त्र स्थान नही मिला है। सेनापति का प्रकृति वर्णन ऋतु वर्णन परम्परा के अन्तर्गत ही है, परन्तु इन्होने कुछ स्थलो पर प्रकृति का स्वतन्त्र रूप उपस्थित किया है। लेकिन ये वर्णन नितान्त स्वतत्र नही हैं इनके अन्दर भी उद्दीपन के सकेत छिपे हुए हैं। वस्तुत ऋतु सम्बन्धी वर्णनो की सीमा विस्तृत है। इनके अन्तर्गत स्वतन्त्र काल परिवर्तन के रूपो से लेकर ऋतु सम्बन्धी सामन्ती आयोजनो तक का वर्णन रहता है। परन्तु इनकी समस्त भावधारा मे शृगार की भावना का आधार रहता है, उसके आलम्बन और आश्रय कभी प्रत्यक्ष रहते हैं और कभी अप्रत्यक्ष। सेनापति इस सीमा मे ही रहे हैं। इनके वर्णनो मे जो स्वतत्र चित्र लगते हैं, उनमे शृगार की भावना का आधार बहुत हलका है और कुछ मे आलम्बन तथा आश्रय परोक्ष मे है। सेनापति मे कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति का निरीक्षण भी है। इन्होने प्रकृति के रूपो को यथार्थ रग रूपो मे उपस्थित किया है। फिर भी सेनापति अलकारवादी कवि हैं, कविता का चरम उक्ति-वैचित्र्य मे मानते हैं। उनके कुछ चित्रो की रमणीयता का कारण यही है कि इन स्थलो पर उक्ति से यथार्थ तथा कला का सामजस्य हो सका है। इसी प्रवृत्ति के कारण सेनापति मे प्रकृति के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति नही है, इनकी प्रकृति मे भाव-व्यजना के स्थल भी बहुत कम हैं। इस क्षेत्र मे अन्य रीति परम्परा के कवि इनसे आगे हैं। इन्होंने ऋतु-वर्णन में श्लेष का निर्वाह किया है और ऐश्वर्यशालियो के ऋतु सम्बन्धी आयोजनों तथा आमोद-प्रमोद का वर्णन किया है। यह सब इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। फिर भी सेनापति ने प्रकृति को उसके यथार्थ रूप में देखा है और उसके कुछ कलापूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं।

यथार्थ वर्णन (क)—सेनापति ने यथार्थ चित्रो को दो प्रकार से उपस्थित

---

१ सतसई, बिहारी, दो० ५६८, ५६०, ५६५, ११, ५६२। इसी प्रकार पवन का हाथी के रूप में वर्णन भी चित्रमय है—

रनित भृङ्ग घटावली, झरत दान मधुनीर।
मद मद आवत चल्यो, कुजर कुज समीर॥५६०॥

किया है। एक प्रकार के चित्रों में प्रकृति सम्बन्धी रूप-रंगों को अधिक व्यक्त किया गया है और दूसरे में प्रकृति की प्रभावशीलता को अधिक भावगम्य बनाया गया है। शरद् ऋतु का वर्णन कवि उसके दृश्यों की व्यापक शश्लिष्टता के आधार पर उपस्थित करता है—'पावस ऋतु के समाप्त होने पर जैसे अवकाश मिल गया, शशि की शोभा रमणीय हो गई है और ज्योत्स्ना का प्रकाश छा गया है, आकाश निर्मल है, कमल विकसित हो रहे हैं, काँस चारों ओर फूले हुए हैं, हंसों को मन भावनी प्रसन्नता है, पृथ्वी पर धूल का नाम नहीं है, हल्दी जैसे रंगवाले जड़हन धान शोभित हैं, हाथी मस्त हैं और सजन का कष्ट दूर हो गया है। यह शरद ऋतु तो सभी को सुख देने आई है।'[1] इस वर्णन में एक दृश्य नहीं है, केवल व्यापक योजना है, साथ ही 'को मिलावै हरि पीय कों' के द्वारा उद्दीपन की पृष्ठभूमि का संकेत भी है। वर्षा का प्रभाव भारतीय जीवन पर अधिक है। सेनापति इस ऋतु से, विशेष कर इसके अंधकार से, अधिक आकर्षित हैं। वर्षा में भारतीय आकाश में मेघों की निविड़ सघनता और बिजली का चपल प्रकाश ही अधिक प्रमुख है, कवि इन्हीं का चित्र उपस्थित करता है—

> गगन अँगन घनाघन तें सघन तम,
> सेनापति नैंक हू न नैन मटकत हैं।
> दीप की दमक, जीगनीन की भमक छांडि,
> चपला चमक और सौं न अटत हैं।
> रबि गयौ दबि मानौं ससि सोऊ धसि गयौ,
> तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं।
> मानौं महा तिमिर तें भूलि परी बाट तातें,
> रबि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं।।[2]

इस घने अंधकार ने रवि, शशि, तारे सभी को आच्छादित कर लिया है। इसी प्रकार कवि एक और भी चित्र अंधकार को लेकर उपस्थित करता है— यह भादों आ गया। सघन श्याम वर्ण के मेघ वर्षा करते हैं। इन घुमड़ती घटाओं में रवि अदृश्य हो गया है, अंजन के समान तिमिर आवृत्त हो रहा है। चपला चमक कर अगन प्रकाश से नेत्रों को चौंधा देती है, उसके बाद तो कुछ और भी नहीं दिखाई देता, मानो अंधा कर देती है। आकाश के प्रसार में काजल से अधिक घना काला अंधकार छाया हुआ है और घन घुमड़ घुमड़ कर घोर गर्जन करते हैं।'[3] इस चित्र में यथार्थ वर्णना का रूप अधिक

---

१ कवित्त-रत्नाकर' सेनापति, ती० तरङ्ग, छ० ३७।

२ वही, वही, वही, छ० २६।

३ वही, वही, वही, छ० ३३।

प्रत्यक्ष और भाव-गम्य है। इसमे भी उद्दीपन का संकेत—'सेनापति जादोपति बिना क्यो बिहात है' के द्वारा निहित किया गया है, परन्तु वर्णना के प्रत्यक्ष के सामने उसकी ओर ध्यान नही जाता। ग्रीष्म-ऋतु मे सेनापति ने प्रभाव का अधिक समावेश किया है। वस्तुत. ग्रीष्म के वातावरण मे उसका प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण हो उठता है—'वृष राशि पर सूर्य सहस्रो किरणो से अत्यधिक सतप्त होता है, जैसे ज्वालाओ के समूह की वर्षा करता हो। पृथ्वी नाच उठती है, ताप के कारण जगत् जल उठता है। पथिक और पक्षी किसी शीतल छाया में विश्राम करते हैं। दोपहर के ढलने पर ऐसी उमस होती है कि पत्ता तक नही हिलता, ऐसा लगता है पवन किसी शीतल स्थान पर क्षण भर के लिए ठहर कर घाम को बिता रहा है।'[1] सारा चित्र यथार्थ का रूप प्रभावात्मक ढग से प्रस्तुत करता है, साथ ही कवि की कल्पना ने उसे और भी व्यजक कर दिया है। यहाँ कवि की उक्ति सुन्दर कलात्मक रूप धारण करती है। इसीके साथ कवि ग्रीष्म का व्यापक वर्णन भी करता है—

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
नद नदी कुवें कोपि डारत सुखाइ कैं।
चलत पवन मुरझात उपबन बन,
लाग्यौ है तपन डार्‌यौ भूतलौ तचाइ कैं।
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपा है तहखानन मे जाइ कैं।
मानौं शीतकाल सीत लता के जमाइबे कौं,
राखे हैं बिरचि बीच धरा मैं धराइ कैं॥[2]

इसमे उल्लेखो के आधार पर ऋतु का रूप ग्रहण कराया गया है, साथ ही इसकी उत्प्रेक्षा में उक्ति अधिक है पहले जैसा सौन्दर्य कम है।

कलात्मक चित्रण (ख)—सेनापति ने कुछ वर्णनो मे अधिक कलात्मक शैली अपनाई है। ऊपर के चित्रो को उत्प्रेक्षाओ द्वारा व्यजक बनाया गया है, परन्तु अगले चित्रो मे रूप को अधिक बिम्बात्मक करने के लिए अलकारो का आश्रय ग्रहण किया गया है। सेनापति शरद्-कालीन आकाश और उसमे दौडते हुए बादलो का वर्णन इसी प्रकार करते हैं—'आकाश मडल मे श्वेत मेघो के खड फैले हुए हैं मानो स्फटिक पर्वत की शृखलाएँ फैली हो। व आकाश मे उमड-घुमड कर क्षण मे तेज बूँदो से पृथ्वी को छिड़क देते हैं।' और उन बादलो की उमडन-घुमडन के विषय मे कवि शब्द-चित्र ही प्रस्तुत करता है—

---

१ वही, वही, वही, छन्द ११।
२. वही, वही, वही, छन्द १२।

पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के ।[1]

वर्षा का वर्णन भी कवि इसी शैली मे करता है—'सावन के नव जलद उमड आए हैं, वे जल से आपूरित चारो दिशाओ म घुमडने लगे हैं । उनकी सरस लगने वाली शोभा किसी प्रकार भी वर्णन नही की जाती, लगता है काजल के पहाड ही ढोकर लाए गए हैं । आकाश घनाच्छादित हो रहा है और सघन अन्धकार छाया हुआ है । रवि दिखाई ही नही पडता है, मानो खो गया है । भगवान् जो चार मास सोते रहते हैं, वह जान पडता है निशा के भ्रम से ही ।'[2] इस वर्णना मे उत्प्रेक्षाओ से चित्र को अधिक प्रत्यक्ष किया गया है ।

आलकारिक वैचित्र्य (ग)—सेनापति की अलकार सम्बन्धी प्रवृत्ति ऋतु वर्णनो मे भी प्रत्यक्ष हुई है । वैसे तो उनके सभी वर्णनो म उक्ति और चमत्कार का योग है, लेकिन ऊपर के वर्णनो मे वे रूप और भाव के सहायक होकर चित्र को अधिक प्रत्यक्ष और व्यक्त करते हैं। परन्तु बहुत से वर्णनों मे कवि ने श्लेष के द्वारा ऋतुओ का वर्णन किया है और इन वर्णनो मे केवल चमत्कार है । इनके अन्तर्गत मे कवि ने यह स्वीकार भी किया है—

दावन तरनि तरैं नदी सुख पावैं सब,
सीरी घनछाँह चाहिबोई चित धर्यो है ।
देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु,
ग्रीषम विषम बरषा की सम कर्यो है ।[3]

इनके अतिरिक्त अतिशयोक्ति और अत्युक्तियो का आश्रय भी लिया गया है । एक स्थान पर जाडे की रात्रि के छोटे होने के विषय मे कवि कल्पना करता है—

सीत तें सहस कर सहस-चरन ह्वै कैं,
ऐसे जाति भाजि तम आवत है घेरि कै ।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तें आवत है फिरि कै ।[4]

और सेनापति की यह प्रमुख प्रवृत्ति है, ऐसा कहा जा चुका है ।

भाव-व्यजना (घ)—अपनी इसी भावना के कारण सेनापति प्रकृति से निकट का सम्बन्ध नही उपस्थित कर सके । प्रकृति उनके लिए केवल वर्णन का विषय है

---

१. वही, वही, वही, छन्द ३८ ।
२ वही, वही, वही, छन्द ३१ ।
३ वही, वही, तरग छन्द ५३ ।
४. वही, वही, ती० तरग, छन्द ५१ ।

या विशुद्ध उद्दीपन की प्रेरक है। ऐसे स्थल भी कम है जहाँ कवि ने प्रकृति के माध्यम से भाव-साम्य की व्यजना की हो। एक स्थल पर प्रकृति के चित्र से मानवीय भावोल्लास का साम्य प्रस्तुत किया गया है—

फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहु जगत छीर-सागर मगन है।[1]

इस चित्र के सम पर कवि ने कहा है 'सुहाति सुखी जीवन के गन हैं'। और इस प्रकार इस वर्णन मे प्रकृति की भावमग्नता मानवीय सुख की व्यजक हो उठी है। सेनापति ने अधिकतर सामन्ती तथा ऐश्वर्य पूर्ण वातावरण ही प्रस्तुत किया है, इस कारण इनके काव्य मे मानव और प्रकृति दोनो ही के सम्बन्ध मे उन्मुक्त वातावरण का निर्माण नही हो सका है। साथ ही ऋतु-वर्णनो मे आमोद-प्रमोद का वर्णन विस्तार से करने का अवसर मिला है। एक स्थल पर साधारण जीवन का चित्र कवि ने बहुत स्वाभाविक उपस्थित किया है। इसमे अलाव तापते हुए लोगो का वर्णन किया गया है और कवि की प्रौढोक्ति ने इसे और भी व्यजक बना दिया है—

सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मे जाइ कै।
धूम नैन बहैं लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैक सुलगाइ कै।
मानौं भीत जानि महा सीत तें पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै।।[2]

सेनापति ने अन्य अनेक प्रकार से प्रकृति की परिकल्पना की है जिनका उल्लेख अगले प्रकरण मे किया गया है।

---

१. वही, वही, वही, छ० ४०।
२. वही, वही, वही, छ० ४५।

## अष्टम प्रकरण

# उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति

**आलम्बन और उद्दीपन का रूप**—प्रथम प्रकरण में संस्कृत काव्याचार्यों के प्रकृति सम्बन्धी संकीर्ण मत की ओर संकेत किया गया है और यह भी कहा गया है कि शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी साहित्य में इसीका अनुसरण हुआ।[1] परन्तु जैसा उल्लेख किया गया था काव्य में प्रकृति विषयक शास्त्रियों का यह मत व्यापक अर्थ में ठीक है। काव्य में उपस्थित होने की स्थिति में प्रकृति का प्रत्येक रूप मानवीय भावों से प्रभावित होकर ही आता है। फिर ऐसी परिस्थिति में काव्य में प्रकृति-रूप मानवीय भावों की स्थायी *स्थितियों के माध्यम से ग्रहण किया जा सकेगा। इस व्याख्या के अनुसार माना जा* सकता है कि प्रकृति काव्य में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है, क्योंकि वह अपनी समस्त भावशीलता और प्रभावशीलता मानव से ग्रहण करती है। परन्तु इस प्रकार आलम्बन भी उद्दीपन माना जा सकता है। कोई भी आलम्बन आश्रय की स्थायी भाव-स्थिति पर ही तो क्रियाशील होता है। प्रकृति सम्बन्धी इस भ्रम का एक कारण है। यह कहा जा सकता है कि मानवीय भावस्थिति के सामाजिक धरातल पर हम अपने ही सम्बन्धों में देख और समझ पाते हैं। इसलिए इस सीमा पर मानवीय स्थायी भावों का आलम्बन सामाजिक सम्बन्धों में माना जाता है। अद्भुत तथा भयानक रसों में प्रकृति को परम्परा ने भी आलम्बन माना है, क्योंकि इन रसों का सम्बन्ध सामाजिक क्षेत्र तक *ही सीमित नहीं है। इसलिए यह स्थिति शृङ्गार तथा शान्त रसों को लेकर है। प्रथम* भाग में मनोभावों के विकास में प्रकृति तथा समाज का क्या योग रहा है इस पर विचार

---

[1] *संस्कृत आचार्यों के अनुकरण पर केशव ने 'कविप्रिया' में प्रकृति वर्णन के लिए विभिन्न वस्तुओं* को गिनाया है। सरिता, वाटिका, आश्रम, सरोवर तथा ऋतुओं आदि के विषय में इसी प्रकार वस्तुओं को गिनाया गया है। सरोवर-वर्णन की सूची इस प्रकार है—

"ललित लहर बग पुष्प पशु, सुरभि समीर तमाल।
करम केलि पथी प्रगट, जलचर बरनहु ताल॥"

किया गया है। हम देख चुके है कि सौन्दर्यानुभूति जो काव्य का आधार है प्रकृति से सम्बन्धित है, यद्यपि उसमे अनेक सामाजिक भावस्थितियो का योग हो चुका है। इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य भाव का आलम्बन है, परन्तु इस स्थिति म यह नही कहा जा सकता कि सम्पूर्ण भाव-स्थिति प्रकृति को लेकर है। स्थायी भावो मे अनेक विषमताएँ आ चुकी है जिनको एक ही प्रकार से समझना सम्भव नही है। शृगार रस मे रति स्थायी-भाव का आलम्बन प्रत्यक्ष रूप से नायक-नायिका हो सकते हैं, पर इस भाव का रूप केवल मासल शारीरिकता के आधार पर नही है, उसमे अनेक स्थितियो की स्वीकृति है। जिस प्रकार भाव केन्द्र मे प्रमुख रूप से आने के कारण किसी वस्तु या व्यक्ति को आलम्बन स्वीकार किया जाता है, उसी प्रमुखता की दृष्टि से प्रकृति को आलम्बन स्वीकार किया जा सकता है। इसी विचार से प्रकृति को सौन्दर्य तथा शात के आलम्बन रूप मे स्वीकार किया गया था।

विभाजन की सीमा (क)—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग मे प्रकृति के स्वतन्त्र आलम्बन रूप को स्थान नहीं मिल सका। पिछले प्रकरणो मे इसपर विचार किया गया है। परन्तु यह भी देखा गया है कि प्रमुखता न मिलने पर भी प्रकृति मानवीय भावो से सम स्थापित कर सकी है। वस्तुत जब प्रकृति मानवीय भावो के समानान्तर भावात्मक व्यजना अथवा सहचरण के आधार पर प्रस्तुत की जाती है, उस समय उसको विशुद्ध उद्दीपन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वैसे प्रकृति को लेकर भाव-प्रक्रिया का आधार मानव है। आलम्बन की स्थिति मे, व्यक्ति अपनी मन स्थिति का आरोप प्रकृति पर करके उसे इस रूप मे स्वीकार करता है, जब कि उद्दीपन मे आलम्बन प्रत्यक्ष रूप से दूसरा व्यक्ति रहता है। ऊपर की स्थिति मध्य म मानी जा सकती है। आश्रय का आलम्बन परोक्ष मे है और प्रकृति के माध्यम से भाव व्यजना की जाती है। इस सीमा पर प्रकृति पर आश्रय की भाव-स्थिति का आरोप होता है, पर वह किसी अन्य आलम्बन की सभावना को लेकर। प्रकृति के प्रति साहचय की भावना भी मानवीय सम्बन्ध का आरोप है, परन्तु उसमे सहानुभूति की निकटता के कारण प्रकृति आश्रय से सीधे ही सम्बन्धित है। इसी कारण 'आध्यात्मिक साधना' तथा 'विभिन्न काव्य रूपों की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति पर अप्रत्यक्ष आलम्बन का आरोप, उसके माध्यम से भाव-व्यजना तथा उसके प्रति सहचरण की भावना को लिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण मे विशुद्ध उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति पर विचार करना है। हम कह चुके हैं कि मध्ययुग के साहित्य मे लोक-गीतियो को स्वच्छन्द प्रवृत्ति का स्थान मिल सका है और साहित्यिक परम्पराओ को भी अपनाया गया है। सस्कृत साहित्य मे उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप रूढ़िवादी हो चुका था। इस कारण मध्ययुग के काव्य की सभी परम्पराओं मे उद्दीपन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ फैली हुई हैं।

* उद्दीपन की सीमा—मध्ययुग के काव्य ने लोक-जीवन से प्रेरणा ग्रहण की है और वह लोक भावना के अभिव्यक्त रूप लोक गीतियों तथा कथाओं से प्रभावित भी हुआ है। लोक-जीवन से प्रकृति का रूप ऐसा हिला मिला रहता है कि वहाँ जीवन और प्रकृति में विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। लोक-गायक अपने भावोच्छ्वासों को, अपने को, प्रमुख मानकर अभिव्यक्ति की भाषा में गाता है, पर वह अपने वातावरण को, अपने चारों ओर फैली हुई प्रकृति को अलग नहीं कर पाता है। वह अपनी सामाजिक अनुभूतियों को अपने चारों ओर की वातावरण बनकर फैली हुई प्रकृति के साथ ही प्राप्त करता है। और जब वह उन्हें अभिव्यक्त करता है, तब भी वह प्रकृति के रूप को अलग नहीं कर पाता। लोक गीतिकार अपनी दुख सुखमयी भावनाओं से अलग प्रकृति को कोई रूप नहीं दे पाता और न अपनी भावनाओं को बिना प्रकृति का आश्रय लिए व्यक्त ही कर पाता है। इसी स्पष्ट विभाजक रेखा के अभाव में इन गीतियों की भावधारा में प्रकृति का रूप मिलकर उद्दीप्त करता जान पड़ता है। वस्तुत चेतनशील प्रकृति की गति के साथ मानव अपनी भाव-स्थिति में सम प्राप्त करता है और इस सीमा में प्रकृति शांत तथा सौन्दर्य भाव का आलम्बन आरोप के माध्यम से मानी गई है। यही सम जब किसी निश्चित भाव स्थिति से समता या विरोध उपस्थित करता है, उस समय उसको प्रभावित करता है और प्रकृति की यह स्थिति उद्दीपन की सीमा है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों और उनकी परिवर्तित होती स्थितियों में जो सचलन तथा गति का भाव छिपा है वही सम, विषम होकर भावों को उद्दीप्त करता है। यही कारण है कि लोक-गीतियों में अधिकतर ऋतुओं के आधार पर भावाभिव्यक्ति हुई है।

जीवन और प्रकृति का सम-तल (क)—इस सीमा पर प्रकृति तथा जीवन समान आधार पर अभिव्यक्त होते हैं। जीवन की भावात्मकता और प्रकृति पर उसी का प्रतिबिम्बित अथवा प्रतिघटित रूप साथ साथ उपस्थित होते हैं। इस सीमा पर मानवीय भावों और प्रकृति के जीवन से सम्बन्धित भावों में विरोध भी सम्भव है। जीवन की सुखमयी स्थिति में प्रकृति की कठोरता तथा उससे सम्बन्धित कष्टों की भावना से सुरक्षा का विचार उसे अधिक बढ़ाता है। इसी प्रकार प्रकृति में प्रकट होता हुआ उल्लास जीवन की वेदना को तीव्र ही करता है। परन्तु प्रकृति का उल्लास या अवसाद उसका अपना तो कुछ है नहीं। यदि मानव जीवन की भावमयता ही प्रकृति पर प्रसरित है, तो ऐसा क्यों होता है? लेकिन प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में हम कह चुके हैं कि प्रकृति को भावों से युक्त करने वाला मन ही है। इस कारण यह विरोध प्रकृति और जीवन का न होकर जीवन की अपनी ही दो विभिन्न स्थितियों का है। एक वर्तमान स्थिति है जिसका अनुभव वह अपने चेतन मन से कर रहा है और दूसरी किसी परोक्षकाल से सम्बन्धित है जिसको उसका अवचेतन मन प्रकृति पर चुपचाप छा

देता है। मन का यह विभाजन उद्दीपन के अगले रूप मे अधिक प्रत्यक्ष होता है। इस स्थिति मे प्रकृति और जीवन लगभग समान तल पर होते हैं। इन्ही मे किंचित भेद पड जाने से दो रूपो का विकास होता है।

भाव के आधार पर प्रकृति (1)—एक स्थिति मे भाव आधार रूप मे उपस्थित होता है। भाव की स्थिति सयोग वियोग की दु ख-सुखमयी भावना होती है। और इसका आधार होता है सयोग, साम्य अथवा स्मृति का रूप। इन भावो की पृष्ठभूमि रूप मे उपस्थित होने पर प्रकृति का रूप अनेक प्रकार से इन्ही भावनाओ की व्यजना करता हुआ उपस्थित होता है। प्रकृति का यह चित्र भावो के रग से रजित होता है। इस स्थिति मे मानवीय भाव की एक ही स्थिति रहती है, क्योकि जीवन और प्रकृति मे भावो का आधार समान है। जिस प्रकार अनेक व्यभिचारियो से तथा अनुभावो से स्थायी भावो की स्थिति व्यक्त होती है, उसी प्रकार उनके आधार पर प्रकृति की भावात्मकता व्यजित होती है। प्रकृतिवादी की दृष्टि से इस प्रकृति-रूप मे कवि उसके समक्ष अपनी स्थिति को, अपने भावो को, उसीके माध्यम से समझता और व्यक्त करता है। इन क्षणो मे वह अपने को विस्मृत कर देता है।

प्रकृति का आधार (11)—इसी की दूसरी स्थिति मे प्रकृति केवल आधार रूप से प्रस्तुत रहती है और प्रमुखत भावो को अभिव्यक्त किया जाता है। प्रकृति के इन उल्लेखो मे वर्तमान सयोग या वियोग की स्थिति के प्रति तीव्र व्यजना छिपी रहती है और इसी आधार पर भावो का अभिव्यक्तीकरण होता है। इस स्थिति के समान प्रकृतिवादी की वह दृष्टि है जिसमे कवि उसके समक्ष उससे प्रभाव ग्रहण करता हुआ भी अपनी भाव-स्थिति को अधिक सामने रखता है। और हम प्रकृति के उद्दीपन-रूप और आलम्बन-रूप मे यही भेद मान कर चले हैं। स्थिति समान है, लेकिन एक मे प्रकृति किसी प्रत्यक्ष ( वह स्मृति मे या परोक्ष मे भी हो सकता है ) आलम्बन के माध्यम को लेकर भाव-स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करती है। जब कि दूसरी प्रकृतिवादी दृष्टि से प्रकृति ही प्रत्यक्ष आलम्बन रहती है और उसपर आश्रय की भाव-स्थिति का आरोप अदृश्य रूप से रहता है।

अनुभावो का माध्यम (ख)—इस सीमा के आगे प्रकृति के उद्दीपन रूप मे अन्य भेद भी किए जा सकते हैं। इन रूपो मे प्रकृति और भावो का सम्बन्ध और भी दूर तथा अलग का है। इस सीमा पर भी दो प्रकार के प्रकृति-रूप सामने आते हैं। इनमे से एक मे प्रकृति को प्रधानता दी गई है और दूसरे मे भावो की प्रमुखता है। वस्तुत मध्ययुग मे काव्य की प्रवृत्ति भावो को अनुभावो के माध्यम से व्यक्त करने की ओर अधिक होती गई है। ऐसा सस्कृत के महाकाव्यो मे देखा जा सकता है, बाद के काव्यों मे अनुभावो को प्रमुखता मिलती गई है। जहाँ तक प्रकृति-वर्णनो के माध्यम से भाव-

व्यजना का प्रश्न है, इस सीमा पर भावो की स्थिति, कभी-कभी किसी विशेष आलम्बन को न स्वीकार कर व्यापक लगती है। इस रूप मे अपनी व्यापक सीमाओ मे भाव को व्यक्त करती हुई भी प्रकृति प्रत्यक्ष तथा व्यक्त लगने लगती है। परन्तु इस रूप मे भाव व्यजना का रूप अनुभवो के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, जबकि ऊपर के रूप मे भावो की व्यजना मात्र रहती थी। इसी रूप के दूसरे पक्ष मे प्रकृति की हलकी उल्लेखात्मक पृष्ठभूमि पर भावो को व्यक्त किया जाना है, और इसमे भी अनुभावो का आश्रय ही अधिक लिया गया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रकृतिवादी आलम्बन रूप प्रकृति को लेकर अपनी भाव व्यजना करता है, और इसको अनुभावो के माध्यम से भी उपस्थित कर सकते हैं। पर उस समय ये भाव या अनुभाव आश्रय की मन-स्थिति से रूप पाकर व्यक्तिगत नही रह जाते, और इस सीमा पर प्रकृति अधिक प्रत्यक्ष रहती है। इसी भेद के कारण प्रकृतिवादी सीमा मे भावो और अनुभावो को प्रधानता देकर उपस्थित होने वाले प्रकृति चित्रो मे प्रकृति ही प्रमुख लगती है, जबकि अन्य कवियो मे भावो को पृष्ठभूमि मे रख कर उपस्थित हुए प्रकृति चित्रो मे भी मानवाय दृष्टि-विन्दु सामने आ जाता है। इसका कारण यह भी है कि इन कवियो ने प्रकृति-रूपो के माध्यम से शृगार की रति भावना की व्यजना की है जो सामाजिको का दृढमूल स्थायी-भाव है।

आरोपवाद (ग)—अभी तक उद्दीपन के अन्तर्गत जिन प्रकृति रूपो की बात कही गई है उनमे जीवन और प्रकृति एक दूसरे से प्रभावित होकर भी अपने अस्तित्व से अलग हैं। परन्तु जिस मानवीय जीवन तथा भावनाओ के आधार पर यह व्यजना होती है, उसका प्रत्यक्ष आरोप भी किया जाता है। और इस आरोपवाद के मूल म यही भाव । सन्निहित है। प्रकृति पर यह आरोप उद्दीपन की सीमा मे माना जा सकता है। यहाँ फिर हम आलम्बन रूप प्रकृति से इसका भेद कर सकते हैं। प्रकृतिवादी कवि आरोप के रूप म ही प्रकृति को जीवन व्यापार मे सलग्न पाता है। उद्दीपन विभाव मे आरोप सामाजिक स्थायी भाव की दृष्टि से किया जाता है, जबकि प्रकृतिवादी का आरोप व्यापक रूप से अपनी मानसिक चेतना से सम्बधित है, और बाद म प्रत्यक्ष सामाजिक आधार के अभाव मे उनकी अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत सीमाओ से अलग हो जाता है। मानवीय भावो की प्रधानता स प्रकृति का आरोप रूपात्मक तथा सकुचित होकर व्यक्तिगत सीमाओ म अधिक बधा रहता है। इस कारण सामाजिक सम्बन्ध और भाव ही प्रत्यक्षरहता है, प्रकृति गौण हो जाती है। इस आरोप मे भावो अनुभावो के साथ शारीरिक आरोप भी सम्मिलित है, जिसे मानवीकरण कहा गया है। रीति-परम्परा की अलकारवादी प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अन्य आरोपो का आश्रय भी प्रकृति-वर्णनों मे लिया गया है। वस्तुत प्रकृति के रूप जिस प्रकार अलग अलग विभाजित किए गए हैं,

उस प्रकार उनकी स्थिति नही रहती। ये रूप अनेक प्रकार से मिल-जुल कर उपस्थित होते हैं। इन समस्त रूपो को यहाँ गिनाना सम्भव नही है। आगे की विवेचना मे मध्ययुग के काव्य विस्तार मे प्रकृति के उद्दीपन विभाव मे आने वाले रूपो पर विचार किया जाएगा।

## राजस्थानी काव्य

पिछले प्रकरणो मे काव्य-रूपो का उनकी परम्परा के अनुसार विचार किया गया था। यहाँ उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आने वाले प्रकृति रूपो पर विचार किया जाएगा, इसलिए आवश्यक नही है कि उनके अनुसार यहाँ भी क्रम का अनुसरण किया जाय। वातावरण की दृष्टि से राजस्थानी काव्यो को यहाँ एक साथ लेना उचित है, यद्यपि 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' अपनी परम्परा मे 'ढोला मारूरा दूहा' से भिन्न है। ऋतु प्रकृति के परिवर्तित रूपो को लेकर उपस्थित होती है। इन परिवर्तनो मे मानवीय भावो को प्रकृति से सम तथा विरोध की स्थितियाँ प्राप्त करने का अधिक अवसर रहता है। यही कारण है कि लोक-गायक ऋतुओ से अधिक प्रेरणा ग्रहण करता है। लोक-गीतियो के प्रभाव के कारण हिन्दी मध्ययुग के काव्य मे ऋतुओ के दृश्यो से उद्दीपन का कार्य अधिक लिया गया है। युग की प्रवृत्तियो तथा युग के काव्य-रूपो के अध्ययन से यह सिद्ध है कि मध्ययुग के काव्य मे रति स्थायी-भाव की ही प्रमुखता है। इस युग का समस्त काव्य मानवीय रति भावना को लेकर चला है। इस कारण प्रकृति का रूप मानवीय भावो के आधार पर अधिक उपस्थित हुआ है। उद्दीपन की मूल भावना लोक गीतियो से विकसित हुई है, इसलिए यहाँ लोक गीतिपरक कथाकाव्य से आरम्भ करना अधिक उचित होगा।

**ढोला मारूरा दूहा**—सयोग की स्थिति मे प्रकृति की क्रियाशीलता सुन्दर और आकर्षक लगती है, और वह मानवीय रति-सयोग के समानान्तर भी जान पडती है। इसी भाव-स्थिति मे मालवणी ढोला से कहती है, इस प्रकृति के उल्लासमय वातावरण को छोड कर कौन विदेश जाना चाहेगा—'पिउ पिउ पपीहा कर रहा है, कोयल सुरगा शब्द बोल रही है। हे प्रिय, ऐसी ऋतु मे प्रवास मे रहने से क्या सुख मिलेगा ?' इसमे प्रकृति का उल्लास वियोग की दुःखद स्मृति के विरोध मे वर्तमान भाव-स्थिति के उद्दीपन-रूप मे है। लोक-गीति की स्वच्छद भावना मे प्रकृति का कष्टप्रद रूप अपने यथार्थ मे सयोग सुख की आकाक्षा को अधिक तीव्र करता है—'जिन दिनो जाडा कडाके का पडता है, तिलो की फलियाँ फटने लगती हैं तथा कुरू पक्षी करुण शब्द करता है; उन दिनो कोई पाहुन होकर कही जाता है ?' इस कथा-गीति मे प्रकृति केवल मानवीय भावो का अनुसरण ही नही करती, उसकी सहानुभूति के विस्तार मे प्रकृति अपनी वस्तु-स्थिति के यथार्थ रूप मे उपस्थित होती है। यहाँ कुरू पक्षी का शब्द सयोगिनी नायिका

सुन रही है और अपनी सहानुभूति के कारण प्रकृति का रूप उसे वियोग की स्मृति दिलाता है। लोक-गीति की सयोगिनी भी वियोग की व्यथा से परिचित है; और तभी वह प्रकृति के आन्दोलन तथा उसकी उमडन के प्रभाव को जानती है—चारो ओर घने बादल छाए है; आकाश मे बिजली चमक रही है। ऐसी हरियाली की ऋतु तभी भली लगती है जब घर मे सम्पत्ति और प्रिय पास हो।'[१] वस्तुतः गीत के वातावरण मे गायिका अपने सयोग-सुख और अपनी वियोग-वेदना दोनो से परिचित है। साथ ही सहानुभूति के वातावरण में उसको प्रकृति अपनी सहचरी लगती है। इस कारण प्रकृति के दोनो रूपो को वह स्वाभाविक भाव-स्थिति मे ग्रहण कर लेती है। केवल सयोग तथा वियोग की परिवर्तित स्थितियो में वह उन रूपो से पूर्व सम्पर्क के आधार पर भिन्न प्रभाव ग्रहण करती है। प्रकृति मे उल्लास छाया हुआ है और विरहिणी अपने उल्लास से वचित है; मारवणी इसी प्रकार विकल हो उठी है—'हे प्रिय, वर्षा ऋतु आ गई, मोर बोलने लगे। हे कन्त, तू घर आ। यौवन आन्दोलित है।' विरहिणी मारवणी प्रकृति के आनन्दोल्लास को अपनी वेदना के विरोध में पाकर विह्वल हो उठी है। यह सयोग के सुख की स्थिति को स्मरण कराने वाली प्रकृति ही तो कष्टकर हो गई है—'पावस के बरसते ही पर्वतो पर मोर उल्लास में भर उठे। वर्षा ऋतु ने तरुवरो को पत्ते दिए और वियोगिनियो को पति की याद सालने लगी।' विरहिणी अपनी अव्यक्त भावना का आरोप करके जैसे विकल है—'बादल बादल में एक-एक करके बिजलियो की चहल-पहल हो रही है। मैं भी नेत्रो मे काजल की रेखा लगाकर अपने प्रियतम से कब मिलूंगी ?'[२] इस गीति की प्रमुख प्रवृत्ति यही है, पर इसमे अन्य उद्दीपन सम्बन्धी रूप भी मिल जाते हैं। मारवणी प्रकृति के माध्यम से अपने भावो की उद्दीप्त स्थिति को व्यक्त करती है। इस चित्र मे प्रकृति की सम स्थिति का रूप सन्निहित है—'आज उत्तर का पवन प्रवाहित होना शुरू हो गया—प्रवासी को जाते देख प्रेमियो का हृदय फट जायगा। वह स्थल को जलाकर और आक को झुलसाकर कुमारियो का गात भस्म कर देगा।'[३] इस अभिव्यक्ति में 'हृदय फटन' तथा 'गात भस्माने' की बात व्यथा को व्यक्त करती है, पर साथ ही इसमे प्रकृति का समानान्तर रूप भी प्रस्तुत है।' इस कथा-गीति पर साहित्यिक प्रभाव भी है, इस कारण प्रकृति के एक उद्दीपक-रूप मे आरोप की भावना भी है। इसका यह अर्थ नही है कि लोकगीतिकार आरोप करता ही नही है, पर आरोप का ऐसा रूपात्मक चित्र उनमे कम ही होता है—'बादलो की घटाएँ सेना है, बिजली तलवार है और वर्षा की बूँदें बाणों की तरह

---

१. ढोला मारूरा दूहा, स० २५०, २८३, २६०।

२. वही; सं० ३८, ३६, ४४।

३. वही; स० २८६।

लगती हैं। हे प्रियतम, ऐसी वर्षा ऋतु मे प्यारे बिना कहो कैसे जिया जाय ?"[1]

माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध —गुजराती परम्परा मे आनेवाला गणपति कृत 'माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध भाषा की दृष्टि से राजस्थानी काव्यो के निकट है। साथ ही लोक-कथा गीति के रूप मे होने के कारण भी इसका यही उल्लेख करना उचित होगा। उद्दीपन विभाव की दृष्टि से इसमे लोक-गीति का वातावरण है जिसकी ओर 'ढोला मारूरा दूहा' मे सकेत किया गया है। वैशाख मे प्रकृति विरहिणी को उद्दीप्त करती है—

विरह हुताशनि हूं दही, सही करूं छइ राख।
तेहवा महि तुं तापवइ, वारू भई वैशाख॥[2]

इस ऋतु का समस्त वातावरण उसके मन को विकल करता है, उसकी विरहाग्नि मे सभी कुछ दाहक है। पृथ्वी सतप्त हो उठी है, मलयाचल से आने वाला पवन तेज झोको मे आकुल कर देता है। इसी प्रकार शरत्कालीन चन्द्रिका भी वियोगिनी के लिये विष के समान है। उसका समस्त सौन्दर्य और उल्लास उसके लिये दाहक है।[3] एक स्थल पर विरहिणी आरोप के आधार पर प्रकृति के उद्दीपन-रूप को प्रस्तुत करती है—

हेमागिरियो हारियणी, आवइ पवन पराणि।
ऊंमाड़ी ऊपरि चढी, मारइ मन्मथ बाण॥[4]

माधव के विरह प्रसग के बारहमासा मे ऋतु सम्बन्धी आमोद का वर्णन भी विरह के विरोध मे प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह आमोद लोक-जीवन के उन्मुक्त उल्लास से अधिक सम्बन्धित है। कवि फाग का उल्लेख इस प्रकार करता है—

फागुण केरां फणगरां, फिरि फिर गाइ फाग।
चंग वजावइ चंगपरि, आलवइ पंचम राग।[5]

इस प्रकार इस गीति की प्रवृत्ति स्वच्छन्द है—

वेलि क्रिसन रुकमणी री—पिछले प्रकरण मे देख चुके हैं कि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' परम्परा के अनुसार इन उल्लिखित काव्यो से अलग है। परन्तु इन काव्यो

---

१. वही : स० २५५।
२. माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध, गणपति ; छ० ५६६।
३. वही ; वही ; छ० ५८०—
"शरद निशाकर सनसमइ, बे मइँ आखिउ भेउ।
उहाँ सरी तिहाँ असोभ जिमइ, विरहणीयाँ विष देय॥"
४. वही; वही ; छ० ५६६।
५. वही ; वही, छ० १६।

सुन रही है और अपनी सहानुभूति के कारण प्रकृति का रूप उसे वियोग की स्मृति दिलाता है। लोक-गीति की संयोगिनी भी वियोग की व्यथा से परिचित है; और तभी वह प्रकृति के आन्दोलन तथा उसकी उमड़न के प्रभाव को जानती है—चारो ओर घने बादल छाए है, आकाश मे बिजली चमक रही है। ऐसी हरियाली की ऋतु तभी भली लगती है जब घर मे सम्पत्ति और प्रिय पास हो।'[1] वस्तुतः गीत के वातावरण मे गायिका अपने संयोग-सुख और अपनी वियोग-वेदना दोनों से परिचित है। साथ ही सहानुभूति के वातावरण मे उसको प्रकृति अपनी सहचरी लगती है। इस कारण प्रकृति के दोनो रूपो को वह स्वाभाविक भाव स्थिति मे ग्रहण कर लेती है। केवल संयोग तथा वियोग की परिवर्तित स्थितियो में वह उन रूपो से पूर्व सम्पर्क के आधार पर भिन्न प्रभाव ग्रहण करती है। प्रकृति मे उल्लास छाया हुआ है और विरहिणी अपने उल्लास से वंचित है, मारवणी इसी प्रकार विकल हो उठी है—'हे प्रिय, वर्षा ऋतु आ गई, मोर बोलने लगे। हे कन्त, तू घर आ। यौवन आन्दोलित है।' विरहिणी मारवणी प्रकृति के आनन्दोल्लास का अपनी वेदना के विरोध में पाकर विह्वल हो उठी है। यह संयोग के सुख की स्थिति को स्मरण कराने वाली प्रकृति ही तो कष्टकर हो गई है—'पावस के बरसते ही पर्वतो पर मोर उल्लास में भर उठे। वर्षा ऋतु ने तरुवरो को पत्ते दिए और वियोगिनियो को पति की याद सालने लगी।' विरहिणी अपनी अव्यक्त भावना का आरोप करके जैसे विकल है—'बादल बादल में एक-एक करके बिजलियों की चहल पहल हो रही है। मैं भी नेत्रो मे काजल की रेखा लगाकर अपने प्रियतम से कब मिलूँगी?'[2] इस गीति की प्रमुख प्रवृत्ति यही है, पर इसमे अन्य उद्दीपन सम्बन्धी रूप भी मिल जाते हैं। मारवणी प्रकृति के माध्यम से अपने भावो की उद्दीप्त स्थिति को व्यक्त करती है। इस चित्र में प्रकृति की सम स्थिति का रूप सन्निहित है—'आज उत्तर का पवन प्रवाहित होना शुरू हो गया—प्रवासी को जाते देख प्रेमियो का हृदय फट जायगा। वह स्थल को जलाकर और आक को झुलसाकर कुमारियों का गात भस्म कर देगा।'[3] इस अभिव्यक्ति मे 'हृदय फटने' तथा 'गात भसमाने' की बात व्यथा को व्यक्त करती है, पर साथ ही इसमे प्रकृति का समानान्तर रूप भी प्रस्तुत है।' *इस कथा-गीति पर साहित्यिक प्रभाव भी है, इस कारण प्रकृति के एक* उद्दीपक-रूप मे आरोप की भावना भी है। इसका यह अर्थ नही है कि लोकगीतिकार आरोप करता ही नही है, पर आरोप का ऐसा रूपात्मक चित्र उनमे कम ही होता है—'बादलो की घटाएँ सेना है, बिजली तलवार है और वर्षा की बूँदें बाणो की तरह

१. ढोला मारूरा दूहा, स० २५०, २८३, २६०।
२. वही, स० ३८, ३६, ४४।
३ वही, स० २८६।

लगती हैं। हे प्रियतम, ऐसी वर्षा-ऋतु मे प्यारे बिना कहो कैसे जिया जाय ?"[1]

माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध —गुजराती परम्परा मे आनेवाला गरणपति कृत 'माधवानल कामकन्दला प्रवन्ध भाषा की दृष्टि से राजस्थानी काव्यो के निकट है। साथ ही लोक-कथा गीति के रूप मे होने के कारण भी इसका यही उल्लेख करना उचित होगा। उद्दीपन विभाव की दृष्टि से इसमे लोक-गीति का वातावरण है जिसकी ओर 'ढोला मारूरा दूहा' मे सकेत किया गया है। वैशाख मे प्रकृति विरहिणी को उद्दीप्त करती है—

विरह हुताशनि हूँ दही, सही करूँ छइ राख।
तेहवा माँहि तुं तापवइ, वारू भई वैशाख ॥[2]

इस ऋतु का समस्त वातावरण उसके मन को विकल करता है, उसकी विरहाग्नि मे सभी कुछ दाहक है। पृथ्वी सतप्त हो उठी है, मलयाचल से आने वाला पवन तेज झोको मे आकुल कर देता है। इसी प्रकार शरत्कालीन चन्द्रिका भी वियोगिनी के लिये विष के समान है। उसका समस्त सौन्दर्य और उल्लास उसके लिये दाहक है।[3] एक स्थल पर विरहिणी आरोप के आधार पर प्रकृति के उद्दीपन-रूप को प्रस्तुत करती है—

हेमागिरियी हायिणी, आवइ पवन पराणि।
ऊँमाडी ऊपरि चढी, मारइ मन्मथ बाण ॥[4]

माधव के विरह प्रसग के बारहमासा मे ऋतु सम्बन्धी आमोद का वर्णन भी विरह के विरोध मे प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह आमोद लोक-जीवन के उन्मुक्त उल्लास से अधिक सम्बन्धित है। कवि फाग का उल्लेख इस प्रकार करता है—

फागुण केरा फणगरां, फिरि फिर गाइ फाग।
चग बजावइ चंगपरि, आलवइ पंचम राग।[5]

इस प्रकार इस गीति की प्रवृत्ति स्वच्छन्द है—

बेलि क्रिसन रुकमणी री—पिछले प्रकरण मे देख चुके है कि 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' परम्परा के अनुसार इन उल्लिखित काव्यो से अलग है। परन्तु इन काव्यो

---

१. वही : स० २५५।
२. माधवानल कामकन्दला प्रवन्ध, गणपति, छ० ५६६।
३. वही ; वही ; छ० ५८०—
"शरद निशाकर समसमइ, भे मइँ आणिउ मेउ।
उहाँ सरो लिहाँ असोम जिमइ, विरहणीयाँ विष देय ॥"
४ वही; वही ; छ० ५६६।
५. वही ; वही, छ० १६।

का सम्बन्ध एक ही स्थान से होने के कारण कथा-गीति तथा कलात्मक कथा-काव्य की भाव-धाराओं का भेद स्पष्ट हो सकेगा। अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के कारण इनमें प्रकृति के उद्दीपन सम्बन्धी प्रयोगों में भी भेद है। कलात्मक काव्य होने के कारण 'वेलि क्रिसन' में स्वच्छन्द भावना का अभाव है। काव्य-रूपों के प्रसंग में देखा गया है कि इसमें प्रकृति और मानवीय भावों में सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो सका है। कुछ स्थलों पर क्रिया-व्यापारों के माध्यम से प्रकृति मानवीय जीवन का संकेत देकर उसे उद्दीप्त करती है—

नैरन्ति प्रसरि निरधण गिरि नीझर
पणी भजै धार पयोधर।
झाले वाइ क्रिया तरु झंखर
लवली दहन कि लू लहर॥[1]

इसमें पवन का वृक्षों को झखाड़ करने तथा लू से लताओं के झुलसने में जीवन से प्रकृति का विरोध व्यक्त होता है जो स्वयं उद्दीपक है। कहीं प्रकृति में यह व्यंजित न करके केवल अलंकार विधान में मानवीय जीवन को सन्निहित किया गया है। जिसका संकेत रति-भाव के आधार पर प्रकृति को उद्दीपन-विभाव में उपस्थित कर देता है—'गर्जन सहित घन बरस गया। हरियाली रहित पृथ्वी में स्थान-स्थान पर जल भर गया है, जैसे प्रथम सम्मिलन में रमणी स्त्री के वस्त्र उतर जाने पर आभूषण शोभा पाते हैं।' यह प्रयोग आरोप के रूप में ही माना जा सकता है। आलंकारिक आरोप के द्वारा भावों को व्यक्त किया गया है जिसमें व्यापक रति स्थायी-भाव में प्रकृति उद्दीपन के अनुरूप प्रस्तुत होती है—'वचनों द्वारा बखान किया गया है ऐसी शरद् ऋतु के आने पर वर्षा ऋतु चली गई, जल-निर्मल होकर नीची भूमि में जा रहा है—रति समय लज्जा स्त्री के नेत्रों में जा रहती है।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं गीति-काव्य में जो प्रकृति और जीवन के उन्मुक्त भाव का विषय था, इस काव्य में अलंकार तथा कल्पना का क्षेत्र हो गया है। इस काव्य में प्रकृति को पृष्ठ-भूमि में रखकर मानवीय क्रिया-व्यापारों की योजना करने की प्रवृत्ति भी है—'सूर्य ने उदय होकर संयोगिनी स्त्री के वस्त्र, मथन-दण्ड, कुमुदिनी की शोभा को मुक्त से बन्धन में कर दिया, घर, हाट, ताल, भ्रमर और गोशालाओं को बन्धन से मुक्त कर दिया।'[3] इसमें उल्लेखों से आलंकारिक चमत्कार मात्र प्रकट किया गया है, जो 'संयोगिनी' के साथ वर्णन को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। दूसरे वर्णन में केवल मानवीय विलास-क्रीडाओं का उल्लेख किया गया है—

---

१ वेलि क्रिसन रुकमणी रा, पृथ्वीराज; सं० १९१।
२ वही; वही, सं० १९७, २०६।
३ वही, वही, सं० १८५।

श्री खड पंक कुमकुमौ सलिल सरि
दलि मुगता ग्राहरण द्रुति ।
जल क्रीडा क्रीडन्ति जगपति
जेठ मास एही जुगति ॥'

यह संस्कृत साहित्य के अनुसरण पर सामन्ती वातावरण का प्रभाव है । आलंकारिक प्रवृत्ति आरोपवाद को अधिक बढाती है । पृथ्वीराज ने वसंत और मलयानिल के प्रसग में लम्बे रूपक बाँधे हैं और अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग अधिक किए है । वसत के वर्णन मे ऋतुराज के आरोप के साथ समस्त ऐश्वर्य विलास को भी प्रस्तुत किया गया है । पवन वर्णन के प्रसग मे कामदूत से प्रारम्भ करके पति तथा हाथी के आरोप किये गये हैं । पवन की कल्पना 'मेघदूत' से ग्रहण की जान पडती है, परन्तु यह पवन-दूत केवल उद्दीपक है, इसमे सहचरण की सहानुभूति का वातावरण नही मिलता । अपनी कलात्मकता के कारण इस सुन्दर चित्र मे आरोप का माध्यम स्वीकार किया गया है—'यह पवन दूत (कामदेव) नदी-नदी तैरता हुआ, वृक्ष वृक्ष फाँदता हुआ, लतिकाओ को गले लगाता हुआ दक्षिण से उत्तर दिशा को आता है, उसके पाँव आगे नही चलते ।'[2] इस वर्णना मे संश्लिष्ट योजना के माध्यम से आरोप को व्यक्त किया गया है, इस कारण चित्र सुन्दर है । आगे पवन की गति का वर्णन किया गया है—'केवडा, केतकी, कुद पुष्पो की सुगन्ध का भारी बोझा कंधे पर उठाए हुए है, इसलिए गंधवाह पवन की चाल धीमी पड गई है, श्रमबिन्दु के रूप मे वह निर्झर सीकरो को बहाता है ।'[3] इसमे आरोप कही प्रत्यक्ष नही हुआ है केवल क्रियाओ के माध्यम से व्यक्त किया गया है और इसलिए उद्दीपन की भावना व्यंजनात्मक है । आगे चलकर इस काव्य मे आरोप का प्रत्यक्ष आधार बढता गया है—'पुष्पासव का पान करता हुआ, वमन करता हुआ उन्मत्त नायक रूपी पवन पाँव ठीक स्थान पर नही रखता, अग का आलिगन दान देता हुआ पुष्पवती (रजस्वला) लताओ का स्पर्श करना नही छोडता है ।'[4] इस आरोप मे मानवीकरण का उद्दीप्त रूप अधिक प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष आरोप का रूप कभी सुन्दर व्यंजना से सन्निहित हो जाता है—'पृथ्वी रूपी पत्नी और मेघ रूपी पति मिले, उमड कर तटो को मिलाती हुई गगा और यमुना का सगम स्थान त्रिवेणी ही माना बिखरी हुई फूलो से गुथी हुई वेणी बनी ।' इसमे भी भावात्मक व्यंजना शारीरिक मानवीकरण के आधार पर अधिक हुई है और क्रीडा विलास का रूप अधिक प्रमुख है । यह रूप

१ वही, वही, स० १८६ ।
२ वही वही, स० २५६ ।
३ वही, वही, स० २६० ।
४ वही, वही, स २६२ ।

का आरोप भी कभी मासलता से अधिक सम्बन्धित न होकर सुन्दर लगता है—'काले-काले पर्वतो की श्रेणी मानो काजल की रेखा है, कटि म समुद्र ही मानो कटि की मेखला है पृथ्वी ने अपन ललाट पर बीरबहूटी रूपी कुकुम की बिन्दी लगाई है।'[1]

## संत काव्य

स्वच्छन्द भावना—सत साधको ने अपनी प्रेम-साधना मे विरहिणी के रूप मे अपनी वियोग-व्यथा को व्यक्त किया है। कभी-कभी इसी प्रकार अपने मिलन-उल्लास को भी सयोग सुख के रूप मे उपस्थित किया है। ये दोनो स्थितियाँ शृगार के सयोग-वियोग पक्ष हैं। इनके अन्तर्गत प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन रूप में हुआ है। इसके साधनात्मक रूप पर विचार किया गया है। इन सतों के काव्य मे स्वच्छन्द वातावरण है। इस कारण विरह और सयोग सम्बन्धी प्रकृति रूप लोक गीतियो की भावना के अधिक निकट हैं। वस्तुत इन साधको ने इन स्थितियो का माध्यम अपनी साधना के लिए स्वीकार किया है, और इन्होंने लौकिकता का आश्रय भी कम लिया है। इस कारण इन प्रकृति-रूपों का प्रयोग सत काव्य मे कम हुआ है। फिर भी 'विरहिन के अगो' और वियोग सम्बन्धी पदो मे ये रूप मिलते हैं। कुछ सतो ने बारहमासा या ऋतु-वर्णन भी लिखे हैं। लोक-गीतियो की नायिका के समान सतो की विरहणी बारहमासो मे प्रकृति के साथ अपनी व्यथा को व्यक्त करती है—

> भादौं गहर गभीर अकेली कामिनी।
> मेघ रह्यो झरलाइ चमकत दामिनी॥
> बहुत भयानक रैनि पवन चहुँदिशि बहै।
> (परि हाँ) सुन्दर बिन उस पीव बिरहणी क्यों रहै॥

प्रकृति के भयानक रूप से यहाँ व्यथा का तीव्र होना दिखाया गया है। आगे सुन्दर विरोध का आधार भी ग्रहण करते हैं—

> दिस दिस तैं बादल उठे बोलत चातक मोर।
> और सुन्दर चक्रित बिरहनी चित्त रहै नहिं ठौर॥[2]

इसी भावना का बुल्ला इस प्रकार कथन करते हैं—

> देखो पिया काली घटा मो पै भारी।
> सूनी सेज भयानक लागी मरो बिरह की जारी॥[3]

भावों के आधार पर प्रकृति—प्रकृति के उद्दीपन विभाव का दूसरा रूप

---

१ वही वही, सं० १९९, २००।
२ ग्रथा०, सुन्दर, बिरह को अग।
३ शब्दसागरः बुल्ला, प्रेम को अंग, १०।

जिसमे भावो की पृष्ठभूमि पर प्रकृति उपस्थित होती है, सतो मे मिलता है। इस सहज अभि०व्यक्ति मे प्रकृति उन्ही भावो को व्यक्त भी करती है जिनके आधार पर वह प्रस्तुत होती है। वियोग की पृष्ठभूमि पर सुन्दर की विरहिणी को प्रकृति मे व्यापक उद्वेलन बिखरा हुआ जान पडता है जो अपने आप मे कष्ट और वेदना छिपाए है—'मेरे प्रिय, तुम इतनी देर कहाँ भटक गए। वसत ऋतु तो उस प्रकार व्यतीत हुई, अब वर्षा आ गई है। बादल चारो ओर उमड घुमड चले हैं, उनकी गरज तो सुनी ही नही जाती। दामिनी चमकती है हृदय पीडा से काँप जाता है, बूँदो की बौछार दु खदायी है।'[1] इस प्रकृति के रूप मे वियोगिनी की वेदना और पीडा मिली हुई है। वस्तुत इस चित्र मे द रूप मिले हुए हैं, वियोग की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति है और फिर उसके आधार पर वेदना का रूप है। इसी प्रकार धरनीदास की विरहिणी आत्मा को—

*पिया बिन नींद न आवें।*

*खन गरजं खन बिजुली चमकै, ऊपर से मोंहि झाकि दिखावँ।*[2]

दरिया साहब (बिहार वाले) प्रिय स्मृति के आधार पर प्रकृति को उद्दीपन के व्यजक रूप मे प्रस्तुत करते हैं—'हे अमर पति, तुम क्यो नही आते। वर्षा मे विविध प्रकार से तेज पवन चल रहा है, बादल गरज कर उमड रहे हैं, अजस्र धारा से बूदें पृथ्वी पर गिर रही हैं, बिजली चारो ओर चमक जाती है, झींगुर झनक कर झनकारता है, विरह के बाण हृदय मे लगते हैं। दादुर और मोर सघन वन मे शोर करते है, पिया बिना कुछ भी तो अच्छा नही लगता। सरिताओ मे उमड घुमड कर जल छाया हुआ है, और छोटी बडी सभी तो प्लावित हो गई हैं।'[3] इसमे वियोग की मन स्थिति के आधार पर प्रकृति का रूप विरोध से भावोद्दीपन की व्यजना करता है। कबीर मे आध्यात्मिक अलौकिकता और दादू मे प्रेम की व्यजना अधिक है, इस कारण साधारण प्रकृति के उद्दीपन रूपो को इनमे स्थान नही मिला है। जो रूप हैं उनमे आध्यात्मिक सकेत मिल जाते हैं जिनका उल्लेख किया गया है। कबीर का प्रत्येक उद्दीपन चित्र आध्यात्मिकता मे खो जाता है—

ओनई बदरिया परिगै सझा। अगवा भूल बन खड मझा॥
पिय अतै धन अतै रहई। चौपरि कामरि माथे गहई॥
फूलवा भार न ले सकै, कहै सखियन सो रोय।
ज्यों ज्यों भोजे कामरी, त्यों त्यों भारी होय॥[4]

---

१. प्रथा०, सुन्दर० , पद, राग म० ३।
२ शब्दा०, धरना०।
३ शब्दा०, दरिया , मलार ३।
४ बीजक, कबीर , रमैनी १५।

दादू इन्हीं रूपों को प्रेम की व्यापक भावना से युक्त कर देते हैं। सयोग के अवसर का रूप इस प्रकार है—

> वसुधा सब फूलै फलै, पिरथवी अनत अपार।
> गगन गरजि जल थल भरै दादू जै जै कार॥

**आरोप**—सतो मे सुन्दरदास पर साहित्यिक परम्पराओ का अधिक प्रभाव है इसीलिए इनमे प्रकृति पर आरोप द्वारा उद्दीपन का रूप उपस्थित किया गया है। इस आरोप मे शृंगारिक कल्पना के द्वारा नही, वरन् नृप के आक्रमण के रूपक से यह काम लिया गया है—वियोगिनी के सामने उमडते हुए बादल हैं और कवि अपने रूपक से इस चित्र को उद्दीपक कर देता है—'हम विरहिणियो पर पावस नृप के समान आक्रमण कर रहा है ..... बादल ही हस्ती है, विद्युत ही हवाइयाँ हैं और गरजन निशानो की ध्वनि है। पवन रूपी तुरग चारो ओर नाचता है, और बूँदो के बाण चल रहे हैं। दादुर, मोर, पपीहा आदि जैसे युद्ध मे ललकारते हुए 'मार-मार' कहते हैं।'[1]

## प्रेम कथा-काव्य

**प्रकृति और भावों का सामंजस्य**—काव्य-रूपो की विवेचना मे कहा गया था प्रेम कथा-काव्यो का आधार लोक कथा-गीतिया हैं, इस कारण इनमे स्वच्छन्द प्रवृत्तियो को अवसर मिल सका है। प्रकृति के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आनेवाले रूपो की दृष्टि से जायसी मे अधिक उन्मुक्त वातावरण मिलता है। आगे के कवियो मे भाव-व्यंजना के स्थान पर वेदना के बाह्य अनुभवो और विलास का क्रीडा-कलाप अधिक बढता गया है। जायसी ने बारहमासे मे ऋतु के बदलते हुए दृश्य-रूपो को विरहिणी के भावों के सम पर उद्दीपक बनाया है। इस बारहमासी में नागमती के विरह-प्रसग को लेकर प्रकृति को सहज सम्बन्ध में उपस्थित किया गया है। विरहिणी नागमती प्रत्येक मास के परिवर्तित प्राकृतिक वातावरण के साथ अपनी विरह-वेदना को सम अथवा विरोध की स्थिति को रखकर अधिक विकल हो उठती है—'आषाढ मास में ... घेरती हुई घटा चारो ओर से छाती आती है, हे प्रिय बचाओ मैं मदन से पीडित हूँ। दादुर, मोर और कोकिला शब्द कर रहे हैं ... बिजली गिरती है, शरीर मे जैसे प्राण नही रहते। .. ...सावन मे ...मार्ग अथाह मे गम्भीर और अथाह हो उठा है, जी बावला होकर भ्रमता घूमता है, ससार जहाँ तक दिखाई देता है जलमय हो उठा है, मेरी नौका तो बिना नाविक के थक चुकी है।....भादों मे ...बिजली चमकती है, घटा गरज कर त्रस्त करती है, विरह काल होकर जी को ग्रस्त करता है।

---

१. ग्रथा०, सुन्द०, प०, उ० अ० ४।

मघा झकोर-झकोर कर बरसता है, मालती के समान मेरे दोनो नेत्र चूते है।"[1] इसी प्रकार यह सारा बारहमासा प्रकृति और भावनाओ के सामंजस्य पर चलता है। इसमे प्रकृति का स्वाभाविक रूप भावो को आधार प्रदान करता है, और भावो की सहज स्थिति प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करती है। साथ ही इसका सब से बडा सौन्दर्य यह है कि प्रकृति के क्रिया व्यापारो मे भावो की व्यंजना सन्निहित है जबकि वियोगिनी के भावो और अनुभवो के साथ प्रकृति से तद्रूपता भी स्थापित की गई है। बादल घिरते हैं तो वियोगिनी कामपीडित है, अधकार गम्भीर अथाह है तो उनका मन भ्रमता है और यदि मघा बरसता है तो उसके नेत्र चूते हैं। अन्य प्रेम कथा-काव्यो मे ऐसी उन्मुक्त स्थिति नही है। दुखहरनदास ने बारहमासा को सयोग के अन्तर्गत रखा है, इसलिए उसमे भी यह सहज भाव नही आ सका है। इसम विलास तथा क्रीडा की बात ही अधिक है। उसमान और आलम के बारहमासो म प्रकृति पीछे पड जाती है और विरह की अवस्था का वर्णन प्रमुख हो गया है। इस विरह स्थिति के वर्णन भावस्थिति के रूप मे न होकर अधिकतर क्रिया-कलापो तथा पीडा सम्बन्धी अनुभावो के अत्युक्तिपूर्ण चित्रण मे हुए हैं। उसमान की वियोगिनी प्रकृति के सामने अपने आप मे अधिक व्यस्त है— जेठ ऐसा तवा इस मास मे तो ससार ऐसा तपा कि पुतलियो के आँसू सूख गए। विरह छिपाए नही छिपता, सहस्र तेज होकर उसके शरीर तपाता है। आषाढ मास मे श्वेत, पीत, श्याम बादल छाते हैं, वैरी बको की पक्ति दिखाई देती है लोग अपने घरो को छाते हैं, पक्षी वनो मे घोसला बनाते हैं। मेरा कन्त तो वैरागी है, मन्दिर छाकर क्या करूँगी।"[2] इस चित्र का वातावरण फिर भी स्वाभाविक है। आलम ने ऋतु के रूप को पृष्ठ भूमि म रखा है उसके आधार पर भावो की बात कही है पर इनमे शारीरिक क्रिया-कलाप से अधिक भावो तथा अनुभावो तक सीमित रहा गया है। यद्यपि इन वर्णनो मे अत्युक्ति अधिक है—

> ऋतु पावस श्याम घटा उनई लखि के पन घोर घिरातु नहीं।
> धुनि दादुर मोर पपीहन की लखि के क्षण चित्त थिरातु नहीं।
> जब ते मनभावन तें बिछुरे तब ते हिय दाह सिरात नहीं।
> हम कौन से पीर कहैं दिलको दिलदार तो कोई लखात नहीं।[3]

वस्तुत आलम प्रेम कथा काव्य की परम्परा मे होकर भी शैली की दृष्टि से रीतिकालीन प्रवृत्ति के अधिक निकट हैं। इन्होने कुछ स्थलो पर वियोग के आधार पर

---

१ अथा, जायसी, प०, नागमती वियोग खड, दो० ४, ५, ६,।

१ चित्रा०, उम०, ३२ पाती-खड, दो० ४४५, ४४६।

२ विरहवारीश (माध० काम०), आलम, २६ वीं तरग।

प्रकृति को उपस्थित किया है और ऐसे रूपों में भावों को उद्दीप्त करने की व्यंजना सन्निहित है—

रहत मयूर मानों चातक चढ़ावे चोप,
घटा घहरात तैसो चपल छटा छई।
तैसी रैनि कारी धारि बुन्द झरलाई,
भेंपि भिल्लिन की तान बाढ़त यहो नई।[1]

आलम में चमत्कार के साथ आरोप का रूप अधिक है—'झकझोरता हुआ प्रचंड पवन चलता है, विरही वृक्ष मूल से हिल जाता है। आकाश में घुमड़कर घनघोर घटा छा रही है, नवीन पत्तों के समान वनिता काँपती है।' इस आरोप में विरह की भाव स्थिति को लेकर रूपक और उपमा का प्रयोग किया गया है, लेकिन अन्यत्र उद्दीपन की स्थिति को प्रस्तुत करने वाली भाव-व्यंजक वस्तुओं का आरोप भी किया गया है—

महाकाल कैधों महाकाल कूटें,
महाकालिका के कैधों केश छूटें।
कैधों धूमधारा प्रलयकाल धारी,
कैधों राहु रूप कैधों रैन कारी।[2]

**क्रिया और विलास**—जायसी में उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत केवल उल्लेख करके मानवीय भावों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इनमें भी जैसा कहा गया है बाह्य स्थूल प्रभावों क्रियाव्यापारों तथा विलास-क्रीडाओं का रूप अधिक व्यक्त होता गया है। बसंत के प्रसंग में कवि ने मानवीय उल्लास तथा विलास का वर्णन ही अधिक किया है—

फर फूलन्ह सब डार ओढ़ाई। झुंड बाँधि कै पंचम गाई।
बाजहिं ढोल दुंदु भी भेरी। मांदर तूर झांझ चहुँ फेरी।
नवल बसंत नवल सब बारी। सेंदुर बुक्का होइ धमारी।[3]

जहाँ तक ऋतु के साथ मानवीय उल्लास का प्रश्न है, यह रूप स्वाभाविक है, क्योंकि ऐसे समय सर्वसाधारण का उल्लास-मग्न होना सहज है। परन्तु इन वर्णनों के अन्तर्गत जब जायसी आन-दोलनाम का वर्णन करते हैं, उसमें क्रिया व्यापारों का उल्लेख भी मिलता है—

---

१. वही, वही, २७ वीं तरंग।
२. वही, वही, २७ वीं तरंग।
३. ग्रथा०, जायसी, पदमा० २० बसंत खंड, दो० ७।

पहिरि सुरंग चीर घनि भीना। परिमल मेद रहा तन भीना।
अधर तमोर कपूर भिमसेना। चदन चरचि लाव तन बेना।[1]

उसमान ने षट् ऋतु-वर्णन को वियोग के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसमे भी प्रकृति से अधिक स्थिति प्रधान हो उठी है। इन्होने भावो से सम्बन्धित पीडा, जलन तथा उत्पीडन आदि का वर्णन ही प्रमुखत किया है—'जेठ की ज्वाला मे दु ख मन से निकाला नही जाता, विरह की दावा देखी नही जाती जैसे अग्नि की ढेरी ही प्रकट हो गई हो। प्रिय पता नही किस तन मे छिपा है।' कही-कही प्रकृति प्रत्यक्ष होकर पीडा तथा उत्पीडन को बढाती है—'श्याम रात्रि मे जो कोकिल बोलता है, वह मानो विरह से जलाकर शरीर को झाँझर कर देता है। बिजली बढकर जैसे स्वर्ग मे फैल जाती है, मानो चमक दिखा कर जी निकाल लेती है,[2] उसमान का ऋतु-वर्णन इन्ही उद्दीपन-रूपो को लेकर चलता है। आगे रीति-कालीन प्रवृत्ति की विवेचना करने से प्रकट होगा कि इनमे भी प्रकृति का व्यजक आधार लिया गया है। नूर मोहम्मद ने भी उल्लास क्रीडा को फाग-खड मे अधिक दिखाया है। उसमे प्रकृति परोक्ष है, विलास तथा ऐश्वर्य ही सामने आ सका है—

गली गली घर घर सकल, मानहि फाग अनन्द।
भाँते सब आनन्द सों, भा फागुन सुख कन्द॥[3]

स्वतन्त्र प्रेमी कवि—इस विषय मे प्रेम काव्य के स्वतन्त्र कवियो मे भी यही प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। परम्परा से स्वतन्त्र होने के कारण इनका वातावरण अधिक उन्मुक्त है। परन्तु यह भावना मानवीय भावना को लेकर है, इनके बारहमासो मे प्रकृति के माध्यम से सयोग विलास तथा वियोग की विरह व्यथा का अधिक चित्रण हुआ है। यह रूप भाव व्यजक न होकर वाह्य आरोपो तथा अनुभावो को लेकर है। दुखहरनदास पूस की शीत का उल्लेख करके आलिगन आदि का वर्णन करते है—

हुइतन एकै देखो अस वै मीलें लपटाइ।
रहो न अतर प्रेम के बीच न रहा समाइ॥[4]

परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इन्होने प्रकृति और भावो का सामजस्य प्रस्तुत ही नही किया है। श्रावण मास का वर्णन भावोल्लास के समानान्तर प्रस्तुत किया गया है—

---

१ वही, वही, वही, २६ षट्-ऋतु-वर्णन-खड, दो० ६।
२ चित्रा०, उस०, १८ विरह-खड, दो० २४५-६।
३. इन्द्रा०, नूर०, ५ फाग खड, दो० १।
४. पुहु०, दुख०, सुकवर बारहमासा।

। ओनई घटा बादर सभ छाया ।
बरसै लाग मेघ दिन राती । सीतल भइ धरनी की छाती ।
हरी हरी पेखि चहु चकोरा । पपीहा पीव पीव लागै सोरा ।[1]

इन कवियों में ऋतु वर्णन के प्रसंगों में यह रूप अधिक मिलता है। दुखहरन ग्रीष्म के वर्णन में वेदना को व्यक्त करते हैं—'नभो में प्रेम के घनघोर बादल उमड़ आए, मदन का ही बवंडर झकझोर रहा है, बगुलों की पंक्ति दुःख सतप्त हो गई है और कोकिल कुहुक कर विलाप करती है।' इसमें आरोप के माध्यम से प्रस्तुत प्रकृति में उद्दीप्त भावस्थिति व्यक्त की गई है। आगे चित्र के वर्णन में भाव व्यंजना सन्निहित है—'बिजली चमकती है बादल गरजता है, सेज पर अकेली विरहिणी अत्यन्त भयभीत हो रही है। चारों ओर नदी नाले बढ़ गए हैं, विरह से उनका वार पार कुछ नहीं सूझता।'[2] प्रकृति के रूप के साथ वियोग की स्थिति के संकेत सन्निहित करके यह व्यंजना प्रस्तुत की गई है। 'नलदमन' काव्य में भी ऋतु वर्णनों में इसी प्रकार प्रकृति और भावों की समानान्तरता उपस्थित हुई—'ऋतु पावस में प्रेम बढ़ गया है, सावन भादों में मेह बरसता है। स्त्री को चातक की बोली अच्छी लगती है। चातकों की वाणी को सुनकर मन को चैन होती है। कुहुक कुहुक कर कोकिल और तोते बोलते हैं। दोनों स्त्री पुरुष सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं।'[3] इन काव्यों में आरोप की प्रवृत्ति कम है, क्योंकि इनका सम्बन्ध साहित्यिक परम्परा से अधिक नहीं है। दुखहरन एक स्थल पर रति उल्लास का आरोप करते हैं—

जोवन बाहु जमुन और गगा । लहरी केलि रस उठै तरगा ।
नदी नार नोत सखी सहेली । इन्ह कह सुठी बाढति वेली ।[4]

## राम काव्य

रामचरितमानस—'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका' दोनों काव्य राम कथा से सम्बन्धित हैं। परम्परा की दृष्टि से अलग होकर भी प्रकृति के उद्दीपन रूप की दृष्टि से इनमें समान प्रवृत्तियाँ हैं। कारण यह है कि दोनों के सामने साहित्यिक परम्पराओं का आदर्श रहा है। साहित्यिक रूप में उद्दीपन में प्रकृति पर आरोप की प्रवृत्ति अधिक हो जाती है। कलात्मक प्रयोग में यह आरोप भाव-व्यंजक हो जाता है। परन्तु इस सीमा पर इन दोनों काव्यों में रूढ़ि का अधिक पालन है। इस कारण आरोप भी स्थूल और शारीरिक मानवीकरण के आधार पर अधिक हुआ है। प्रकृति

१ पुहु०, दुख० सुखकर बारहमासा।
२ वही वही छवो रितु-रूपन्तो विरह-खण्ड।
३ नल०, ऋतु वर्णन।
४ पुहु०, दुख०, सुखकर० बारहमासा।

का स्वतन्त्र उद्दीपन-रूप इनमें नही मिलता। एक स्थल पर 'रामचरितमानस' मे राम सीता के रूप उपमानो मे फैली प्रकृति के उल्लास के विरोध म अपनी मन स्थिति को उद्दीप्त पाते हैं। यह स्थल कलात्मक है पर इसके मूल म आरोप की भावना है। राम सीता की स्मृति की वेदना का प्रकृति के विरोधी उल्लास म अधिक अनुभव करते हैं—

कुद कली दाडिम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हसा। गज केहरि निज सुनत प्रससा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेक न सक सकुच मन माहीं।

इसीके आगे स्वतन्त्र प्रकृति भी उद्दीपन की प्रेरणा रखती है—'मग लाइ करनी करि लेहो। मानहुँ मोहि सिखावन देही।' पर इसका विस्तार अधिक नही है। इसके बाद कवि वसत की रूप योजना 'काम अनीक' के आरोप के आधार पर करता है। और इस आरोप मे प्रकृति उद्दीपक ही है—'अनेक वृक्षो मे लताएँ उलझी हुई है मानो वे ही विविध वितान ताने गए हैं। कदली और ताल ही मानो श्रेष्ठ ध्वजाएँ हैं जो उनको देखकर मोहित न हो उसका मन धीर है। नाना प्रकार के वृक्ष फूले हैं, मानो अनेक धनुर्धारी अनेक रूपो मे खडे है।'[1] इसी प्रकार उत्प्रेक्षाओ से यह रूपक पूरा किया गया।

रामचन्द्रिका (क)—'रामचन्द्रिका' का कवि अपनी प्रवृत्ति म अलकारवादी है। साथ ही इसमे साहित्यिक परम्परा का अनुसरण भी किया गया है। इस कारण आरोपो के माध्यम से प्राय प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ ही स्थान होगे जहाँ प्रकृति मानवीय भावो के सम पर व्यजनात्मक रूप मे उपस्थित हुई हो अथवा जहाँ वह भावो के आधार पर उपस्थित की गई हो। एक स्थल पर लक्ष्मण के उल्लेख मे प्रकृति का ऐसा रूप आया है जिसे व्यजनात्मक रीति से भावोद्दीपन का रूप कहा जा सकता है—

मिलि चक्रिन चदन बात बहै अति मोहत न्यायन हीं गति को।
मृगमित्र विलोकत चित्त जरै लिये चन्द निशाचर पद्धति को।
प्रतिकूल शुकादिक होहिं सबै जिय जानै नहीं इनकी गति को।
दुख देत तडाग तुम्हैं न बनै कमलाकर ह्वै कमलापति को।'[2]

परन्तु इस चित्र मे आलकारिक प्रवृत्ति के कारण स्वाभाविकता के स्थान पर चमत्कार अधिक है। आरोप की भावना मे जहाँ आकार से अधिक भाव की व्यजना हो सकी है वे उद्दीपन-रूप सुन्दर हैं पर उनमे सस्कृत के कवियो का अनुकरण प्रत्यक्ष

१ राम०, तुलसी, अर०, दो० ३०, ३८।
२ रामचन्द्रिका, केशव, बा० प्र०, छ० ४८।

है—'सब पुष्प परागयुक्त हैं, चारो ओर सुगंध उड़ रही है जिससे विदेश निवासी वियोगी अंधे हो जाते हैं। पत्र रहित पलास समूह ऐसा शोभा देता है मानो वसंत ने काम को अग्निबाण दिया हो।'[1] इसमें उत्प्रेक्षा से काम के बाण की कल्पना भावात्मक है। परन्तु केशव की प्रमुख प्रवृत्ति मानवीकरण के रूप में आकार के आरोप की है। कवि शरद् का वर्णन युवती के रूप में करता है—

वतायलि कुन्द समान मनो। चद्रानन कुन्तल चौंर घनो।
भौंहें धनु खंजन नैन मनो। राजीवनि ज्यों पद पानि भनो।[2]

केशव की आरोपवादिता में रूप-व्यंजना का दृष्टिबिन्दु न रहकर अलकृत सूझ की ही प्रधानता है।

### उन्मुक्त प्रेम-काव्य

विद्यापति में यौवन का स्फुरण—मध्ययुग की स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त प्रवृत्तियों ने आध्यात्मिक साधना तथा रूढ़ियों का आश्रय लिया है। परन्तु विद्यापति ने प्रारम्भ में उन्मुक्त वातावरण के साथ यौवन और प्रेम का काव्य लिखा है। इनमें काव्य का साहित्यिक आदर्श अवश्य मिलता है, पर रूढ़िवादिता तथा आध्यात्मिक साधना से इनका काव्य बहुत कुछ दूर रहा है। इनका प्रेम और सौन्दर्य न तो आध्यात्मिक वातावरण में नैसर्गिक हुआ है और न काव्य की रूढ़ियों का बन्दी ही। जैसा कहा गया है विद्यापति का काव्य साहित्यिक गीतियों के अत्यधिक निकट है, इस कारण इनकी भाव-धारा को कलात्मक आधार मिला है। फिर भी इन गीतियों की अभिव्यक्ति वस्तु-परक आश्रय पर हुई है। और इसलिए प्रेम और सौन्दय के भाव-बोध के स्थान पर इनमें यौवन का शारीरिक रूप ही प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रकृति के उद्दीपन-रूप की दृष्टि से विद्यापति म लोक गीतियों जैसी प्रवृत्ति मिलती है, परन्तु इसी कारण से प्रकृति तथा जीवन म भावों का प्रगुम्फन तीव्र हो उठता है। वसंत का दृश्य-जगत् अपने रूप में अधिक मादक है और उसके समानान्तर भावों का यौवन से आकुल चित्र है—

मलय पवन बह। वसन्त विजय कह।
भमर करइ रोल। परिमल नहिं ओल।
ऋतुपति रग हेला। हृदय रभस भेला।
अनक मगल मेलि। कामिनि करयु केलि।
तरुन तरुनि [सगे। रहनि खपनि रगे।[3]

---

१ वही, वही ती० प्र०, छ० ३४।
२ वही, वही, ती० प्र०, छ० ३५।
३ पदावली, विद्यापति: पद ६१३।

आगे भावों के सम पर प्रकृति भावो को व्यजित करती हुई उद्दीप्त करती है—'नवीन वृन्दावन मे नए-नए वृक्षो के समूह हैं, उन पर नए पुष्प विकसित हैं। नवीन वसंत के प्रसार मे नव मलयानिल का संचरण हो रहा है और मस्त अलियो की गुंजार होती है। नवल किशोर विहार करते हैं, यमुना तट पर कुंजो की शोभा नवीन प्रेम से आह्लादित हो रही है।'[1] विद्यापति मे उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के प्रयोग की यही व्यापक प्रवृत्ति है। इसके साथ प्रकृति के सकेत पर विरह की वेदना और यौवन की व्यथा का वर्णन भी प्रमुख हो उठता है—'हे सखी, हमारे दुःख की कोई सीमा नही है। इस भादो मास मे बादल छाए हैं और मेरा मन्दिर सूना है। झम्प कर बादल गरजते हैं, ससार को प्लावित करते हैं। कन्त तो प्रवासी है, काम दारुण है, वह तीव्र बाणो से मारता है।'[2] यहाँ तो फिर भी प्रकृति सामने उपस्थित है, कुछ स्थलो पर केवल एक उल्लेख के आधार पर विरह की पीडा का उल्लेख किया जाता है—

गगन गरजि घन घोर। हे सखि, कखन आओत बहु मोर।
उगलौन्ह पाचो बान। हे सखि, अवन वचत मोर प्राण।
करब कओन परकार। हे सखि, यौवन भेल उजियार।[3]

और कभी तो ऋतु सम्बन्धी उल्लास सामने आता है, प्रकृति विस्मृति कर दी जाती है—

नाचहु रे तरुनि तजहु लाज,
आएल वसन्त रितु वणिक राज।
कैओ फुंकुम ·मरदाव अंग,
झकरहु मोतिआ भल झाज मान॥

इसमे मानवीय उत्सव तथा उल्लास का रूप सामने आता है, अन्यत्र भी—

मधुर युवतीगण संग,
मधुर मधुर रसरंग।
मधुर मादव रसाल,
मधुर मधुर कर ताल॥

आरोप से प्रेरणा (क)—विद्यापति मे काव्य-शिल्प की विशिष्टता के कारण उल्लास आरोप के माध्यम से अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु इस आरोप मे भावात्मक प्रेरणा अधिक है, स्थूल आकार से मधु-क्रीडाओ आदि के द्वारा उद्दीपन का कार्य नही

१. वही ; वही ; पद ६०६।
२. वही ; वही ; पद ७१५।
३. वही ; वही ; पद ७०६।

लिया गया है। विद्यापति ने एक लम्बा रूपक जन्म का बाँधा है और दूसरा राजा का दिया है। जन्म के रूपक मे प्रकृति-रूप इस प्रकार चलता है—

माघ मास सिरि पचमी जजाइवि,
नवल मास पचमहु हमाइ।
अति घन पीडा दुख बड पाम्रोल,
बनसपती भेल धाइ हे॥

आगे इस चित्र मे उल्लास इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

जाचए युवतिगण हरषित जनम,
लोल बाल मधाइ रे।
मधुर महारस मगल गावए,
मानिनि मौन उडार रे॥[1]

ऋतिपति राज का रूपक तो प्रसिद्ध है और अनेक कवियो ने इसका प्रयोग किया है। इसमे ऋतु सम्बन्धी उमग प्रकृति मे प्रतिघटित की गई है—'ऋतुराज वसत का आगमन हुआ। माधवी लताओ मे अलि समूह गु जारता है। दिनकर की किरणो मे उसका यौवन है और कुसुम के केसर उसका स्वर्ण दड है।'[2] विद्यापति क उद्दीपन सम्बन्धी प्रयोग म प्रकृति-रूप वियोग मे यौवन की विरह पीडा को लेकर अधिक चलता है, जबकि सयोग मे उल्लास का आ दोलन उसमे अधिक है। इसका कारण है कि विद्यापति मुख्यत लौकिक प्रेम तथा सौन्दर्य के कवि हैं जो यौवन म अपनी अभिव्यक्ति पाता है।

मीरा की उन्मुक्त उद्दीपक प्रकृति—प्रकृति के उद्दीपन रूप को लेकर समस्त उन्मुक्त कवियो मे समान भावना है। परन्तु मीरा की पद शैली मे गीति-भावना के कारण प्रकृति से उद्दीपन की प्रेरणा स्वाभाविक है और भाव-तादात्म्य स्थापित हो सका है। विद्यापति मे यह भावना थी, परन्तु साहित्यिक स्तर के कारण उनके काव्य मे अन्य रूप भी हैं। अन्य मुक्तक प्रेमी कवियो पर रीति-परम्परा का प्रभाव अधिक है। स्वतत्र रूप से प्रकृति के चित्रो मे पावस का प्रमुख स्थान रहा है। मीरा की विरहिणी आत्मा पावस के उल्लास को मन स्थिति के विरोध मे पाकर अधिक व्यग्र हो उठी है—

पिया कब रे घर आवै।
दादुर मोर पपीहरा बोलै कोइल सबद सुणावै।
घुमँड घटा ऊलर होइ आई दामिनि दमक डरावै॥[3]

---

१. वही, वही, पद ६०१।
२ वही, वही, पद ६०५।
३ पद०, मीरा, पद १६६।

और दूसरी ओर सयोगिनी मीरा प्रकृति के पावस उल्लास से अपना सम स्थापित करके अधिक आनन्दमग्न हो उठती है—

मेहा बरसियो करे रे।
आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्हीं नान्हीं बूँद मेघ घन बरसे।
सूखे सरवर भरे रे।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो।
बिछुरन को मोहि डर रे।[1]

दुःख के बाद सुखातिरेक मे दुःख की स्मृति भय बनकर रहती है, इसी स्वाभाविक स्थिति की ओर इसमे सकेत किया गया है।

अन्य कवि और रीति का प्रभाव—जैसा कहा गया है मुक्तक-शैली के प्रेमी कवियो मे प्रकृति का उद्दीपन-रूप भावो के समानान्तर तो है, पर रीति के प्रभाव से उसमे वाह्य आधारो का वर्णन अधिक है। ठाकुर कवि प्रकृति के विकास-विरोध में मानिनी की रति-भावना को उद्दीप्त करते हैं—'देखो, वन मे वल्लरियो मे किशलय और कुसुम आ गए हैं और प्रत्येक वन तथा उपवन सुन्दर शोभा से छविमान् हैं। और इस कोकिल की कूक सुनकर कैसी हूक होती है, ऐसे दुःख म कोई रात-दिन किस प्रकार व्यतीत करे। ऐसे समय तो श्याम को तरसाना नही चाहिए, तू अपने मन मे विचार कर तो देख। ऐसे समय कोई मान करता है, आम पर मजरी है और मजरी के भौंर पर भ्रमर गुंजारता है, ऐसा सुहावना समय है।'[2] इन कवियो मे कुछ रूप इस प्रकार के पाए जाते हैं जिनमे प्रकृति के आधार पर वियोग-व्यथा को अधिक व्यक्त किया जाता है—'पावस ऋतु मे श्याम घटा को उमडी देखकर, मन मे धैर्य तो बँधता नही फिर इन दादुर और मोरो के शब्द को सुनकर चित्त स्थिर नही हो पाता। जब से प्रिय से बिछोह हुआ, वियोगिनी के हृदय की ज्वाला कम नही होती। उसकी कौन-सी व्यथा या उल्लास का उल्लेख किया जाय, कोई सुनने वाला और सहानुभूति रखने वाला भी नही दिखाई देता।'[3] इस वर्णन में प्रकृति के विरोध मे सहानुभूतिपूर्ण वातावरण से भाव-व्यजना को उद्दीप्त रूप मे उपस्थित किया गया है, यद्यपि कवि कहता यही है कि कोई सहानुभूति रखने वाला नही मिलता। इसीके दूसरे रूप मे भावो की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति उद्दीपक हो उठती है—

१. वही; वही; पद १२८।
२. शतक; ठाकुर, छ० ६१।
३. इरक०; बोधा०; द्वि० १।

बटपारन बैठि रसालन में यह बयेलिया जाइ खरे ररि है।
बन फूलि हैं पुंज पलासन के तिन को लखि धीरज को परि है।
कवि बोधा मनोज के म्राजनि सो विरही तन तूल भयो जरि है।
घर कन्त नहीं विरतन्त भटू अब कैसी बसन्त कहा करि है।[१]

इस प्रकार इन कवियो के मुक्तको मे उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप लोक-गीतियो की उन्मुक्त भावना तथा साहित्यिक परम्पराओ और रूपो की मध्य की स्थिति मानी जा सकती है।

## पद काव्य

भाव सामञ्जस्य—भक्त कवियो के पद-काव्य मे उद्दीपन की भावना का विकास विद्यापति के आधार पर माना जा सकता है। साधना सम्बन्धी प्रकरण मे भगवान् की भावना को लेकर प्रकृति की प्रभावमयी स्थिति पर विचार किया गया है। वसत और फाग को लेकर इन कवियो मे बहुत दूर तक प्रकृति का भावो से सामञ्जस्य मिलता है। कुभनदास वसत का भावोद्दीपक रूप इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

मधुप गुंजारत मिलित सप्त सुर भयो है हुलास
तन मन सब जंतहि।
मुदित रसिक जन उमगि भरे है न पावत
मनमथ सुख अंतहि।[२]

चतुर्भुजदास भी इसी प्रकार कहते हैं—

फूली द्रुम बेली भाँति भाँति। नव वसंत सोभा कही न जात।
अग अंग सुख विलसत सघन कुंज। छिनिछिनि उपजत आनंद पुंज।[३]

गोविन्ददास का प्रकृति उद्दीपन-रूप वसत की इस भावना से भिन्न नही है—

विहरत वन सरस वसंत स्याम। जुवती जूथ गावें लीला अभिराम।
मुकलित सघन नूतन तमाल। जाई जुही चपक गुलाल।
पारजात मदार माल। लपटात मत्त मधुकरन जाल।[४]

इस प्रकार अनेक चित्र सभी कवियो मे मिलते हैं। भक्त कवियो के इन प्रकृति-रूप मे मानवीय भावो के समान उल्लास व्यक्त होता है। सूर ने इसको हिंडोला के प्रसग में प्रस्तुत किया है, प्रकृति और जीवन समानान्तर हैं केवल यहाँ शृगार की भावना अधिक

---

१. वही; वही; पृ० २।
२. श्रीपुष्टमार्गीय पद सग्रह (भा० २); पृ० ६।
३. वही; पृ० १५।
४. वही; पृ० १८।

है—'हरि के साथ हिंडोला झूलो और प्रिय को भी झुलाओ। शरद् और उसके बाद ग्रीष्म ऋतु बीत गई, अब सुन्दर वर्षा ऋतु आई है। गोपियाँ कृष्ण के पैर छूकर कहती हैं, वन वन कोकिल शब्द करता है और दादुर शोर करते हैं। घन की घटाओ के बीच मे बगुलो की पंक्ति आकाश मे दिखाई देती है। इसी प्रकार विद्युत चमकती है, बादल घोर गरजन करते हैं, पपीहा रटता है और बीच-बीच मे मोर बोल उठता है।' इस लम्बी चित्र योजना मे जो उल्लास की उद्दीपन भावना है वह गोपियो के सयोग-शृगार के समानान्तर ही है—

पहरि चुनि चुनि चीर चुहि चुहि चूनरी बहुरग।
कटि नील लहँगा लाल चोली उबटि केसरि रग।[1]

समस्त हिंडोला प्रसग मे यही भावना है।

भावो के आधार पर प्रकृति (क)—सूरदास के वसत-वर्णन में भावो की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति का उद्दीपन रूप उपस्थित किया गया है जिसमे उल्लास की भावना निहित है—'कोकिल वन मे बोली, वन पुष्पित हो गए, मधुप भी गुंजारने लगे। प्रात काल बन्दीजनो की जय जयकार सुनकर मदन महीपति जागे। दव से जले हुए वृक्षो मे दूने अकुर निकल आए, मानो कामदेव ने प्रसन्न होकर याचको को नाना-वस्त्र दान दिए। नवीन प्रीति के वातावरण मे नववल्लरियाँ नव-पुष्पो मे आच्छादित हुईं, जिनके सुरगों पर नव-युवतियाँ प्रसन्न हुईं।'[2] इसी प्रकार का एक दूसरा चित्र भी है—

हिय देख्यो वन छबि निहारि।
बार बार यह कहति नारि।
नव पल्लव बहु सुमन रग।
द्रुम बेली तनु भयो अनग।
भँवरा भँवरी भ्रमत सग।
यमुन करत नाना तरग।[3]

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का यह रूप सूर मे प्रमुखत है, परन्तु अन्यत्र भी मिलता है। गोविन्ददास भावो का आधार ग्रहण कर प्रकृति को उपस्थित करते हैं—'हे कत, नवीन शोभावाली अनुपम ऋतु वसत आ गई, अत्यन्त सघनता से जूही, कुद और अन्य पुष्प फूल उठे हैं, वनराजि पुष्पित हो उठी है, उनपर मदरस के मतवाले भ्रमर दौडते घूमते हैं।'[4] इसी प्रकार का प्रकृति-रूप कृष्णदास मे भी है—

---

१. सूरसा०, दश०; पद २२७४।
२. वही; वही, पद २३८५।
३ वही, वही, प० २३८७।
४. श्री पुष्ट०; पृ० ६७—'कोकिल बोली बन बन फूल'।

प्यारी नवल नव नव केलि।
नवल विटप तमाल अरुझी मालती नव बेलि।
नव बसंत हसत द्रुमगन जरा जारे पेलि।
नवल बसंत विहंग कूजत मच्यो ठेला ठेलि।
तरणि तनया तट मनोहर मलय पवन सहेलि।
बकुल कुल मकरंद संपट रहे अलिगन झेलि।[1]

इन रूपों में पृष्ठ-भूमि की भावना भावात्मक व्यंजना के रूप में सन्निहित हो जाती है, जैसा सूर के चित्र में अधिक दूर तक हुआ है। अथवा क्रीडा-विलास आदि का अस्पष्ट आरोप हो जाता है, जैसा इस चित्र में है।

आरोप का आधार (ख)—सूर ने आरोप के आधार पर प्रकृति को उद्दीपन में रखा है। पत्र के रूप में वसंत की कल्पना में नवीनता है—

ऐसो पत्र पठायो ऋतु बसंत
तजहु मान मानिन तुरंत।
कागज नवदल अंबुज पात
देति कमल मसि भँवर सुगात।[2]

वसंतराज, वसन सेना आदि के रूपक साहित्यिक परम्परा से लिए गए हैं। मदन तथा वसंत के फाग खेलने की कल्पना में आरोप सुन्दर है—

देखत नव ब्रजनाथ आजु अति उपजतु है अनुराग।
मानहु मदन वसंत मिले दोउ खेलत फाग।
केकी काग कपोत और खग करत कुलाहल भारी।
मानहु लै लै नाउँ परस्पर देत दिवावत गारी।[3]

इन सबके अतिरिक्त प्रकृति को परोक्ष में करके केवल विलास और उल्लास का वर्णन भी इनमें मिलता है—'हे सखी, यह वसंत ऋतु आ गई, मधुवन में भ्रमर गुंजारते हैं। ताली बजाकर स्त्रियाँ हँसती हैं, और केसर, चदन तथा कस्तूरी आदि घिसी जाती है। ब्रज में खेल मचा हुआ है। कोई प्रातः सन्ध्या अथवा दोपहर नहीं मानता, नाना प्रकार के मुरज, बीन, डफ तथा झाँझ आदि बाजे बजते हैं और गुलाल, अबीर आदि उडाया जाता है।'[4] यही क्रीडा-कौतुक की भावना सभी क्षेत्रों में ऋतु के साथ बढती

---

१. वही, पृ० ३४।
२. सूरसा०, दश०, पद २३८२।
३. वही; वही, पद २३९०।
४. धापुष्ट०; पृ० १६—'आयो आयो री यह ऋतु बसंत।'

गई है और रीति-काल की रूढिवादिता तथा उक्ति-वैचित्र्य मे तो इसको प्रमुख स्थान मिला है ।

## मुक्तक तथा रीति काव्य

**समान प्रवृत्तियाँ**—मुक्त कवियो और रीति परम्परा के कवियो मे प्रकृति के उद्दीपन-रूप को लेकर कोई प्रवृत्ति विषयक विभाजक रेखा नही खीची जा सकती । इनमे इस रूप के अनेक भेद मिलते हैं और सभी कवि समान प्रवृत्तियो से प्रभावित हैं, जो सामूहिक रूप मे रीति-परम्परा से सम्बन्धित है । यह एक सीमा तक कवि की अपनी काव्य-प्रतिभा और आदर्श-भावना से भी सम्बन्धित है । जिन कवियो की रसात्मक प्रवृत्ति अधिक है उन्होने प्रकृति को जीवन के सामञ्जस्य पर अथवा जीवन और प्रकृति मे स किसी को पृष्ठ भूमि मे रखकर, दूसरे को उस भावना से आन्दोलित या प्रभावित चित्रित किया है । जिन कवियो की प्रवृत्ति अलकारो तथा उक्ति-चमत्कार की ओर है उनमे प्रकृति का सकेत देकर या उल्लेख करके पीडा-जलन, विलास क्रीडा का ऊहात्मक वर्णन ही प्रमुख है । इसके अतिरिक्त आरोप को लेकर भी यही भेद पाया जाता है । रसवादी कवियो ने भावात्मक व्यजना प्रस्तुत करने वाले रूपको का प्रयोग किया है; जबकि अलकारवादी कवियो मे चमत्कार की प्रेरणा से मानवीकरण करने की, आकार देने की प्रवृत्ति अधिक है । इन्होने विचित्र आरोप भी प्रस्तुत किये है । परन्तु यह विभाजन जितना सिद्धान्त से सम्बन्धित है, उतना वास्तविक नही है । इस युग का काव्य सब मिलाकर ऐसी रूपात्मक रूढिवादिता (फार्मलिज़्म) से बँधा हुआ है कि सभी कवियो मे समान परिपाटी का अनुसरण मिलता है । यह कहना कठिन है किस कवि मे कौन प्रवृत्ति प्रमुख है । इसलिये यह विभाजन व्यापक रूप से ही लगता है ।

**समानान्तर प्रकृति और जीवन**—स्वच्छन्द भावना से सम्बन्धित प्रकृति का वह उद्दीपन-रूप है जिसम प्रकृति मानवीय जीवन की दु खसुखमयी स्थितियो तथा भावनाओ के समानान्तर प्रस्तुत होती है । और इस निकट की स्थिति से वह विरोध, सयोग, स्मृति के द्वारा भावो को व्यजनात्मक रीति से उद्दीप्त करती है । इसीके समान प्रकृति के वे चित्र हैं जिनमे मानवीय जीवन या भावना का उल्लेख प्रत्यक्ष तो नही रहता, परन्तु प्रकृति मे भावात्मक क्रियाओ आदि से भाव-व्यजना का रूप उपस्थित किया जाता है । इस प्रकृति रूप का उल्लेख विभिन्न काव्य-रूपो के अन्तर्गत किया गया है । यहाँ भेद स्पष्ट करने के लिय ठाकुर कवि का पावस वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है—

> घन घहरान लागे अँग सहरान लागे,
> केकी कहरान लागे वन के विलासो जे ।

बोलि बोलि दादुर निरादर सों आठो जाम,
ग्रीषम की देन लागे बहुर बिहासी जे।
ठाकुर कहत देखो पावस प्रबल आयो,
उड़त दिखान लागे बगुन उदासी जे।
दाबे से दबे से चारो ओरन छुए से बोर,
बरस रहन लागे बदरा बिसासी जे।[1]

इस वर्णन मे मानवीय व्यथा सम्बन्धी अनुभावो और भावो को प्रकृति पर प्रतिघटित करके व्यंजना की है, वैसे स्वतन्त्र चित्र माना जा सकता है। यह एक प्रकार से अप्रत्यक्ष आरोप है। इसी चित्र के साथ जब भाव स्थिति प्रत्यक्ष सामने लगती है, उस समय प्रकृति और जीवन एक दूसरे को प्रभावित करते उपस्थित होते हैं। मतिराम की विरहिणी प्रकृति के पावस विलास के समानान्तर विरोध की मनःस्थिति लेकर उपस्थित है—

धुरवान की धावन मानों अनग की तुग ध्वजा फहराने लगी।
नभ मडल ते छिति मडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगी।
'मतिराम' समीर लगी लतिका विरही बनिता थहराने लगी।
परदेस मे पीय सदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगी।[2]

यहाँ प्रकृति का आन्दोलन और वियोगिनी का अनग पीडित होकर 'थहराना' साथ होता है। इस कलात्मक प्रयोग और उन्मुक्त वातावरण मे स्पष्ट भेद है। मतिराम ने भावो को प्रकृति के समक्ष रखा है और फिर प्रकृति के माध्यम से व्यजना द्वारा सामञ्जस्य भी उपस्थित किया है। फहराना छहराना, घहराना आदि इसी भाव को व्यक्त करते हैं। सेनापति का वर्णन भी इसी प्रकार चलता है—'ऋतुराज वसत के आगमन पर मन उल्लसित हो उठा है। सौरभमय सुन्दर मलय पवन प्रवाहित है। सरोवर का जल निर्मल होकर मजन के योग्य है। मधुकर का समूह मजुल गुजार करता है, वियोगी इस ऋतु म व्याकुल है, योगी भी ध्यान नही रख पाते, और इसमे सयोगी विहार करते है। सघन वृक्ष शोभित हैं, मनक कोकिल समूह बोलता है।'[3]

---

१ पावस० ६७, इसी प्रकार गिरधर के वर्णन में क्रिया-व्यापारों के द्वारा भाव-व्यजना हुई है—

"घहरि घहरि घरि घरि घोर घन आये
छाये घर घर घूमत घन घूमि घूमि।
हारैं झन धरैं ओर बमन जमात करैं
ललकारैं बार बार व्योम चूमि चूमि।"

२ पावस-शतक, २७।

३ कवित्त रत्नाकर, सेनापति ता० तर०, छ० २।

इस प्रकृति और जीवन के समानान्तर चित्र मे भाव-सामञ्जस्य उपस्थित नही हो सका है, इसका कारण है कवि का अलंकारवादी होना। परन्तु जहाँ प्रभावशीलता के साथ प्रकृति उपस्थित हो सकी है, वहाँ यह स्थिति अधिक भावमय हुई है—

तपै इत जेठ जग जात है जरनि जर्‌यो
तापकी तरनि मानौं मरनि करत है।
इतहि असाढ उठै नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरज धरत है।
आधे अंग ज्वालन के जाल विकराल आधे
सीतल सुभग मोद हीतल भरत है।
सेनापति ग्रीषम तपत रितु भीषम है
मानौ बडवानल सो बारिधि बरत है।[1]

चमत्कृत तथा प्रेरक रूप (क)—इसी रूप मे कभी कवि प्रकृति का प्रभावोत्पादक चित्रण करता है, तब प्रकृति का उद्दीपन-रूप वस्तु-रूप मे मन को प्रभावित करता हुआ उपस्थित होता है। यह रूप अधिकतर प्रकृति की पृष्ठ-भूमि पर अंकित हुआ है; परन्तु कभी-कभी प्रकृति मे भी प्रस्तुत होता है। इन सभी कवियो मे चमत्कार की प्रवृत्ति विशेष है, इस कारण यह रूप ऊहात्मक ही अधिक है। पद्माकर ने वसत की परम्परागत योजना मे यही रूप प्रस्तुत किया है—

पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं।
कहै 'पद्माकर' बिसासी या बसन्त कैसो,
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भले,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंशुक गुलाब कचनारन औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।[2]

---

१. वही; वही; वही, छ० १६, सेनापति का एक छद इसी प्रकार का है जिसमें वातावरण के साथ वियोग दशा व्यजित की गई है (पाव० ४२)—

"घर्‌रात घेहर प्रचंड खड मडल पै दर्‌रात दामिनी की दुतिरी अर्‌रात।
घर्‌रात घन के मेघ आये झर्‌रात पर्‌परात पानिय के बूँदन ते जर्‌रात।
भर्‌रात भामिनि भवन मांझ सेनापति हर्‌रात हाय हाय पीय पीय बर्‌रात।
चुर्‌रात खिनखिनत धरन धरन बीर नीर छान मन ऐसी सेज पर फर्‌रात।"

२. पद्मा०; पँचा०; जग०, ३८०।

इसमें भावों के सम पर जो प्रकृति का उल्लेख हुआ है वह जैसे स्वयं प्रेरक तथा उद्दीपक है जो अत्युक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सेनापति भी जेठ की गरमी का वर्णन इसी उत्तेजक के अर्थ में करते हैं—

> गगन गरद धुंधि दसो दिसा रहीं रूँधि,
> मानों नभ भार की भस्म बरसत है।
> बरनि बताई, छिति-ब्योम की तताई जेठ,
> आयो आततार्इ पुट पाक सौं करत है।[1]

स्वाभाविक प्रभाव (ख)—सेनापति के विषय में कहा गया है कि इन्होंने प्रकृति को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार सेनापति ने प्रकृति के स्वाभाविक प्रभाव तथा उसकी प्रेरणा का भी उल्लेख किया है। ऋतु का प्रभाव मानव पर पड़ता है और उसको वह सुख दुःख के रूप में ग्रहण करता है। अन्य कवियों ने इस शारीरिक सुख दुःख को भावों की प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर लिया है, परन्तु सेनापति उसके सहज प्रभाव से परिचित हैं और उसे उपस्थित भी करते हैं। पिछले प्रकरण में ग्रीष्म के प्रभाव का संकेत चित्रण के अन्तर्गत किया गया था। शीत-काल में प्रकृति के इस रूप की ओर कवि संकेत करता है—

> धायो हिय दल हिम-भूधर तें सेनापति,
> अग अग जग थिर-जगम ठिरत है।
> पैये न बताइ भाजि गई है तताइ सीत,
> आयो आततार्इ छिति अंबर घिरत है।

इस प्रकृति के कष्टप्रद रूप के साथ कवि इसी भावना का आरोप सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए कर देता है—

> चित्र कैसो लिख्यो तेज हीन दिनकर भयो,
> अति सियराई गयो घाम पतराइ कै।
> सेनापति मेरे जान सीत के सताए सूर,
> राखे हैं सकोरि कर अंबर छपाइ कै।[2]

भावात्मक पृष्ठ भूमि पर प्रकृति—जैसा प्रकरण के प्रारम्भ में कहा गया है कि उद्दीपन के रूपों में कभी भाव के संकेत पर प्रकृति उपस्थित होती है और कभी केवल प्रकृति के उल्लेख के आधार पर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। इस स्थिति में व्यापक वियोग की भावना के अन्तर्गत प्रकृति का प्रमुख चित्र आलम्बन के समान लगता है और इसी कारण इनका संकेत पिछले प्रकरण में किया गया है। परन्तु जिनमें

१. कवि, सेना०, शी० तर०, छ० १५।
२ वही, वही, वही, छन्द ५४, ५५।

वियोग की पृष्ठभूमि है, अथवा प्रिय-स्मृति के आधार पर प्रकृति रूप उपस्थित होता है, नमे उद्दीपन की भ वना प्रत्यक्ष और गहरी हो जाती है।

भाव का आधार (क)—इस रूप मे केवल व्यापक भावना के प्रत्यक्ष रहने पर प्रकृति का चित्र उपस्थित होता है जिसमे उद्दीपन की व्यजना उसी आधार पर ग्रहण की जाती है। पद्माकर मे उल्लास की भावना व्यापक होकर प्रकृति-वर्णना के माध्यम से अधिक व्यक्त होती है और इसी कारण यह रूप उद्दीपन के अन्तर्गत है—

द्वार मे दिशान मे दुनी मे देश देशन मे,
देखौ द्वीप द्वीपन मे दीपत दिगन्त है।
बीथिन मे ब्रज मे नवेलिन मे बेलिन मे,
बनन मे बागन मे बगर्यो बसन्त है।[1]

सेनापति के इस वर्णन मे आधार भावात्मक है—

बरसत घन गरजत सघन, दामिनि दिपै प्रकास।
तपति हरी सफलौ करी, सब जीवन की आस॥
सब जीवन की आस, पास नूतन तिन अनगन।
सोर करत पिक मोर, रटत चातक विहग गन॥
गगन छिपे रवि चद, हरष सेनापति सरसत।
उमगि चले नद नदी, सलिल पूरन सर बरसत।[2]

भाव की स्थायी स्थिति के आधार पर प्रकृति के वातावरण का परिवर्तन विचित्र-सी अनुभूति देता हुआ उपस्थित होता है, जिसका पद्माकर इस प्रकार वर्णन करते हैं—

और भाँति कुजन मे गुजरत भौंर भीर,
और डौर भौरन मे बौरन के ह्वै गये।
और भाँति विहग समाज मे अवाज होत,
ऐसो ऋतुराज के न आज दिन ह्वै गये।[3]

प्रत्यक्ष स्मृति (ख)—पिछले रूपो म स्थायी भाव की स्थिति के प्रत्यक्ष होते हुए भी आलम्बन का रूप स्पष्ट नही था। पर इसमे भाव का व्यक्त आलम्बन सामने आ जाता है। सेनापति की विरहिणी के सामने—'आवन कह्यौ है मन भावन' की प्रत्यक्ष भाव-स्थिति मे आलम्बन की स्मृति स्पष्ट है और इसी आधार पर पावस का दृश्य उसके सामने उत्तेजक हो उठता है—

---

१ पद्मा० प०, जग०, ३७८।
२ कवि०, सेना०, ती० त०, छन्द ३५।
३ हजारा, इ०, वस०, छन्द १८।

दामिनि दमक सुरचाप की चमक स्याम
घटा की झमक अति घोर घन-ओर तें।
कोकिला कलापी कल कूजत हैं जित-तित,
सीकर ते सीतल समीर की झकोर तें।
आयौ सखी सावन मदन सरसावन स-
ग्यौ है बरसावन सलिल चहुँ ओर तें।[1]

मतिराम भी इसी प्रकार स्मृति के आधार पर प्रकृति को उद्दीपक रूप में उपस्थित करते हैं। इस वियोगिनी को किसी प्रकार का आश्वासन नहीं है, उसे परदेसी प्रिय का सन्देश भी नहीं मिला और पावस उमड़ा आ रहा है—

धुरवान की धावन मानों अनंग की तुंग ध्वजा फहराने लगीं।
नभ मंडल तें छिति मंडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगीं॥
'मतिराम' समीर लगी लतिका विरही वनिता थहराने लगीं।
परदेस में पीय सदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगीं॥[2]

देव की वियोगिनी के लिए प्रकृति का आन्दोलन स्मृति को जाग्रत करके आत्म-विस्मृत कर देने वाला है—

बोलि उठो पपिहा कहूँ पीव सु देखिबे को सुनि कें धुनु धाई।
मोर पुकारि उठे चहुँ ओर सुदेय घटा घिरि कै चहुँ छाई॥
भूलि गई तिय को तन की सुधि देखि उतै मन भूमि सुहाई।
साँसनि सो भरि आयो गरो अरु आँसुन सों अँखियाँ भरि आई॥[3]

यह वर्णन कलात्मक और सुन्दर है, प्रकृति की उमड़न का रूप वियोगिनी की स्मृति की उमड़न के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

उत्तेजक प्रकृति (ग)—अलंकारवादी चमत्कार ने प्रकृति को नितान्त अस्वाभाविक स्थिति तक पहुँचाया है। और यह प्रवृत्ति सभी रूपों में समान रूप से क्रियाशील रही है। पिछले विभाग में वस्तु रूप प्रेरक प्रकृति को देखा गया है। इस रूप में यह प्रवृत्ति प्रकृति को उत्तेजक रूप में प्रस्तुत करती है। इस परिकल्पना में कवियों ने इसको वस्तु रूप में प्रभाव डालने वाली स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रकृति भावों को प्रभावित कर सकती है, पर इन कवियों ने अत्युक्तियों के द्वारा इसका वर्णन किया है। दीनदयाल की वियोगिनी को पावस जैसे स्वयं पीड़ित कर रहा हो—

१ कवि०, सेना०, ती० तर०, छन्द २६।
२ पावस शतक छन्द २७।
३ भाव विलास, देव।

चपला चमक लगैं लूक ह्वै अचूक हिये,
कोकिल कुहूकि बरजोर कोरवान की।
कूक मुरवान की करेजा टूक टूक करै,
लागति है हूकि सुनि धुनि धुरवान की।[1]

इसी प्रकार श्रीपति की वियोगिनी के लिए प्रकृति का समस्त रूप उत्तेजक है—

आवते गाढ असाढ के बादर मो तन में अति आग लगावते।
गावते चाह चढे पपिहा जनि मोसो अनंग सो वैर बँधावते।
धावते वारि भरे बदरा कवि श्रीपति जू हियरा डरपावते।
पावते मोहि न जीवते प्रीतम जो नहि पावस मे घर आवते।[2]

सेनापति की विरहिणी 'आसाढ के आते' ही ऐसी 'गाढ' मे पड गई है।[3] और विहारी की नायिका को उमडते बादलो का व्यापार इसी प्रकार दाहक लगता है—

धुरवा होहि न अलि इहै, धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद॥[4]

आशका और अभिलाषा (घ)—प्रकृति को जिन विभिन्न भावो के आधार पर उपस्थित किया गया है, उनमे रति के अन्तर्गत आशका और अभिलाषा प्रमुख हैं। इनमे प्रकृति के उत्तेजक रूप की कल्पना ही निहित है। ऊपर श्रीपति के उदाहरण मे आशका की भावना थी। देव के इस प्रकृति-चित्र मे अभिलाषा का आधार है—और इसमे प्रकृति से सम्बन्धात्मक निकटता की व्यजना छिपी है—

आई रितु पावस न आये प्रान प्यारे यातें,
मेघन बरज आली गरजन लावै ना।
दादुर हटकि वकि वकि कै न फोरै कान,
पिक न फटकि मोहि कुहुकि सतावै ना।

---

१. अथा०, दीन० ऋतुवर्णन, छं० २११।
२. पावस-शतक, छं० १२।
३. कवि०, सेना० ती० तर०, छं० ३१—
"सुनि घन घोर मोर कूकि उठे चहुँ ओर,
दादुर करत सोर भोर जामिनीन कौं।
काम धरे बाढ तरवारि तर जम-डाढ,
आवत असाढ परी गाढ़ विरहीन कौं।"
४. सतसई; बि० ; दो० ५८२, इसी प्रकार दो० ५३०—
"मो यह ऐसो ही समय, जहाँ सुखद दुख देत।
चैत चाँद की चाँदनी, अग लग विष अचेत।"

विरह पिया तें हौं तो व्याकुल भई हौं देव,
जुगुन चमकि चित चिनगी उठावें ना ।
चातक न गावें मोर सोर न मचावें घन,
घुमरि न छावें जौलौं लाल घर आवें ना ।[1]

परन्तु इस रूप मे भी प्रकृति का उत्तेजक चित्र उपस्थित हुआ है।

भावों की पृष्ठ-भूमि मे प्रकृति—इस सीमा तक प्रकृति का स्थान चित्रण की दृष्टि से प्रमुख रहा है। इसके आगे के रूपो मे प्रकृति का केवल उल्लेख है, और भावो की व्यजना प्रमुख हो जाती है। रीति परम्परा के कवियो मे केवल भाव-व्यजनाओ को व्यक्त करने वाले चित्र कम हैं। इनके काव्य मे जैसा पहले उल्लेख किया है, भावो को अनुभावो अथवा अन्य स्थूल आधारो पर व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त पीडा-कष्ट तथा आनन्दोल्लास को अधिक उपस्थित किया गया है। और इन रूढिवादिता की चरम परिणति मे ऋतु आदि वर्णनो के अवसर पर राजा और रईसो के ऐश्वर्य विलास का वर्णन प्रमुख हो उठा है। यहाँ यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि भावात्मक व्यजना सम्बन्धी भेदो की अधिक स्पष्ट रेखा इन तीनो प्रमुख रूपो मे नही की जा सकती, जिनकी विवेचना की गई है।

व्यथा और उल्लास (क)—सयोग और वियोग की स्थिति के अनुसार प्रकृति का उल्लेख मात्र करके विरह व्यथा तथा आनन्दोल्लास को प्रकट करने की परम्परा रही है। इस काल म इसको अधिक रूढिवादी रूप मिला है। प्रकृति के सकेत पर भाव-व्यजना अधिकतर इन कवियो ने सामञ्जस्य के आधार पर की है, क्योकि उसमे उक्ति-निर्वाह के लिए अवसर रहता है। इस कवित्त मे ग्रीष्म के आधार पर कवि पीडा का रूप उपस्थित करता है—

चलति उसास की झकोर घोर चहूँ ओर,
नहीं है समीर जोर मुधा कहैं लोग है।
सोचन को लहरें न ठहरें सकोचन ते,
रविकर होय नहीं स्याम है घुसोग है।[2]

इसी प्रकार सेनापति पौष मास के वर्णन मे व्यथा का उल्लेख ही अधिक करते हैं—

बरसैं तुषार बहै सीतल समीर नीर,
कपमान उर क्यौंहू धीर न धरत है।

१ पावप०, छ० १५
२ हजारा०, हाफि०, गी०, छ० १८।

रातिन तिराति बिथा बीतत न बिरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है।[1]

देव वियोग मे व्यथा के अनुभावो का वर्णन प्रकृति को पृष्ठभूमि मे रखकर करते हैं—

सांसनि ही सो समीरु गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
देव जियै मिलिबे ही की आस कि आसुहु पास अकास रह्यो भरि।
जादिन तै मुखि फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।[2]

इस चित्र मे केवल अनुभावो का रूप सामने आया है। विहारी पावस की घटा के माध्यम से नायिका के हाव-भाव का वर्णन आलकारिक चमत्कार के साथ करते हैं—

छिनकु चलति ठठकति छिनकु, भुज प्रीतम गर डारि।
चढी अटा देखति घटा, बिज्जुछटा-सी नारि॥[3]

इसमे लुप्तोपमा के द्वारा कवि ने प्रकृति का रूप भी समान-चित्र मे व्यजित कर दिया है।

विलास और ऐश्वर्य (ख)—रीति काल के कवियो ने ऋतु-वर्णनो को दो प्रकार से अधिक अपनाया है। पहले तो इन्होने प्रकृति को उत्तापक और उत्तेजक रूप मे उद्दीपन माना है, जिसका उल्लेख किया गया है। और दूसरे ऋतु के अवसर पर विलास तथा ऐश्वर्य सम्बन्धी क्रिया कलापो की योजना की गई है। इससे प्रकृति का कुछ भी सम्बन्ध नही रह जाता। जैसा कहा गया है वैचित्र्य की प्रवृत्ति इन सब रूपो के आधार मे क्रियाशील रही है। इसके कारण देव और सेनापति जैसे कवियो मे भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। देव की नायिका वसत के भय से विहार नही करने जाती—

देव कहै बिनकन्त बसन्त न जाउँ कहूँ घर बैठि रहौं री।
हूक दियै पिक कूक सुनै बिष पुज निकुजनी गुजत भौंरो॥[4]

देव मे फिर भी प्रकृति अपनी प्रभावशीलता के साथ उपस्थित है, परन्तु सेनापति ने विलास और ऐश्वर्य का अधिक वर्णन किया है। इनमे कही ग्रीष्म ऋतु मे गर्मी से बचने के उपायो का वर्णन है—

सेनापति अतर गुलाब अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत हैं।
ग्रीषम के बासर बराइबे कौं सीरे सब,
राज भोग काज साज यौं सम्हारियत है॥

---

१ कवि०, सेना०, ती० तरग, छ० ४८।
२. भाव०, देव० ३।
३. सत०, बि०, दो० ५६६।
४. भाव०, देव ३।

और वही ऐश्वर्यवानों के क्रिया-कलापों का उल्लेख किया जाता है—

काम के प्रथम जाम बिहरें उसीर धाम,
साहिब सहित याम घाम बितवत हैं।
नैंक होत साँझ जाइ बैठत सभा के माँझ,
भूषण बसन फेरि और पहिरत हैं।

वहीं ऐश्वर्य का वर्णन ही कवि करता है—

सुन्दर बिराजैं राज मंदिर सरस तावें,
बीच सुख देनी सैंनी सीरक उसीर की।
उछरैं सलिल जल-जन्त्र ह्वैं बिमल उठैं,
सीतल सुगंध मंद लहर समीर की।[1]

इसी प्रकार अन्य ऋतुओं मे भी विलास आदि का वर्णन चलता है। सेनापति के समान रीतिकालीन बाद के कवियों ने इस प्रकार के वर्णन अधिक किए हैं। पद्माकर तक के अन्य अनेक कवियों ने इन वर्णनों मे अपना कौशल दिखाया है। पद्माकर भी इसी प्रकार वर्णन करते हैं—

अगर की धूप मृगमद को सुगन्ध वर,
बसन विशाल जाल अंग ढाँकियतु हैं।[2]

यहाँ अन्य कवियों के वर्णनों को प्रस्तुत करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रस्तुत विषय से इस रूप का विशेष सम्बन्ध नही है।

**आरोपवाद**—प्रकृति को उद्दीपन विभाव म प्रयुक्त करने का एक माध्यम आरोप कहा गया है। यह आलंकारिक प्रयोग है जिसमें उपमा, रूपक अथवा उत्प्रेक्षाओं आदि का आश्रय लिया जाता है। अन्य रूपों के समान आरोप के क्षेत्र मे भी रीति परम्परा के कवियों की प्रकृति स्थूलता तथा वैचित्र्य की ओर अधिक है। जिन आरोपों म साम्य भाव-गम्य होता है, उनम उद्दीपन रूप सुन्दर है। देव प्रकृति पर नायिका का आरोप करते हैं—

झिलिलनि सो झहनाइ की किंकिनी बोले सुकी सुक सों सुखदैनी।
कोमल कुंज कपोत के पोत लों कूकि उठे पिकलौं पिक बैनी।।[3]

इसमे ध्वनि के आधार पर आरोप किया गया है। अगले चित्र मे रूपात्मक योजना है—

---

१ कवि०, सेना०, ती० तरग, छ० १०, १४, १७ और इस प्रकार २०, ४३, ४४ भी हैं।

२ हनारा हाजिज हेम०, छ० २ इसी प्रकार अन्य कवियों के शिशिर १६, १५, १३, १८, (ग्वाल), ११, १० (ग्वाल), २०१ (दिवाकर) शरद् ११ (नन्दराम), ८ (मञ्जु)।

३ भाव०, देव १४।

नील पट तनु पै घटान सी घुमहि राखौ,
दन्त की चमक सों छटा सी विचरति हैं।
हीरन की किरनै लगाइ राखै जुगुनूसी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों डरति हैं।[1]

कभी कवि पूरी परिस्थिति का रूपक प्रस्तुत करता है। दीनदयाल पावस पर ऐसा ही आरोप करते हैं—

पावस मै नीर दै न छोड़ै घन दामिनी हूं,
कामिनि रसिक मनमोहन को क्यो तजै।
अबला पुरानी पुलकावली को आनी उर,
धाय रजवती सरि सिंध संग को तजै।[2]

इसी प्रकार का आरोप सेनापति शरद् के पक्ष मे वियोगिनि की स्थिति से करते हैं—

परे तें तुसार भयो झार पतझार रहौ,
पीरी सब डार सो बियोगी सरसति है।
बोलत न पिक सोई मौन ह्वै रही है आस,
पास निरजास नैन नीर बरसति है।[3]

इन आरोपो के अतिरिक्त वसंत का ऋतुराज के ऐश्वर्य में रूपक तथा बादलो का मस्त हाथी का रूपक आदि परम्परा गृहीत आरोपो का प्रयोग इन कवियो ने किया है। इन आरोपो मे भी यही उद्दीपन का भाव है। सेनापति ऋतुराज का रूपक इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

बरन बरन तरु फूले उपवन बन
सोई चतुरंग सग दल लहियत है।[4]

इनमे कोई नवीनता प्रकृति के प्रयोग को लेकर नही है। दीनदयाल भी इसी प्रकार कहते हैं—

ललित लता के नव पल्लव पताके सजें,
बजैं कोकिलान कै सु कलगान के निसान।[5]

इन समस्त वर्णनो मे ऐसी रूढ़िवादिता है कि प्रत्येक कवि लगभग समान चित्र उपस्थित करता है। भेद उनके प्रस्तुत करने के उक्ति-वैचित्र्य को लेकर है, इस कारण इस विषय मे केवल प्रवृत्ति का संकेत कर देना पर्याप्त है।

---

१. हजारा; हाफ़िज़; पावस, ६।
२. ग्रंथा०; दीन०; ऋतु-वर्णन; छं० २१२।
३. कवि०; सेना०; ती० तरंग, छं० ५६।
४. वही, वही०; वही०, छं० १।
५. ग्रन्था०; दीन०; ऋतु वर्णन से।

## नवम प्रकरण

# उपमानों की योजना में प्रकृति

उपमान या अप्रस्तुत—प्रथम भाग के अन्तिम प्रकरण में भाषा की व्यजना-शक्ति मे प्रकृति उपमानो के प्रयोग पर सक्षेप मे विचार किया है। यहाँ व्यजना का अर्थ ध्वनि से सम्बन्धित न मानकर व्यापक अर्थ मे लेना उचित है। पिछली विवेचना मे शब्द के ध्वनि-बिम्ब और रूप-बिम्ब आदि पर विचार किया गया है। और साथ ही यह भी सकेत किया गया है कि प्रकृति का समस्त रूपात्मक सौन्दर्य मानवीय भाव-स्थितियो से सम्बन्धित है। यही कारण है कि काव्य के प्रस्तुत विषय को बोध गम्य तथा भाव गम्य कराने के लिए कवि जब अपनी भाषा मे अप्रस्तुत का आश्रय लेता है तो उसे प्रकृति के अपार विस्तार की ओर जाना पडता है। इस अप्रस्तुत की योजना के माध्यम से जब कवि प्रस्तुत का वर्णन करता है तो वह आलकारिक शैली कही जाती है। इस सीमा पर सलक्ष्य-क्रम व्यग्य की चिन्ता किए बिना ही अलकारो को व्यापक व्यजना के अर्थ मे लिया जा सकता है। वस्तुत जब तक अलकारो मे कल्पना की अतिरजना, ऊहात्मक प्रयोग और उक्ति वैचित्र्य को प्रश्रय नही मिलता, वे प्रस्तुत को उसके रूप, क्रिया तथा भाव की विभिन्न स्थितियो के साथ अधिक प्रत्यक्ष और व्यक्त करते हैं। इन्ही प्रकृति के अप्रस्तुत रूपो को यहाँ उपमान के रूप मे स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत वर्ण्य विषय को जिस सयोग तथा साम्य की आदर्श सादृश्य भावना के आधार पर अप्रस्तुत प्रकृति रूपो से व्यजनात्मक बनाया जाता है, उसे 'उपमान' शब्द से अधिक व्यक्त किया जा सकता है।

प्रकृति मे स्थिति (क)—इन अप्रस्तुत उपमानो की स्थिति प्रकृति का व्यापक विस्तार है। प्रथम भाग के चतुर्थ प्रकरण में प्रकृति के सौन्दर्य के विषय को स्पष्ट किया गया है। उसीके आधार पर कहा जा सकता है कि प्रकृति-सौन्दर्य मे मानवीय दृष्टि अपने जीवन के अनुकूल, क्रिया तथा भावो का सयोग स्थापित कर लेती है। इसके लिए कवि अथवा कलाकार को विशेष भावस्थिति की ही आवश्यकता नही है।

साधारण व्यक्ति भी अपने मन की अवचेतन स्थिति मे इन संयोगो को स्थापित कर लेता है। प्रकृति की दृश्यात्मक सीमा मे रूप-रगो की कल्पनाएँ सन्निहित हैं, साथ ही आकार-प्रकार का अनुपात भी विभिन्न प्रकार से फैला हुआ है। उनमे व्यापारो का अनेक परिस्थितियो मे विस्तार है और उसकी चेतना और गति मे मानवीय भावो की समानान्तरता है। इसके अतिरिक्त मानव ने अपने जीवन के सम्पर्क से प्रकृति के विभिन्न छायातपो को अपनी विषम भाव-स्थितियो के सयोग पर उपस्थित किया है। इन समस्त स्थितियो के विकास पर प्रथम भाग मे विचार किया गया है। यही समस्त प्रकृति के अप्रस्तुत-विधान की स्थिति है। प्रकृति के उपमान अपनी इस स्थिति मे अनेक सयोगो मे उपस्थित है जो मानवीय जीवन से सादृश्य रखते है। वस्तुतः इस क्षेत्र मे साम्य का 'सादृश्य' अर्थ लिया जा सकता है।

काव्य मे योजना (ख)—प्रकृति के सम्बन्ध मे कवि की विशेष दृष्टि का उल्लेख भी किया गया है। इसी शक्ति से कवि प्रकृति-सौन्दर्य की वस्तु-स्थितियो, क्रिया-स्थितियो तथा भाव-स्थितियो से परिचित है और अपने काव्य मे इनको सयोग-सादृश्य के आधार पर प्रयुक्त भी करता है। जब प्रकृति अप्रस्तुत है, उस समय प्रस्तुत वर्ण्य मानव की परिस्थिति तथा भावस्थिति होगी। कवि अपनी कल्पना से इन सादृश्य-रूप प्रकृति उपमानो की योजना करता है। लकिन इस अभिव्यक्ति के व्यापार मे कवि की कल्पना प्रधान है, इसलिए उपमानो का यह प्रदर्शन एक योजना के रूप मे आता है। इस काल्पनिक अथवा कलात्मक योजना का अर्थ है प्रकृति-उपमानो को व्यजक और प्रभावशील स्थिति मे प्रस्तुत करना। परन्तु कवि उन उपमानो की योजना मे आगे बढता है, स्वत सम्भावी आधार का अतिक्रमण कर अपनी प्रौढोक्ति का आश्रय लेता है। परन्तु इस सीमा पर भी आलकारिक प्रयोगो मे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि मे उपमानो की योजना सुन्दर और भाव-व्यजक हो सकती है। लेकिन जब कवि का वर्ण्य विषय वैचित्र्य ही होगा, उसके लिए अलकार ही प्रधान हो उठेगा तो उपमानों मे कवि कल्पना का सादृश्य धर्म उपस्थित नही हो सकेगा। वस्तुत. प्रकृति उपमानो की योजना का आदर्श सादृश्य है, इसी सीमा तक कवि को अपनी अभिव्यक्ति मे प्रकृति का साम्य और सयोग सौन्दर्य प्रदान करता है। जब कवि इन उपमानो को प्रकृति के वास्तविक सौन्दर्य से अलग करके अपनी विभिन्न कल्पना मे, कार्य कारण शृखला हेतुओं और सम्बन्धो की योजना म प्रस्तुत करता है, उस समय उपमानो की सादृश्य-भावना कुठित हो जाती है। ऐसे प्रयोगो मे उपमान का वाचक शब्द केवल वस्तु का सकेत करता है, किसी प्रकार का बिम्ब नही ग्रहण करता। प्रकृति से अलग किए उपमान अपनी किसी भी योजना मे काव्य के उत्कर्ष का कारण नही हो सकते।

उपमान और रूपात्मक रूढ़िवाद—प्रकृति से ग्रहीत उपमानो के मूल मे निश्चय

ही सादृश्य की भावना रही है। इन उपमानों का इतिहास मानव और प्रकृति के सम्बन्धों का इतिहास है। परन्तु जिस प्रकार काव्य में अन्य परम्पराएँ प्रमुख कवि के अनुसरण करने वाले कवियों में चलती रहती हैं, यही स्थिति इनके विषय में भी है। इस परम्परा के प्रवाह में प्रकृति के उपमान अपनी प्रस्तुत स्थिति के आधार से हटकर केवल अप्रस्तुत होते गये हैं। इस रूढ़िवाद में उपमानों की सादृश्य-भावना भी कम होती गई, क्योंकि उपमानों का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध न रहकर रूढ़ि और परम्परा से हो गया। इसके साथ ही अलकारों के वैचित्र्य-कल्पना सम्बन्धी विकास में ये उपमान अपने मूल स्थान से और भी दूर पड़ते गए। परिणामस्वरूप उपमानों की योजना रूपात्मक और भावात्मक सौन्दर्य उपस्थित करने के स्थान पर एक रूपात्मक रूढ़ि (formal) का प्रयोग रह गई जिससे अधिक प्रशों में ऊहा और वैचित्र्य की प्रवृत्ति को तोष मिलता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बाद के सभी कवि इन उपमानों का प्रयोग इसी परम्परा के अनुसार करते हैं। प्रकृति में स्थित सौन्दर्य रूपों का प्रसार तो सदा ही रहता है और कवि इन रूपों तथा स्थितियों के आधार पर नवीन कल्पनाएँ कर सकता है और करता भी है। परन्तु नवीन उपमानों की कल्पना की प्रवृत्ति प्राय प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में भी कम रही है, इसका भारतीय साहित्य में एक कारण रहा है। उपमानों की योजना के लिए तीन प्रमुख बातों की आवश्यकता है: कवि की अपनी प्रकृति सम्बन्धी कल्पना, युग विशेष की प्रकृति के सम्बन्ध की सीमा और पाठक की प्रकृति से सम्बन्धित मन स्थिति। इन तीनों का उपमानों के प्रयोग के विषय में महत्त्व है। वस्तुत इसी आधार पर भारतीय आदर्श ने प्रसिद्ध उपमानों को ही स्वीकृत किया है। और यही कारण है संस्कृत के विशाल साहित्य में उपमानों की सख्या सीमित की गई है, परन्तु प्रसिद्ध उपमानों की योजना करने के लिए कवि स्वतन्त्र रहे हैं। प्रतिभा-सम्पन्न कवि अपनी स्वानुभूति के आधार पर इनका सुन्दर प्रयोग करता है, परन्तु अन्य कवि इन्हींके माध्यम से वैचित्र्य कल्पनाएँ प्रस्तुत करते हैं।

मध्ययुग की स्थिति—इसी भाग के द्वितीय प्रकरण में कहा गया है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के काव्य म स्वच्छदवादी प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है और साथ ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियों न इसके विकास का मार्ग अवरुद्ध किया है। इसी आधार पर हम इस युग के काव्य में प्रयुक्त उपमान योजना पर विचार कर सकते हैं। जिस सीमा तक इस काव्य में उन्मुक्त वातावरण है, उस सीमा तक उपमानों की योजना के विषय म भी कवियों की प्रवृत्ति स्वतत्र है और इस स्वतन्त्रता का उपयोग कवियों न दो प्रकार से किया है। जो कवि पूर्ण रूप से उन्मुक्त हैं, उनमें प्रकृति उपमानों की नई उद्भावना भी मिलती है, यद्यपि पूर्ण रूप से साहित्यिक प्रभाव से मुक्त काव्य हमारे सामने नहीं है। इस परम्परा में लोक कथा-गीतियों, प्रेम कथा-काव्यों तथा सत-काव्य को हम ले सकते

हैं। पिछली विवेचनाओं में कहा गया है कि इनमें भी किसी न किसी प्रकार की रूढियों का अनुसरण अवश्य है, इस कारण इनमें साहित्यिक तथा साधनात्मक रूढियों से सम्बन्धित उपमानों की योजना भी अधिक मिलती है। परन्तु इसके मध्य में स्वतन्त्र उपमानों की योजनाओं को स्थान मिल सका है और परम्परागत उपमानों का प्रयोग नवीन उद्भावना के साथ किया गया है। इन काव्यों में लोक कथा-गीति 'ढोला मारूरा दूहा' का वातावरण सबसे अधिक मुक्त है। दूसरी प्रकार की स्वतन्त्रता प्रचलित उपमानों की योजना को स्वानुभूति के आधार पर करने की है। इसका प्रयोग ऊपर की परम्पराओं में तो मिलता ही है, (वैष्णव) भक्त कवियों में भी पाया जाता है। इन वैष्णव कवियों पर साहित्यिक आदर्श का अधिक प्रभाव है पर इनमें सूर तथा तुलसी जैसे प्रतिभावान् कवियों ने अपनी स्वानुभूति से उपमानों को प्रस्तुत किया है। लेकिन इनके काव्य में साहित्यिक परम्पराओं का रूप बहुत अधिक है। इस कारण समस्त काव्य में एक विरोधात्मक विचित्रता पाई जाती है। एक कवि के काव्य में ही कहीं सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग हैं, तो कहीं केवल रूढि-पालन। परन्तु इनकी परिस्थिति को समझ लेने से यह प्रश्न सरल हो जाता है। इन परम्पराओं के अतिरिक्त उपमानों के प्रयोग के विषय में एक तीसरी परम्परा रीति सम्बन्धी है। इस परम्परा में रूढि का रूप अधिक प्रमुख है, साथ ही इसमें प्रकृति उपमानों को त्यागने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई है। संस्कृत काव्य के उपमानों सम्बन्धी रूढिवाद को प्रमुखतः केशव और पृथ्वीराज ने अपनाया है। अन्य रीति काव्य के कवियों में एक परम्परा रसवादियों की है जिसने अधिकतर मानवीय भावों, अनुभावों और हावों में अपने को उलझाए रखा है। इनके लिए प्रकृति के उपमानों का प्रयोग अधिक महत्त्व नहीं रखता है, कारण यह है कि इन भावों के विषय में इनकी प्रवृत्ति स्वाभाविकता से अधिक चमत्कार की रही है। भावों की व्यंजना के स्थान पर इन कवियों में अनुभावों तथा हावों का अधिक आकर्षण है, इसलिए भाव-व्यंजना के लिए प्रकृति का प्रयोग यत्र-तत्र ही हुआ है। दूसरी परम्परा अलंकारवादियों की है और इनमें जैसा कहा गया है प्रमुख प्रवृत्ति उक्ति-वैचित्र्य की है। इसके कारण प्रकृति उपमानों का प्रयोग इन कवियों में अपनी सादृश्य-भावना से दूर पड़ गया है।

**विवेचन की सीमा**—वस्तुतः अप्रस्तुत के रूप में उपमानों का विषय अलंकार का है। मध्य युग के काव्य के व्यापक विस्तार में इस विषय के विवेचन का अपने आप में पूर्ण क्षेत्र है। संस्कृत काव्य के प्रयोगों से तुलनात्मक अध्ययन तथा आलंकारिक प्रवृत्ति के विकास में इसका रूप निर्धारित करने के लिए अधिक खोज की आवश्यकता है। प्रस्तुत कार्य की सीमाओं में इस प्रकार की विवेचना के लिए न तो स्थान है और न वह आवश्यक ही है। इस कारण यहाँ उपमानों के विचार से विभाजित काव्यों के

प्रकृति उपमानो की योजना का रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रस्तुतीकरण मे इस बात का ध्यान रखा गया है कि काव्यगत उपमानो की विशेष प्रवृत्तियो का रूप स्पष्ट हो सके। साथ ही इस विवेचना के आधार पर उपमानो के प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न काव्य-परम्पराओ का भेद भी स्पष्ट हो सकेगा।

## स्वच्छन्द उद्भावना

**सामान्य प्रवृत्ति**—जिन काव्यो मे उपमानो के प्रयोग की दृष्टि से उन्मुक्त वातावरण मिला है, उनमे लोक कथा-गीति, प्रेम कथा-काव्य और सतो का काव्य आता है। लोक कथा-गीति 'ढोला मारू' मे वातावरण साहित्यिक आदर्शों से अधिक स्वतन्त्र है इस कारण इसमे उपमानो के अधिक नवीन प्रयोग हुए हैं। प्रेम कथा-काव्यों मे यहाँ जायसी के 'पद्मावत' को ही ले रहे हैं। जायसी इस परम्परा के प्रमुख कवि हैं, इस कारण इनके माध्यम से इसकी प्रवृत्ति का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। जायसी का कथानक स्वच्छन्द रहा है, परन्तु उन्होंने अनेक साहित्यिक आदर्शों तथा रूढियो को स्वीकार किया है। प्रकृति के उपमानो की योजना के विषय मे यह सत्य है। जायसी ने यदि उपमानो की उद्भावना मौलिक स्वच्छन्द प्रवृत्ति से की है तो उनके प्रयोगो का बडा भाग परम्परा से ग्रहीत है। इन प्रसिद्ध उपमानों की योजना में कवि ने अधिक सीमा तक अपने अनुभव से काम लिया है। लेकिन 'पद्मावत' मे अनेक रूढिवादी प्रयोग हैं। सतो ने प्रेम तथा सत्यो का उल्लेख करने के लिए प्रकृति से उदाहरण तथा रूपक प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगो में अनुभव के साथ कुछ स्थलो पर मौलिकता जान पडती है।

इन काव्यो के उपमानो की विशेष प्रवृत्ति भावात्मक व्यजनो और सत्यो के दृष्टान्तो को प्रस्तुत करने की है। इनमे रूपात्मक चित्रमयता को स्थान नही मिल सका। सतो के विषय मे रूप का कोई प्रसग नही उठ सकता। प्रेमी कवियो की सौन्दर्य कल्पना म इसी बात की ओर सकेत किया गया है। इनमे रूपात्मक उपमानो का प्रयोग अधिकतर परम्परा ग्रहीत है और उनके माध्यम से भावात्मक व्यजनाएँ प्रस्तुत की गई है। 'ढोला मारूरा दूहा' के उपमानो के विषय में भी यही बात लागू है। इसमे उपमानो का प्रयोग रूपात्मक वस्तु स्थिति के लिए नही हुआ है। इस व्यापक प्रवृत्ति का एक कारण है। इन काव्यो के उन्मुक्त वातावरण मे भावात्मक अभिव्यक्ति के अवसर अधिक हैं। लोक-गीति की अभिव्यक्ति मे, कहा गया है, वस्तु तथा स्थितियो का आधार सूक्ष्म रहता है। इसलिए इनमे किसी वस्तु स्थिति को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता कम पडती है। इनमे नायक तथा नायिका एक दूसरे के सामने इतने व्यस्त रहते हैं कि उनके रूप की स्थापना करने की आवश्यकता लोक गीतिकार को नहीं होती। सतो का

आराध्य अव्यक्त है, उनका सम्बन्ध भावात्मक है, उनके लिए वस्तु स्थिति की सीमाएं अमान्य हैं, फिर उनको भी उपमानो की रूपात्मक योजना की आवश्यकता नही हुई। प्रेम कथाकार की रूप-कल्पना के विषय मे आध्यात्मिक साधना के प्रसग मे विस्तार से कहा गया है और वस्तु-स्थिति उत्पन्न करने के स्थलो पर भावात्मक व्यजना प्रस्तुत करने की उनकी प्रवृत्ति आध्यात्मिकता के साथ ही लोक-भावना के अनुरूप है। इन्ही कारणो से इन काव्यो के उपमानो की स्वच्छद उद्भावना मे भावात्मक व्यजना ही अधिक हुई है।

ढोला मारूरा दूहा—इस कथा गीति मे, जैसा कहा गया है, रूपात्मक प्रकृति उपमानो का अभाव है। यदि एक दो स्थानो पर इस प्रकार के प्रयोग किए गए हैं तो वे भी भावात्मक व्यजना से सम्बन्धित हैं। वियोगिनी की वेणी को यदि नागिन कहा गया है तो प्रिय को स्वाति जल मानकर भावात्मक सम्बन्ध की कल्पना कर ली गई है।[1] प्रेयसी के लिए मुरझाई कमलिनी और कुमुदिनी के रूपक देकर कवि रूप से अधिक भाव को व्यक्त करता है और सूर्य-चन्द्र से उनका सम्बन्ध स्थापित करने मे यही भाव है। एक स्थल पर नायिका की गरदन की उपमा कुँझ के बच्चे की लम्बी गरदन से दी गई है, परन्तु इसमें प्रतीक्षा का कारण सन्निहित किया गया है।[2] रूप-वर्णन के प्रसग मे परम्परागत उपमानो का उल्लेख मात्र कर दिया गया है, उसमे किसी प्रकार की चित्रात्मक योजना नही है।[3] स्वतन्त्र प्रकृति के कारण इस काव्य मे उपमानो की योजना सरल अलकारो तक सीमित है। रूपक तथा उपमा का प्रयोग अधिक हुआ है, एक दो स्थलो पर उत्प्रेक्षा का प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रेम आदि को व्यक्त करने के लिये प्रकृति से दृष्टान्त चुने गये हैं जो कभी-कभी प्रतिवस्तूपमा तथा अर्थान्तरन्यास मे प्रस्तुत हुए हैं।

मौलिक उपमानो की कल्पना (क)—यहाँ मौलिक से यह अर्थ नही लिया जा सकता है कि ऐसी कल्पना अन्यत्र नही मिलती है, क्योकि जब तक समस्त काव्य सामने उपस्थित न हो ऐसा नही कहा जा सकता। इसका अर्थ यह है कि साहित्यिक परम्परा मे उनका प्रयोग प्रचलित नही रहा है, साथ ही वे लोक-गीति के वातावरण

---

१. ढोला०, दो० १२५।

२ वही दो० १२६, १३०, २०४।

३. इन उपमानो की सूची इस प्रकार है—अधर, मूगा कटि, सिंह, वरं गति, हाथी, हस : जघा, कदली दत, हीरा, दाडिम नासिका कीर नख, खञ्जन, कबूतर के समान लालिमा (डोरे) : भृकुटि, भ्रमर, वक्र चन्द्र मस्तक, चन्द्रमा मुख, चन्द्र, सूर्य (कान्ति) रग, कुकुम, कुझ के बच्चे का वाणी, वाणी ध्वनि, कोकिल, टाचा (मधुर बोल) हस्त, कमल, पूर्ण आकार; विलुब्ध सिंह, सरोवर में हस, और कुम्हलाने का (भाव), केले का गूदा (कोमलता)।

के उपयुक्त हैं। इनमे से कुछ का प्रयोग भावों के शारीरिक अनुभावो तथा अन्य आधारो को व्यक्त करने के लिये हुआ है। इस चित्र मे मौर और कलियो से यौवन के विकास का रूप दिया गया है—

ढाढी, एक सँदेसडउ ढोलइ लगि लइ जाइ।
जोवन-चाँपउ मउरियउ कली न चुट्टइ आइ॥[1]

दूसरे स्थान पर कुँझों के शब्द से विरहिणी के नयनो मे आँसुओ का सरोवर लहरा जाता है। इसमे सरोवर के माध्यम से उमडते अश्रुओ के साथ उच्छ्वसित हृदय का भाव भी है।[2] परन्तु इस काव्य मे भावो को व्यक्त करने के लिये प्रकृति के अप्रस्तुत रूपो का अधिक प्रयोग हुआ है। राजस्थानी गायक ने कुरर पक्षी का विशेष नाम लिया है, उसके माध्यम से वह प्रेम और स्मरण को व्यंजित करता है—'कुँझ चुगती है और फिर अपने बच्चो की याद करती है, चुग चुग कर फिर याद करती है। इस प्रकार कुँझ अपने बच्चो को छोडकर दूर रहते हुये उनको पालती है।' अगले चित्र में लुप्तोपमा से भाव व्यजना की गई है—

ढोला वलाव्यउ हे सखी भी ी ऊडइ खेह।
हियडउ बादल छाइयउ नयण टबूकह मेह॥

इसमें वेदना का बादल है और अश्रु मेह हैं। एक स्थान पर प्रकृति सम्बन्धी क्रियाओ का आरोप भाव के साथ हुआ है—'जो मनोरथ सूखे थे वे पल्लवित होकर फल गये।'[3] इसी प्रकार दृष्टान्त आदि के माध्यम मे प्रकृति भाव स्थितियो का सकेत देती है—'फूलों मे फलो के लगन पर और मेहो के पृथ्वी पर पडन पर प्रतीति होती है, उसी प्रकार हे परदेसी, तुम्हारे मिलन पर ही मैं पतियाऊँगी।' इसम मिलन-प्रतीति के द्वारा विकलता की व्यजना है। इसी प्रकार प्रेम निर्वाह का दृष्टान्त है—'जिस प्रकार मेढक और सरोवर, एव पृथ्वी तथा मेघ स्नह निभाते हैं, उसी प्रकार हे प्यारे, चपकवर्णी प्रेयसी के साथ स्नेह निभाइए।'[4]

परम्परा की सुन्दर उद्भावना (ख)—'ढोला मारूरा दूहा' म परम्परा के प्रसिद्ध उपमानो का प्रयोग भी स्वच्छन्द भावना के साथ किया गया है, इसी कारण ...नम रूढि के स्थान पर स्वाभाविकता अधिक है। कवि प्रसिद्धि के अनुसार चातक

---

१ दो० १२० [हे ढा..., ... सदेसा ... ... —यौवन रूपी चंपा मौर-युक्त हो गया है। तुम आकर कलिया क्यों नही चुनते।]

२ वही दो० ५४ और १२५ में इसी प्रकार विरहिणी की कनेर की दशा के समान सूखा हुआ बताया गया है।

३ वही दो० २०२, ३६०, ५३३।

४ वही दो० १७२, १६८।

का प्रेम प्रख्यात है, पर कवि उत्प्रेक्षा देता है कि 'मारवणी ही मर कर चातक हो गई है और 'पिउ-पिउ' पुकारती है।' एक स्थान पर मछली के अप्रस्तुत-विधान से कवि भाव-व्यंजना करता है—'ढाढियो ने रात्रि भर गाया और सुजान साल्ह कुमार ने सुना—छिछले पानी मे तड़पती हुई मछली की तरह तड़पते हुए उसने प्रभात किया।' एक स्थल पर एकान्त प्रेम को प्रस्तुत किया गया है—'कुमुदिनी पानी मे रहती है और चन्द्रमा आकाश मे, परन्तु फिर भी जो जिसके मन मे बसता है वह उसके पास रहता है।'[1]

भाव-व्यंजक उपमान—प्रेम कथा-काव्य मे जैसा कहा गया है उपमानो के स्वतन्त्र तथा रूढिवादी दोनो रूप मिलते हैं। रूप-वर्णन के विषय मे प्रयुक्त उपमानो की योजना पर विचार आध्यात्मिक प्रसग मे किया गया है और उनकी प्रभावशीलता का भी उल्लेख हुआ है। उन काव्यो मे भाव-व्यंजना के लिये उत्प्रेक्षाओ, उपमाओ तथा रूपको का अधिक प्रयोग हुआ है, या सत्य कथन के लिए दृष्टान्त, अर्थातरन्यास आदि के रूप मे। पहले प्रयोग मे प्रकृति रूपो और स्थितियो मे सन्निहित मानवीय भावो के समानान्तर भाव-व्यंजना का आश्रय लिया गया है और दूसरे मे कार्य-कारण तथा परिणाम आदि का आधार है। जायसी प्रेम-समुद्र का रूपक प्रस्तुत करते हैं—

परा सो प्रेम-समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा।
बिरह-भौंर होइ भाँवरि देइ। खिन खिन जीउ हिलोरा लेइ।[2]

इसमे समुद्र, लहर, भँवर आदि की अप्रस्तुत-योजना मे भावाभिव्यक्ति हुई है, इनमे रूपात्मक सादृश्य का कोई आधार नही है। अन्यत्र एक योजना व्यापक होने के कारण आध्यात्मिक प्रेम को प्रस्तुत करती है, परन्तु नेत्रो का कौडिल्ला नामक पक्षी का रूपक मौलिक तथा स्वाभाविक है—

सरग सीस घर धरती, हिया सो प्रेम-समुन्द।
नैन कौडिया होइ रहें, लेइ लेइ उठहिं सो बुन्द॥[3]

इसमे भावो को व्यंजना के लिये व्यंग्यार्थ का आश्रय लेना पडता है। नेत्र जो प्रेम के आलम्बन से सौन्दर्य का रूप ग्रहण करते हैं, यहाँ वे उसे हृदय के प्रेम मे पाते है। नागमती-वियोग प्रसग मे वियोग और प्रेम को व्यक्त करने के लिए कवि ने सहज जीवन से सम्बन्धित उपमानो को लिया है—

---

१. वही, दो० ३७, १६२, २०१।

२ ग्रन्थ, जायसी; पद० ११ प्रेम-खड, दो० १।

३. वही; वही, वही १२ राजा-गजपति-संवाद खड, दो० ४, इसी प्रकार 'घिरनी परेवा' का प्रयोग ३० नागमती-वियोग-खड, दो० १३ में है।

सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिउ टेका। दीठि-दवगरा मेरवहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहूँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ।'[1]

इस रूपकात्मक योजना मे सरोवर का घटना, उसका 'बिहराना', दँवगरा (प्रथम वर्षा) तथा पलहाना (नवांकुरित होना) आदि प्रकृति की क्रिया से सम्बन्धित उपमान है। इन स्वतन्त्र उपमानो की योजना से कवि ने प्रेम, विरह, व्यथा तथा मिलनाकांक्षा की व्यंजना एक साथ की है। एक स्थल पर जायसी यौवन के आन्दोलन को समुद्र के माध्यम से व्यक्त करते है—

तोर जोवन जस समुद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूडे मोरा।

इसमे विभावना के द्वारा अत्यन्त आकर्षण की बात कही गई है। अन्य अनेक उत्प्रेक्षाओ का उल्लेख रूप वर्णन के अन्तर्गत हुआ है जिनसे अनन्त सौन्दर्य तथा प्रेम आदि व्यक्त किया गया है। यहां तो केवल इस बात को दिखाने का प्रयास किया गया है कि जायसी ने उपमानो की स्वतन्त्र उद्भावना की है और इनमे उपमानो के क्षेत्र में उन्मुक्त वातावरण मिलता है।

दृष्टान्त आदि (क)—जायसी ने प्रेम तथा अन्य सत्यो के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगो मे रूप अथवा भाव का आधार तो नही रहता परन्तु प्रकृति की विभिन्न स्थितियो के सम्बन्ध की कल्पना होती है। इस कारण इनको भी उपमानो के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। इस क्षेत्र मे जायसी मे स्वतन्त्र प्रवृत्ति मिलती है, यद्यपि परम्परा और साधना का प्रभाव इन कवियो पर पूर्णत. है। जायसी परम्परा-प्रसिद्ध मीन और जल के प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।
जौं पिरीत पै दुवौ महँ, अत होहिं एक पास।।[2]

एकान्त प्रेम को कमल और सरोवर के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

सुभर सरोवर हंस चल, घटतहि गए बिछोह।
कँवल न प्रीतम परिहरै, सूखि पंक बरु होय।।[3]

इस प्रकार अन्य रूपो का उल्लेख साधना के प्रसग मे किया गया है। जायसी तथा इस परम्परा के अन्य अनेक कवियो ने रूढ़िवादी रूपो का प्रयोग अधिक किया है, वरन् इन पर फारसी ऊहात्मक वैचित्र्य कल्पनाओ का प्रभाव रहा है। इसका प्रभाव इन कवियो

१. वही, वही, वही, ३० नागमती वियोग-खंड, दो० १४।
२. वही, वही, वही, १६ पदमावती-सुआ भेंट खंड, दो० ८।
३ वही, वही, वही, ३५ चितौर-आगमन-खंड, दो० १०।

पर इनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण अधिक नही पड सका, परन्तु रीति कालीन कवियो ने इसे अधिक ग्रहण किया है।

**सतों के प्रेम तथा सत्य सम्बन्धी उपमान**—सत साधको पर किसी प्रकार का साहित्यिक प्रभाव नही था, और न इन्होने अपनी अभिव्यक्ति मे किसी सीमा का प्रतिबन्ध स्वीकार किया है। फिर भी प्रचलित अनेक उपमानो को रूपको दृष्टान्तो और उपमाओ मे इन्होने ग्रहण किया है। इन सब का प्रयोग इन्होने किसी परम्परा की रूढि के रूप मे न करके स्वतन्त्र किया है। साधना सम्बन्धी विवेचना मे इनका सकेत किया गया है। साथ ही इन सभी सतो ने लगभग एक प्रकार के उपमानो को लिया है। इस कारण यहाँ गिना देना ही पर्याप्त है। सतो ने प्रेम के लिए बादल, बेल, कुभ पक्षी, पपीहा, मीन, सरिता, कमल, भ्रमर, सूर्य, चन्द्र, कुमुदिनी, कस्तूरी मृग, सागर, चातक, लहर, हस आदि के विभिन्न प्रयोग किए हैं। सत्यो को प्रस्तुत करने के लिए कोयल, तारा-सूर्य, तरुवर-छाया, खजूर, हाथी, कौआ, बगुला-छीलर, पतग आदि का उपयोग किया गया है। यह कोई विभाजन की रेखा नही है, केवल प्रमुख रूप से प्रयोग की बात है।

## कलात्मक योजना

वैष्णव भक्त कवियो की उपमान योजना सम्बन्धी प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। इन कवियो मे कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति सौन्दर्य स्थितियो का निरीक्षण भी था। इन्होने प्रकृति उपमानो की अनेक नवीन योजनाएँ प्रस्तुत की हैं, इससे इनकी कलात्मक प्रवृत्ति का पता चलता है। इन कवियो मे प्रमुख विद्यापति, सूरदास तथा तुलसीदास माने जा सकते हैं, क्योकि बाद के कवियो मे विशेष प्रतिभा नही है। साहित्यिक आदर्श इनके सामने हैं परन्तु इन्होने उपमानो की योजना अपनी प्रतिभा तथा अनुभूति के माध्यम से प्रस्तुत की है। परम्परा तथा रूढि का रूप भी इनमे अधिक है, परन्तु इनकी प्रमुख प्रवृत्ति आदर्श कलात्मक योजना कही जा सकती है। रूप-वर्णन के सम्बन्ध मे इन कवियो की उपमान योजनाओ पर विचार किया गया था। उसमे उत्प्रेक्षा के माध्यम से वस्तु रूप तथा क्रीडात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर विचार हुआ है। यहाँ इन तीनों कवियो के कुछ उदाहरण अन्य स्थलो से प्रस्तुत करना उचित होगा।

विद्यापति (क)—विद्यापति के सौन्दर्य तथा यौवन चित्रण के विषय मे उपमानो का सकेत किया गया है। एक सौन्दर्य स्थिति कवि इस प्रकार व्यक्त करता है—'हथेली पर रखा हुआ मुख ऐसा लगता है जैसे अपने किशलय मे कमल मिला हुआ है।' यह रूपात्मक स्थिति सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। स्फुरित यौवन सौन्दर्य को कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है—'अक मे सोती हुई राधा का जब कृष्ण आलिगन करते हैं, तो लगता है मानो नवीन कमल पवन से आकुल होकर भ्रमर के पास हो।' इस

उत्प्रेक्षा मे भी एक स्थिति का क्रीडात्मक चित्र प्रस्तुत है। व्यापार-स्थिति का इसी प्रकार दूसरा चित्र है—'नायिका नायक के पास नही-नही करती काँप उठती है, जिस प्रकार जल मे भ्रमर के झकझोरने से कमल हिल जाता है।' कवि सौन्दर्यमय 'शरीर की झलक को बिजली तरग का रूप देता है।'[1] कवि भावात्मक व्यजना के लिए भी उपमानो का आश्रय लेता है।—'उसके शरीर को देख कर मन कमल-पत्र हो गया', इसमे रूप-सौन्दर्य मे भावात्मक व्यजना की गई है। कप अनुभाव को प्रस्तुत करने के लिए कवि कहता है—'रस प्रसग मे वह काँप काँप उठती है, मानो वाण से हरिणी काँप उठी हो।' प्रकृति उपमानो की सौन्दर्य योजना से प्रेम व्यजना करना इस प्रकार के काव्य का चरम है। हम देख चुके हैं कि इस क्षेत्र मे प्रेम कथा-काव्य का नाम लिया जाता है; वैसे मध्ययुग की यह प्रवृत्ति नही है। विद्यापति भी एक स्थल पर कहते हैं. —'मन मे कितने कितने मनोरथ उठते हैं, मानो सिंधु मे हिलोर उठती हो।'[2] विद्यापति दृष्टान्त स्वाभाविक ही देते है—'जिस प्रकार तेल का विन्दु पानी पर फैलता जाता है, उसी प्रकार तुम्हारा प्रेम है।' आगे फिर प्रेम विकास की बात कही गई है। 'यह प्रेम-तरु बढ गया है इसका कारण कुछ भी नही है; शाखा पल्लव आदि होने पर कुसम होते हैं और उसकी सुगन्ध दशो दिशाओ मे फैल जाती है।'[3]

सूरदास (ख)—सूर की सौन्दर्योपासना मे अनेक प्रकृति-उपमानों के प्रयोगो के विषय मे विचार किया गया है। इस कारण विस्तार में जाना व्यर्थ है। इनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। एक स्थिति को कवि इस प्रकार प्रत्यक्ष करता है—

रथते उतरि चक्रधरि कर प्रभु सुभट हि सम्मुख धाए।
ज्यों कदर से निकसि सिंह झुकि गज यूथनि पर धाए॥

दूसरी स्थिति की उद्भावना भी कवि इस प्रकार करता है—'धनुष के टूटने से राजा इस प्रकार छिप गए जैसे प्रात तारागण विलीन हो जाते हैं।' सूर मन की अभिलाषा को तरग के समान कहते हैं।[4] एक स्थल पर सूर सुन्दर भाव-व्यजना प्रस्तुत करते हैं—

जीवन जन्म अल्प सपनों सो,
समुझि देखि मन माहीं।
बादर छाँह धूम धौरहरा,
जैसे थिर न रहाहीं॥[5]

---

१. पदा०, विद्या०, पद ६६२, २०६, १४८, ५५।
२. वही, वही पद ६१, १६५. २५७।
३. नवम, वही : पद ७०४, ४३१।
४. सूरसागर: नवम, पद ६१, पद १५४, नवम, पद २१, प्रथम, प० २६।
५. वही, प्रथम, पद १९९।

सूर प्रकृति के माध्यम से सत्यों का कथन भी अच्छे ढंग से करते है—'समय पाकर वृक्ष फलता-फूलता है, सरोवर भर जाता है और उमड़ता हैं, और फिर सूख जाता है, उसमें धूल उड़ने लगती है। द्वितीया का चन्द्रमा इसी प्रकार बढ़ता-बढ़ता पूर्ण हो जाता है और घटता-घटता अमावस्या हो जाता है। इस कारण ससार की सपदा तथा विपदा दोनों में किसी को विश्वास नहीं करना चाहिए।'[1] सूर ने प्रेम के दृष्टान्त में प्रकृति के प्रचलित रूपों को प्रस्तुत किया है—

भौंरा भोगी वन भ्रमै मोद न मानै ताप।
सब कुसमनि मिलि रस करै कमल बँधावै आप॥
सुनि परमित पिय प्रेम की चातक चितवन पारि।
घन आशा दुख सहै अन्त न याचै वारि॥
देखो करनी कमल की कीनो जल से हेत।
आशा तजो प्रेम न तजो सुख्यो सरहि समेत॥
मीन वियोग न सहि सकै नीर न पूछै बात।
सुभर सनेह कुरंग को श्रवनन राच्यो राग॥
धरि न सकत पग पछमनो सर सनमुख उर लाग॥[2]

इनमें भ्रमर कमल चातक-स्वाति, सरोवर-कमल, मीन जल तथा कुरंग राग को प्रेम के उदाहरण में प्रस्तुत किया गया है। ये अप्रस्तुत प्रसिद्ध है पर सूर ने इनको मानवीय जीवन के आरोप के साथ अधिक व्यंजक बना दिया है।

तुलसीदास (ख)—रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी उपमानों की विवेचना साधना के अन्तर्गत हुई है। सूर के समान उत्प्रेक्षाओं का आश्रय तुलसी ने भी लिया था। प्रौढोक्ति का प्रयोग तुलसी ने अधिक किया है। साथ ही उपमानों की योजना में तुलसी और सूर में एक भेद है। सूर ने गम्योत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिक किया है और तुलसी ने वस्तु तथा फल सम्बन्धी उत्प्रेक्षाएँ अधिक की हैं। वैसे दोनों में सभी प्रयोग मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की उपमान योजना को हम कलात्मक स्वीकार कर सकते हैं। उन्होंने उपमानों को परम्परा से ग्रहण करके भी अपने अनुभव के आधार पर प्रयुक्त किया है। यह प्रवृत्ति की बात है। साग रूपक बाँधने में तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं, प्रकृति से सम्बन्धित रूपकों में राम-कथा और मानस, राम-भक्ति तथा सुर सरिता के रूपक विस्तृत हैं। इसी प्रकार आश्रम तथा शांत-रस के सागर का रूपक चित्रकूट के प्रसङ्ग में है—

---

१. वही, प्र०, पद १४५।
२ वही, प्र०, पद २०५।

आश्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु ।
सेन मनहुँ करुना सरित लिए जाहि रघुनाथ ।।[1]

इसके आगे भी रूपक चलता है, यहाँ रूपक उत्प्रेक्षा से पुष्ट है। इन रूपकों का निर्वाह सुन्दर है लेकिन भाव, रूप तथा सम्बन्ध आदि का एक साथ प्रयोग किया गया है। तुलसी परिस्थिति के अनुरूप कल्पना सुन्दर करते हैं—

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ।।[2]

इस उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त एक और भी परिस्थिति के अनुरूप है—

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग ।
बिकसे संत सरोज जनु हरषे लोचन भृंग ।।[3]

वस्तु स्थितियों के समान परिस्थितिगत भाव-स्थितियों को उपमान-योजना से तुलसी सफलतापूर्वक व्यक्त करते है। आह्लाद का भाव विभिन्न व्यक्तियों में दिखाने के लिए तुलसी इस प्रकार कहते हैं—

सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती । जनु चातकी पाइ जल-स्वाती ।
रामहि लखन बिलोकत कैसे । ससिहि चकोर किसोरकु जैसे ।[4]

भावों को भी अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, तुलसी प्रौढोक्ति सम्भव उत्प्रेक्षा से इसी प्रकार नेत्रों की व्यग्रता को प्रकट करते हैं—

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल ।[5]

कवि चकित होने के भाव को 'जनु सिसु मृगी सभीता' से व्यक्त करता है, व्यग्रता का 'बिलोक मृग सावक नैनी' से प्रकट करता है।[6] कहा गया है प्रकृति-रूपों के दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा अर्थान्तरन्यास आदि के सम्बन्धात्मक प्रयोग से सत्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इन प्रयोगों में सम्बन्ध तथा क्रम का विचार होता है। तुलसी ने इस प्रकार के कलात्मक प्रयोग किए हैं। दोहावली में प्रसिद्ध उपमान सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुए हैं। महान् व्यक्ति छोटों को आश्रय देते हैं, इसके लिए प्रकृति से दृष्टान्त लिए गए हैं—

---

१ रामच०, तुलसी, अयो०, दो० २७५ ।
२ वही, वही, बा०, दो० २३२ ।
३ वही, वही, वही, दो० २५४ ।
४ वही, वही, वही, दो० २६३ ।
५ वही, वही, वही, दो० २५८ ।
६ वही, वही, वही, दो० २२६, २३२

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं।
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू।'[1]

## रूढिवादी प्रयोग

१०—यहाँ हम उपमानो के प्रयोग के विषय मे केवल प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर विचार कर रहे हैं। यही कारण है कि केवल उल्लेख के रूप मे सकेत किया गया है। रीति-कालीन परम्परा मे उपमानो का प्रयोग रूढि का केवल अनुसरण रह गया। प्रतिभा-सम्पन्न कवियो मे कुछ प्रयोग सुन्दर मिल सकते हैं, परन्तु इनके सामने से प्रकृति का रूप हटता गया है। इन्होने उपमानो को केवल सम्बन्धात्मक शृखला मे समझा है और साथ ही इनके लिए उपमान केवल शब्द के रूप मे रह गए, उनकी सजीवता का स्पन्दित स्वरूप सामने से हट गया। इस प्रकार की प्रवृत्ति भक्त कवियो मे भी है। प्रमुख कवियो को छोडकर अन्य कवियो ने अनुसरण मात्र किया है। इन समस्त परम्परा पालन करनेवाले कवियो के दो भेद किए जा सकते हैं। एक परम्परा मे केशव और पृथ्वीराज आते हैं, जिन्होने सस्कृत काव्य का अनुसरण किया है। दूसरी परम्परा मे रीति काल के समस्त कवि हैं जिनके सामने मानवीय भावो का विषय रस के विभाजित भावो और अनुभावो तक सीमित हो गया है और स्थिति तथा परिस्थिति की कल्पनाएँ केवल अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि अलकारों के चमत्कार तक सीमित रह गईं।

सस्कृत का अनुसरण (क)—केशव की 'रामचन्द्रिका' तथा पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' का उल्लेख किया गया है। इनमे उपमानो के विषय मे प्रवृत्ति सस्कृत काव्य के अनुकरण की है। अनुसरण का अर्थ यह नही माना जा सकता है कि इन कवियो ने सस्कृत कवियो के प्रयोग सर्वत्र ले लिए हैं। वस्तुत. इसकी विवेचना तुलनात्मक आधार पर की जा सकती है। लेकिन यहाँ इसका अर्थ यह है कि सस्कृत मे जिस प्रकार रूपात्मक सौन्दर्य का प्रमुख आधार है, उपमानो के विषय मे इन कवियो मे यही प्रवृत्ति मिलती है। जिस प्रकार इनके सामने सस्कृत का साहित्य था, उसीके अनुसार उपमानो के विभिन्न स्तर के प्रयोग इनमे मिलते हैं।

पृथ्वीराज (1)—रसवादी होने के कारण इनमे उपमानो का प्रयोग भावो का ध्यान रखकर किया गया है। इस कारण प्रयोग सुन्दर हो सके हैं। कवि मुख पर यौवन की लीला के लिए उत्प्रेक्षा देता है कि मानो सूर्योदय के समय पूर्व दिशा की लाली छा गई है। आगे शारीरिक विकास के लिए कवि रूपक प्रस्तुत करता है—'अवयव समूह ही पुष्पित होकर विमल वन है, नेत्र ही कमल दल हैं, सुहावना स्वर

---

१ वही, वही, वही, दो० १६७।

कोकिल का कठ है; पुलक-रूपी पखो को नई रीति से सँवार कर भौंह रूपी भ्रमर उडने लगता है ।"[1] युद्ध प्रसग मे वर्षा का लम्बा रूपक है । आगे एक स्थल पर कवि ने लता की कल्पना सुन्दर की है—

तिणि तालि सखी गलि स्यामा नेहो
मिली भमर भारा जु माहि ।
वलि ऊभी थई घणा घाति वल
लता केलि अवलब लहि ।[2]

काव्य समाप्त करते समय वेलि का रूपक है । इनके अतिरिक्त, 'नगरवासियों का कोलाहल, पूर्णिमा के चन्द्र-दर्शन से समुद्र का आन्दोलन', 'उडी हुई धूल मे सूर्य ऐसा जान पडा जैसे वात-चक्र के शिखर पर पत्ता', 'मन्दिर के पार्श्व मे सेना इस प्रकार लगती है मानो चन्द्रप्रभा मेरु पर्वत पर चारो ओर नक्षत्र माला' आदि अनेक प्रयोग पृथ्वीराज ने किए हैं ।[3]

केशव (11)—पृथ्वीराज के विपरीत केशव अलकारवादी हैं । इस कारण सामूहिक रूप से इनमे उपमानो का प्रयोग काल्पनिक चमत्कार के लिए हुआ है । अधिकाश स्थलो पर केशव ने वस्तु, परिस्थिति सम्बन्धी उपमान योजना मे भाव और वातावरण का ध्यान नही रखा है । परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि केशव ने ऐसे प्रयोग किए ही नहीं । जनकपुर मे बरात के स्वागत के लिए उत्प्रेक्षा के द्वारा सागर तथा नदियो की कल्पना उचित है । इसी प्रकार सौन्दर्य को लेकर यह रूपक भी सुन्दर है—

प्रति बदन शोभ सरसी सुरग । तहँ कमल नैन नासा तरग ।
जनु युवती चित्त विभ्रम बिलास । तेइ भ्रमर भँवत रसरूप प्रास ।

रावण के वश मे पडी हुई सीता के विषय में सदेहमूलक उपमान-योजना भी सुन्दर है—'वह धूम समूह मे अग्निशखा है, या बादल म चन्द्रकला है, या बडे बवण्डर मे कोई सुन्दर चित्र है ।' इसमे रावण की 'बगरूरे' से उपमा मौलिक जान पडती है । इसी प्रकार एक स्थल पर उल्लेखो मे सीता की उपमा स्वाभाविक है—

भौंरनी ज्यों भ्रमत रहति बन बीथिकानि,
हसनी ज्यों मृदुल मृणालिका चहति है ।

---

१ वेलि०, पृथ्वी०, छ० १६, २० ।

२ वही, वही, छ० १७७ [भ्रमरों के बोझ से पृथ्वी से मिली हुई लता कदली का सहारा पाकर बहुत सा बल डालकर फिर खड़ी हो जाती है, उसी प्रकार उस समय, रुक्मिणी सखी का सहारा लेकर उठ खड़ी हुई]

३ वही, वही, छ० १४१, ११५, १०६ ।

हरिनी ज्यो हेरति न केशरि के काननहि
केका सुनि व्याली ज्यों बिलीन ही चहति है।"

अन्तिम प्रयोग मे उक्ति का वैचित्र्य अधिक है। सीता की अग्निमग्न मूर्ति को लेकर जो सन्देहात्मक उपमानो की योजना हुई है, उनमे कही-कही कोई सुन्दर कल्पना भी है। परन्तु प्रवृत्ति के अनुसार कवि ने योजना प्रस्तुत करने का ही प्रयास अधिक किया है। आगे की उत्प्रेक्षा मे कल्पनात्मक चमत्कार है—'कोई नीलाम्बर धारण किए हुए स्त्री मन मोहती है, मानो बिजली ने मेघकान्ति को अपने शरीर पर धारण किया है। किसी स्त्री के शरीर पर बारीक साडी है, वह ऐसी शोभा देती है मानो कमलिनी सूर्य किरण समूह को शरीर पर धारण किए हो।' आगे राम, सीता और लक्ष्मण को लेकर इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा है—'मेघ मदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरे लसै देहधारी मनो।' इसी प्रकार राम की सेना के प्रस्थान के समय कवि उपमान योजना करता है—'जब सेना उछल कर चलती है, पृथ्वी और आकाश सभी धूर से पूर्ण हो जाता है, मानो घन समूह से सशक्त होकर वर्षा आ गई है। पाताल का पानी जहाँ-तहाँ पृथ्वी के ऊपर आ जाता है और पृथ्वी पुरइन के पत्ते के समान काँपने लगती है।'[2] इन थोडे से प्रयोगो से केशव की प्रवृत्ति का अनुमान लग सकता है।

रीति-काल की प्रमुख भावना (ख)—प्रारम्भ मे रीति-काल के कवियों की उपमान योजना के विषय मे उल्लेख किया गया है। इस काल मे कवि नायक-नायिकाओ के हाव-भाव, ऐश्वर्य-विलास के वर्णन मे व्यस्त रहा है या अलकार ग्रन्थो मे उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास करता रहा है। इन दोनो बातो का इनके प्रकृति सम्बन्धी प्रयोग पर प्रभाव पडा है। पिछले प्रकरणो मे हम देख चुके हैं कि इन कवियो मे प्रकृति का किसी प्रकार का सुन्दर रूप नही मिल सका है। उपमानो का प्रयोग प्रकृति सौन्दर्य से ही सम्बन्धित है, बिना उसकी अनुभूति के उपमानो का प्रयोग सुन्दर नही हो सकता, उसमे कला के स्थान पर रूढि आ जाती है। उपमानो के क्षेत्र मे रीति-वादी कवियो मे उनके प्रयोग की प्रवृत्ति भी कम हो गई है। पहले कवियो ने उपमानो की योजना की है, चाहे वह अनुसरण तथा परम्परा के अनुसार ही की हो। पर इन कवियो मे प्रयोगो की भी कमी दिखाई देती है। इसका कारण इस युग के काव्य मे रस और अलकार के उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। सेनापति जैसे प्रतिभावान

१ रामचन्द्रिका, केशव छ० प्रका० ४, ५० वा० प्र० २०, चौ० प्र० २६।
२ वही, वही, आठ० प्र० १२, नवां ३५, चौ० प्र० ३७।

कवियो ने अपनी कल्पना का प्रयोग श्लेष जुटाने मे किया है।[1] इनमे *उपमानो के सौन्दर्य-*बोध या रूपात्मक अथवा भावात्मक प्रयास कहाँ तक हो सकता है, यह प्रत्यक्ष ही है। इन समस्त कवियो मे ऐसे स्थल कम हैं जिनमे उपमानो से भाव व्यजना के लिए सहायता ली गई हो। बिहारी कहते हैं—

**रही भौन के कौन मे सोन जुही सी फूल।**[2]

इसमें कवि का ध्यान कदाचित् उल्लास या गर्व से अधिक यौवन के सौन्दर्य को व्यक्त करने की ओर है। इसी प्रकार मतिराम ने उत्कठित नायिका के प्रतीक्षा तथा उत्सुकता मे व्यग्र नेत्रो के लिए इस प्रकार की योजना की है—

**एक ओर मीन मनो एक ओर कज-पु ज,**
**एक ओर खजन चकोर एक ओर हैं।**

इसमे विभिन्न भाव स्थितियो के लिए विभिन्न उपमानो का प्रयोग लगता है और इस दृष्टि से यह प्रयोग बहुत सुन्दर माना जा सकता है। लेकिन ऊपर के वातावरण के अनुरूप उपमानो को जुटाने का प्रयास भी सम्भव हो सकता है, क्योकि उस प्रकार के अन्य प्रयोग मतिराम अथवा किसी अन्य रीतिकालीन कवि मे नही मिले हैं। इस विषय मे बिहारी की एक विशेषता उल्लेखनीय है। अपनी आलकारिक प्रवृत्ति मे भी इनमे प्रकृति के रग-प्रकाश का प्रयोग अच्छा है, यद्यपि वह सस्कृत कवि बाण तथा माघ की तुलना मे नही ठहर सकते। एक पूर्णोपमा इस प्रकार है—

**सहज सेत पच तोरिया पहिरे अति छवि होत।**
**जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति॥**

इसी प्रकार एक उत्प्रेक्षा है—

---

१ सेनापति ने कुछ श्लेष प्रकृति के आधार पर उपस्थित किए है—प्र० तर० (११) राम तथा पूर्णचन्द्र (१२) घनश्याम तथा स्यामघन, (१३) नववारी और मदनवारी, (३१) वाला तथा नवप्रद्माल, *(४२) गोपी वियोग तथा सागर, (५१) वसन्त तथा शिशिर, (५२) ग्राष्म तथा वर्षा, (५५) रामकथा और* गगाधार, (७४) हरि, रवि, अरण्य तथा तमी, (८४) मजविरहिणी तथा हरिणी।

२ सत० बिहारी, दो० ३२१।

३ रसराज, मतिराम, छ० १६३—

"जमुना के तीर बहै सीतल समीर तहाँ,
मधुकर करत मधुर मद सोर हैं।
कवि 'मतिराम' तहाँ छवि सौं छबीली बैठी,
अगन तें फैलत सुगध के झकोर हैं।
पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी,
चहुँ ओर दीरघ दृगन करी दौर है।"

छप्यो छबीलो मुख लसै नीले अंचर चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के तीर॥

एक और भी वस्तूत्प्रेक्षा है—

सखि सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये दावानल की ज्वाल॥[1]

इन सभी मे कवि की कल्पना मे रग और प्रकाशो का सामञ्जस्य अच्छा है। इस प्रकार अनेक प्रयोग बिहारी मे मिलते हैं। इनकी प्रवृत्ति इसमे प्रत्यक्ष है।

अलकारों के प्रयोग मे परम्परा के प्रचलित उपमानो को जमा भर दिया गया है। मतिराम मालोपमा का उदाहरण इस प्रकार देते हैं—

रूप-जाल नदलाल के परि करि बहुरि छुटै न।
खजरीट-मृग-मीन से ब्रज बनितन के नैन॥[2]

यहाँ कवि को किसी प्रस्तुत को सामने प्रत्यक्ष करना नही है, वरन् मालोपमा का प्रयोग करना है और इसलिए इन उपमानो का सम्बन्ध नैन से अधिक रूप-जाल से है। इस माध्यम से इसमे किसी भाव का सकेत मिल भी जाता है, परन्तु पद्माकर की मालोपमा का प्रमुख उद्देश्य अपने आप मे पूर्ण है—

घन से तम से तार से, अजन की अनुहारी।
अलि से मावस से बाला तेरे बार॥[3]

इसके अतिरिक्त जब कवि अन्य अलकारो मे उपमानो को प्रस्तुत करता है, तब उसका ध्येय चमत्कार प्रदर्शन अधिक रहता है। प्रेम-पयोनिधि का रूपक अनेक कवियो ने कहा है, परन्तु पद्माकर की उक्ति ने उसको विचित्र बताया है—

नैनन ही की घलाघल कै घन घावन कों कछु तेल नहीं है।
प्रीति पयोनिधि मे धँसि कै हँसि कै चढिबो हँस खेल नहीं है॥[4]

मुस्कान को सरद चाँदनी कहना सुन्दर उक्ति है, इनम भावात्मक सादृश्य है, पर मति-राम की उक्ति ने उसे विचित्र कर दिया है—

---

१ सत० बिहारी, दो० १२१, ११६, ६, इनके अतिरिक्त दो० ११३ में रग क साथ कोमलता का भाव है—

"पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूल।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूल॥"

२ ललित ललाम, मतिराम, छ० ५०।

३ पद्माभरण, पद्माकर, छ० २३।

४ जगद्विनोद, वहीं, छ० ३५३।

सरद-चंद की चांदनी, जारि डार किन मोहि।
या मुख की मुसक्यानि सो, क्यो हूँ कहौं न तोहि॥"[1]

इसी प्रकार देव भी मुख और नेत्रो के लिए सौन्दर्य बोध के स्थान पर वैचित्र्य कल्पना का आश्रय लेते हैं—

कवि देव कहै कहिए चुग जो जलजात रहे जलजात मे ध्वै।
न सुने सखी काहू कहूँ कबहू कि मयंक के अङ्क मे पकंज द्वै॥[2]

× × ×

मध्ययुग की इन समस्त उपमान-योजना सम्बन्धी प्रवृत्तियो के अतिरिक्त दो बातो का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस युग मे उपदेशो के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करने की व्यापक प्रवृत्ति रही है। इसका मूल भारतीय साहित्य की व्यापक परम्परा मे है। तुलसी, कबीर, रहीम, गिरधर, दीनदयाल आदि कवियो ने प्रमुखतः इनका प्रयोग किया है। इनमे अन्योक्ति, समासोक्ति का आश्रय भी लिया गया है। दूसरी उल्लेखनीय बात, प्रकृति से सम्बन्धित क्रिया-पदो का मानवीय सम्बन्धो मे प्रयोग है।[3] इस युग मे सरसाना, चमकना, महकना, डहडहाना, लहलहाना, पियराना, ललाना, भीजना, चमकना, भिलमिलाना, मुरझाना, दमकना आदि अनेक प्रकृति-क्रियाओ का प्रयोग मानवीय भावो तथा अनुभावो के विषय मे हुआ है। इनका प्रयोग बाद के रीति-कालीन कवियो तक मे बराबर मिलता है।

---

१. दोहा०, मति०, दो० ३२१।

२. भाव०, देव, २।

३. रस०, मति ६७,१७३ में 'मुसक्यान के लिए महमही, 'गुराई' के लिए गदगही, तथा 'दीपति' के लिए लहलही का प्रयोग है।

# परिशिष्ट—(१)

## ईरानी सूफी कवियो की प्रकृति-परिकल्पना

सैद्धान्तिक दृष्टि से सूफी इसलाम की कुरान द्वारा प्रतिपादित एकेश्वरवादी भावना को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनकी व्याख्या इसको सर्वेश्वरवाद के रूप मे स्थापित करती है। यद्यपि सनातनपथियो के समान सूफी भी मानते हैं कि परमात्मा अपनी सत्ता (जात), गुण (सिफत) और कर्म मे निरपेक्ष और अद्वितीय हे, पर वे उनके समान परमात्मा को सृष्टि के सभी पदार्थों से भिन्न न मान कर उसे इस दृश्यमान जगत् मे परिव्याप्त एक मात्र सत्ता स्वीकार करते हैं। और यही सर्वेश्वरवादी दृष्टि भी है। 'हम्मा अज ओस्त' अर्थात् 'सब ईश्वर से है' के ईश्वरी सृष्टिवाद की अपेक्षा 'हम्मा ओस्त' अर्थात् 'सब ईश्वर है' की सर्वेश्वरवादी भावना के निकट सूफी अपने को अधिक पाता है। यह सर्वेश्वरवादी दृष्टि भी दो प्रकार की हो सकती है। एक दृश्यमय जगत् को देख कर उसके ईश्वरत्व की कल्पना करता है, जिसे प्रकृतिवादी सर्वेश्वरवादी कहा जा सकता है, और दूसरा ईश्वर के प्रस्थानबिन्दु से प्रारम्भ करता है और सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् मे उसी का रूप देखता है, जिसे आध्यात्मिक सर्वेश्वरवादी कहा जायगा। प्रथम प्रकार के सर्वेश्वरवाद मे प्रस्थानबिन्दु जगत् की अनन्तता और विचित्रता है जिसके माध्यम से जगत् की एक व्यापक एकता का आभास मिलता है। कभी इस एकता का ईश्वर नाम दिया जाता है, पर यह ईश्वर मात्र अमूर्त प्रत्यय है, वह सत् रूप नहीं है।

व्यापक रूप से सूफियो म भी दो सिद्धान्त माने जाते हैं, 'वहदतुलवजूद' के सिद्धान्त पर चलने वाले वुजूदिया और 'वहदतुश्शहूद' सिद्धान्त को मानने वाले शुहूदिया। मुहिउद्दीन इब्नुल अरबी से कहा 'हमावुस्त' अर्थात् 'सब कुछ वही है' और इस प्रकार उसके अनुसार सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। इसका सिद्धान्त अद्वैत की विशिष्टाद्वैती व्याख्या जैसा है। इनके अनुसार जीव चेतन (सिर्र) है, पर अपने सीमित ज्ञान के कारण वह परम सत्ता के आंशिक चैतन्य को ही प्रकट

कर पाता है, इस दृष्टि से जीव सत्य तो है, पर आंशिक सत्य है एक मात्र सत्य नही है। साथ ही 'अनल हक्' अर्थात् 'मैं परम सत्य हूँ' के आधार पर अद्वैतवादी विचारधारा भी मिलती है। शेख करीमे जीली ने जीव की सत्ता को परम सत्ता की अपेक्षा रखने वाला माना है, और उनके अनुसार परमात्मा अपनी सत्ता को अपने गुणों मे जगत्प्रपंच रूप मे अभिव्यक्त करता है। उसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओ मे अन्तर्निहित है और वह सृष्टि के प्रत्येक अणु-परमाणु मे अपनी पूर्णता को व्यक्त करता है। वह विभाजित नहीं है, सृष्टि के पदार्थ उसकी पूर्ण सत्ता के कारण हैं। जीली जल और बरफ के रूपक मे अपनी बात स्पष्ट करता है, परम सत्ता जल के समान है और बरफ उसी की सृष्टि है।

इस प्रकार सूफ़ियों के अनुसार परम सत्ता अनन्त सौन्दर्य और विभूति के रूप मे सृष्टि मे अपने को अभिव्यक्त करती है, यह जगत् अंशत उसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। प्रकाश का ज्ञान जिस प्रकार अन्धकार द्वारा होता है, सूफियो के अनुसार असत् के दर्पण मे प्रतिबिम्बित होकर परम सत्ता सृष्टि मे प्रतिघटित हो जाती है। इन्होंने प्राय सूर्य और जल मे उसके प्रतिबिम्ब से परम सत्ता और सृष्टि की व्याख्या की है या आँख की पुतली के समान सृष्टि को कहा है जो असत् के दर्पण पर प्रतिबिम्बित परम तत्व की छवि है। वस्तुत सूफी रहस्यवादी अनुभूतिप्रवण साधक है, वह अन्तत अपने व्यक्तिपरक अनुभवो के माध्यम से सर्वेश्वरवाद तक ही पहुँचता है। इसी प्रकार प्रकृतिवादी कवि और विचारक जगत् की महानता, सुन्दरता, विराटता, गतिशीलता, अनन्तता, विचित्रता आदि के माध्यम से किसी परम तत्व की परिव्याप्ति का आभास पाता है। कल्पना के माध्यम से वह सर्वेश्वरवाद की सीमा मे प्रवेश करता है, और कभी उसको यह व्यापक सत्ता किसी ईश्वर रूप का स्मरण भी दिलाती है।

प्रकृतिवादी सर्वेश्वरवाद का आधार प्रकृति की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता है। वस्तुत यह सर्वचेतनवादी दृष्टि का ही परिणाम है। प्रकृति की विभिन्न स्थितियाँ, उसका नाना प्रकार का रूपरंग, अनेकानेक ध्वनियाँ और नाद तथा उसका विराट और कोमल दृश्यबोध हमारी सौन्दर्य भावना को विकसित करने मे युग-युग से सहायक होते आये हैं। मानव के चारो ओर प्रकृति फैली हुई है, अत प्रकृति का रूपात्मक सौन्दर्य मनुष्य के मानस पर प्रतिबिम्बित रहा है और प्रकृति की चेतना ने मानस-चेतना को ग्रहण किया है। यह सारा व्यापार मनुष्य के मानसिक सम पर चलता रहा है। इस समानान्तरता के कारण तथा मानव की सहज सहानुभूति के वातावरण मे प्रकृति सचेतन और सप्राण हो उठती है। इसी सहज भावना की सौन्दर्यानुभूति प्रकृति के साथ सम स्थापित करके सर्वचेतनावादी आनन्द और उल्लास को व्यंजित करती है। यह आनन्दोल्लास सर्वेश्वरवाद की भावभूमि भी है, सर्वचैतन्यमयी

प्रकृति के उल्लास में परम तत्व की व्यजना सन्निहित हो जाती है। इस आत्मचेतना के प्रसार मे प्रकृति सर्वात्मभाव से हमारी ही चेतना का एक रूप और अश लगने लगती है।

प्रकृति के इस सर्वचेतनवादी (प्रकृतिवादी सर्वेश्वरवादी) दृष्टिकोण मे मानव की भावानुभूति उससे ऐसा सम स्थापित करती है कि मानव मन को उसके प्रति जिज्ञासु, प्रश्नशील अथवा आश्चर्यचकित होने का अवसर नही मिलता। यही कारण है कि कवि सर्वचेतनवादी सृष्टि के स्रष्टा और सर्जन के सूत्रधार के प्रति अपना आग्रह प्रकट नही करता। यह प्रकृतिवादी कवि अपनी सीमाओ मे अनीश्वरवादी ही रहता है। पर सूफी कवि आध्यात्मिक सर्वेश्वरवादी हैं, उनका सर्वचेतनवाद आत्म तत्व की स्वीकृति पर निर्भर है। ईरानी सूफी कवि प्रेमी है, प्रेम का मार्ग ही उसकी साधना है। प्रेमी के प्रेम का आलम्बन पूर्व निश्चित होता है। उसके प्रेम का आधार व्यक्तिगत सम्बन्धो मे इसलामी एकेश्वरवाद के समान लगता है, पर साधना की व्याप्ति तथा उसकी गहन अभिव्यक्ति मे वह सर्वेश्वरवादी है, क्योकि वह आलम्बन रूप मे व्यापक सत्ता को ग्रहण करता है। प्रेम साधना के आलम्बन के निश्चित हो जाने पर सूफी कवि के सामने मुक्त सर्वचेतनवादी कवि की दृष्टि नही रह जाती है।

× × ×

सूफी कवि के सामने प्रेमिका के, साधक प्रेमी के प्रेम के आलम्बन रूप मे प्रत्यक्ष रहने पर भी, उसकी दृष्टि प्रकृति रग रूपो के साथ उलझती है। प्रेमी अपने प्रिय की खोज मे भी उसकी उपेक्षा करके आगे बढ नही सका है। वह भावना के आधार पर जिस प्रकृति सौन्दर्य और परिवर्तन मे चेतना का प्रसार देखता है, उसीमे उसको अपने प्रिय का आभास मिलने लगता है। प्रेमी साधक के भावो का आलम्बन अन्यत्र होने के कारण वह अपने प्रिय की अन्तर्निहित व्यजना के साथ तार्किक शैली मे प्रश्नशील हो उठता है। वह प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासु भाव से तर्कना करता है—

> आकाश मे रहने वाले चाँद और तारों को प्रकाश दान कौन करता है? गुलाब की कली के समान नाभि को कस्तूरी से और गुलाब की सुन्दर झाडी को गुलाबी मणियो से युक्त कौन करता है? वसन्त की नवविवाहिता को सुन्दर शृंगारदान कौन करता है? निर्झरिणी के किनारे खडे हुए चिनार को महान् पवन द्वारा ऐश्वर्य के साथ मुकुट धारण करना कौन सिखाता है? (जामी)

यहाँ प्रकृति के प्रकाश, रूपरग, गध, ऐश्वर्य और शृगार को देखकर कवि किसी व्यापक सत्ता की जिज्ञासा से प्रश्नशील हुआ है। उसकी यही जिज्ञासा पक्षियो के सुन्दर शृगार और उनके सगीत के प्रति भी है—

पपीहे को मधुर स्वर मे राग अलापना कौन सिखाता है ? और कौन चकोर को इतने सुन्दर वस्त्रों मे शृंगार करना सिखाता है ? (सनाई)

सूफी कवि विचार करता है कि यदि प्रकृति इतने विविध और अनेक दृश्यमय रूपों में अंकित है तो उसका कोई चितेरा भी अवश्य होगा। यहाँ कवि के मन मे दृश्य जगत् के सर्जक की खोज और जिज्ञासा प्रधान है—

यदि कहा जाय कि प्रकृति-रचना मे किसी कलाकार का हाथ नहीं है, तो इन फूलों के खिलने के ढग क्यों अलग अलग हैं ? ये अपनी बहार भिन्न भिन्न रूपों मे क्यों दिखाते हैं ? (सनाई)

कवि प्रकृति के प्रति, उसकी दृश्यमयता के प्रति इस प्रकार प्रश्नशील होकर उसकी गति और विभिन्नता मे किसी व्यापक सत्ता का सकेत ग्रहण करना चाहता है और यह सकेत उसे रहस्यात्मक परम तत्व की ओर अग्रसर करता है। इस सकेत ग्रहण करने की प्रक्रिया मे वह पृथ्वी की वैविध्यपूर्ण रचना के प्रति प्रश्न करता हुआ प्रस्तुत होता है—

ये अनेक वस्तुएँ क्यों उत्पन्न हो गयीं ? ये गुलाब, बेला, चमेली और नरगिस आदि फूल क्यों खिलते हैं ? ये सब पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, पानी से सींचे जाते हैं, फिर भी इनमे से किसी का रग सफेद, किसी का पीला, किसी का लाल और किसी का काला क्यों है ? (सनाई)

कवि का आश्चर्य और कौतूहल प्रकृति के दृश्यमय रूपविधान तक ही सीमित नहीं है, वह प्रकृति की विभिन्न स्थितियों का पर्यवेक्षण कर उनके गुणों की विभिन्नता पर भी विचार करता है। उसके सामने एक ओर रुपहले झडे के समान हवा मे फहराते हुए पखो पर उडता हुआ बाज पक्षी और दूसरी ओर सुनहली नौका के समान अपने पखो को फैलाकर तैरती हुई मुर्ग़ाबी है। उसके मन मे दोनो को देखकर प्रश्न उठता है—

एक ही हवा मे रहने वाले इन दोनो पक्षियों की रचना मे यह भेद किसने डाल दिया है ? एक पक्षी शिकार के लिए आसमान मे चक्कर लगाया करता है और दूसरा उसके भय से नदी मे छिपा रहता है। (सनाई)

प्रकृति के निर्माण क्रम मे विभिन्नता और विषमता है, पर उसके परिवर्तन के चक्र में विध्वस और विघटन का रूप *तथा तत्व भी छिपे हुए हैं। अनेक बार ये सूफ़ी* कवि प्रकृति के दो विरोधी चित्रों के माध्यम से यह व्यजना करते हैं—

घास का सुन्दर फर्श बिछा था, मनोहर कलियाँ चित्र को आकर्षित बना रही थीं, गुले लाला मस्ती से झूम रहे थे। फिर जहाँ उपवन के फूल खिले देखे गये थे, जहाँ बुलबुलों का राग सुनाया गया था, वहाँ अब चोल-कौओं का जमघट

था—स्वर्ग नरक मे परिणत हो गया था; उस सुन्दर उपवन का शृंगार अर्थात् पुष्प नष्ट हो चुके थे। (निज़ामी)

और सूफी कवि इस ध्वस और परिवर्तन को भी जिज्ञासु भाव से देखता है। इसके बीच वह अपने प्रश्न को सन्निहित कर देता है—वह कौन शक्ति है जो चुपचाप यह सब करती रहती है? वस्तुत इस जिज्ञासा का समाधान इन कवियों की भावना मे बहुत निकटता से आहट देता है। प्रकृतिवादी के समान ये कवि प्रकृति के प्रति अपनी जिज्ञासा और प्रश्न मे ही सौन्दर्यानुभूति का आधार ग्रहण नही कर पाते। अपने प्रश्न का उत्तर सूफी कवि को स्वय ही मिल जाता है—

> निस्सन्देह इस अनुपम जगत् का कवि ईश्वर है, जिसने मनुष्य मात्र की बिना सहायता के, केवल अपनी इच्छा शक्ति (शब्द) के द्वारा सर्जन विस्तार किया है। (सनाई)

यहाँ तक इन ईरानी सूफी कवियो मे प्रमुखत एकेश्वरवादी भावना का स्वरूप ही व्यजित हुआ है। यह सारी जिज्ञासा और ये समस्त प्रश्न प्रकृति में एक व्यापक चेतना का आभास तो देते हैं, पर प्रकृति के पीछे एक नियामक, सर्जक और स्वामी की परिकल्पना भी इनमे स्वीकृत है।

जहाँ तक इन कवियो ने प्रकृति के विविध रूपो मे ईश्वरीय शक्ति का प्रसार देखा है, इनका दृष्टिकोण इसलामी एकेश्वरवाद से अधिक प्रभावित है। प्रकृति को स्फुरित चेतनामय अथवा परम तत्व की व्यापक चेतना से व्याप्त रूपो मे ये साधक विवेचन और प्रतिपादन की सीमा मे स्वीकार नही कर सके है। इस दृष्टि से इन्होंने सम्पूर्ण जगत् का रचयिता ईश्वर को माना है। कवि अपने विश्वास को व्यक्त करता है—

> ईश्वर के अतिरिक्त पत्थर मे आग किसने छिपा रखी है? उसकी शक्ति के सिवाय काली मिट्टी मे से लाल रग के फूल किसने उत्पन्न किए हैं? नदी मे सीपियाँ और जगल मे हिरन उसीने उत्पन्न किए हैं—दोनों अपने-अपने स्थान पर आराम से रहते हैं और भागते फिरते हैं। उसी परमात्मा ने वरसा के पानी की बूँद से सीप का मुँह भरवाया और जगल के हिरन की नाफ मे मुश्क पैदा की। वह कौन है जिसने अपनी शक्ति से चन्द्रमा को आकाश मे चमकाया है और उसे घटाता-बढाता रहता है? पर्वत को स्वर्ग के समान नाना रग के फूलों से कौन सजाता है और उपवन को विविध प्रकार के पौधों और फूलो से कौन सजाता है? (सनाई)

इस प्रकार इनकी दृष्टि म प्रकृति के समस्त उपकरणो को बनाने वाला और व्यापारो को नियोजित करने वाला ईश्वर है। उपर्युक्त उद्धरणो मे ईश्वर बहुत कुछ एक

अलग सत्ता के रूप में परिकल्पित है, पर जिन स्थलों पर प्रकृति ईश्वरीय प्रकाश से उद्भासित है, वहाँ भी ईश्वर प्रकृति चेतना से अभिन्न रूप नहीं है, वह सर्वोपरि सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित है। प्रकृति के सौन्दर्य में और उसकी चेतना में ईश्वरीय सौन्दर्य और चेतना का तादात्म्य नहीं हो सका है। कवि अपनी चेतना में प्रकृति को ईश्वरीय प्रकाश से उद्भासित देखता है—

> जब सूर्य अपनी किरणों से जाज्वल्यमान हो उठता है पृथ्वी के प्रत्येक कण में उसीका प्रकाश पड़ता है। प्रकाश की एक किरण गुलाब को सौन्दर्य दान देती है और बुलबुल का हृदय आवेग-पूर्ण हो जाता है। उसीकी अग्नि से दीपक अपने आप जल उठता है और उसमें सैकड़ों पतंगों की आहुति हो जाती है। इस प्रकाश के प्रवाह में कमल ने अपना सिर ऊपर कर लिया है।
>
> (जामी)

यहाँ सूर्य का प्रकाश ईश्वरीय वैभव है और प्रकृति उसीसे सुन्दर और सचेतन हो उठती है।

× × ×

ईरानी सूफी कवि प्रेम का साधक है। उसके प्रेम का आधार लौकिक है, पर उसका प्रेम एक अव्यक्त सत्ता के प्रति है। जैसा कहा गया है कि स्थापना की दृष्टि से सूफी इसलामी विचारधारा को मानकर चलते हैं, उनका मौलिक अन्तर साधना के क्षेत्र में है। यही उनकी दृष्टि सर्वेश्वरवादी है। इसी क्षेत्र में वह दृश्यमान जगत् को परम सत्ता की अभिव्यक्ति मानता है अथवा सर्वत्र एक परम तत्व को प्रतिघटित देखता है। प्रेम की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में सूफी कवि विभिन्न प्रकार से प्रकृति की परिकल्पना करता है। प्रकृति का राशि राशि सौन्दर्य उसको ईश्वरीय सौन्दर्य का भास कराता है। प्रेमाख्यानों में नायक और नायिका के सौन्दर्य में प्रकृति सौन्दर्य का आश्रय लिया गया है, प्रकृति के अप्रस्तुत विधान को प्रस्तुत रूप में ऐसे स्थलों पर लिया गया है। और इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य के माध्यम से ईश्वरीय सौन्दर्य की व्यंजना हो सकी है। कवि युसुफ का सौन्दर्य अंकित करता है—

> चाँद—चाँद नहीं, ऐश्वर्य के चरम का प्रकाशमान सूर्य—उसके सौन्दर्य के सामने महान् सौन्दर्य भी फीका था—जिस प्रकार सूर्य की किरणों के सामने तारक मंडल विलीन हो जाता है। (जामी)

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में भी सौन्दर्य प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि सौन्दर्य किसी परदे में नहीं छिपाया जा सकता, प्रकृति के सौन्दर्य का छोटा-सा छोटा रूप अपने आप में सहज और आकर्षक होता है—

> बहार के मौसम में ट्यूलिप को देखा! किस मधुरिमा से वह पहाड़ियों पर

खिलता है—किसी चट्टान की दरार में उसकी कली प्रस्फुटित हो जाती है—और इस प्रकार वह अपने सरल सौन्दर्य को प्रकट करता है। (जामी)

प्रेम की व्यापकता को व्यंजित करने के लिये कवि कभी अपने भावों को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखता है। इस स्थिति में कभी कवि अपनी प्रेम-भावना में प्रकृति को मग्न चित्रित करता है—

हे सुन्दर राग अलापने वाले बुलबुल और अदा से चलने वाले चकवा तू प्रेम मे मस्त रह। इस प्रेम रूपी मदिरा से तेरे परों मे उड़ने की शक्ति सदा बनी रहेगी। (सनाई)

प्रेम साधना की विभिन्न परिस्थितियों को कभी कवि प्रकृति की अनेक स्थितियों मे प्रतिघटित करके अपने प्रेम की व्यंजना को अधिक प्रत्यक्ष और मार्मिक बनाता है—

अभी पुष्प परदे से निकला भी नहीं था कि प्रभातकालीन पक्षी उपवन मे आ उपस्थित हुआ। (हाफिज़)

यदि प्रेम की वेदना का रूप प्रकृति मे व्यंजित है तो प्रेम की तृप्ति भी उसमें निहित की गयी है—

बुलबुल फूल के प्रेम मे चारो ओर चिल्लाता है और व्याकुल होता है—परन्तु यदि फूल के प्रेम का किसी ने मज़ा चखा है तो वह प्रभातकालीन पवन है। पवन ने फूल के घूंघट को हटा दिया, सबुल की अलकों को बिखेर दिया और कलियों को चिटखा दिया। (हाफिज़)

सूफी कवि अपने आध्यात्मिक प्रणय के भावोद्वेलन को प्रकृति मे व्याप्त देखता है और उसके प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से उसे व्यंजित करता है—

उपवन पुष्पों के विकास से शोभित है और लाल गुलाब के खिलने से बुलबुल उसके प्रेम मे मतवाला हो उठा है। (हाफिज़)

प्रकृति मे पुष्पों की यह भावना कभी-कभी वियोग और संयोग के रूप मे उपस्थित होती है। इस स्थिति म प्रेमी साधक के वियोग की छाया प्रकृति ग्रहण करती है और प्रकृति पर अपने भावों का आरोप कर कवि अपने को सामने से हटा लेता है—

रात्रि अपने वक्षस्थल पर सहस्रों तारों को धारण कर मानों सहस्रों दीप जलाती है—ऐसा भी हो सकता है कि आकाशी दीप आह् की हवा लगने से कहीं बुझ गया हो। (अत्तार)

अपनी साधना की प्रक्रिया मे प्रेमी कवि अपने प्रिय से आंख मिचौनी प्रकृति के माध्यम से खेलता है। यहाँ कवि प्रकृति रूप होकर ही उसे पाना चाहता है, उसे उसी मे अपने प्रिय का आभास मिलता है। कभी कवि प्रिय को प्रकृति मे खोज कर हैरान होता है और कभी स्वयं प्रकृति रूप होकर उसका आत्मानुभव प्राप्त करने का उपक्रम

करता है। प्रकृति के नाना रूपात्मक दृश्यविधान और सौन्दर्यबोध के बीच वह अपने प्रिय को खोजता है और प्रिय उसे कैसे निराले, विविध रगो-रूपो मे दिखाई देता है और मिलने के लिये न जाने कितने बहाने करता है। चित्र रूप मे सदैव सारी सृष्टि म वर्तमान है पर प्राणो के मार्ग से सदा अदृश्य हो जाता है। यदि वह आकाश मे उसकी खोज करता है, तो वह चांद बनकर नीचे पानी म झलकने लगता है। पर जैसे ही वह उसे देखने के लिये पानी मे झाँकता है, वह फिर आकाश म विचरने लगता है। यहाँ इस स्तर पर सूफी कवि म आध्यात्मिक कोटि का सर्वचेतनवाद (सर्वेश्वरवाद ही) मिलता है—

> मैं वायु के समान सचरण करता हूँ, उसीके समान फूलों का प्रणयी हूँ। (ईश्वर) में उस पुष्प के समान हूँ जो पतझड के मौसम मे, (वियोग) के डर से उपवन छोडकर भाग जाता है। (रूमी)

प्रेम साधना की भावात्मक अभिव्यक्ति के लिए इन कवियो ने प्रकृति के प्रतीको का माध्यम स्वीकार किया है। साधक की मानसिक भावस्थितियो के समानान्तर प्रकृति के चित्र सयोग और वियोग की मन स्थितियो के अनेक छायातप हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। प्रेम की भावानुभूति मे प्रेमी का हृदय प्रकाशित हो उठता है—

> चांद प्रेम के प्रकाश से ससार के अन्धकार को रात मे दूर करता है। (जामी)

प्रेम की वियोग-जन्य पीडा को कवि तूफान के रूप म चित्रित करता है और उसके द्वारा प्रेम की गम्भीर अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है—

> प्राण! तुझे यह प्रेम तूफान मे फँसा देगा। क्या तू समझता है कि जिस प्रकार बिजली अपनी क्षणिक आभा दिखला कर आकाश मे विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार तू भी इस तूफान के चक्कर मे पडकर विलीन हो जायगा। ( हाफिज )

इस प्रकार अपने आपको विलीन करने मे प्रेमी के चिर मिलन का सकेत व्यजित हुआ है। सूफी कवि प्रेम के विकास म वियोगजन्य पीडा और अश्रु को बहुत महत्व देते हैं। वियोग व्यथा के चरम क्षणो म मिलन की अनुभूति जाग्रत हो जाती है। इस पीडा और अश्रु की कल्पना सूफी कवि बिजली और वर्षा के रूप म करता है। प्रेमी के हृदय की कसक बिजली के रूप मे कौंधती है और उसके आँखो का अश्रु-प्रवाह वर्षा के रूप म बह चलता है। इस चमक और अश्रु-प्रवाह के बिना प्रेम की चरम परिणति सम्भव नहीं है। इस प्रेम के चरम क्षणों का आनन्द स्वप्न बिना वर्षा और बिजली के (पीडा और अश्रु) अभिव्यक्ति ग्रहण नहीं करता। इस आनन्द कल्पना का स्वरूप कवि प्रकृति

परिकल्पना के माध्यम से व्यजित करता है। कवि कहता है कि बिना वर्षा और बिजली के—

हृदय मे मिलन आनन्द के कुंज कैसे निर्मित होगे और उससे किस प्रकार स्वच्छ जल के निर्झर निकलेंगे ? वायलेट और चम्पा किस प्रकार मित्रता करेंगे ? एक साधारण वृक्ष अपनी पत्तियाँ प्रार्थना में कैसे खोलेगा ? प्रेम अनिल के झोंके मे वृक्ष किस प्रकार अपने सिर को हिलायेगा ? वसन्त मे फूल अपनी पखुडियों के अर्घ्य को किस प्रकार समर्पित करेंगे ? ट्यूलिप का मुख किस प्रकार स्वर्ण के समान चमकेगा ? किस प्रकार गुलाब अपनी जेब से सोना निकालेगा ? बुलबुल किस प्रकार गुलाब का सुगन्ध लेगा और पडकी खोजी के समान किस प्रकार कू कू करेगी ? (रूमी)

उपर्युक्त प्रकृति के चित्रो मे प्रेम के सयोगात्मक आनन्द का सकेत है जो वियोग की चरम स्थिति मे ही सम्भव माना गया है। इस स्थिति मे सूफी साधक प्रेम की व्यजना के उस स्तर पर सचरण करता है जहाँ सर्वेश्वरवाद की अद्वैत भावना की सीमा मानी जाती है। अपने प्रेम मे प्रेमी अपने प्रियपात्र से अभिन्न हो जाता है और प्रेममयता की यही अभिव्यक्ति है—

अस्तित्वहीन बूंद समुद्र मे मिल गया और उसने अपनी जीवन रूपी सरिता की सैर भी कर ली। (जामी)

कई स्थितियो मे इन कवियो ने आत्म तत्व को व्यापक परम तत्व के रूप मे उससे अभिन्न माना है और उसकी अनुभूति को प्रेम की चरम स्थिति के रूप मे व्यक्त किया है—

अपने अस्तित्व को खोकर बूंद समुद्र के विभिन्न रूपो मे आनन्दमयी लहर के समान सर्वत्र अपने ही को पायेगा। (जामी)

प्रेम की तन्मयता मे सूफी साधक के अनुसार वह अपने को भूल कर प्रेमीमय हो जाता है। यह भक्तो की एकान्त भावना की तन्मयासक्ति कही जा सकती है—

यदि तू अपने हृदय मे फूल का विचार करेगा। तो तू फूल हो जायगा।
और यदि तू प्रेमी बुलबुल मे ध्यान लगायेगा तो बुलबुल हो जायगा। (जामी)

शीत और ताप वाला ससार समाप्त हो जायगा—न तो तुम्हें आकाश दिखाई देगा, न तारे, न कोई प्राणी। कुछ भी नहीं दिखाई देगा—केवल एक ईश्वर, सजीव और प्रेममय रह जायगा। (जामी)

प्रेम की अनुभूति अपने चरम क्षणो मे सासारिक उपकरणो और प्रतीको द्वारा अभिव्यक्त नही हो सकती। और ऐसी स्थिति मे इन कवियो ने विरोधी गुणो का आरोप करके प्रकृति के माध्यम से इस भावानुभूति को व्यक्त करने का प्रयास किया

है। अभिव्यक्ति का यह रूप संतों की उलटवासियों की शैली के समान है, परन्तु इसमें अलौकिक वैचित्र्य के स्थान पर अलौकिक सौन्दर्य ही अधिक है। कवि कहता है—

> मैं अग्नि से कहूँगा—'जाओ, गुलाब का उपवन बनो', मैं समुद्र से कहूँगा—'*अग्निमय हो जाओ*', मैं पर्वतों से कहूँगा—'*ऊन के समान हलके हो जाओ*'। मैं कहूँगा—'ये सूर्य, चन्द्रमा से मिलो'। हम अपनी कला से सूर्य के फव्वारों को सुखा देंगे और खून के फव्वारे को कस्तूरी में बदल देंगे। (रूमी)

* * *

प्रकृति के चित्रों के अतिरिक्त काव्य में प्रकृति परिकल्पना का एक दूसरा रूप उपमान-योजना है जिसमें प्रकृति के अनेकानेक उपकरण अप्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत आते हैं। प्रकृति के प्रत्येक रूप और स्थिति के साथ हमारे मनोभावों का संयोग रहता है। इस कारण प्रकृति की नाना स्थितियाँ और परिस्थितियाँ उपमान के रूप में काव्य में प्रयुक्त होती हैं। सूफी कवियों ने प्रकृति के इन अप्रस्तुतों का सुन्दर प्रयोग किया है और मानवीय जीवन की विभिन्न प्रकार की स्थितियों और परिस्थितियों को तथा भावों को व्यंजित करने के लिये प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से उपमानों की योजना प्रस्तुत की है। इन उपमानों का प्रयोग अधिकतर रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा और उदाहरण के रूप में हुआ है। इस अप्रस्तुत-योजना को दो रूपों में देखा जा सकता है। पहले रूप में प्रेम सम्बन्धी दृष्टान्तों आदि का प्रयोग है जिसमें प्रेम की व्यापकता, दृढ़ता, गम्भीरता, एकनिष्ठा आदि को प्रकृति के अप्रस्तुतों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। दूसरे रूप में जीवन के विषय में अन्य सत्यों का उल्लेख आता है। जिनमें विभिन्न प्रकार की शिक्षाओं को प्रकृति के माध्यम से दृष्टान्तों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

प्रेम के विषय में जिस व्यक्ति का हृदय जितना अधिक परिष्कृत होगा उतना ही वह साधना के मार्ग में आगे बढ़ सकेगा। कवि इस सत्य को इस प्रकार व्यक्त करता है—

> कभी पर्वत प्रतिध्वनि करते हैं और कभी मौन रहते हैं—कुछ पर्वत प्रतिध्वनि को द्विगुणित कर देते हैं और कुछ तीन गुना भी बढ़ा देते हैं। (रूमी)

*प्रेम के विकास में बुद्धि का स्थान नहीं है, यह सभी प्रेम के साधक जानते हैं।* इस सत्य को कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

> प्रेम अग्नि है और बुद्धि केवल धुआँ है—जैसे ही प्रेम प्रज्वलित हो जाता है धुआँ विलीन हो जाता है। (अत्तार)

ईश्वर और उसके प्रेम के विषय में कवि चश्मों और झरनों का रूपक बाँधता है—

जब तक चश्मा रहेगा नालियाँ उनमें से निकलती रहेंगी। तू चिन्ता न कर, नालियों का पानी पिये जा। चश्मों में प्रवाह पानी भरा है। (रूमी)

यहाँ नालियों का अर्थ प्रेम प्रवाह के रूप मे मानव जीवन से लिया जा सकता है। प्रेम चिरन्तन है, क्योंकि वह चिरन्तन ईश्वर का रूप है—

जो वस्तु बहार मे उत्पन्न होती है, पतझड के समय मिट जाती है—परंतु प्रेम की फुलवारी बहार से सम्बन्ध नहीं रखती—वह स्वयं सदाबहार है। (रूमी)

सासारिक प्रेम मे स्थायित्व नही है, सूफी कवि इस सत्य को स्वीकार करता है—

फूल में वादा पूरा करने और वचनों पर चलने का कोई लक्षण नहीं है। ऐ प्रेमी बुलबुल, तू इस बात की शिकायत कर सकता है। (हाफिज़)

अन्त मे कवि प्रेम और विरह को अवर्णनीय बताता है—

मैं प्रेम वाटिका का पक्षी हूँ—विरह का वर्णन करने में मौन हूँ और यह भी नहीं कह सकता, मैं इस आपत्ति में कैसे पड़ा? (हाफिज़)

यहाँ पक्षी की मूक वाणी के द्वारा प्रेम और विरह की सुन्दर व्यंजना की गयी है। और कवि अपने आराध्य को पाकर कह उठता है—

ये मेरी कस्तूरी की नाफ, तुम्हीं ने मुझको अपनी सुगन्ध के लिए काफ से काफ (पर्वत की विभिन्न चोटियों पर) दौड़ाया था। (जामी)

अन्त मे दूसरी प्रकार की अलकार-योजना मे प्रयुक्त प्रकृति अप्रस्तुतो के कुछ उदाहरण देना उचित होगा। जैसा कहा गया है इन सबका सकेत जीवन के साधनात्मक पक्ष से है। बिना उचित अवसर और स्थान के कोई काम नही होता—

गुलाब की कली वसत के बिना पुष्पित नहीं होती। (जामी)

उचित अवसर प्राप्त कर और सज्जन का साथ होने पर फल उत्तम और कल्याणप्रद ही होता है—

*पृथ्वी पर जब वसत मित्र का प्रवेश होता है, तब वह सहस्रों फूलों से* आच्छादित हो जाती है। (जामी)

दुष्ट साथी से कोई लाभ नही होता—

शरद् में पृथ्वी अपना मुख ढक लेती है। (जामी)

जब असज्जनो की अधिकता होती है, सज्जन और गुणीजन मौन रहते हैं—

जब कौआ जाड़े मे अपना डेरा डालता है, तब बुलबुल छिप जाता है और मौन हो जाता है। (जामी)

कथा का बाह्य अर्थ उसके आन्तरिक अर्थ को स्पष्ट करता है—

समुद्र फेन को फेंककर एक सीमा बनाता है— फिर उसको अन्दर खींचकर अपने प्रसार में प्रवाहित होता है। (जामी)

सज्जन दूसरों के लाभ और उपकार के लिए ही कर्म करता है—

सरिता तल स्वयं जल नहीं पीता, लेकिन उसपर से पीने वालों के लिए जलप्रवाहित होता है। (जामी)

* * *

इस समस्त विवेचना में ईरानी सूफी कवियों की व्यापक प्रकृति परिकल्पना को ध्यान में रखा गया है। यहाँ सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करने अथवा विभिन्न कवियों के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का उद्देश्य नहीं रहा है।

# परिशिष्ट—(२)

## प्रकृति परिकल्पना और लोकगीत

मानव के सौन्दर्य बोध के विकास मे प्रकृति की विभिन्न परिकल्पनाओं का योग रहा है, और इस दृष्टि से काव्य के सस्कार मे प्रकृति का गहरा स्थान माना जायगा। प्रकृति के रग-रूपो, आकार प्रकारो की विचित्रता, विविधता, विराटता, निर्जनता, भयानकता, रहस्यमयता और इसके साथ उसकी कोमलता, शान्ति, उल्लास, आनन्द आदि ने मनुष्य के मानसिक विकास को प्रेरित और सघटित किया है, और इसी आधार पर कवि और कलाकार प्रकृति की परिकल्पनाओ का आश्रय अपनी कला-कृति के सौन्दर्य-सर्जन मे लेता है। परन्तु लोक-गीत लोक-मानस की अभिव्यक्ति के रूप मे साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति से अलग पडते हैं। साहित्य सर्जन है, लोक-साहित्य अपने अभिव्यक्त रूप मे भी जीवन की प्रक्रिया का अभिन्न अग है। इस दृष्टि से लोकगीतो मे काव्य के सौन्दर्य-बोध के स्थान पर जीवन-बोध प्रधान है, और उनमे सौन्दर्य की परिकल्पना उसी सीमा तक आती है जिस सीमा तक वह जीवन की प्रक्रिया का भी अग है। यही कारण है कि लोक-गीतों मे प्रकृति की प्रमुख दृष्टि सौन्दर्य-बोध की न होकर लोक-जीवन मे उसकी स्थिति से सम्बन्धित है।

समग्र लोक-साहित्य लोक जीवन के 'जीने की प्रक्रिया' का अग होकर गतिशील होता है, इस कारण उसमे वस्तु, स्थिति, परिस्थिति, पात्र, चरित्र, मनोभाव तथा सवेदनाएँ जीवन के सीधे सदर्भ मे उपस्थित होती हैं। इसमे साहित्य के अभिव्यक्तिपरक साधारणीकरण के स्थान पर लोक-मानस के स्तर पर जीवन का साधारणीकृत रूप प्रतिघटित होता है। अत लोक-गीतो मे रसनिष्पत्ति की आनन्दपरक स्थिति सौन्दर्यानुभूति के स्थान पर जीवन की भावावगपूर्ण सहज भाव स्थिति का रूप रहता है। इस स्थिति मे लोक गीतो की प्रकृति किसी रस की भूमिका मे न आलम्बन है, न उद्दीपन, न उसके मानवीकरण की आवश्यकता है, न मानवीय भावारोप (उल्लास, आशा, निराशा आदि की मनःस्थिति मे) की, न वह मानव सहचरी के रूप मे अकित होती है,

और न कवि को जीवन की अनन्त प्रेरणा देने वाली शक्ति के रूप में। यहाँ प्रकृति उसी सीमा तक आती है, जहाँ तक वह लोक-जीवन का अंग है।

लोक-जीवन प्रकृति के सम्पर्क मे प्रवाहित है, उसमे नागरिक कृत्रिमताएँ अधिक विकसित नही हुई हैं, इस कारण उसका प्रकृति का परिचय धूमिल नही पडा है। वरन् वह सम्पर्क और परिचय इतना घनिष्ट है कि प्रकृति के किसी उपकरण अथवा परिस्थिति का उल्लेख करते ही लोक-गायक के सामने स्वत प्रकृति के उस दृश्य की सारी रूपमयता, समस्त वातावरण और संदर्भ व्यजित हो जाता है। वातावरण की सृष्टि के लिए उसे सम्पूर्ण रेखाओ को व्यक्त रूप देने अथवा संश्लिष्ट ढग से रगो को भरने की आवश्यकता नहीं होती। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि लोक-गायक की जीवन प्रक्रिया मे उसका गीत और प्रकृति दोनो एक साथ उसके अग के रूप मे उपस्थित होते हैं। प्रकृति उसके सामने प्रत्यक्ष है, फिर अपने गीत मे वह केवल सकेतो का आधार ग्रहण करता है। यही कारण है कि लोक-गीतो मे प्रकृति का साकेतिक चित्रण भर मिलता है, चाहे पृष्ठभूमि के रूप मे उसका प्रयोग किया गया हो अथवा वातावरण निर्माण के लिए, चाहे भावात्मक व्यजना की दृष्टि से हो अथवा सहचरण भावना की दृष्टि से। वस्तुत प्रयोग के रूप मे लोक साहित्य मे प्रकृति की परिकल्पना का प्रश्न नही आता। यहाँ प्रकृति जीवन-स्तर पर ही उपस्थित है, अत वह प्रत्यक्ष पृष्ठभूमि है, वातावरण है, साक्षात् भावानुप्रेरित और सहचरी है। किसी स्थिति मे उसके सागोपाग, संश्लिष्ट, अथवा काव्यात्मक दृष्टि से व्यजक चित्रण की अपेक्षा ही नही है। लोक गायक तथा लोक-मानस यह सब जीवन के प्रत्यक्ष संदर्भ मे स्वत ग्रहण कर लेता है।

जिस प्रकार पर्वतीय लोकगीतो मे चोटियो, घाटियो और उनमें खिलने वाले फूलो का सकेत सम्पूर्ण पृष्ठभूमि और वातावरण को प्रस्तुत करने में सहायक होता है, और मरु प्रदेशीय लोकगीतो मे टीलो, रेतीले प्रदेश, करील, बबूल, सेंहुड आदि के सकेत मे यह कार्य सम्पादित होता है, मैदान के लोकगीतों म वही कार्य वन, उपवन तथा विविध वृक्षों के सकेत करते हैं। मैदान की प्रकृति नागरिक सस्कृति के विकास के साथ सकुचित होती गयी है। खेती के विस्तार के साथ वनो का विस्तार समाप्त-प्राय है। फिर भी लोकगीतों म वनों की स्मृति रक्षित है। वनों या उपवनो के सांकेतिक उल्लेख या तो किसी कथा, घटना अथवा स्थिति की पृष्ठभूमि के रूप मे हुये हैं अथवा किसी परिस्थिति के वातावरण के निर्माण के लिए। फूल तोड़ने जाने वाली एक स्त्री के कथा-गीत मे भूमिका रूप से वन की कल्पना है—'किस वन में सुपारी

फूलती है, किसमे नारियल और किसमे पलाश फूलता है, मैं फूल चुनने जाऊँगी।"[1] इसी प्रकार किसी स्त्री के सुरत-सभोग की उद्दीपक भूमिका के रूप मे उपवन का वर्णन है—'आम-महुआ के उपवन के बीच मे से एक रास्ता लगा हुआ है, आम के लम्बे-लम्बे पत्ते हैं और इनके बीच मे टिकोरा लटक रहे हैं।'[2] यहाँ यद्यपि आगे का वर्णन शृगारमय है, पर भूमिका रूप मे यह सकेत-चित्र सहज जीवन का अग है, उद्दीपन-विभाव की काव्यात्मक योजना नहीं। कभी-कभी यह सकेत और भी सक्षिप्त उल्लेख के माध्यम से व्यजित हो जाता है—

एक बन डाँकिन दूसर बन डाँकिन तिसरे बिन्द्राबन।
देवरा एक बूँद पनिया पिअउतेउ पिअसिया से व्याकुल ॥[3]

जिस प्रकार इसके पूर्व के उद्धरण मे सुपारी और नारियल के वनो की कल्पना दूरवर्ती वनो की आदर्श-भावना के आधार पर है, क्योंकि गीत-विशेष के क्षेत्र मे ऐसे जगल नही होते हैं, उसी प्रकार वनो मे वृन्दावन की कल्पना भी अनेक पूर्वी क्षेत्रो के गीतो मे मिल जाती है।[4]

कभी-कभी इस प्रकार के सकेत-चित्रो मे प्रसग के अनुसार वातावरण प्रस्तुत करने में व्यजना भी सन्निहित हो जाती है। पहली परिकल्पना से प्रस्तुत प्रकृति चित्र मे किंचित ही अन्तर है। प्रथम सकेत-चित्र बहुत कुछ कथा-प्रसग से निरपेक्ष पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। पर प्रस्तुत रूप मे कथा से सम्पृक्ति जान पडती है। लक्ष्मण द्वारा त्यागी हुई सीता—'वन मे डहडहाये हुये सघन पत्तो वाले छोटे से ढाक के पेड के नीचे खडी होकर मन ही मन चिन्ताकुल हो रही है।'[5] एक अन्य स्थल पर प्रसग की पवित्रता, सकल्प तथा एकान्त निष्ठा आदि भावों के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने वाला प्रकृति चित्र है—

---

१. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी ग्रामगीत, सोहर ८; १—
कवन वने फूलेला सुपरिया, त कवना बने नरियर हो।
आरे कवना वने फूलेला पलसवा, लोढ़न हम जाइबि हो॥

२. वही, वही, गोंड के गीत, ९, १—
आमवा महुअवा के बाग ताहि रे बीच राह लगी।
आमवा के लामे लामे पात टिकोरवा लटकि रही॥

३. रामनरेश त्रिपाठी, ग्राम-साहित्य, सोहर ६६, १४।

४. वही, वही; सोहर ७, १६।

५. वही, वही; सोहर २०; १—
ढापक पेड छिउलिया तो पतवन घन वन।
ये हो ओहि तरे ठाढ़ी सीतल देई
मनहीं विसोइ करैं हो॥

ये जेवने बन तितिरिया न डोलें भंवरा न गुजरइ।
ये तेयने बन पैठत धयन राम परास डंडा तोरें ॥[1]

यहाँ पिता वटु के लिये ऐसे वन से पलास-दड लाने जाता है, जो रहस्यमयी आध्यात्मिक व्यजना कर रहा है। कभी लोक गायक वातावरण में भावना के अनुकूल पृष्ठभूमि व्यजित करता है। बेटी के विवाहोत्सव के बीच सोनार का लड़का लौंग के जिस बाग में उतरता है वह इसी प्रकार का है—मेरे पिछवाड़े लौंग की बगिया है, लौंग आधी रात गये फूलती है। उस लौंग से शीतल हवा बहती है और बड़े सवेरे खूब महकती है।[2] लौंग के बाग की कल्पना यहाँ आदर्श रूप में है और उसका आधी रात में फूलकर प्रात महकना व्यजक है, क्योंकि वास्तव में सोनार का लडका पति रूप में ही स्मरण किया गया है।

मैदान के जीवन में नदियों का बहुत आकर्षण है। इन नदियो के सहज आकर्षण के कारण लोक मानस में इनके प्रति पवित्रता की भावना का विकास हुआ है। विशेष पर्वों पर विभिन्न नदियो में स्नान करने का महत्त्व है। लोक गीतो मे नदियो के तट जीवन की विविध स्थितियो और भावनाओ से सवेदित हैं। एक गीत में वन्ध्या नारी की वेदना और करुणा की पृष्ठभूमि मे यमुना तट है—'सखियो, यमुनाजी चलें। यमुना का पानी निर्मल प्रवाहित है चलो घडा भर लायें।'[3] इसी यमुना के पनघट पर सखी कहती है—

ना मोहँ सास ससुर दु ख ना नेहर दूरि देस।
बहिनी! ना मोरा पिया परदेस कोखि दु ख रोवऊँ हो ॥[4]

इस जीवन के उल्लास और भावाकुलता के अनुकूल इन स्थलो पर प्रकृति का चित्र है। कृष्ण और गोपियो की रास लीला की रगस्थली यमुना तट है इस परम्परा के प्रभाव से सरिता पुलिन प्राय लोकगीतों मे क्रीडास्थली के रूप में अकित होता है। यह अवश्य है कि लोक भावना के अनुकूल ये सकेत चित्र सारी परिस्थिति के अभिन्न अग है। यमुना तट पर रुक्मिणी हिंडोला झूल रही है—'गहरी प्रवाहित यमुना के पुनिन पर

---

१ वही, वही, जनेऊ के गीत १७, १।

२ वही, वही, विवाह के गीत ३३, १।

मेरे पिछवरवाँ लवगिया के बगिया लवँग फूले आधा रात रे।
बहि लवँगवा के शीतल बयरिया महँके बड़े भिनुसार ॥

३ वही, वही, सोहर २, १—

चलहु न सखिया सहेलरि जमुनहिं जाइय हो।
जमुन के निमल नीर कलस भरि लाइय हो ॥

४ वही, वही, सोहर २, ४।

चन्दन का गहगहा रूख है और उसकी डाल पर हिंडोला पडा हुआ है।"[1] यहाँ यमुना-तट पर रुक्मिणी की अवतारणा लोक कल्पना के अनुकूल है, क्योंकि लोक-भावना मे देश-काल-इतिहास सभी उसकी मुक्त प्रकृति के आधार पर ग्रहण होता है। व्रज की मनिहारी लीला के सकेत पर एक लोकगीत मे यमुना का चित्र है—

जात जमुनवा के भरि किलि पनिया;
आवत जमुनवा अथाह सुन रे गोरिया।[2]

लगता है कि यह, वसुदेव जब नवजात शिशु को नन्दग्राम ले जा रहे थे, उस समय की यमुना का स्वरूप वर्णन है, पर इसके माध्यम से मनिहार रूपी प्रेमी (अर्थात् कृष्ण) के प्रसग मे प्रेम की गहनता की व्यजना की गयी है।

इसी प्रकार नारी के विकसित यौवन-उन्माद की भूमिका रूप मे गगा यमुना के बीच की रेती का सकेत है—'इस पार गगा है, उस पार यमुना है और दोनो के बीच मे रेत पड गयी है। उस रेत पर एक योगी बैठता है जिसने मुझे विलमा लिया है।[3] किंचित सकेतो से लोक-गीतो की व्यजना मार्मिक हो उठती है, क्योंकि उसको जीवन के यथार्थ सदर्भ मे लिया जाना सगत है। एक अन्य गीत मे साधारण सकेतो से गगा की बाढ का दृश्य प्रत्यक्ष होता है, और साथ ही एक युवती की अपने प्रिय से मिलने की उत्कठा उस बाढ की आशका के साथ व्यजित है। स्त्री गगा से प्रार्थना करती है—'गगा तो मेरी माँ है, केवट मेरा भाई है। किंचित अपनी एक लहर को सकोर लो, पार उतर जाऊँगी।' यह विनय भावविह्वल हृदय से वह अपने प्रिय से मिलने के लिए कर रही है। गगा भी स्वजन की ममता से उत्तर देती है—

फइसे में लहरि सकारीं, आइलि रितु मोर।
तोरा स्वामी हउवे पँवरकिया, उतरि जइहें पार।[4]

---

१ वही, वही, सोहर ५५, १—

गहरा जमुनवाँ के निरवाँ चनन गछ रुखवा हो।
तिन डरिया परे हैं हिंडोलवा झूलहि रानो रुकुमिनि हो॥

२ कु० उ०, भो० ग्रा०, झूमर २७, १।

३. वही, वही, विवाह ४, १—

एह पार गगा रे ओह पार जमुना,
बिचवा में परि गइले रेत रे।
ताहि रगरेतवा पर जोगी एक बइठेले,
आँगिया लिहले बेलमाइ ए॥

४. वही, वही; बहुरा के गत ४, १—

गगा त हइ मेर माइ, केवट मोर भाइ।
रचि एक लहरि सकोर, उतरि जाइबि पार॥

और २।

गंगा का संकोच अपनी ऋतु (वर्षा की यौवन ऋतु) के कारण है, पर वह नारी के भाव को अपनी भाव-स्थिति के आधार पर समझ रही है, इसी कारण आश्वासन भी देती है।

मैदान के जीवन में खेती के प्रसार के साथ वन समाप्त होते जा रहे हैं, और अब वृक्षों का अंकन सम्यक् महत्वपूर्ण भूमिका और वातावरण प्रस्तुत करता है। इन वृक्षों में आम, जामुन, इमली, पाकड, महुआ, बाँस, ढाक, नारंगी, चम्पा, तुलसी का स्थल-स्थल पर उल्लेख है। चन्दन आदर्श कल्पना के रूप में इन वृक्षों के साथ स्थान-स्थान पर प्रस्तुत हो जाता है। ये वृक्ष लोक-जीवन को वस्तुपरक आधार देने की अपेक्षा उसके स्पन्दन और स्फुरण के अधिक निकट हैं। ये उसीके साथ आते हैं, बढते हैं, गहगहाते हैं और सूख भी जाते हैं। ये इस प्रकार लोक-जीवन की भावना में सजीव हैं। इनके साथ लोक-गायिका निकटता का अनुभव करती है। अनेक बार इनके विकास के साथ लोक-जीवन की परिस्थितियाँ और भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। पुत्री ने आंगन में झाडू लगाकर जो कूड़ा द्वार पर लगा दिया है, उसपर एक आम उग आया है और—

जब-जब अमावा में भइले दुइ पतवा रे।
नउवा ले आवेला तिआर ; ए बाबा के तोर फेंड आसी ॥[1]

कन्या की बढती हुई आयु की सूचना यह आम का वृक्ष देता है और कन्या की उसके प्रति ममता भी व्यंजित हुई है—'बाबा, तुम्हारा कौन इसको सींचेगा।' कालिदास की शकुन्तला की उक्ति में यही प्रेरणा कार्य कर रही है। कहीं केवल ये स्थिति के आधार भर प्रस्तुत करते हैं—हजारा नामक फूल से सेज बिछाकर युवती अपने पति की प्रतीक्षा—'आम और इमली के वृक्ष के नीचे खडी होकर कर रही है।'[2] भाव-संयोग के माध्यम से ये वृक्ष कहीं-कहीं गहन भाव-व्यंजना की पृष्ठभूमि के समान अंकित है—

आम महुअवा के घनी रे बगिया;
ताहि बिचे राह लागि गईले हो राम।

यहाँ इस आम-महुआ के घने वृक्षों के बीच से चले गये रास्ते की भावना उसके नीचे विदेशी पति की प्रतीक्षा में खडी हुई सोहागिन नारी के ढरते हुए आँसुओं की पृष्ठभूमि में ग्रहण की जा सकती है।[3] इन वृक्षों के साथ विभिन्न भावों का संयोग रहता है, एक प्रौढा स्त्री पुत्र के जनेऊ के अवसर पर स्वामी की प्रतीक्षा—'सघन छाया वाले

---

१. वही, वही, पिड़िया के गीत १४ ; १, २।
२. वही, वही ; पिड़िया के गीत ३ ; ६—
 फूल हजारे के सेज डसवनी।
 सेजिया के लेके महुइया तर खड़ी, इमिलिया तर खड़ी।
३. वही ; वही, रोपनी के गीत ५ ; १, २।

इमली के वृक्ष के नीचे खडी होकर कर रही है।' आम-महुआ के साथ भावोद्वेलन का सम्बन्ध है पर इमली की सघनता सुस्थिरता का प्रतीक मानी जा सकती है।

पाकड का पेड अपने ठूंठ रूप मे, स्थिति विशेष मे जीवन के प्रत्यक्ष स्तर पर अधिक सजीव आधार बन सका है—

मोरा पिछुवरवा ठूंठ पाकरि ए राम।
राम ताहि चढि जोगी बंसी नजावेला ए राम ।।[1]

योगी और उसकी प्रेम-साधना के संदर्भ मे 'ठूंठ पाकर' उचित भूमिका प्रस्तुत कर सका है। इसी प्रकार शिरषि वृक्ष की कल्पना वन्ध्या नारी के क्लेश की पृष्ठभूमि है—'मेरे घर के पिछवाडे शिरीष का पेड है जो रात-भर हवा मे हहर-भहर करता है। मेरा छरहरा पति उसीके नीचे सोता है, पर उसे रात भर नीद नही आती।'[1] यहाँ पति के नीद न आने का कारण शिरीष की हहराहट से अधिक निस्सतान होने का क्लेश है, और वृक्ष तो उसकी इस भावना की पृष्ठभूमि मे नारी के मानसिक उद्वेलन को व्यजित करता है। वास्तव मे शिरीष के पुष्प की कोमलता और सौन्दर्य साहित्य मे प्रतिष्ठित है, पर लोकगीत मे इसके पेड की विषण्णता को स्वीकार किया गया है। उसकी सूखी फलियाँ सूखे पत्तो के साथ ऐसी ही हहर-भहर करती हैं। उसके साथ ढाक वृक्ष को भी लिया जा सकता है। यह बहुत सम्मानित पेड नही है और लोक-साहित्य की करुण-भावना की भूमिका मे ही इसका अकन हुआ है। ढाक के वन का भी उल्लेख किया गया है। हरिनी करुण भाव से हरिन की प्रतीक्षा 'एक छोटे-मोटे ढाक के पेड के नीचे कर रही है, जिसके पत्ते लहलहा रहे हैं।'[1] इनके मन मे चिन्ता और उदासी है। परित्यक्ता सीता अपनी विपदा मे ढाक के पेड के नीचे खडी है—

छापक पेड़ छिउल कर पतवन घनबिन हो।
जिहि तर ठाडी सोता देई बहुत विपत में हो ।।[4]

उनके मन मे भी सोच और सकोच है। पूरब मे बाँस बहुत होता है। इस गीत मे उसका सजीव चित्र है—

---

१ वही ; वही ; बहुरा के गीत ५, १।
२ वही ; वही ; जतसार ५ ; १—
ऐ राम मोरा पिछवरवा सिरिसिया, हहर-भहर करे हो राम।
ऐ राम ताहि तरे सोवे पियवा पातर, निनियो ना आवेला हो ॥
३. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर १२ ; १—
छोट मोट पेड़वा ढेवुलिया त पतवा रे लहलही हो।
रामा ताही तरे ठाढि हो हरिनिया हरिनया बाट जोहइ हो ॥
४. वही ; वही ; सोहर ४५ ; १।

मोर पिउभारावां घनी रे बँसवरिया ;
बिनु पुरवा घहराई ।

परन्तु यह बिना पुरवा के निनादित बाँस का झुरमुट बाल-पति की युवती पत्नी की पायजेब की समकक्षता मे प्रस्तुत है, क्योकि उसका पति भीरु है। पर यहाँ 'बंसवरिया' की घहराहट मे युवती की भावना व्यंजित है।[1]

सौभाग्य-सूचक अथवा पुण्य अवसर के वातावरण के लिए चंदन, चंपा तथा तुलसी जैसे वृक्षो के संकेत-चित्र मिलते हैं। इनमे चन्दन आदर्श कल्पना है, क्योकि चन्दन के वृक्ष इस क्षेत्र मे नही होते। पुत्र-जन्म के अवसर पर प्रसूता अपने 'आँगन मे लगे हुए चन्दन के पेड तथा चंपा की डाल का उल्लेख करती है।'[2] इसी प्रकार अपने पौत्र के जन्म के अवसर पर देवी पितामही—

चनन कै बिरछा हरेर तौ देखतै सुहावन।
तेहि तर ठाढ़ि ............देवी मनावै॥[3]

नदी के तट पर कदम्ब का उल्लेख और उस पर चढकर कृष्ण के वंशी बजाने का प्रसग पच्छिम के (ब्रज क्षेत्र के विशेष रूप से) लोकगीतो मे पाया जाता है। पूरबी गीतों मे यह कदम्ब कभी चन्दन हो जाता है—'नदी के तट पर चन्दन का छोटा-सा सघन पेड है, जिस पर चढकर कृष्ण बाँसुरी बजा रहे हैं।'[4] कदम्ब हिंडोला झूलने के प्रसग मे बहुत बार उल्लिखित हुआ है। अन्यत्र विवाह के लिए कृतसंकल्प वर देव को भी चुनौती देता है कि चाहे जितना गरजो बरसो वह दूसरे की कन्या ब्याहने जायगा, पर उसे संभवतः तुलसी के आशिष का भरोसा है—

मोरे के आँगना तुलसिया रे अरे पतवन झालरि रे।
तेहि तर ठाढ़ दुलह रामा देवा मनावई रे॥[5]

वस्तुतः तुलसी के प्रति लोक-गायिका के मन मे देवी-तुल्य श्रद्धा है और उसीसे यह विश्वास है। विरहिणी नारी के सदर्भ मे चन्दन कोमल करुण भावना की पृष्ठभूमि मे प्रस्तुत है—

ननदी का अँगना चननवा के गछिया हो रामा।
ताही तर कगवा बोलेला सुलछन हो रामा॥[6]

---

१. कृ० उ० ; भो० ग्रा० ; बिरहा ४८।
२. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर ३२ ; १।
३. वही ; वही ; जनेऊ के गीत १२ ; १।
४. कृ० उ० ; भो० ग्रा० ; चैता ३ ; १।
५. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; विवाह के गीत ५३ ; १।
६. कृ० उ० ; भो० ग्रा० ; चैता २१ ; १।

इस गीत मे 'ननदी का आँगन' कहने से चदन वृक्ष की स्थिति अधिक व्यजक हो गयी है और 'काग' के उल्लेख से आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत हुआ है।

लोक जीवन म तालावो का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, ज्यो ज्यो पूरव की ओर बढें तालाबो की सख्या अधिक होती जाती है। वर्षा के समय ये अधिक भरे गहरे होकर लहराने लगते हैं और लोक मन को उल्लसित करते हैं। तालाब से चकवा का भी सम्बन्ध है। राम सीता के विषय मे जब चकवा से पूछते हैं, वह कहता है—'मैं तालाब के बीच मे रहता हूँ और आकाश मे उडता हूँ।'[1] पर घर के पीछे अथवा गाँव मे लहराते हुए तालो की कल्पना अधिक प्रत्यक्ष है। युवती कन्या अपने वर को अपने घर के पीछे के ताल पर देखती है और यह ताल उसके यौवन के समान लहराता है—

> मोरा पिछवरवा रे तालाब बहुत बा,
> पुरइन मारेले हिलोर ए।
> ताँहि पइसि कवन दुलहा सुनारा रे;
> धोतिया कचारे ले, पूछेली कवन सुहवा बात ए॥[2]

अपनी यौवन की उमग म जैसे उसमे प्रिय कामना जागती है। उसीके दूसरे रूप मे व बा के ताल मे 'पुरइन हालर' दे रही है।[3]

काल के विविध रूप तथा ऋतु परिवर्तन के सकेत मात्र लोक गीतो म मिलते हैं। लोक-जीवन काल और ऋतुओ के साथ अपने सारे क्रम को परिचालित और भावनाओं को स्पदित पाता है। वे उसके साथ अभिन्न हो गयी हैं, इसी कारण उनके सकेत मात्र से इस जीवन की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। चिड़िया बोलने के सकेत से प्रात की भूमिका हो जाती है, रात की सघन अँधेरिया के उल्लेख से सावन भादो के मेघाच्छादित आकाश की कल्पना सन्निहित हो जाती है, गर्मी और तपन के माध्यम से जेठ की पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो जाती है और वन मे मोर की कूँजन तथा आम की शाखा पर कोयल की कूक से वसत का वातावरण उपस्थित हो जाता है।[4] इस प्रदेश म वर्षा और वसन्त दो ऋतुएँ अधिक व्यापक हैं, इनम भी वर्षा भावमय पृष्ठभूमि के रूप म अधिक उपस्थित होती है और वसन्त भावोद्वेल के उद्दीपन रूप म अधिक प्रस्तुत

---

१. वही, वही, भजन ८, ४।
२ वही, वही, विवाह १।
३ रा० त्रि०, विवाह के गत ७, १—
पुरब पच्छिम मोरे बाबा क सगरवा पुरइनि हालर देइ।
तेहि घाटे दुलहे धोतिया पखारैं पूछैं दुलहिन देइ बात॥
४. रा० त्रि०, ग्रा० सा०, सोहर ७, १, ५१, ३, २, कृ० व०, भो० ग्रा०, होली, ५, १।

होता है। वर्षा का प्रभाव इतना व्यापक है कि लोक-गीत में यह ऋतु हस्यमय भी हो सकी है—

बरिसे लागल भगवनवा ; बरखा खूबे होलो ना।
रातमें बरिसे दिनहू में बरिसे ; बरिसे लगले ना॥
बादल गरजे, बिजुरी चमके ; दम-दम दमके ना॥
बरिसे लागल भगवनवा, बरखा खूबे होला ना॥[1]

इस चित्र मे लोक-जीवन का वर्षा विषयक उल्लास निहित है, यद्यपि यहाँ पर अन्य किसी भाव का आलम्बन प्रस्तुत नही है। परन्तु अन्यत्र इस प्रकार के प्रकृति सकेत प्रत्यक्ष भाव की पीठिका, भूमिका या वातावरण प्रस्तुत करते हैं। कही भावज ननद से सावन मास मे घिरे हुए बादलों को देखकर कहती है—'कजली खेलने कैसे जाऊँ', कही कोई प्रोषितपतिका सावन मास की वर्षा की भडी लगी देखकर नदी तीर पर बछडो को चराने वाले देवर की सुधि करती है और कही पुत्रवती पूर्वी हवा की सुहावनी लहरों का अनुभव करती हुई उल्लसित होकर अपने शिशु की क्रीडाओ की कल्पना करती है।[2]

× × ×

अभी तक प्रकृति की विविध परिकल्पनाओं का पृष्ठभूमि और व्यापक वातावरण के रूप मे विवेचन किया गया है। यद्यपि इस प्रकार के प्रकृति सकेतो और चित्रो मे अनेक बार कोई न कोई व्यजना सन्निहित हो गयी हैं। पर जीवन से अभिन्न होकर प्रस्तुत होने के कारण प्रकृति के विविध उपकरणो, पात्रो, स्थितियों और दृश्यो मे मानवीय जीवन और भावना की प्रत्यक्ष व्यजना अधिक मार्मिक रीति से सन्निहित हो गयी है। प्रकृति के कुछ रूपो मे प्रसग की व्यजना अन्तर्निहित है—'ओह राम, उस यमुना की चिकनी मिट्टी पर चलते पाँव फिसलता है। और उस यमुना का काला पानी है, जिसको देखकर मन घबराता है।'[3] यहाँ यमुना में कृष्ण के अन्तर्निहित हो

---

१. कृ० उ० ; भो० ग्रा ; कजली ८।
२. कृ०उ०; भो०ग्रा०; झूमर ४; १—
कइसे खेले जाइबि हम सावन में कजरिया;
अब बदरिया घेरि अइले ननदी।
निरगुन ४; १—नदिया के तीरे देवरू चरावेले।
कि ओहि मेरे रामा, सॉवनवाँ रे झड़ी लागेला ए राम।
रा०त्रि०, सोहर ५०; ८—बहे पुरवइया पवन मन होलइ हो।
लालन खेलिहैं बरोठवा दुनौ बन देखब हो॥
३. कृ०उ०; भो०ग्रा०; चेता १३; २, ३।

जाने की परिस्थिति की अनुकूलता व्यंजित है, पर यह प्रयोग पिछली प्रकृति परिकल्पना से अधिक भिन्न नहीं है। यही गोपियों के वियोग की व्यंजना इन नदियों की. धाराओं मे निहित है—'इस पार गंगा है, उस पार यमुना है और बीच मे सरयू बहती है, अपने कन्हैया पार उतर गये पर मुझसे कुछ नही कहा।'[1] जब गायिका आम से पूछती है—'कि गुन अमवा बउरलें' तब आम के उत्तर मे एक भाव-सत्य व्यंजित होता है—

नाहीं मोके मलिया जो सींचला नहीं हम अपने गुन।
रिमकि झिमकि देव बरसें उनके जो बुन्द परे॥[2]

क्योंकि इसीकी समता मे पुत्रवती ने सास के धर्म से सुन्दर शिशु (होरिल) पाया है।

कभी प्रकृति के दृश्य-विधान के माध्यम से जीवन के व्यापक अर्थ की व्यंजना हुई है—'आम की डाल पर कोयल बोलती है और वट की डाल पर सुग्गा बोलता है। पर आम मुरझा गया, सेमर उकठ गया और वट की डाल भी सूख गयी।'[3] इस प्रकृति के परिवर्तन मे जीवन की नश्वरता की व्यंजना है। कभी किसी निश्चित भाव की व्यंजना प्रकृति के संकेत चित्र में निहित रहती है—'नदी बहुत गहरी है उसमे अथाह जल प्रवाहित है, पिया परदेश को चले और छाती विदीर्ण होती है। दह मे चकवा-चकवी रोते हैं।'[4] इस चित्र मे विरहिणी के मन का उद्वेलन इस प्रकार व्यक्त किया गया है। वातावरण की समता के आधार पर भाव-स्थिति का संकेत निहित रहता है—'पानी रिमझिम बरस रहा है, मेरे आँगन मे कीचड हो रहा है। मेरी सास, अपने कन्हैया को बरजो, जो मेरे आँगन मे कीच कर रहा है।'[5] यहाँ प्रकृति-रूप के समान लोक-प्रिया का मन भी मथित और उद्विग्न हो उठा है। पर कभी विरोधी

---

१. वही, वही, भजन १५, १।

२. स०रि०, आ०सा, सोहर २१; २।

३. कृ०उ०; भो०ग्रा० बिरहा ६५—

अमवा के डरिया बोलेले कोइलिया,
सुगा बरवा के बोले डाढि।
अमवा मउरा गइले, सेमर उकठि गइले,
बरवा के सूखि गइले डाढि॥

४. वही, वही, जतसार १८, १, ३—

गहरी नदिया अगम बहे पनिया।
पिया चलेले परदेसवा, बिहरेला राम छतिया॥
दह रोवे चकवा चकइया॥

५. वही, वही, सोहर १२, १—रीमि भिमि देव बरिसे, अँगनवा मोरे कीच करे हो

कुछ मे अप्रस्तुतो अथवा उपमानो के समान हैं जिनका साकेतिक रूप से प्रयोग किया गया है। लोक जीवन से अभिन्न प्रकृति अपने इस अप्रस्तुत विधान मे नितान्त प्रत्यक्ष, प्रस्तुत और सजीव है तथा उसके साथ जीवन भी अपनी विभिन्न स्थितियो मे अक्त हुआ है। दोनो रूप इस प्रकार एक साथ प्रस्तुत होकर अपनी आत्मीय निकटता के कारण समान सत्य और भावना की व्यजना करते हैं। परन्तु इस प्रकार के प्रयोगो के साथ लोक-साहित्य मे जीवन के स्तर पर ही प्रकृति के कुछ उपकरणो को मान्य अथवा विशिष्ट प्रतीको के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है, ये प्रतीक प्राय अपने व्यापक सदर्भ के साथ एक ही व्यजना सदा देते हैं।

भौंरा रसिक प्रेमी के रूप मे लिया गया है जो दूसरी स्त्रियो मे अनुरक्त है। यह भौंरा अपने पिता के वन में फूली हुई सुपारी और भइया के वन मे फूले हुए नारियल को चुनने का बहाना करने वाली युवती का आँचल पकडता है।[1] नारगी का प्रतीक सदा नारी के यौवन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, उसके मूल मे स्तनो के उपमान होने की भावना निहित है।[2] इस प्रश्न मे निहित नारगी कन्या के युवती होने की व्यजना के लिए है—

> के मारे नौरँगिया लगावे तो थल्हवा बन्हावै।
> के रे नौरँगी रखवार त के मोरे चोरी करे॥[3]

चम्पा के फूल को भी यौवन (युवती नारी) का प्रतीक माना गया है, पर इस प्रसग मे सयम की अपेक्षा उच्छृखलता अधिक है।[4] कुंआ और डोरी सभोग-सुख के लिए प्रतीक हैं—

> पातर तोरी कुइयाँ ए बालम, रेसम लागलि डोर।
> एक फूलवा फूले ए बालम, देहिया रे घाहाराइ॥[5]

फूल उसकी उपलब्धि सतान की सभावना के रूप मे इस प्रतीक को अधिक

---

१ कु० उ०, भो० ग्रा०, सोहर ६, ३—
आरे फूल पर के लाल भँवरवा, अँचलवा धर बिलमावेला हो।

२ वही, वही, बहुरा के गीत ६, १०—
लोहरा त बाटे भँवरो दुठे नँवरगिया,
हमरा के आहि में से दान ए हरी॥

३ रा० त्रि०, ग्रा० गी०, सोहर ३३ १।

४ कु० उ०, भो० ग्रा०, जनमर ४, १—
मार सिंधुमारामा ननदी, चम्पा के फूलवा नु रे जी।
चम्पा के फूलवा ए ननदी, रहेला गरमवा नु रे जी॥

५ वही, वही, झूमर ३४, ६, २।

व्यक्त कर देता है। सुआ पति है, पर परदेश जाने का संकल्प करने वाला।[1] वैसे प्रिय के सामान्य अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। फल न देने वाली सोने जैसी लता वन्ध्या का प्रतीक है। इसमे लता स्त्री के लिए सामान्य उपमान के रूप मे भी मानी जा सकती थी, पर लता अपने व्यक्तित्व के साथ उपस्थित है। राजा दशरथ यहाँ इस लता को संबोधित करके पूछते हैं—

बेइली ! पतवा कवन अस तोर तो फल कैसे निरफल हो ।[2]

और लता राजा का ध्यान कौशल्या के वन्ध्या होने की ओर आकर्षित कर देती है।

जँभीरी नीबू लोक-कल्पना मे वीर्यवान यौवन का प्रतीक हो गया है। प्रसूता युवती अपने ससुर के द्वार पर लहराने और महर-महर महकते हुए जँभीरी नीबू के वृक्ष के नीचे भीगने की बात कहती है, जिसका भाव है कि वह संतानवती होकर अपने प्रिय के संभोग-सुख की स्मृति से आर्द्र हो रही है।[3] कोयल प्रेमी और विरहिणी नारी के रूप मे प्रस्तुत हुई है पर कभी-कभी उसको अपने घर को त्यागकर पति के घर चली जाने वाली विवाहिता कन्या के रूप मे चित्रित किया गया है।[4] कभी कभी एक पूरा प्रकृति-चित्र किसी सत्य के प्रतीक रूप मे प्रस्तुत हुआ है—

बहि गइले पुरवैया, मारेल हिलोर ।
करेला करेजा, अब त हिडोर ।।[5]

यहाँ नदी की हिलोर के साथ पुरवैया के झोको को ससार के रूपक के समान माना जा सकता है, पर यह दृश्य लोक-गायक की भावना मे प्रत्यक्ष प्रस्तुत है और आगे 'नाव के मझधार मे पडने' तथा 'चारो ओर अन्धकार दिखाई देने' आदि के उल्लेखो से जो सांसारिकता का बोध कराया गया है, उसकी असहायावस्था की व्यजना इसीके माध्यम से की गयी है।

× × ×

लोकगीतो में व्यापक रूप से प्रकृति जीवन की सघन सम्पृक्ति मे उपस्थित रहती है। वास्तव मे जिस प्रकार वह अप्रस्तुत अथवा सौन्दर्य-बोध के स्तर पर साहित्य मे अंकित अथवा व्यजित होती है, लोक-साहित्य के प्रत्यक्ष जीवन के स्तर पर उनकी

---

१ वही, वही, विविध ४, १—
कहवा से चलि अइले रातुल सुगवा रे,
कहवाँ हो लेले बसेर रे ।।
२ रा० त्रि० ; भा० सा०, सोहर ६, १।
३. वही०, वही०, सहर ४८, १।
४ वही, वही, विवाह ४४, १।
५. कृ० उ०, भो० ग्रा०, मनन १२, १, २।

मन स्थिति मे भी प्रकृति चित्र उपस्थित होता है—

> जउ मे जननेउँ ये लवँगरि एतनी महँकविउ।
> लवँगरि रँगतेउँ छयलवा के पाग सहरवा मे गमक्त।
> बाउ बहइ पुरवइया त पछुआँ झकोरइ।
> बहिनी दिहेउ केवड़िया ओठँगाइ सोवउँ सुख नींदरि॥[1]

यहाँ लौंग की तीखी सुगंध और पुरवइया के झोंके विरहिणी के मनस्ताप को बढ़ा रहे हैं, पर यह व्यंजना से ग्रहण किया गया है, अतः उद्दीपन रूप से भिन्न प्रयोग माना जायगा।

प्रकृति के संकेत चित्रों मे जो दृश्य-विधान अथवा वातावरण कुछ प्रतीकों के आश्रय पर प्रस्तुत होता है उसमे भी भाव-व्यंजना सन्निहित रहती है। कुछ वृक्ष, फल तथा पक्षी आदि लोक-साहित्य के स्वीकृत और व्यापक प्रतीक हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। यहाँ वातावरण और व्यंजना के लिए जहाँ प्रतीकों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, उनसे तात्पर्य है। इनमे प्रायः कोई जीवन की व्यापक परिस्थिति अथवा कोई विशिष्ट भाव-स्थिति व्यंजित होती है—'प्रिय क्या तुम आम पर लुभा गये हो, या बाट ही भूल गये हो ?'—'हे रानी मेरी प्रिय, मैं न आम पर लुभाया हूँ और न बाट भूला हूँ। मेरे बाबा के बाग मे एक कोयल बोल रही है। मैं उसी की बोली सुन रहा हूँ।'[2] यह 'आम' तथा 'कोयल' का प्रतीकात्मक प्रयोग है जो इस वातावरण मे एक भाव-स्थिति सन्निहित कर देता है कि नायक किसी अन्य नायिका पर मुग्ध है। अन्यत्र ऐसे ही प्रतीक निहित चित्र मे सामान्य भाव व्यंजित किया गया है—

> केकरा ही नदिया रे झिलमिल पनिया,
> अरे केकरा ही नदिया सेवार ए।
> केकरा ही नदिया चलहवा मछलिया,
> कवन दुलहा लावेला जाल ए॥[3]

इस चित्र के माध्यम से परिवार मे कन्या की स्थिति और उससे सम्बद्ध संवेदन व्यंजित है। इसी प्रकार 'पति द्वारा लगाई हुई दो नारंगी के वृक्षों के पति के विदेश चले जाने के बाद सूख जाने के उल्लेख के द्वारा पत्नी की वेदनाजन्य मन स्थिति का पता

---

१. ग्रा०गी०, प्र०भा०, सोहर १५, १, ३।

२. वही, वही विवाह के गीत २०, १,२—

दुनहिन राजा न अमवा लुभाने न गये बटिया भुलाइ।
बाबा के बगिया कोइलि
एक बोलै कोइलि सबद सुनी ठाढ़॥

३. भू० उ०; से० मा०; विवाह १ : १।

चलता है।[1] पक्षियो के प्रतीकात्मक प्रयोग से प्रकृति का ऐसा वातावरण भी प्रस्तुत किया गया है जिसके माध्यम से जीवन की एक निश्चित स्थिति व्यक्त की गई है—'सुआ कहता है-हे कोयल देवी, हमारे देश चलो, आनन्द-वन छोड दो। कोयल कहती है—हे सुआ, मैं तुम्हारे देश तो चलूं, पर मुझे तुम क्या सुख दोगे? मैं आनन्द-वन छोड दूंगी। सुआ कहता है—हमारे देश मे आम पक रहे हैं। महुआ टपक रहा है। डाल पर बैठ कर सुख भोगो। आनन्द वन छोड दो।'[2] इसके द्वारा कन्या के वधू के रूप मे पति द्वारा आमन्त्रित किये जाने की भाव-स्थिति को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। हमारे लोक-समाज मे परिवारो मे कन्या का जो भावात्मक स्तर का महत्व है उसकी मार्मिक-व्यजना को अभिव्यक्त करने वाला प्रस्तुत प्रकृति-चित्र है—

> आधे तलवा माँ हंम चुनें आधे माँ हंसिनि।
> तब हूं न तलवा सोहावन एक रे कमल बिन रे॥
> आधे बगिया माँ आम बौर आधे माँ इमली बौरे हों।
> तबहूं न बगिया सोहावनि एक रे काइल बिन रे॥
> आधी फुलवरिया गुलबवा आधी माँ केवडा गमकइ।
> तबहूं न फुलवा सोहावन एक रे भँवर बिन रे॥[3]

इसमे सारी प्रकृति-योजना अप्रस्तुत-विधान के रूप मे भी मानी जा सकती है, पर लोक-साहित्य मे जीवन की सन्निकटता के कारण यह प्रतीकात्मक चित्र है जिसमे आगे का पारिवारिक प्रसग व्यजित हो गया है। तालाव, बाग और फुलवारी कमल, कोयल और भौंरा के बिना सूने हैं, पर इसी तरह परिवार बिना कन्या (ननद) के सूना है। एक गीत मे एक स्त्री स्वप्न मे अनेक प्रकृति के प्रतीकों को दृश्य रूप मे देखती है जिनकी व्याख्या घन-सतति आदि के अर्थ में की गयी है—'मैंने एक सुन्दर अजब स्वप्न देखा। धान मे टूंड और कपास मे ढोढिया निकलते देखा। द्वार पर हाथी खडा है, जिस पर राजा दशरथ सवार थे। गगा जी मे लहरें उठ रही थी, सरयू में बाढ आ गयी थी, त्रिवेणी मे पैठ कर नहा रही थी और गोद मे गजाधर थे।'[4]

× × ×

अभी तक प्रतीकों की चर्चा सामान्य अर्थ मे की गयी है। इस रूप मे बहुत

---

१. वही; वही, जतसार १; २।
२. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; विवाह के गीत ४०; १, २, ३।
३. वही; वही; विवाह के गीत ४७; १, २, ३।
४. वही; वही; सोहर २८; २, ३।

स्थिति स्वीकृत नहीं हो सकती। इसी कारण प्रकृति से सम्बन्धित सहचरण की भावना बहुत ही यथार्थ और सक्रिय रूप में इन गीतों में पाई जाती है। एक विरहिणी अपने पति द्वारा खिलौना रूप में दिये गये सुआ को बड़े प्रेम से रखती है और वक्ष में छिपाकर सोती है; फिर वह सन्देश लेकर पति के पास भी जाता है।[1] इन गीतों की भावना में पक्षी बिल्कुल आत्मीय जन की भाँति सन्देश, निमन्त्रण तथा पत्रिका आदि ले जाने और समाचार लाने का कार्य सम्पादित करते हैं। कभी कोयल से घर के पहले विवाह के अवसर पर सम्बन्धियों को न्योतने के लिये प्रार्थना की जाती है। इस आह्वान में कोयल के प्रति जो स्नेह और सम्मान व्यक्त किया गया है वह कालिदास के 'मेघदूत' का स्मरण दिलाता है—

> अरी डारी कारी कोइलि तोर जतिया भिहावन रे।
> कोइलारि कोलिया बोलउ अनमोल त सब जग मोहै रे॥

लोक-गीतों में यथार्थ का पुरुष पक्ष भी विद्यमान रहता है, पर इस प्रकार जगमोहने वाले मीठे बोलों की चर्चा करके कोयल को लोक गायिका बहुत आत्मीय रीति से आँगन में बुलाती है।[2] अन्यत्र विवाह का निमन्त्रण भेजने का कार्य भौंरा को और विवाह ठीक करने का कार्य सुआ को सौंपा जाता है। सुआ को बड़े सत्कार के साथ भेजा जाता है और वहाँ उसके जाने की विधि भी बताई गयी है—

> उड़त-उड़त तू जायो रे सुगना बैठेउ डरिया श्रोनाय।
> डरिया श्रोनाय बैठा पखना फुलायउ चितया नर्जारया घुमाय॥[3]

यहाँ सुआ के प्रति आत्मीयता और निकटता का वह भाव निहित है जिसके काव्यात्मक सौन्दर्य-बोध का उत्कर्ष 'मेघदूत' में यक्ष की मेघ के प्रति उक्ति में मिलता है। इसी प्रकार आँगन में लहलहाते हुये चन्दन वृक्ष पर सुहावनी बोली बोलने वाले कौवे से जब ग्रामवधू नैहर या प्रीतम का सन्देश जानने की प्रार्थना करती है, वह नवें मास पुत्र जन्म की भविष्यवाणी करके उसे आह्लादित करता है।[4] यहाँ अपनी निकटता में प्रकृति मानवीय जीवन से समान स्तर पर सम्बन्धों और भावों का आदान प्रदान करती हुई प्रस्तुत है। कौवा के उड़ जाने से प्रियतम का आगमन होता है, यह लोक विश्वास है। इसी के आधार पर महल के ऊपर सुहावने बोल सुनाने वाले कौवा से विवाहिता बहन अपने भाई के आगमन की आकांक्षा से प्रार्थना करती है—

---

१. वही: वही, पूर्वी ३।
२ रा० त्रि०, विवाह के गीत ४६, १, २।
३. वही, वही, विवाह के गीत ४६ १, २, १, २।
४ वही, वही, सोहर १७।

उड़ो न कागा तुम्हें दिहें धागा,
सुनवा मढइयों तोरी चोंच।
जो रे चीरन घर आवेंरे रूपा मढ़इयों तोरी पांख ॥[1]

इस आत्मीय निकटता की भावना से प्रेरित होकर लोक की नववधू अपनी सुहाग रात के आनन्दोल्लास को अबाध रखने के लिए प्रकृति पात्रों से सहायता की प्रार्थना करती है—'आज सुहाग की रात है, चदा तुम उगना, तुम निश्चय ही प्रकाशित होना। पर सूरज तुम न उदय होना। हे मुर्गे, तुम आज न बोलना, बोलकर मेरा हृदय विरस मत करना। हे पौ, तुम आज न फटना, कहीं मेरी छाती न फट जाए।'[2] अपनी भावना और आकांक्षा के इतने निकट लाकर इन प्रकृति रूपों को सम्बोधित किया गया है कि लगता है वे लोक-जीवन के अभिन्न पात्र हों। विरह की स्थिति मे भी नायिका इसी आत्मीयता से काली घटा से प्रिय के देश में बरसने की प्रार्थना करती है।[3] एक विरहिणी स्त्री अपने परदेसी बनजारे प्रिय को मना लाने केलिए श्यामा पक्षी से निवेदन करती है, और स्नेह की स्वीकृति के रूप में यह पक्षी उसकी चिट्ठी बनजारे प्रिय तक पहुँचा भी देती है।[4] यह प्रकृति का आत्मीय सवेदन लोक-गीतों के वातावरण मे ही समव है। इस प्रसग मे सम्बोधन की मार्मिकता के कारण आत्मीय सहचरण का भाव अधिक सघनता से सवेदित हुआ है। एक वन्ध्या नारी के प्रति गगा की सहानुभूति मानवीय स्तर पर व्यक्त हुई है। स्त्री अत्यन्त करुणा से कहती है—

गगा ! अपनी लहर हमें देतउ में मँझधार डूबित हो।

उसके वास्तविक दुःख को जान कर गगा आन्तरिक सहानुभूति के साथ आश्वासन देकर उसे विदा करती है—

जाहु तेवइया घर अपने हम न लहर देवइ हो।
तेवई ! आजु के नवएँ महिनवाँ होरिल तोर होइहैं हो ॥[5]

लोक-मानस के स्तर पर प्रकृति और जीवन एक साथ प्रवाहित हैं। इस अभिन्न स्थिति मे दोनो सहानुभूति और सवेदन के एक ही स्तर पर हैं। साहित्य की अभिव्यक्ति

---

१. वही, वही, विवाह के गत ७७, १, २।
२. वही, वही, विवाह के गीत ६६, १,२।
३. वही, वही, सोहर १५,२।
४. वही, वही, सोहर ८—
अरे अरे श्यामा चिरइया भरोखवै मति बोलहु।
मेरी चिरई ! अरा मोरा चिरइ ! मिरको भिनर बनजरवा,
जगाइ लइ आवउ, मनाइ लइ आवउ ॥
५. वही, वही, सोहर १।

स्थिति स्वीकृत नही हो सकती । इसी कारण प्रकृति से सम्बन्धित सहचरण की भावना बहुत ही यथार्थ और सक्रिय रूप मे इन गीतो मे पाई जाती है । एक विरहिणी अपने पति द्वारा खिलौना रूप मे दिये गये सुआ को बडे प्रेम से रखती है और वक्ष मे छिपाकर सोती है; फिर वह सन्देश लेकर पति के पास भी जाता है ।[1] इन गीतों की भावना में पक्षी बिल्कुल आत्मीय जन की भाँति सन्देश, निमन्त्रण तथा पत्रिका आदि ले जाने और समाचार लाने का कार्य सम्पादित करते हैं । कभी कोयल से घर के पहले विवाह के अवसर पर सम्बन्धियो को न्योतने के लिये प्रार्थना की जाती है । इस आह्वान मे कोयल के प्रति जो स्नेह और सम्मान व्यक्त किया गया है, वह कालिदास के 'मेघदूत' का स्मरण दिलाता है—

अरी डारी कारी कोइलि तोर बतिया भिहावन रे ।
कोइलारि कोलिया बोलउ अनमोल त सब जग मोहै रे ॥

लोक-गीतो मे यथार्थ का पुरुष पक्ष भी विद्यमान रहता है, पर इस प्रकार जगमोहने वाले मीठे बोलो की चर्चा करके कोयल को लोक-गायिका बहुत आत्मीय रीति से आँगन मे बुलाती है ।[2] अन्यत्र विवाह का निमन्त्रण भेजने का कार्य भौंरा को और विवाह ठीक करने का कार्य सुआ को सौंपा जाता है । सुआ को बडे सत्कार के साथ भेजा जाता है और यहाँ उसके जाने की विधि भी बताई गयी है—

उड़त-उडत तू जायो रे सुगना बैठेउ डरिया ओनाय ।
डरिया ओनाय बैठा पखना फुलायउ चितया नर्जारया घुमाय ॥[3]

यहाँ सुआ के प्रति आत्मीयता और निकटता का वह भाव निहित है जिसके काव्यात्मक सौन्दर्य-बोध का उत्कर्ष 'मेघदूत' मे यक्ष की मेघ के प्रति उक्ति मे मिलता है । इसी प्रकार आँगन मे लहलहाते हुये चन्दन वृक्ष पर सुहावनी बोली बोलने वाले कौवे से जब ग्रामवधू नैहर या प्रीतम का सन्देश जानने की प्रार्थना करती है, वह नवें मास पुत्र जन्म की भविष्यवाणी करके उसे आह्लादित करता है ।[4] यहाँ अपनी निकटता मे प्रकृति मानवीय जीवन से समान स्तर पर सम्बन्धो और भावो का आदान प्रदान करती हुई प्रस्तुत है । कौवा के उड जाने से प्रियतम का आगमन होता है, यह लोक विश्वास है । इसी के आधार पर महल के ऊपर सुहावने बोल सुनाने वाले कौवा से विवाहिता बहन अपने भाई के आगमन की आकांक्षा से प्रार्थना करती है—

१. वही, वही, पूर्वो ३ ।
२. रा० त्रि० ; विवाह के गीत ४६, १, २ ।
३. वही; वही, विवाह के गीत ४६; १, २ ; १, २ ।
४. वही, वही , सोहर १७ ।

उड़ौ न कागा तुम्हें दिहें धागा,
सुनचा मढ़इयों तोरी चोंच।
जो रे वीरन घर आवैरे रूपा मढ़इयों तोरी पाँख ॥[1]

इस आत्मीय निकटता की भावना से प्रेरित होकर लोक की नववधू अपनी सुहाग रात के आनन्दोल्लास को अबाध रखने के लिए प्रकृति पात्रों से सहायता की प्रार्थना करती है—'आज सुहाग की रात है, चदा तुम उगना, तुम निश्चय ही प्रकाशित होना। पर सूरज तुम न उदय होना। हे मुर्गे, तुम आज न बोलना, बोलकर मेरा हृदय विरस मत करना। हे पौ, तुम आज न फटना, कहीं मेरी छाती न फट जाए।'[2] अपनी भावना और आकांक्षा के इतने निकट लाकर इन प्रकृति रूपों को सम्बोधित किया गया है कि लगता है वे लोक-जीवन के अभिन्न पात्र हों। विरह की स्थिति मे भी नायिका इसी आत्मीयता से काली घटा से प्रिय के देश में बरसने की प्रार्थना करती है।[3] एक विरहिणी स्त्री अपने परदेसी बनजारे प्रिय को मना लाने के लिए श्यामा पक्षी से निवेदन करती है, और स्नेह की स्वीकृति के रूप मे यह पक्षी उसकी चिट्ठी बनजारे प्रिय तक पहुँचा भी देती है।[4] यह प्रकृति का आत्मीय सवेदन लोक-गीतों के वातावरण मे ही समव है। इस प्रसग मे सम्बोधन की मार्मिकता के कारण आत्मीय सहचरण का भाव अधिक सघनता से सवेदित हुआ है। एक वन्ध्या नारी के प्रति गगा की सहानुभूति मानवीय स्तर पर व्यक्त हुई है। स्त्री अत्यन्त करुणा से कहती है—

गगा! अपनी लहर हमें देतउ मैं मँझधार डूबित हो।

उसके वास्तविक दुख को जान कर गगा आन्तरिक सहानुभूति के साथ आश्वासन देकर उसे विदा करती है—

जाहु तेवइया घर अपने हम न लहर देबइ हो।
तेवई! आजु के नयएँ महिनवाँ होरिल तोर होइहैं हो ॥[5]

लोक-मानस के स्तर पर प्रकृति और जीवन एक साथ प्रवाहित हैं। इस अभिन्न स्थिति मे दोनो सहानुभूति और सवेदन के एक ही स्तर पर हैं। साहित्य की अभिव्यक्ति

---

१. वही वही, विवाह के गत ७७, १, २।
२ वही, वही, विवाह के गीत ६६, १ २।
३ वही, वही सोहर १५,२।
४. वही, वही, सोहर ८—
अरे अरे श्यामा चिरइया भरोखवे मति बोलहु।
मोरी चिरइ! अरी मोरी चिरइ! सिरकी भितर बनजरवा,
जगाइ लइ आवउ, मनाइ लइ आवउ॥
५ वही, वही, सोहर १।

मे प्रकृति पर जो मानवीय रूपाकार, जीवन अथवा भावनाओ का आरोप होता है, वह लोक-साहित्य की प्रकृति के अनुकूल नही। लोक-गायक को प्रकृति को अपने जीवन के संदर्भ मे सजीव अथवा सप्राण अनुभव करने की आवश्यकता भी नही होती। उसके लिए प्रकृति अपने आप मे सजीव और सप्राण है, वह अपने ही रूपाकार मे प्रस्तुत है, वह उसके लिए पात्र है, व्यक्तित्व है, चरित्र है। इसी कारण वह अपने समान धरातल पर प्रकृति को सम्बोधित ही नही करता, वरन् उसको अपनी सुख-दुख, आह्लाद-अवसाद, प्रेम करुणा आदि भावनाओ मे भी मग्न पाता है। साहित्य मे व्यजित भावो के प्रक्षेपण से इस प्रकृति की भावमग्नता मे अन्तर है, क्योकि यहाँ प्रकृति स्वतन्त्र पात्र और चरित्र के रूप मे प्रस्तुत है। जो भाव-साम्य या सवेदन की एकरूपता का आधार है, वह आत्मीय निकटता अथवा सहचरण के कारण है।

हरिन-हरिनी की कथा के माध्यम से प्रकृति के जीवन की करुणा का सजीव चित्र लोकगायिका प्रस्तुत करती है—'एक छोटे-मोटे लहलहे पत्तो वाले ढकुलिया (ढाक) के पेड के नीचे खडी हरिनी हरिन की बाट जोहती है। वन से निकलकर हरिन हिरनी से पूछता है—हे हरिनी, तुम्हारा बदन (मुख) मलीन और पीला क्यो है। —मैं राजा के द्वार पर गयी थी, वहाँ से सुन आई हूँ कि आज छोटे राजा बहेलिये स हरिन को मरवायेंगे।'[1] इस कथा-प्रसग मे सीता के गर्भवती होने के कारण हरिन के मारे जाने की बात कही गयी है और हरिनी की प्रार्थना से कौशल्या हरिन के दोनो सीगो को सोने से मढाने और तिल-चावल खिलाने का वचन देती हैं। इस प्रकार हरिन हरिनी की इस कथा मे मानवीय जीवन की गहरी व्यजना है और जो उनको मानवीय पात्रता देने के कारण ही सम्भव हो सकी है। हरिन-हरिनी की दूसरी कथा मे प्रकृति के सहज जीवन के प्रति मानव की कठोरता और उपेक्षा को व्यक्त करके परिस्थिति को मार्मिक करुणा से अभिभूत कर दिया गया है—'छिउल के गहबर पत्तो वालों छोटे पेड के नीचे हरिनी अनमनी खडी है। चरते ही चरते हरिन ने हरिनी से पूछा—हरिनी क्या तेरा चेहरा मुरझा गया है या पानी के बिना तू मुरझ रही है।—न मेरा चेहरा मुरझा गया है, न मैं पानी के बिना मुरझा रही हूँ। हरिना, आज राजा जी के यहाँ छट्ठी है, और तुमको मार डालेंगे। माची पर बैठी हुई रानी कौशल्या से हरिनी अरज करती है—रानी, माँस तो रसोई मे सीझ रहा है, खाल तो हमको देती। पेड से खाल टाँगकर मन समझाऊँगी, जैसे हरिन जीता हो।—हरिनी, अपने घर जाओ। खाल नहीं दूँगी। इस खाल से खँजड़ी मढ़वाऊँगी जिससे मेरे राम खेलेंगे।' और इस प्रकार पति-वियुक्ता हरिनी को रानी की क्रूरता के कारण इतना

---

१. बढ़ा, बढ़ा, सोहर १२।

भी सुख नहीं मिल सका, अब—

जब-जब बाजइ खँजड़िया सबद सुन अनकइ हो।
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे
हरिन का बिसूरइ हो।[1]

हरिन की खाल की खँजड़ी के शब्द को सुनकर हिरनी का 'अनकना' और हरिन के लिए 'विसूरने' मे कितनी मार्मिकता और करुणा है। इससे लोक-गायिका की प्रकृति के साथ सहचरण की व्यापक और गहन भावना का पता चलता है।

लोक-गीतो मे यथार्थ एक स्तर पर सदा बना रहता है। प्रकृति और लोक-जीवन एक दूसरे के प्रति सहानुभूतिशील है, तो उपेक्षाशील और निरपेक्ष भी। राम-लक्ष्मण सीता की खोज मे चले जा रहे है और मार्ग मे चकवा पक्षी से पूछते हैं—'ये चकव", तुम बात सुनो। क्या तुमने सीता को इस बाट जाते देखा है?' चकवा निरपेक्ष भाव से उत्तर देता है—'मैं तालाब के बीच मे रहता हूँ, आकाश मे उन्मुक्त उड़ता हूँ, मैंने सीता को जाते नहीं देखा।' उसके इस अभिमान के कारण राम ने लक्ष्मण को उसे मार डालने की आज्ञा दी।[2] यहाँ चकवा जैसे रावण के पक्ष का माना गया हो। अन्यत्र एक स्त्री कोयल को सपत्नी के रूप मे मान कर कहती है—

रामा अगिया लगाइबि कोइलरि तोहरी ही बोलिया।
जरी से कटाइबि घनि बगिया हो रामा॥[3]

× × ×

लोक-गीतो के सहज जीवन की एक सक्रिय प्रेरणा के रूप मे प्रकृति उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत भी स्वीकार की जा सकती है। लोक-मानस प्रकृति को अपने भावावेश के स्तर पर सर्वत्र ग्रहण करता है, पर अन्यत्र प्रकृति के प्रति उसका भाव समकक्षता अथवा सहचरण का रहा है। इसी स्तर पर वह लोक जीवन को अनेक भावात्मक क्षणो मे उद्दीप्त भी करती है। अधिकतर ऋतु अर्थात् काल सम्बन्धी परिवर्तनो और रूपो से मानवीय भावो को उत्प्रेरित और अधिक सवेदित अकित किया गया है। लोक-साहित्य मे ऋतुओ के वर्णन के स्थान पर बारहमासो का प्रचलन अधिक है, तथा होली-हिंडोल-कजली आदि ऋतु विषयक प्रसगों को भी लिया गया है। बारहमासो की परम्परा मे प्रमुखतः आषाढ तथा चैत मास से वर्णन आरम्भ करने की है। इस प्रदेश मे वर्षा और वसन्त दोनो ही उल्लास की ऋतुएँ हैं, दोनो मे प्रकृति शृगार करती है और इसी कारण मानवीय भावो को उद्दीप्त करने मे इनका अधिक

---

१- वही; वही, सोहर २६।
२ कृ० उ० ; भो० ग्रा० ; भजन ८।
३- वही ; वही , चैता २८॥

सहयोग है। परन्तु इनके अतिरिक्त बारहमासों का आरम्भ सावन, फागुन, कातिक और माघ से भी होता है।[1] अधिकतर तो सामान्य विरहिणी की भावना के साथ मासो का प्रत्यावर्तन अंकित है, इनमे कुछ मे विरहिणी की उक्ति परदेसी पति के प्रति है कुछ मे सखी से अपनी वेदना और कष्टो का वर्णन है और कुछ मे स्वत. अपनी वेदना को व्यक्त किया गया है। कभी तो परदेस जाते हुए पति से प्रवत्स्यपतिका स्त्री का कथन भी मासो के माध्यम से है।[2] गोपियो के प्रसग को लेकर भी बारहमासा हैं, जिनमे कुछ मे गोपी विरहिणी के रूप मे कृष्ण को लक्ष्य करके कहती है, कुछ मे विरहिणी गोपी की उद्धव के प्रति उक्ति है।[3] राम-कथा के सदर्भ को लेकर चलने वाले बारहमासो मे कुछ का सम्बन्ध लका-युद्ध के अवसर पर लक्ष्मण के शक्ति लगने से है और कुछ का राम के वनवास प्रसग से है।[4] एक स्थल पर माँ अपने होने वाले शिशु को लक्ष्य करके बारहमासो का उल्लेख करती है।[5]

'आषाढ़ मास मे बादलो के दल उमडते आ रहे हैं, और पति छोडकर विदेश गया है। इस मास में असाढ़ी नामक घास लगती है, इसको काट कर लोग अपना घर छवाते हैं। चुरगुन नामक पक्षी उसे चीरकर अपना घोसला बनाता है, ऐसे समय पति परदेस विराजते हैं। आषाढ का पहिला महीना बीत गया, कृष्ण नहीं लौटे। प्रियदर्शन बिना यह मास कैसे बीते ? यह मास चढ आया, आकाश मे बादल गरजते हैं, बादलो मे बिजली चमकती है, मैं विरहिणी विहुँक विहुँक कर चकित होकर मन मे सोच करती हूँ। अब बूँदो की झडी लगी हुई है, निष्ठुर कृष्ण इस मास मे नही लौटे। आषाढ़ मास मे स्त्री (मैंने) ने सिंदूर से माँग भरी, पर पति विदेश चला गया। सखी, यह मास आ गया, नदी-नाले भर गये, पति नही आया। आषाढ मे मोर बोलता है, पति कुवरी कुलटा के वस मे है। बादल घिर आने से विरहिणी दुःख रूपी जल मे डूब रही है।' राम-कथा के प्रसग मे विरह की भावना का यह रूप नहीं है—'आषाढ म बादल जोर से गरजते हैं, मेघनाद युद्ध मे शक्ति लगाता है। चारो ओर से बादल गरजते हैं, पपीहा 'पी-पी' करता है, अयोध्या मे कौशल्या सोच-सोचकर रो रही हैं कि वन में राम-लक्ष्मण कहाँ भीग रहे होगे।" राम का स्मरण कर हनुमान न धवलागिरि के लिए

---

१ वही, वही, बारहमासा १, ३, ५, ६, ११, १४ तथा १५ में असाढ़ से ; ८, १२ में चैत से ; २ में कार्तिक से ; ४, १० में सावन से ; ७ में माघ से प्रारम्भ है। रा० त्रि०, सोहर ४० में फागुन से प्रारम्भ है।

२ वही ; वही ; बारहमासा १,४,५,१०,११,१३,१४,१५,६।

३ वही, वही, बारहमासा २,३,६।

४. वही ; वही ; बारहमासा ७,१२, – ।

५. रा० त्रि०, ग्रा० सा० ; सोहर ४१।

प्रयाण किया, तब आषाढ का महीना चढ गया और काली-काली घटाएँ घिर आई।' अन्यत्र माँ कहती है—'बेटा आषाढ मे जन्म न लेना, गली-गली बादल गरजते हैं, पास-पडोस की स्त्रियाँ सोहर गाने कैसे आयेंगी।'[1]

इसी प्रकार अन्य मासो के कालगत परिवर्तन का संकेत देकर अपने मन की पीडा अथवा उल्लास का वर्णन किया गया है—'सावन मास सुहावना है जिसमे पति प्रसन्न करता है, पर मेरा पति तो घर ही नही आता। जल लबालब भरा है, स्त्रियाँ कुसुम्भी रग के वस्त्र छोडकर अन्य रगो के कपडे पहनती हैं, झूला झूलती हैं। गीत गाती हैं, पर पति बिना सब विपरीत लगता है। सुहावना और मगलमय है, सखियाँ झूला झूलतीं और पति के साथ क्रीडा करती है। सावन मेरे लिये वैरी हो गया है। पति ने मुझे छला है और कुबरी से प्रेम किया है। इन्द्र रिमझिम-रिमझिम वर्षा करते हैं। बूँदो की झडी है, मोर चारो ओर चकित बोलता है, मेढ़क टर्र-टर्र करते हैं। बूँदें पडती हैं और मैं परदेसी के लिए पिया-पिया रट रही हूँ, सुहावने मौसम मे पति की भेजी हुई आगरे की छींट पहनी है। सावन चढ आया, दोनो आँखें फडक रही हैं। पुरवैया हवा बह रही है। देव गरज कर डरा रहा है, पपीहा चारो ओर बोलता है, मोर और मेढ़क भी शब्द सुनाते है।' राम-कथा के प्रसग मे—'सावन मे भयकर लडाई शुरू हुई।''''' सावन मे ताल-तलैया और नदियाँ जल से भर गयी हैं, सीता-राम वन मे भीगते होगे। वर्षा के कारण ज़मीन पर गोजर-साँप फिरते हैं और राम, लक्ष्मण तथा सीता वन मे घूमते हैं।''''सुहावने मास मे अँधेरा होने के कारण सजीवनी बूटी दिखाई नही देती, दिशाएँ ही दिखाई नही देती, हनुमान क्रुद्ध हो गये हैं।' माँ अपने पुत्र से कहती है—'सावन मे जन्म न लेना, सब सखियाँ झूला झूलेंगी, मैं कैसे जाऊँगी।'[2]

'भादो मास मे सेज डसाती हूँ, पपीहा और मोर बोलता है, सेज घनेरी सालती है। ज़ोर से पानी बरसता है, नदियो मे जल उमड आया है, बिजली चमक कर प्रकाश कर रही है, स्त्री समझती है मेरा पति आ गया है। रात भयानक है, हृदय डरता है, चारो ओर बिजली चमकती और बादल गरजता है। इस मास घर नही भाता। जीना कठिन है, आँगन मे मेढक बोलते हैं, मेरी विरहाग्नि मे वृन्दावन के तालाब सूखे पडे हैं, मैं कोयल बनकर घूम रही हूँ। भयानक रात, उसपर अँधेरा पाख, मेरे असली दु.ख का कारण विदेश जाने वाला मेरा पति है। बादल गरजते हैं, किसकी शरण जाऊँ। भादो चढ़ आया, पर पति का समाचार नही मिला, ताल-तलैया

---

१. कृ० उ०. भो० मा०; बारहमासा १,१:२;६ : ३,१ ४;४ : ५;१ : ६;१ : ११;१ : १३;१ : १४,१ : १५,१ | ७,६ : ८,४ : १२;४ | रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर ४०;५ |

२. वही; वही, बारहमासा १, २ : २; १० ; ३; २ : ४; १ : ५; २ :६; २; १०; १: ११; २: १४ ;१: १५; २ | ७, ५ : १२; ५ | रा० त्रि०, ग्रा० सा०; सोहर ४१; ६ |

भर जाने से रास्ता नही दिखाई पडता है। गगन गम्भीर है, जलधर घिर आये हैं, किसकी शरण जाऊँ।' राम-कथा के प्रसंग मे—'अपार बरसा होती है, लोग घर छवाते हैं, बडे-बडे बूँद पानी बरसता है, सीता-राम भीगते होंगे।'' जिस तरह रात मे बादल जोरो से गरजते हैं, हनुमान गरज और तडप रहे हैं। चारो ओर अंधेरा है, दिशा दिखाई नहीं पड रही, राम का स्मरण कर हनुमान चल पडे।' माँ की भावना मे—'भादो मे बिजली चमकेगी, स्त्रियाँ कैसे आयेंगी।'[1]

'क्वारमास भी चला आया प्रिय नही आये, मैं तो विष खाकर मर जाऊँगी। वन मे मोर बोल रहा है, गोरी तुम्हारा पति आ गया, उठो। इस मास मे बडी आशंका बनी हुई है, किसका अवलम्ब गहूँ। यह मास अच्छा नही लगता। कृष्ण का कोई समाचार नहीं मिला। नन्दलाल कहाँ चले गये, क्या केले के वन मे घूम रहे हैं या कुबरी के साथ क्रीड़ामग्न? बहुत खराब मौसम है, बिजली चमकती है, मन डरता है, किसकी शरण जाऊँ? महीना चढ आया है, कुँवारा देवर झुलवा मे हाथ डालता है। कडी धूप मे शरीर व्याकुल हो जाता है। पति के आने की आशा लगी है, प्रतीक्षा करते सारी रात बीत गई, सवेरा हो गया।' राम कथा के प्रसंग मे—'क्वार मे धर्म का राज है, राम होते तो ब्राह्मण भोज कराते।''क्वार महीने मे लक्ष्मण का बेहाल हो गया, राम गोद मे लेकर रो रहे हैं।'' पति के मरने पर मन्दोदरी रोती है।' माँ की भावना के अनुसार—'बेटा, इस मास मे जन्म न लेना, पितर आयेंगे और दुःख पायेंगे।'[2]

'कार्तिक मास मे मैं रक्त के आँसुओं की स्याही से पत्र लिखती हूँ, ये कौआ तुम मेरा दुख पति से समझा कर कहना। इस मास मे अहीर अपनी गायो को चराते और नाचते घूमते हैं, पर मेरा पति व्यापार करने परदेस गया है। पवित्र मास है, मंदिरो मे सखियाँ पूजा करती हैं। पति परदेस चला गया, मैं पछता रही हूँ। मैं प्रिय के साथ जोगिनी बनने को तैयार हूँ, कृष्ण के साथ दुख सुख भोगती और आकाश मे दीपक जलाती। जाडा लगने लगा है, सब सखियाँ गगा-स्नान कर रही हैं, मैं किसके साथ गगा नहाऊँ? आँगन मे ओस गिर रहो है, सखी, झूला ओस से भीग गया है। चारो दिशाओ मे दीपक जलाये जाते हैं। यदि पति होता तो साथ सुख दु:ख भोगती और आकाश मे दीप जलाती।' राम-कथा प्रसंग मे—'सब सखियाँ दीपक जला रही हैं, मेरी अयोध्या राम बिना अँधेरी है।'' आशा बँध गई है कि सजीवनी-बूटी शीघ्र ही आ जायगी।''

१. कृ० उ०, भो० ग्रा०, बारहमासा १; ३ : २; ११ : ३, ३ : ४; १ : ५, ३ : ६; ३ : ११; ३ : १३; ३ : १४, १ : १५; ३ | ८, ६ : ७, ८ : १२, ६ | रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर ४०; ७।

२. कृ० उ०, भो० ग्रा०; बारहमासा १, ४ : २, १२ : ३; ४ : ४; १ : ५, ४ : ६; ४ : ११, ४ : १३, ४ : १४, २ : १५, ४ | ८; ७ : १२, ७ : ७; ६ | रा० त्रि०. ग्रा० सा०. सोहर ४० ; ८ |

जामवन्त ने देवताओ को प्रणाम कर लका पर चढाई की।' माँ कहती है—'पुत्र, कार्तिक मे जन्म न लेना, सब सखियाँ तुलसी की पूजा करने जायेंगी, मैं कैसे जाऊँगी।'[1]

'अगहन मास मे मेरी सेज सूनी है, पति की प्रतीक्षा कर रही हूँ। सखियाँ गवने म ससुराल जा रही हैं। बडा जाडा लगने लगा है, पति होता तो सुख-दु ख उसके साथ भोगती। पति आने को कह गया था, पर सारे मास नही आया। रात अगम्य हो गयी है। धान की वाली फूटती है, यह महीना अगम हो रहा है। लगन का समय आ गया, अब मेरा पति मेरा गौना ले जायगा। बडा दु ख है, किससे कहूँ? ये सखी, अगहन मे बेल फूलता है और धान मे वाली आती है।' राम कथा प्रसग म—'अगहन मे कोई सुन्दरी शृगार करती है, और राम पीताम्बर पहने हैं। यह मास गहन दु खदायी है, हनुमान पहाड लेकर वापस आ गये हैं।' राम सीता सहित अयोध्या वापस लौटे।' माँ कहती है—'इस मास सब सखियाँ गौने जायेंगी, मैं उन्ह देखने और भेंटने कैसे जाऊँगी।'[2]

'पूस मास मे पाला गिरता है, पति-वियोग कष्ट देता है, पति गोद मे भरे तभी मेरा जाडा छूटेगा। जोर का पाला पड रहा है। जाडे के मारे सब अग काँप रहे हैं, स्तन कंपन हैं, लोटा का पानी हिलता है मानो काँप रहा हो, सुन्दरी की सेज कम्पित है, पति के बिना उसका हृदय चलायमान है। कुहरा पडते समय काल का बोध नही होता, सभी अपनी स्त्री अथवा पुरुष मे मन लगाते हैं। ऐसे ही पूस का सारा महीना बीत गया। ओस मे लम्बे बाल भीगते हैं, प्रिय कृष्ण! मेरा सिन्दूर और काजल तुम्हारे साथ है। बहुत छोटा मास है, जो म वाली फटती है। पूस चढ आया है, चूहा मेरे भूने को बिल मे ले गया। यह मास जीव का जजाल हो गया है।' राम कथा प्रसग मे—'पूस मास मे तलवार की धार के समान कष्टदायी पाला पडता है, कुश के आसन पर राम कैसे सोयेंगे? पूस का पाला कुठार के घाव के समान है, हनुमान ने बूटी पिलाकर लक्ष्मण को होश म किया। बारह महीने समाप्त हो गये और राम अयोध्या वापस आ गये, सब लोग प्रसन्न हुए।' माँ कहती है—'पूस म जन्म मत

---

१ कृ० उ०, भो० ग्रा०, बारहमासा १, ५ २, १ ३, ५ ४, १ ६, ५ ११, ५ १३, ५ १४, २, १५, ५। ८, ८ १२, ८ ७, १०। रा० त्रि०, ग्रा० सा०, सोहर ४०, ६।

२ कृ० उ०, भो० ग्रा०, बारहमासा १, ६ २, २ ३, ६ ४, २ ६, ६ ११, ६ १३, ६ १४, ३, १५, ६। ८ ६ १२, ६ ७, ११। रा० त्रि०, ग्रा० सा०, सादर ४०, १०।

लेगा, पाला पडता है, मुझे जाडा बहुत लगेगा।'[1]

'माघ मास में आम बौरता है, मैं विरह में पागल होकर मर रही हूँ, प्रिय बिना हृदय को कौन विकसित करेगा। हे शिव, मेरा व्रत सफल करो, इस मास तुम्हारा व्रत होता है। उनका धन्य भाग्य है जो माघ में अंग से अंग मिलाकर सिरहाने प्रिय का हाथ रखकर सोती हैं। मैं यौवन माती हूँ, मन में कैसे आशा बाँधूं। सखि, माघ में ठरन होती है शरीर को कष्ट होना है, छोटी आयु में पति परदेस चला गया, किस हाल से जिऊँगी। दिन बडा होने लगा है, तुषार सहित जाडा पडता है, पति बिना जाडा नो मन रुई की रजाई में भी नहीं जाता है। अब कौवा मेरे आँगन में बोल रहा है, मेरे आँचल में आग लग गयी है। माघ में बिना पिया के जाडा नहीं जाता। माघ महिने में दामिनी के समान कामिनी को पिय छोडकर चला गया, अब कलियों से डसाई सेज भी दुःखद है।' राम कथा के प्रसंग में—'माघ में वसन्त ऋतु आ गयी, मैं राम के बिना कैसे जिऊँ। इस मास में वसंत पंचमी होती है, सखियाँ शृंगार करती हैं। राम सीता बिना उदास हैं, अपने दुर्बल शरीर को देखते हैं। हे प्रिय (रावण), माघ में वसंत आ गया, तुम जानकी को वापस कर दो।' माँ कहती है—'इसी मास में पुत्र जन्म लेना, सुख से रहूँगी।'[2]

'फागुन मास में अनेक रंग बनाये जाते हैं, प्रिय के बिना मैं रंग अबीर के समान उड नहीं सकी। फागुन में फागुनी बयार से पेडों के पत्ते झर रहे हैं पत्तों के झर जाने से रूख पत्र हीन हैं प्रिय तुम कितना दुःख दोगे। सखियाँ होली खेलती हैं, रंग से शरीर भीजता है। मेरी आँख फडक रही है, प्रिय के आने की संभावना है। लोग फाग खेलते हैं, सखियाँ मज़ाक करती हैं, मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है। फाग मची है, राधा के हाथ में पिचकारी है, पर वह पछता रही है। इस मास में यौवन में वृद्धि हुई, सखि पति कब आयेगा? होली किससे खेलूँ? सखियाँ गुलाल छिडक कर होली खेलती हैं।' राम-कथा प्रसंग में—'काम सी उमगित मास आ गया, सब अपनी देह पर चोवा चन्दन छिडक रही हैं, भरत ने अबीर घोला है, मैं राम के बिना किस पर छिडकूँ? होली खेलने और गुलाल उडाने में इस मास में राम न

---

१ कृ० उ०, भो० ग्रा० बारहमासा १, ७ २ ३ ३, ७ ४, २ ६ ७ ११, ७ १३, ७ १४, ३ १५, ७। ८, १० १२, १० ७ १२। रा० नि० ग्रा० गा०, मोहर ४०, ११।

२ कृ० उ०, भो० ग्रा०, बारहमासा १, ८ २ ४ ३, ८ ४, ७ ६, ८ ११, ८ १३, ८ १४, ३ १५, ८। ९, ११ १२ ११ ७, १। रा० नि०, ग्रा० गा०, मोहर ४० १२।

रावण-वध करके सीता सहित समुद्र पार किया और घर वापिस लौट आये। ' 'लंका पर आक्रमण करने वाली फौज से इतनी धूल उड़ी कि मानो फागुन में अबीर उड रहा हो।' माँ की भावना है, 'फागुन में सब सखियाँ फाग खेलने जायँगी, मैं कैसे जाऊँगी, बेटा, तुम इस मास जन्म मत लेना।'[1]

चैत मास मे चन्दन शीतल लगता है। टेसू फूलता है, गोरी सन्देश भेजती है, कि विरह की अग्नि मुझसे सही नही जाती। चैत मे मन चचल रहता है, भाग्य से पति प्राप्त होता है। कोयल आम की डाली पर बोलने लगती है, उसका शब्द सुनकर नींद नही आती, झखते सवेरा हो जाता है। इस मास मे कॅइत फलता है, पलाश वन फूलता है, सब सखियाँ पलाश के रग मे रूमाल रगती हैं, राधा मन मे पछताती है। इन कॅइत के फूलने-फलने का तथा चैता गाने का समय आ गया। सखि, मदन सताता है। टेसू और गुलाव फूल रहे हैं, लाज छोडकर पति को परदेस जाने से मना कर दो।' राम-कथा के प्रसग मे—'चैत मास मे राम ने अयोध्या में जन्म लिया, कौशल्या ने चन्दन के लेप से घर लिपवाया। ' चैत मास मे राम को घर छोडना पडा, वन मे विपत्ति पडी। ये हनुमान, वन मे फूल खिले है, तुम रात मे सजीवनी ले आओ।' माँ का कहना है कि पुत्र इस मास मे जन्म न लेना, सब सखियाँ कुसुम चुनने जायेंगी, मैं कैसे जाऊँगी ?[2]

बैसाख मास मे घाम लगता है, व्याकुल होकर मर रही हूँ, हाल किससे कहूँ। मगलाचार हो रहा है, गीत गाये जा रहे हैं, पर पति बिना सब दु खदायी है। सखियाँ प्रसन्न होकर झूमर गाती हैं। पति आने वाला हो तो स्वागत मे सेज फूलो स ढक दूँ। मैं अपना बगला छवाऊँगी, उस हवादार बगले म पति सोयेगा और मैं पखा झलूँगी। ये सखि, पति के आने की कुछ आशा है, धीरे धीरे बाँस काटकर पखा बनाऊँगी और पति के पास धीरे धीरे झलूँगी। हे सखि, पति के आने की कब तक आशा करूँ ? बैसाख की धूप सही नही जाती। बहुत गर्मी लगती है, चन्दन के लेप से शान्ति मिलती है, पति का क्या दोष ? दोष तो मेरे कर्मों का है।' राम-कथा का प्रसग—'बैसाख विष के समान है आसमान और धरती तलफ रही है, जिस प्रकार जल बिना मीन, उसी प्रकार कैकेयी ने मुझे किया है। इस मास मे राम के धूप और लू लगने से पसीना बह चला, इसी समय सीता का हरण हुआ, पिता का मरण हुआ, विपत्ति मे विपत्ति पडी।'''दिन-रात शरीर तपता है, लक्ष्मण बिना हमारी फौज उदास है,

[1] कृ० उ०, भो० ग्रा०, बारहमासा १, ६ २, ५ ३, ६ ४; ३, १३, ६ १४, ४ १५, ६। ८, १२ १२, १२ ७, २। रा० त्रि०, ग्रा० सा० सोहर ४०, १।

[2] कृ० उ०, भो० ग्रा०, बारहमासा १, १० २, ६ ३, १० ६, १० ११, १० १३, १०। ८, १ १२, १ ७, ३। रा० नि० ग्रा० सा० सोहर ४०, २।

आधी रात बीती किन्तु नहीं आया, अब मैं भी हलाहल खाकर मरूँगा। 'माँ कहती है कि वैसाख में घर घर विवाहोत्सव होते हैं, मैं देखने कैसे जाऊँगी?'

'अन्तिम मास जेठ आ पहुँचा। इस महीने मे वर की चर्चा होती है, विवाहित स्त्रियाँ शृंगार करती हैं, पर क्या करूँ? कृष्ण घर वापस आये, प्रिय ने मन की आशा पूरी की। पति बिना व्याकुल हूँ। हे सखि, इस मास पति से समागम हुआ, सारी आशाएँ पूरी हो गयी। और ऊँचा बँगला छवाकर घर में दीपक जलाकर मैंने सेज डसाया। जेठ मास मे तेज लू चलती है, साड़ी का भार सहा नहीं जाता, कौन-सा उपाय करूँ?' रामकथा प्रसग में कौशल्या कहती हैं—'राम-लक्ष्मण वन जाते होंगे, जेठ के महीने मे लू अंगों को झुलसाती है। राम के पैर तप्त धूल मे कष्ट पाते होंगे, धरती आसमान ग्रीष्म ताप से जल रहे हैं।'''इस मास मे लक्ष्मण को शक्ति लगी और बूटी से जीवन रक्षा हुई।'''लक्ष्मण फिर युद्ध के लिये तत्पर हुये।' माँ कहती है —'रतनारे लाल, जेठ में जन्म न लेना, जेठ की दुपहरी की ज्वाला मुझसे कैसे सही जायगी।'[१]

इन बारहमासों मे विभिन्न मासो में घटित होने वाले ऋतु-परिवर्तन के साथ लोक-जीवन के मंगलाचार, उत्सव तथा प्रमुख कृत्यो का वर्णन प्रमुखतः मिलता है। और इस सारे वर्णन मे लोक-गायिका की भावना का उद्वेलन अन्तर्निहित रहता है। परन्तु इनमें लोक-जीवन की मुक्ति, स्वच्छन्दता और ताजगी सर्वत्र मिलती है। काव्यात्मक प्रयोग के स्तर का उद्दीपन रूप यहाँ प्रकृति का नही है, क्योंकि इन गीतों मे ऐसा नहीं लगता कि प्रकृति मात्र मानवीय भावों को उद्दीप्त करने के लिये प्रस्तुत है। प्रकृति का अपना प्रभाव क्षेत्र भी है, वह अपने सहज और स्वाभाविक संकेत-चित्रों मे अंकित होकर प्रायः मानवीय भावों के समानान्तर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व में उपस्थित हुई है। यह लोक-गीतों की मुक्त-भावना के कारण सम्भव हुआ है। फिर भी यह भावना गीतों मे विद्यमान है कि इन ऋतुओं (मासों) मे विरहिणी प्रिय के लिये व्याकुल है, सभोग-सुख की आकांक्षा से मथित है। प्रकृति अपने मानवीय रूपाकार अथवा भावनाओं के आरोप के कारण इस भाव को उद्दीप्त नहीं करती, वरन् अपने कठोर, विषम, उत्तप्त, शीत, आप्लावित रूप के कारण स्थायी मनःस्थिति को प्रेरित और उत्तेजित करती है।

× × ×

---

१. कृ० उ०; भो० गृ०; बारहमासा १; ११ २; ७ : ३; ११ : ४, २ : ६; ११ : १९; १८; १३; ११ : १४; ४ : १५; ११। ८; २; १२; २ ७, ४। रा० त्रि०, ग्रा० सा० सोहर ४०, ३।

२. कृ० उ०; भो० गृ०; बारहमासा १, १२ २, ८ : ३; १२ : ४; ४ : ६; १२ : ११; १२ : १४; १२। ८, ३ : १२ : ३ : ७; ५। रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर ४० : ४।

लोक-जीवन के विश्वास अन्धविश्वास का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसकी परिधि मे प्रकृति के विभिन्न रूपो-उपकरणो का आना स्वाभाविक है। वैदिक काल के प्रकृति देवता सूर्य, पवन, अग्नि, इन्द्र (वर्षा देव) आदि से लेकर आदिम सस्कारो के अन्तर्गत आने वाली वृक्ष-पूजा तक इसमे मिलती है। और इनका प्रभाव लोक-गीतो मे भी देखा जा सकता है। एक स्त्री सूर्य को सुन्दर पुत्र की कामना से प्रणाम करती है, पचरा का गायक पूर्व मे उदित होने वाले सूर्य और पश्चिम की ज्योति चन्द्रमा का स्मरण करता है, सन्तान कामना से स्त्री सूर्य-देव की प्रार्थना करती है—

ये मोरे सुरुज हम पर होउ दयाल सजन बोली बोलई।[1]

जनेऊ के अवसर पर माँ वर्षा देव को मानती है कि 'तुम गरजो बरसो नही, मेरे स्वामी आते होगे।'[2] तुलसी के चौरा को छूकर शपथ खाने अथवा मरने आदि के सन्दर्भो मे उसमे स्थापित देवत्व की व्यजना है। देवी के प्रसग मे अडहुल तथा चम्पा के पुष्पो की पवित्रता का उल्लेख है।[3] फिर भी कहा जा सकता है कि भावात्मक प्रकृति के कारण ऐसे सन्दर्भ लोक-गीतो मे बहुत कम हैं।

× × ×

लोक-साहित्य मे मुक्त प्रकृति और स्वच्छद अभिव्यक्ति के कारण काव्य-कौशल और शिल्पगत विशेषताओ का महत्व नहीं होता। अलकारों का प्रयोग अभिव्यक्ति की शैली और शिल्प से सम्बद्ध है, इस कारण लोक-गीतो मे न तो अलकारो का सचेष्ट और शिल्पगत प्रयोग मिलेगा और न इस रूप मे प्रकृति के विविध उपमानो का प्रयोग हो। जो आलकारिक प्रयोग आ जाते है वे सहज भावाभिव्यक्ति के अग के रूप मे है। यही कारण है कि सादृश्यमूलक अथवा उसके अन्तर्गत गम्यौपम्याश्रय अलकारो का रूप देखा जा सकता है। प्रकृति के उपमानो का क्षेत्र काव्य मे भी प्रधानत यही है, क्योकि प्रकृति के विभिन्न रूपो तथा स्थितियो की सादृश्य भावना से ही उपमान ग्रहण किये जाते हैं। प्रकृति उपमानो का सबसे व्यापक प्रयोग उपमा के रूप मे हुआ है। लोक-गीतो मे 'स्त्री को पान के समान पतली, फूल के समान सुन्दर' कहकर रूप और भाव दोनो स्तर के सौन्दर्य-बोध को व्यजित किया गया है। उसके 'दाँत दिकली के समान, ओट काटे गए पान के समान हैं' (उपमा)। लोक नायिका के 'नेत्र खजन हैं और उसका मुख शरत्काल का चन्द्रमा है' (रूपक)।[4] अन्यत्र प्रसूता-स्त्री के रूप चित्रण के लिए भी प्रकृति-उपमानो का आश्रय लिया गया है—'उसके केश जैसे रेशम के

१ कृ० उ०, भो० ग्रा०, सोहर १३, पचरा १ रा० नि०, ग्रा० सा०, सोहर ४४, ६।
२ वही वही जनेऊ के गीत २, २।
३ कृ० उ० भो० ग्रा०, रोपनी ४ पचरा ११ १२।
४ कृ०उ०, भो०ग्रा०, सोहर १, १, बिरहा ३,४। होली १३,१,२

लच्छे हों, मस्तक जैसे चन्दन घिमने का होरसा हो, नेत्र जैसे ग्राम की फाँके सुन्दर हों, नाक ऐसी सुन्दर है जैसे तोता की चोंच, दाँत ऐसे सुन्दर हैं जैसे ग्रनार के दाने, ग्रोठ सुन्दर हैं जैसे ग्रनार की कली, जाँघ ऐसे हैं जैसे केले के खभ, ग्रगुलियाँ सुन्दर हैं जैसे केले की फलियाँ'[1] (उपमा)। यहाँ एक प्रसूता स्त्री का रूप सौन्दर्य वर्णन काव्य-परम्परा की प्रवृत्ति के बहुत ग्रनुकूल नहीं है, इसके ग्रतिरिक्त उपमानों के चयन में भी मुक्त प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। लोक-नायक का रूप उपस्थित करने में भी यही प्रवृत्ति है। परदेस जाते हुए पति का वर्णन पत्नी करती है—'तुम्हारा मुँह सूर्य की ज्योति है, ग्राँख ग्राम की फाँक है, नाक सुग्रा की ठोर, भौंह चढ़ी कमान हैं, ग्रोठ कनरे हुए पान हैं, पेट पुरइन का पत्ता है, पैर केले के खम्भे हैं।' (रूपक)।[2] कभी-कभी लोक-जीवन की यथार्थ उपमाएँ बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं—'ललाट में लगी हुई टिकुली तालाब में चमकती हुई चाल्हा मछली जैसी है।' कहीं-कहीं उपमाएँ बहुत यथार्थ हैं, जैसे बालक की पत्नी ग्रपने पति को चूहे की तरह ग्रौर देवरों को चीलर जैसे कहती है। इन ग्रप्रस्तुतो से उसके मन की घृणा व्यजित है।[3]

लोक-गीतो मे उपमानो तथा ग्रप्रस्तुतो की योजना किसी काव्यात्मक दृष्टि से न होने के कारण ग्रलकारो की स्थिति ग्रनेक बार ग्रस्पष्ट रहती है। जहाँ तक प्रकृति सम्बन्धी उपमानो के ग्राधार पर ये प्रयोग हुए हैं उनमे सादृश्य, साधर्म्य ग्रौर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव प्रधान है, ग्रत ग्रर्थान्तरन्यास ग्रौर उदाहरण के स्थान पर दृष्टान्त ग्रौर प्रतिवस्तूपमा की स्थिति ग्रधिक फलवती है। कभी ग्रावृत्ति की प्रवृत्ति के कारण बिम्बप्रतिबिम्बोपमा जैसा प्रयोग प्रतिवस्तूपमा के निकट पहुँच जाता है—

चक्वा मरल दह हो गइल सून, रावन के मरले लंका जेइसे सून।

यहाँ यदि 'चकवा मरने से दह सूना हुग्रा जिस प्रकार रावण मरने से लका' होता तो प्रयोग उपमा ही होता, पर दो वाक्यों में उपमेय उपमान की स्थिति है, ग्रौर एक ही साधारण धर्म की दो बार स्थिति है। लेकिन यह कथन ग्रलग ग्रलग शब्दों में नहीं है, जैसा प्रतिवस्तूपमा मे होना चाहिए, ग्रत उदाहरण है, क्योंकि वाचक भी है। यहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के साथ वाचक नहीं है, ग्रत दृष्टान्त है—

चानावा का घेरेले का काली बदरिया।
तीन सौ साठि सखी घेरेले कन्हैया॥

---

१. रा०त्रि०, ग्र०भा०, सोहर ६५।

२ कृ०उ०, भो०ग्रा०, ग्रमर १८ बिरहा ३७—

लपावा में चमकेला चाल्हा मछरिया
लिलारा पर टिकुली समोरि॥ (चारों पंक्तियों में दीपक है)

३. रा०त्रि०, ग्र०ग्रा०, विवाह के गान ६७, १।

निम्नलिखित प्रयोग में उपमेय और उपमान वाक्यों में शब्द-भेद द्वारा समान-धर्म कथन है।

साध ही फुलले बेंइलिया, साध ही फूले कँवल हो।
रानी साध ही जन्मले होरलवा, साध ही उठें सोहर हो॥

यहाँ उपमान-उपमेय वाक्यों में एक ही साधारण धर्म को 'फुलले', 'जन्मले' तथा 'उठें' भिन्न शब्दों से कहा गया है, अत प्रतिवस्तूपमा कहा जा सकता है। पर यहाँ उपमान-उपमेय वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव व्यंजित नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि समान धर्म का कथन अलग-अलग रीति से नहीं है। इस भाव-व्यंजना के अंतर्गत दृष्टान्त का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का आधार लिया गया है—

जइसहिं ए अमवा गंगा न छ्छेली रे ना।
ओइसहिं ए अमवा रोएलि बहिनिया रे॥

यहाँ समर्थन के वाचक शब्द की स्थिति से उदाहरण का भाव प्रधान है। इस भाव-व्यंजना में भी उदाहरण है—

जइसेहिं घमवासे बेइलि सुखेले रे ना।
ओइसहिं ए सुखेले बहिनियाँ रे ना॥

पर साधारण धर्म का दो बार कथन आवृत्ति मात्र होने से उपमा की स्थिति भी सिद्ध हो सकती है। साधारणत सामान्य विशेष के समर्थन की स्थिति में भी उपमेय-उपमान का बिम्ब-भाव अधिक व्यंजित रहता है। यहाँ 'उहे गति' और 'तलफेल' समान धर्म के अलग कथन माने जायँ तो प्रस्तुत प्रयोग दृष्टान्त कहा जायगा—

जइसे जल बिना तलफेल मीन;
उहे गति मोर केकई कीन।[1]

मात्र सामान्य समर्थन की दृष्टि से उदाहरण कहा जायगा। एक वाक्य मानने से केवल उपमा होगी।

विशेष से विशेष के समर्थन के भाव की प्रधानता से पिता की इस उक्ति में दृष्टान्त माना जायगा—

बड़ ही घर देखि बेटी बिग्रहलीं, ना जानि छोट न बड ए।
हरी-हरी जानि देखिलें ककरी के बनिया, न जानि तीत कना मीठ ए॥

इसी प्रकार—'आम की बगिया में कोयल बोलती है, कचनार पर भौंरा बोलता है और दूल्हा ससुर जी के बाग में बोलता है' में उपमान-उपमेय वाक्यों में समान साधारण धर्म का कथन एक शब्द की आवृत्ति से किया गया है और वर्ण्य तथा अवर्ण्य के समान

---

१ कृ० उ० भो० प्रा०, मगन ८, ६ बिरहा ३४ सोहर १४, ६ जोग ३ : १४, १३, बारह ८, २।

धर्म 'बोलना' होने से दोष माना जा सकता है। अन्यत्र किसी वस्तु के बिना दूसरे के अशोभित होने से विनोक्ति का प्रयोग माना जायगा—'एक सौ आम लगाये, सवा सौ जामुन, पर एक कोयल बिन बगिया सुहावन नहीं लगती। सेज कैसी डसाओ, प्रिय बिन कहाँ सुहावनी लगती है।'[1] परन्तु दोनों वाक्यों में बिम्ब भाव की व्यंजना भी है। लोक-गीतों में अन्योक्ति की व्यापक प्रवृत्ति मिलती है, और कुछ अन्योक्तियों में प्रकृति के सुन्दर उपमानों की योजना भी हुई है—

उड़ली चिरिइया भुरे भांग बइठलि ;
राम नामवा के गोहराई।
निचवा जो घूमत बाटे पापी रे बहेलिया,
ऊपर बजवा रे मड़राई॥[2]

इन प्रयोगों में ज्ञाताओं के कारण भेद के 'सर्प से डसे हुए पति' और 'अहृदय कृष्ण' भिन्न रूपों में वर्णित हैं—

आहो रामा तोरा लेखे ननदी भइया अलसइले हो रामा।
मोरा लेखे, चानका दूपित भइले हो रामा॥

अथवा

ओहो रामा तोरा लेखे ग्वालिन मानिक हेरहले।
मोरा लेखे, चान छपितवा हो रामा॥

परन्तु यहाँ उल्लेख के साथ आरोप का भाव प्रधान है, अतः मालारूपक भी हो सकता है। 'परन्तु यहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत की भावना' का भाव मुख्यतः व्यंजित है, और, 'मोर लेखे' को वाचक स्वीकार कर इसे वस्तूत्प्रेक्षा कहना भी संगत लगता है। वैसे उत्प्रेक्षा जैसे कलात्मक प्रयोग लोक-गीतों की प्रकृति से अलग पड़ते हैं।

१ वही, वही, विवाह ४, ५। रा० त्रि, ग्रा० सा०, विवाह ६२, १ सोहर ७१।
२ कु० उ०, भो० ग्रा०, बिरहा २८।
३ वही, वही, चैता ४, ६ १२, ४।

# परिशिष्ट—३

## काव्य की आधुनिक दृष्टि में प्रकृति

प्रकृति की समस्त परिकल्पनाओं में मानव भावबोध के विकास की समस्त स्थितियाँ इस प्रकार सम्बद्ध रही हैं कि उनके माध्यम से उसके सांस्कृतिक संचरण के इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु युग विशेष की प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना को उस युग के काव्य और विभिन्न कलाओं के माध्यम से ही जाना जा सकता है, इस कारण विभिन्न देशों और युगों के काव्य तथा कलाओं में जिस रूप में प्रकृति को ग्रहण किया गया है, उसके माध्यम से उनके दृष्टिकोण और संस्कार के अन्तर का विवेचन किया जा सकता है। योरप और भारत के काव्य और कलाओं में स्वीकृत प्रकृति परिकल्पनाओं के आधार पर उनकी सांस्कृतिक प्रवृत्ति के मौलिक अन्तर को समझा जा सकता है। यूरोप में प्रकृति अपने सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में जिस यथार्थ अनुकरण के स्तर पर परिकल्पित की गयी है, उससे उसकी भौतिकवादी यथार्थ पर प्रतिष्ठित जीवन-दृष्टि का इतिहास सम्बद्ध है। इसी प्रकार भारत में प्रकृति काल्पनिक आकार-प्रकार, रूप-रंगों में जिस आदर्श सादृश्य रूप में परिकल्पित है, उससे उसकी शाश्वतवादी आध्यात्मिक तथा आदर्शमूला जीवन दृष्टि का विकास क्रम परिलक्षित होता है।

हमारे सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि से आधुनिक युग बहुत महत्वपूर्ण रहा है। पश्चिम के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक गहरे सम्पर्क ने हमारी जीवन की पद्धतियों, संस्कारों, विचारों और यहाँ तक संवेदन के स्तर तक को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। हमारा आधुनिक साहित्य इस नव-विकसित जीवन-दृष्टि से व्यापक रूप से स्फुरित और संवेदित है। एक प्रकार आधुनिक काव्य के विकास-क्रम में हम अपनी संगठित और विकसित होती दृष्टि के स्वरूप को देख सकते हैं। काव्य में प्रकृति का स्थान किसी न किसी रूप से सदा रक्षित रहा है, और उसकी विभिन्न परिकल्पनाओं के काव्य-गत विकास-क्रम का सहारा आधुनिक सांस्कृतिक आन्दोलन के विकास के अध्ययन

के लिए लिया जा सका है। भारतेन्दु-युग से लेकर वर्तमान नयी कविता के युग तक की चेतना के विभिन्न स्तरों का प्रभाव इनकी प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना पर भी पड़ता रहा है।

भारतेन्दु-युग के काव्य की भाषा ब्रज थी, गद्य साहित्य के विभिन्न रूपों के विकास में इस युग के लेखकों की स्वच्छन्द और मुक्त मनोवृत्ति का परिचय अवश्य मिलता है। इस युग में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक चेतना का व्यापक विस्तार और प्रसार होना आरम्भ हो गया था, और इस युग के लेखक में इसकी गहरी सम्पृक्ति देखी जा सकती है। अपने युग के बन्धनों, रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति सजग होकर भी इनमें विद्रोह की वह सक्रिय भावना और व्यक्ति की मुक्ति का आग्रह नहीं पाया जाता जो रोमांटिकों की विशेषता होती है। सुधार, परिष्कार उनकी प्रधान दृष्टि है, इसीसे भारतेन्दु-युग के लेखकों में स्वच्छन्दता और मुक्ति के स्थान पर ओज और उल्लास अधिक है। यही कारण है कि यदि वे विचारों की मुक्ति की दृष्टि से आधुनिक मनोवृत्ति के अधिक निकट हैं तो भावना और स्वभाव में वे सामन्ती भाव-भूमि पर अधिक जान पड़ते हैं। काव्य में ब्रजभाषा के प्रयोग का मूल कारण भी यही है।

भारतेन्दु के काव्य में प्रकृति की परिकल्पना में सामन्ती युग की भावना अन्त-र्निहित है। उनकी प्रकृति कहीं रीति के उद्दीपन-विभाव के रूप में; कहीं भक्तिकालीन प्रभु की भावना से प्रतिभासित या आन्दोलित, और कहीं-कहीं संस्कृत साहित्य की चित्रमत्ता के साथ प्रस्तुत हुई है,[1] पर रोमांटिक भावावेग, कल्पना, सौन्दर्य और प्राणवेग के साथ अंकित नहीं किया गया है। कहीं-कहीं प्रकृति अपने सहज रूप में आ गयी है—

'देख, भूमि चारों ओर हरी-भरी हो रही है। नदी-नाले, बावली-तालाब सब भर गये। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूट कर गिरते हैं।'[2] इस चित्र में लेखक ने प्रकृति का स्वतन्त्र रूप अंकित किया है। पर यह दृष्टि व्यापक प्रकृति के रूप में परिलक्षित नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह गद्य में वर्णित है और अन्ततः—'वियोगियों को तो मानो छोटा प्रलय-काल ही आया है', की भावना से सम्बद्ध है। भारतेन्दु में प्रकृति वर्णन की व्यापक प्रवृत्ति रीतिकालीन उक्ति-वैचित्र्य अथवा आलम्बन-सम्बन्धी भाव-व्यंजना की है।

तरनि तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये॥

१. श्री चन्द्रावली, हरिश्चन्द्र, अंक २,३।
२. वही; वही, अंक २।

किधौं मुकुर मे लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥[1]

भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी-काव्य मे महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व मे खडी बोली का प्रयोग काव्य मे प्रचलित हुआ। इसके साथ हिन्दी काव्य की प्रकृति में आमूल परिवर्तन घटित हुआ। काव्य की प्रतिष्ठा मे पुनरुत्थान-युग की भावना के अनुरूप काव्य की प्राचीन परम्परा और प्रतिमानो का महत्व स्वीकृत हुआ। प्राचीन काव्य के रूप तथा आदर्शों को प्राचीन गौरवशाली महान चरित्रो के साथ स्वीकार किया गया, पर उनकी सम्पूर्ण योजना के माध्यम से नयी परिस्थिति, भावनाओ तथा आदर्शों को नये सदर्भों के साथ व्यजित करने का प्रयत्न किया गया। इस स्थिति का प्रभाव द्विवेदी युग के प्रमुख कवियो, अयोध्या सिंह उपाध्याय, रामचरित उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त की प्रकृति परिकल्पना पर भी देखा जा सकता है। इन कवियो ने सस्कृत का अनुसरण एक सीमा तक ही किया है। इनके काव्य मे प्रकृति के स्थल प्रस्तुत होते हैं, पर कथा-वस्तु की अनिवार्य भूमिका के रूप मे, केवल वर्णन सौन्दर्य तथा कौशल के लिए नही। इस युग के कवियो मे कथात्मक योजना का सस्कार पाश्चात्य साहित्य से ग्रहीत है, यद्यपि उनकी शैली तथा शिल्प भारतीय महाकाव्यो के आदर्श पर स्वीकृत है। इस कारण जहाँ तक 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' जैसे काव्यो मे प्रकृति के स्थान का प्रश्न है, प्रकृति कथा के नितान्त अंग के रूप मे उपस्थित हुई है। इनमे कही भी केवल वर्णन-सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति का अकन नही हुआ है।

प्राय इन महाकाव्यो अथवा कथा-काव्यो में प्रकृति देश-काल की कथागत परिस्थितियों को प्रस्तुत करने के लिए अकित है और इस प्रकार अपने वर्णनात्मक रूप मे प्रकृति वस्तु-परक आधार है।[2] कभी-कभी प्रकृति के सम्पर्क से पात्र उसके प्रति सजग भाव से उन्मुख भी होते हैं, लेकिन ऐसी स्थिति मे किसी आन्तरिक भाव से उद्वेलित होने के स्थान पर उनमे कौतुक की भावना अथवा शिक्षा की दृष्टि उभरती है।[3] इनमे अनेक स्थलो पर प्रकृति-वर्णना के माध्यम से कथा की घटनाओ और चरित्रो के मनोभावो का प्रतिबिम्बन, प्रसरण अथवा प्रतिछाया व्यजित की जाती है। ऐसा अनुकूल और प्रतिकूल दोनो दृष्टियो से हुआ है, और कभी यह व्यजना प्रकृति की भूमिका मे निहित हुई है तथा कभी सम्मुख फैली हुई प्रकृति के माध्यम से।[4]

---

१. वही, वही, अक ३।
२. प्रियप्रवास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, सर्ग १,३ आदि।
३ साकेत, मैथिलीशरण गुप्त, सर्ग ५, यमुना-तट, ८ पर्णकुटी।
४ साकेत, सर्ग ८। प्रियप्रवास, सर्ग ५।

परन्तु इस प्रकार की व्यंजना प्रकृति के अपने स्वतन्त्र जीवन के प्रत्यक्ष आरोप के द्वारा हुई है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत काव्य की परम्परा के आधार पर प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य को स्वीकार किया है। पर उनके लिए प्रकृति का सौन्दर्य वस्तुपरक चित्रांकन से अधिक नहीं रहा है। रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन प्रकृति के मात्र उद्दीपन रूप के विरोध में उसके आलम्बन रूप की स्थापना की है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रकृति के स्वतन्त्र जीवन को रोमांटिक भावना के अनुसार ग्रहण किया है, यद्यपि अपनी दृष्टि मे मूलतः संस्कारवादी होने के कारण वह प्रकृति के स्वतन्त्र जीवन की ओर उन्मुख तो हुए—

फविता, यह हाथ उठाए हुए, चलिए कविवृन्द ! बुलाती वहाँ।[१]

पर उसके प्रति उनकी दृष्टि स्वच्छंद और मुक्त नहीं हो सकी। अपनी 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता मे वह प्रकृति के प्रति आकर्षित होकर भी उसका मात्र वर्णन प्रस्तुत कर सके हैं, इस वर्णनात्मकता मे उपदेश वृत्ति का परिचय ही मिलता है। परन्तु जिस प्रकार द्विवेदी जी की प्रेरणा के आधार पर लिखे गये काव्यो मे प्रकृति काव्य की कथात्मक योजना का अंग होकर उपस्थित हुई, उसी प्रकार शुक्ल जी के इस आह्वान का प्रभाव रोमांटिक मनोभाव के कवियो पर देखा जा सकता है।

जिन कवियों का उल्लेख किया गया है उनमे भी रोमांटिक भाव की झलक एकदम न मिलती हो, ऐसा नहीं है। समस्त वर्णनात्मकता के बीच प्रकृति का अपने रंग-रूपो मे स्वतन्त्र रूप कई स्थलो पर प्रस्तुत हो गया है जो इस भावना से एक स्तर पर सम्बद्ध माना जा सकता है। परन्तु इस युग की अन्तर्वर्ती रोमांटिक काव्यधारा मे प्रकृति का रूप अपेक्षाकृत अधिक मुक्त है और उसमे भावोल्लास, भावविभोरता तथा आत्मतल्लीनता आदि की प्रवृत्ति इसी स्तर की है। श्रीधर पाठक मे प्रकृति के प्रति इस दृष्टि का विकास सर्वप्रथम मिलता है।[२] जिस प्रकार उन्होने प्रेम के व्यापक और आदर्श रूप की अभिव्यक्ति स्वच्छन्द रूप मे की है, उसी प्रकार प्रकृति को भी उन्होंने उसके स्वतन्त्र रूप मे स्वीकार किया है।[३] उन्होने प्रकृति को साधारण और सहज स्थितियो मे भी स्वीकार किया। काव्य मे खड़ी-बोली रूप के प्रयोग की प्रारम्भिक स्थिति के कारण श्रीधर पाठक मे व्यंजना शक्ति का विकास नहीं हो पाया था, इस कारण उनके प्रकृति चित्रण मे रोमांटिक भावोल्लास आदि की व्यंजना ऊँचे स्तर की

१. रामचन्द्र शुक्ल, आमंत्रण।
२. एकान्तवासी योगी और स्वर्गीय वीणा में।
३. गुनवन्त हेमन्त तथा सान्ध्य अटन में।

नही हो सकी है। उल्लेखात्मक वर्णन शैली के साथ कही-कही प्राचीन ढंग के आलंकारिक प्रयोग मिलते हैं, पर इस सहज वर्णन मे पर्यवेक्षण, वातावरण-निर्माण तथा भाव-ग्रहण की शक्ति अवश्य व्यक्त होती है—

उस विमल बिम्ब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में बिन्दु सा लख पड़ा
स्याह था रंग कुछ गोल गति डोलता
किया प्रति रग में भग उसने खड़ा;
उतरते उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा।[1]

इसमे भाषा और छन्द का मुक्त प्रयोग भावानुकूल है। प्रकृति के प्रति व्यापक मानवीय सहानुभूति और सवेदनशीलता की दृष्टि से रोमांटिक भावना का प्रारम्भिक रूप लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा रूपनारायण पाण्डेय जैसे कवियों मे मिलने लगता है।[2]

रामनरेश त्रिपाठी मे भाषा और व्यंजना की दृष्टि से इस भावना का अगला चरण परिलक्षित होता है। इनके खण्ड-कथा-काव्यो मे आदर्श प्रेम का काल्पनिक स्वच्छन्द स्वरूप है और उसीके अनुरूप प्रकृति का मुक्त भावाकुल सौन्दर्य भी।[3] इनके काव्य मे प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति सहज जिज्ञासा और आकर्षण का रोमांटिक भाव सर्वत्र व्याप्त है। इनके आदर्श प्रेमियो मे प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति अनन्त आकर्षण है, उसके राशि-राशि बिखरे हुए सौन्दर्य के सम्मुख वे आनन्दोल्लसित होकर भावातिरेक की मनःस्थिति मे सब कुछ भूल जाना चाहते हैं। वे वास्तव मे रोमांटिक भाव के प्रकृति-प्रेमी कहे जा सकते है! इन प्रकृति-सौन्दर्य के प्रेम मे सहचरण की भावना भी अन्तर्निहित है। इनमे प्रकृति के साथ रहने की, उसके सौन्दर्य के साक्षात्कार की तथा आत्मविस्मृत होकर उसके सहचरण की अदम्य भावना पायी जाती है। जैसे प्रकृति-सौन्दर्य के उपभोग की कामना से मनुष्य उससे एकरस होना चाहता है—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला,
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ मे वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है,
घन पर बैठ बीच मे बिचरूँ यही चाहता मन है॥[4]

यहाँ प्रकृति का सौन्दर्य व्यापक विश्व-प्रेम के आलम्बन के समान है। कथा-काव्य होने

---

१. सान्ध्य-अटन; श्रीधर पाठक।
२. मृगीन्दु लमोचन; लो०पा०। वनविहंगम और दलित कुसुम; रू० पा०।
३ मिलन, पथिक, स्वप्न।
४. पथिक, वश्व-सुषमा।

के नाते इन काव्यों में प्रकृति भावों से प्रसरित और प्रतिबिम्बित अंकित हुई है; इस प्रकार के प्रयोग में उद्दीपन या आरोप के स्थान पर भावोद्वेलन की स्थिति है। ऐसी स्थितियों मे प्रकृति मानवीय संवेदना के प्रति गहन सहानुभूति के साथ व्यंजित हुई है—

> अर्द्ध निशा में तारागण से प्रतिबिम्बित अति निर्मल जलमय।
> नील झील के कलित कूल पर मनोव्यथा का लेकर आश्रय॥
> नीरवता में अंतरतल का मर्म करुण स्वर लहरी में भर।
> प्रेम जगाया करता था वह विरही विरह-गीत गा-गाकर॥

परन्तु सौन्दर्य तथा प्रेम की इस विश्व-व्यापी भावना से इन काव्यों में कर्तव्य का पथ (राष्ट्र प्रेम, लोक-प्रेम) ही प्रशस्त होता है। प्रकृति का समस्त सौन्दर्य और प्रेम इन काव्यों के नायकों मे अन्ततः देश-प्रेम की प्रेरणा बन जाता है और वे दीन-हीन जनता की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं।[१] वस्तुतः इन खण्ड-काव्यो मे प्रेम, स्वाधीनता तथा प्रकृति आदि की दृष्टियो से शुद्ध रोमांटिक भावना की अभिव्यक्ति मिलती है।

द्विवेदी-युग की इस अन्तर्वर्ती धारा का प्रवाह छायावादी काव्यान्दोलन के अन्तर्गत चलता रहा है और गुरुभक्त सिंह, मुकुटधर पाण्डेय तथा सियारामशरण गुप्त जैसे कवियो के काव्य मे उसको देखा जा सकता है। इन कवियो में प्रकृति के मुक्त जीवन के प्रति गहन सहानुभूति है। इस कारण प्रकृति के रूपो, उपकरणों तथा जीवो के प्रति सहज जिज्ञासा और आत्मीय संवेदन इनके काव्य मे मिलता है। इनके काव्य मे प्रकृति मानवीय भावो के साथ अनेक सूक्ष्म संकेतो और व्यंजनाओ मे प्रस्तुत हुई है। पिछले कवियो मे भावोल्लास, सौन्दर्याकर्षण और भावातिरेक के क्षणो मे भी प्रकृति कथा का आधार या पृष्ठभूमि थी, पर इनमे प्रकृति और जीवन एक-दूसरे मे अन्तर्घटित और सन्निविष्ट हैं, दोनो एक ही मन स्थिति, एक ही भावोद्वेलन से स्फुरित होते है। गुरु भक्तसिंह की मूल प्रवृत्ति कथात्मक शैली मे अपने को व्यक्त करने की है, पर उनके प्रबन्ध-काव्यो मे भी प्रगीत्यात्मक संवेग और सघनता है। इस कवि मे भाषा, शैली और भाव-व्यंजना की दृष्टि से पूर्ण रोमांटिक उत्कर्ष देखा जा सकता है, केवल प्रगीति काव्य की आत्माभिव्यक्ति तथा मनसपरकता का पूर्ण विकास इनके

---

१. स्वप्न; प्रेम-वेदना; द्विविधा—

> निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं
> बैठे चिन्ता-मग्न दीन जन,
> उनके मध्य खड़े हरि के पद
> पंकज के मिलते हैं दर्शन॥

काव्य में नही हो सका है। इनके काव्य मे प्रकृति और जीवन एक-दूसरे से अभिन्न होकर प्रस्तुत हुए हैं—

> पर्वत के चरणों मे लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है,
> जिसमे झरने की झर झर है, फूलों ही से जो पाटी है।
> उसके तट से सुरम्य भू पर, झाडी के झिलमिल घूँघट मे।
> है नयी कली इक झाँक रही लिपटी घासों के ही पट मे॥[1]

प्रकृति अपने जीवन मे मुक्त, स्वच्छन्द और आवेगपूर्ण है तथा उसके इस जीवन म कवि के मन का उल्लास और आन्दोलन व्यजित है। इस समता या समानान्तरता को मानव जीवन के आरोप के रूप मे नही लिया जा सकता। येह प्रकृति का अपना जीवन है, सौन्दर्य है, स्पन्दन है जो मनुष्य को उत्सुक, जिज्ञासु और उद्वेलित करता है—

> हरियाली से भरी हुई है घाटी की गहराई
> जिसमे खग कूजन की धारा फिरती है लहराई।
> शिलाखड में मूर्ति बनाती, धार आरि छेनी से
> मग मे रुक कुछ कह लेती है, भोली मृगनयनी से।[2]

इस कवि में प्रकृति की कोमल कल्पना और भावना का उचित सामजस्य भी परिलक्षित होने लगा है।[3] सियारामशरण गुप्त के काव्यो मे प्रकृति का निर्भर सौन्दर्य, आनन्द और उसकी भावाकुलता है, साथ प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना भी पाई जाती है—

> कितु प्रिये, धारा यह निर्झरित
> हर्षावेग उद्वेलित
> कैसी बही जाती है!
> ऊपर से टूट टूट,
> प्रस्तर कठोर भुज बन्धनों से छूट छूट,
> विषम धरा मे सम नृत्य कर गाती है।[4]

मुकुटधर पाण्डेय के साथ सियारामशरण गुप्त मे प्रकृति के प्रति प्रगीति भावना के आत्मानुभव के साथ स्वच्छद मनोभावो का अभिव्यक्तीकरण मिलता है। इन्होंने प्रकृति

---

१. नूरजहाँ; गु० सि० मेहर का शैशव।

२ वही; शैलबाला।

३ उदाहरणार्थ—अम्बुधि कुमार।

४ सि० गु०, मजुघोष। कविता-सग्रहों में—दुर्वादल, आद्रा, मृण्मयी आदि में प्रकृति सबधी कविताएँ हैं।

के चर-अचर रूपों के साथ अपनी निजी सहानुभूति को व्यंजित किया है, और आत्मीयता के वातावरण में उनका भावपूर्ण अंकन किया है। मुकुटधर पाण्डेय ने सम्भवत: प्रकृति के इस रोमांटिक भाव को सर्वप्रथम प्रगीति मन स्थिति में स्वीकार किया है—

बता मुझे ऐ विहग विदेशी ! अपने जी की बात,
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात ?
इस नीरव घटिका में उड़ता है तू चिन्तित गात,
पिछड़ा था तू कहाँ हुई क्यों तुझको इतनी रात।। (कुररी के प्रति)

× × ×

इस सीमा तक विकसित हो जाने पर भी रोमांटिक आन्दोलन अब तक पूर्णत: सघटित नहीं हो पाया था। परम्पराओं से विद्रोह, आत्मानुभव की अभिव्यक्ति, कल्पना की स्वच्छंदता, जीवन और जगत् के प्रति नवीन आकर्षण, सूक्ष्म सौन्दर्य बोध आदि ऐसे तत्व हैं जिनका समावेश छायावादी काव्य में ही सर्वप्रथम हुआ। प्रगीति भावना तथा मनसपरकता का विकास भी इसी काव्य में देखा जाता है। इसी कारण छायावादी काव्य में प्रकृति अपने जीवित और स्पंदित रूप में मुक्त और स्वच्छंद चित्रित है। वस्तुत: छायावादी कवियों ने व्यक्ति-स्वतन्त्रता, सौन्दर्य की उपासना, दिव्यता तथा महानता जैसे अपने आदर्शों को प्रकृति की परिकल्पना में सिद्ध करने का उपक्रम किया है। प्रारम्भ में प्रकृति के भावमय, कोमल तथा गतिशील सौन्दर्य के प्रति कवि प्रश्नशील और जिज्ञासु हुआ है। सुमित्रानन्दन पंत में प्रकृति के प्रति यह भावना विशेष रूप से पायी जाती है। इस जिज्ञासा अथवा प्रश्नशीलता में प्रकृति सहज रूप में आकर्षित करती है, किसी रहस्य भावना से नहीं—

शांत सरोवर का उर
किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चंचल, चंचल ?[1]

छायावादी कवि कल्पनाजीवी और स्वप्नदर्शी है, इस कारण उसके लिए समस्त प्रकृति उसकी मुक्त कल्पना का क्षेत्र रही है और उसने उसमें अपने स्वप्नों के छायाबिम्बों को अंकित किया है। पिछले रोमांटिक भाव से प्रभावित कवियों ने प्रकृति को अपने सहज जीवन तथा भावों के स्तर पर ग्रहण किया था, पर इन कवियों ने प्रकृति को जिस व्यापक चेतना से उद्भासित अंकित किया है, वह कल्पनात्मक सौन्दर्यबोध से अनुप्राणित है।

१. जिज्ञासा, मौन निमंत्रण, काला बादल जैसी कविताओं में, जिज्ञासा से।

मुख्यत प्रगीतात्मक काव्य होने के कारण छायावादी काव्य मे प्रकृति का चित्रमय दृश्य विधान, पृष्ठभूमि रूप मे अकन अथवा स्वतन्त्र आलम्बन रूप बहुत कम मिलता है। 'कामायनी' जैसे महाकाव्य मे प्रकृति चित्रण का यह रूप यत्र तत्र ही अकित है, यद्यपि उसकी समस्त रगस्थली प्रकृति ही है। ये वर्णन बहुत सक्षिप्त हैं, प्रारम्भ मे हिमालय का वर्णन और इसी प्रकार मनु श्रद्धा आदि की यात्रा के प्रसग मे भी हिमालय का चित्रण है—

नीचे जलधर दौड रहे थे
सुन्दर सुरधनु माला पहने
कुंजर कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।[1]

परन्तु इन चित्रणो मे प्रकृति के सहज रूप के स्थान पर अलकृत आदर्श-रूप है। प्रसाद में प्रकृति के स्वच्छद रूप का अभाव है, उन्होंने मानवीय भावो के सूक्ष्म सौन्दर्य को व्यजित करने के लिए प्रस्तुत रूप म व्यापक प्रकृति का प्रतीक विधान किया है। यह 'कामायनी' के 'श्रद्धा', 'काम', 'वासना', तथा लज्जा' आदि सर्गों के प्रतीक विधान मे देखा जा सकता है। सर्ग के सर्ग मे भावो की कोमल और सूक्ष्म सौन्दर्य व्यजना के लिए प्रकृति प्रतीको की प्रस्तुत रूप म योजना की गयी है—

नव नील कुज हैं झीम रहे,
कुसुमो की कथा न बन्द हुई,
है अन्तरिक्ष आमोद भरा
हिम कलिका ही मकरन्द हुई।[2]

इस प्रकार की भाव-व्यजना के लिए प्रकृति प्रतीको का प्रस्तुत विधान अन्य छायावादी कवियो मे भी मिलता है। पत की 'अनग', 'उच्छ्वास', 'आँसू', तथा 'मधुवन' जैसी कविताओ मे ऐसा ही प्रयोग है, पर पत का बिम्बविधान प्रसाद के समान जटिल नही है, उसमे सीधी भावव्यजना हो सकी है और व्यापक सवेदन को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया गया है। उसका प्रमुख कारण है कि पत की इन कविताओ मे भी एक ओर प्रकृति प्रत्यक्ष और प्रस्तुत है तथा दूसरी ओर भावो का आधार सदा परोक्ष मे

---

१ कामायनी, रहस्य। इसी प्रकार 'दर्शन' खड में।

२ वही, काम। पत की 'अनग' कविता तुलनीय है, उदा०—

फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गध मुग्ध हो अध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार।

नहीं रहा है। इसी कारण इन प्रकृति रूपों में रोमांटिक भावना की स्वच्छंदता है। कवि ने प्रकृति की सौन्दर्य कल्पना के अनेक प्रतीक-चित्रों को मुक्त रूप से प्रस्तुत किया है और बीच-बीच में अपने भावों को रखकर उनको उन्हीं की व्यंजना से सन्निहित कर दिया है—

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल बादल सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्‌वास।
अपने छाया के पलों में
(नीरव घोष भरे शखों में)
मेरे आँसू गूथ, फैल गभीर मेघ-सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश।[1]

छायावादी कवि ने प्रकृति को अपने जीवन के अंग के रूप में स्वीकार किया है, प्रकृति उसके लिए अनुभव या सवेदन की वस्तु रूप आलम्बन मात्र नहीं है, वरन् उसका व्यापक कल्पना क्षेत्र है। अनुभूति के स्तर पर वह कवि के जीवन से अभिन्न होकर उपस्थित हुई है। प्रकृति की समस्त सौन्दर्य कल्पना में कवि का सूक्ष्म-भाव निहित रहता है—

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग, सद्य सौन्दर्य सृष्टि,
मंजरित प्रकृति मुकुलित दिगन्त,
कूजन गुजन की व्योम वृष्टि।[2]

कभी रूप और भाव की व्यंजना के आधार पर प्रकृति चित्र अपने समस्त वातावरण की सजीवता के साथ प्रस्तुत होता है। पंत की 'सध्या', तथा 'चाँदनी' जैसी कविताओं में और निराला की 'सध्या-सुन्दरी' कविता में यद्यपि मानवीय रूप और भाव का आरोप एक सीमा तक प्रकृति पर किया गया है, फिर भी प्रकृति का चित्र अधिक भावमय रूप में सामने आता है। निराला की कविता में वर्ण मैत्री तथा प्रतीक-योजना से सध्या का वातावरण अपनी समस्त भाव-स्थितियों के साथ अंकित हो गया है—

अलसता की-सी लता ——— —
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।

---

१ पल्लविनी पंत उच्छ्‌वास।
२ वही वही अल्मोड़े का बसन्त।

परन्तु प्रकृति के इस प्रकार के भागवत सौन्दर्य-चित्रों की अपेक्षा इन कवियों में मानवीय रूपाकार, भाव-स्थितियों तथा मधु-क्रीडाओं को प्रकृति पर आरोपित करने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। ऐसा अवश्य है कि यह आरोप स्थूल और परम्परागत न होकर सूक्ष्म कल्पनात्मक प्रतीकों, सकेतो और भाव-व्यजनाओं के आधार पर हुआ है। वस्तुत छायावादी काव्य शिल्पगत सस्कारो के प्रति अत्यधिक सजग रहा है, इस कारण उसमे भावात्मक भुक्ति के स्थान पर कलात्मक वैचित्र्य का आग्रह प्रारम्भ से आ गया है और लाक्षणिक व्यजना, नये अलकरण, नये प्रतीक विधान का विशेष विकास हुआ है। इससे भाषा की व्यजक शक्ति तो बढी ही, पर रोमांटिक मनोभाव का वैसा विकास नही हो सका। इन कवियों की अनेक कविताओं म मानवीय शरीर का, मधु-क्रीडाओं का तथा सवेगो का सागोपाग आरोप प्रकृति पर हुआ है। ऐसा अवश्य है कि इस प्रकार के आरोपो मे कवि की व्यापक भावभूमि के कारण रूप-चित्र के स्थान पर भावोद्वेलन की व्यजना प्रमुख हो गयी है। निराला की 'जुही की कली' मे प्रकृति की ऐसी ही सागोपाग योजना हुई, जिसमे भावावेग के कारण नया सौन्दर्य-बोध है। पत ने 'वसत' और 'वीचि विलास' मे इसी प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। प्रसाद मे यह प्रवृत्ति अत्यधिक पायी जाती है।[१] इस आरोप की वृत्ति के कारण अनेक बार प्रकृति लाक्षणिक तथा प्रतीक शैली मे वर्ण्य विषय मात्र रह जाती है, जब कि रोमांटिक कवि प्रकृति को मनुष्य के जीवन तथा भावनाओ मे स्वत स्फुरण की भावस्थिति मे अकित करता है। —

कभी-कभी कल्पना का अतिरेक और लाक्षणिक वैचित्र्य का आग्रह विस्तृत प्रकृति-चित्रो की योजना मे प्रकट हुआ है। पत की 'सध्या-तारा' और 'नौका विहार' जैसी कविताओ मे प्रकृति के भावमय वातावरण, काल्पनिक सौन्दर्य तथा बिम्बमय चित्र-विधान के साथ यह प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। परन्तु इनम कवि के आध्यात्म सत्यो को निहित करने के मोह ने प्रकृति के जीवन तथा सौन्दर्य को, जो सामान्यत कविता मे प्रस्तुत है, अप्रस्तुत प्रतीक विधान के समान अप्रमुख करके कविता की भावात्मक व्यजना को हल्का कर दिया है। इन कविताओ के प्रारम्भ मे प्रकृति का सजीव और भावमय चित्र है—'नीरव प्रशात सध्या मे सारा वन प्रान्त डूबा है। पत्रो के आनत अधरो पर वन का निखिल मर्मर सो गया, जैसे वीणा के तारो मे स्वर सो जाय।' इसी प्रकार—'शात, स्निग्ध और ज्योत्स्ना से उज्ज्वल तथा अपलक अनन्त नीरव भूतल पर ग्रीष्म से विरल गगा दुग्ध धवल सैकत शय्या पर श्रात, क्लात तथा निश्चल लेटी है।' दूसरे चित्र मे आरोप की भावना अधिक है, पर दोनो मे प्रकृति का रूप और भाव दोनो सघनत से व्यजित हैं। जहाँ तक जीवन और भावना की समा-

१ प्रमाद, बीती विभावरी जाग री, लाज भरा सौन्दर्य, मलयानल तथा नारद आदि।

नान्तर व्यंजनाएँ हैं कल्पना का सौन्दर्य अभिवृद्ध ही हुआ है—

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
यह निष्फल इच्छा से निर्धन !

अथवा

यह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता, हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक ;[1]

परन्तु अन्ततः 'आत्म', 'जग दर्शन', 'अस्तित्व ज्ञान', 'शाश्वत जीवन' और 'अमरत्व दान' आदि के दार्शनिक चिन्तन से आध्यात्मिक अनुभूति बोझिल हो उठी है।

जिन कविताओं में प्रकृति के साथ व्यापक भाव व्यंजना है उनका वातावरण अधिक सहज और मुक्त है। पंत की 'हिलोरों का गीत,' 'प्रथम रश्मि' तथा 'बादल' आदि प्रगीतियों में प्रकृति मानव जीवन के साथ संचरण करती हुई अनुप्राणित है। उसकी क्रीड़ा, गति, संचरण, स्पन्दन, संतरण, स्फुरण आदि कवि की कोमल कल्पनाओं को जीवन के साक्षात्कार से संवेदित करते हैं। यह अवश्य है कवि ने जिस प्रकार यथार्थ से दूर अपने जीवन को कल्पना लोक में रखा है, उसी स्तर पर उसने प्रकृति के सौन्दर्य को भी स्वीकार किया है। निराला ने अपने 'बादल राग' में प्रकृति की शक्ति और गति के आधार पर जीवन के कठोर यथार्थ का आवाहन किया है—

इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर, गुरु, गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ![2]

यह कवि के व्यक्तित्व की इस रूप में अभिव्यक्ति है। पर पंत का व्यक्तित्व अपनी कोमलता में कल्पनाओं में विचरणशील रहा है। जीवन और प्रकृति का परिवर्तनशील और कठोर यथार्थ रूप कवि के सम्मुख कभी ही प्रस्तुत हुआ है, और 'परिवर्तन' तथा 'द्रुत झरो' जैसी कविताओं में उसका बदला हुआ यह मनोभाव व्यंजित हुआ है। परन्तु कवि परिवर्तन तथा पतझर की कामना नये जीवन की सम्भावना के आधार पर कर सका है—

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,—पल्लव लाली !

---

१ पल्लविनी पंत सध्य तारा, नौका विहार।
२ परिमल, निराला, बादल राग।

प्राणो के मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली ![1]

पत मे प्रकृति-सहचरण की भावना भी मिलती है, यह उनके प्रकृति के साहचर्य का परिणाम है। कवि 'विहग कुमारी' से उसके 'सोने के गान' के विषय मे प्रश्नशील होता है और 'विहग बाला' को 'सखी' के समान सम्बोधित करता है। परन्तु इस साहचर्य मे कवि के मन का प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और कौतूहल ही व्यक्त हुआ है और वह प्रकृति के समान अपने जीवन को भी कल्पनाओ से अनुप्राणित करता है।[2]

छायावादी काव्य मे प्रकृति की रोमांटिक परिकल्पना मे इस युग के नव्य अध्यात्मवाद का व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुआ है। फलस्वरूप प्रकृति की रोमांटिक सर्वचेतनावादी परिकल्पना के साथ छायावादी कवियो मे प्रकृति के जीवन-प्रवाह मे आध्यात्मिक भाव-बोध के प्रतीक और अर्थ के सकेत प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति विकसित हुई है। साधना तथा व्यक्तिगत ईश्वर सम्बन्धी विश्वास के अभाव मे इस आध्यात्मिक व्यजना को सर्वेश्वरवादी अथवा रहस्यवादी कहना सगत नही है, पर रोमांटिक प्रकृतिवाद से इसका अ तर स्पष्ट है। छायावादी जब प्रकृति की चेतना, कल्पना और सौन्दर्य मे किसी व्यापक सत्ता का (जो प्रकृति से अतिरिक्त है) आभास पाता है, रोमांटिक कवि से उसका अन्तर हो जाता है, क्योकि उसकी स्वच्छन्द भावना मे प्रकृति उसके अपने जीवन के समान अनुभूत, सवेद्य तथा साक्षात्कृत है। पत मे इस भावभूमि की प्रारम्भिक स्थिति मिलती है। वे प्रकृति के प्रति जिज्ञासु और कौतुक भाव से यह सकेत ग्रहण करते हैं।[3] कभी प्रकृति पर अव्यक्त प्रिय के आरोप से यह भाव व्यजित हुआ है। निराला मे ऐसे प्रयोग है,[4] पर प्रसाद म यह प्रवृत्ति बहुत व्यापक है।[5] महादेवी के काव्य मे प्रकृति या तो व्यापक अव्यक्त सत्ता के सकेत ग्रहण कराने के भाव से प्रस्तुत हुई है या उस अव्यक्त प्रिय के व्यक्तित्व को उसके माध्यम से व्यक्त किया गया है अथवा मधु क्रीडाओ के प्रतीको के रूप मे उसका उपयोग किया गया है।[6]

---

१. पल्लविनी, पत द्रुत भरो।
२ वही, वही, सोने का गान, विहग बाला के प्रति।
३ वही, वही, मौन निमन्त्रण।
४ परिमल, निराला, जागो फिर एक बार, मौन रही हार।
५ झरना, प्रसाद, खोलो द्वार, सम्पूर्ण 'आँसू' को लिया जा सकता है।
६ यामा, महादेवी, मुसकाता सकेत भरा नभ, धीरे धीरे उतर क्षितिज से, लय गीत मदिर, गति ताल अमर।

छायावादी काव्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय चेतना कई स्तरो पर अभिव्यक्त हुई है। राष्ट्रीय भावना का दैवीकरण भारत-माता की कल्पना में हुआ। इस रूप में सम्पूर्ण भारत की कल्पना मैथिलीशरण गुप्त (मातृभूमि) तथा जयशंकर प्रसाद (देश हमारा, भारतवर्ष) आदि कवियो ने की है। स्वाधीनता की इच्छा-आकांक्षा की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से की गयी है, उदा०—माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला' अथवा सुभद्राकुमारी चौहान की 'वीरो का कैसा हो बसन्त ?' आदि कविताएँ। इसी प्रकार राष्ट्रीय संघर्ष, विदेशी शक्ति के प्रति विद्रोह तथा विप्लव आदि की भावना, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि ने प्रकृति चित्रो मे व्यंजित की है।

पिछले छायावादी कवियो मे रोमांटिक भावावेग की निराशा, अवसाद तथा नियतिवाद की भावना मिलती है, साथ ही कुछ मे अराजकता, उच्छृंखलता तथा ऐन्द्रिकता का आग्रह विशेष दिखाई देता है। ससार की नश्वरता और क्षणिकता के प्रति सजग बच्चन मे प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति यही निराशा, अवसाद की भावना प्रमुख है। कवि जीवन के हास-विलास मे मग्न रहना इसीलिए चाहता है कि—

ऐसा चिर पतझड़ आयेगा,<br>
कोयल न कुहुक चिर पायेगी,<br>
बुलबुल न अँधेरे में गा गा<br>
जीवन की ज्योति जगायेगी,<br>
अगणित मृदु-नव पल्लव के स्वर<br>
'मर मर' न सुने फिर जायेंगे ॥

प्रणय प्रेम के उल्लास मे कवि ससार को विस्मृत कर देना चाहता है, पर उसका क्षणिकता मे उसे अपना प्रणय-विलास भी नश्वर लगता है और इसी भावना से वह अवसादग्रस्त जान पडता है—

कितनी बार गगन के नीचे<br>
अटल प्रणय के बन्धन टूटे,<br>
कितनी बार धरा के ऊपर<br>
प्रेयसि-प्रियतम के प्रण टूटे।<br>
चाँद-सितारे मिलकर बोले।[1]

उसने प्रकृति के बीच का हाहाकार, विध्वस और उसकी नश्वरता को उसके सौन्दर्य के साथ देखा है। नरेन्द्र शर्मा ने 'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे' मे इसी भावना

१. कवि-भारती; बच्चन, इस पार—उस पार।

को व्यक्त किया है—'मधुमास आयेगा, श्यामल घटा घिरेगी, पर मैं न आऊँगा।' इसमें प्रकृति के चिरन्तन क्रम के समक्ष अपनी नश्वरता को रखकर देखा गया है। नरेन्द्र शर्मा ने प्रकृति के कठोर रूप के साथ जीवन के यथार्थ को भी प्रस्तुत किया है।[1] अचल में प्रेम की भावाकुलता और ऐन्द्रिकता प्रकृति के माध्यम से व्यंजित हुई है।[2] आगे चलकर गीतकारों और प्रयोगशील कवियों में प्रकृति के प्रति नव्य स्वच्छन्दवादी भावना मिलती है। कुछ गीतकार कवियों ने प्रकृति के प्रति यह भावना लोक-गीतों से ग्रहण की है। इन कवियों ने व्यक्तिगत सुख दुख, पीड़ा व्यथा, प्रेम वियोग तथा आशा-निराशा की लौकिक स्तर पर अभिव्यक्ति की है। अनेक स्थितियों में प्रकृति का सौन्दर्य मन स्थितियों के साथ व्यंजित हुआ है, और उसने कवि के मनोभावों को अधिकाधिक प्रभावित भी किया है। इनकी प्रकृति जीवन की गहन आकांक्षा और ऐंद्रिक सौन्दर्य-बोध की आकुलता से व्याप्त है।[3]

× × ×

प्रयोग-युग में कवि की दृष्टि युग जीवन के यथार्थ से अधिकाधिक सम्पृक्त होती जा रही है। अत आज के कवि की प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना की आधार-भूमि असम्पृक्त यथार्थ है। युग-जीवन की इस गहन सम्पृक्ति के कारण वह प्रकृति के समस्त सौन्दर्य विस्तार में रोमांटिक भाव के स्थान पर अन्तत अपनी परिस्थिति के व्यंग को ग्रहण करता है। रोमांटिक कवि काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से आत्मानुभव करता है और वह अपने जीवन की आन्तरिक अनुभूति और भावशीलता को एक क्रम में ग्रहण करता है। आज का कवि जीवन को इतनी सघटित योजना और सार्थक सगति के रूप म नहीं देखता। वह प्रत्येक स्थिति को जीता है प्रत्येक स्थिति को सवेदित करता है। यही उसकी यथाथ अनुभूति है। सगति, व्यवस्था और क्रम जीने और भोगने वाले की दृष्टि नहीं है, वह तो इतिहास का क्रम मात्र है। अत आज का कवि अपने अनुभूत को सर्जन मानता है और इस प्रकार प्रकृति के जीवन के प्रति वह असम्पृक्त भी रह पाता है।

प्रकृति अन्तत कवि के लिए वस्तु तत्व है रोमांटिक भावावेश के साथ वह प्रकृति का साक्षात्कार नहीं कर पाता। कवि प्रकृति के सवेदन को अपने व्यक्तित्व के प्रसार में समाहित कर लेता है और अपने व्यक्तित्व के सामाजिक परिवेश की अनेक विषम परिस्थितियों का व्यंग करता है। अज्ञेय हवाई यात्रा' में प्रकृति चित्रण के साथ

---

१ वही, नरेन्द्र, फागुन की आधी रात, ज्येष्ठ का मध्याह्न।

२ वही, अचल, शारदी सन्ध्या, वर्षान्त के बादल।

३ शिवमगल सिंह 'सुमन' तथा शम्भूनाथ सिंह आदि की प्रकृति विषयक कविताओं में।

नागरिक सभ्यता के व्यंग को उभारते हैं।[१] नया कवि प्रभावात्मक शैली में प्रकृति के साथ जब सामाजिक जीवन को एक साथ ग्रहण करता है, उस समय प्रकृति के चित्रों में विशृंखलता और भाव बोध की उलझन बढ़ जाती है, पर इससे व्यंजना की मार्मिकता भी बढ़ती है। यह व्यंग प्रकृति चित्रण के लिए चुने गये विचित्र अप्रस्तुतों से अधिक उभरा है—

> पश्चिम की गगन खिड़की के उन नीले धुले शीशों पर
> आज की बीमार, बुझी
> साँझ की ये रोशनियाँ—
> पीले टिंचर की तरह
> फैल रहीं, फैल गयीं :
> आज तो बीमार सभी,
> बेहोश सभी।[२]

*आज के काव्य में प्रकृति संबंधी इस दृष्टि के कारण कवि मुक्त भाव से उसके* सौन्दर्य और सहचरण का उपभोग नहीं कर पाता है। इनमें कुछ कवि नव्य-स्वच्छंदवादी भावधारा से प्रभावित हैं और वे प्रकृति के संपर्क में रोमांटिक मनोभावों से, उसके ऐन्द्रिक सौन्दर्य-बोध और काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण से प्रेरित हैं। लेकिन उनपर भी आधुनिकता का प्रभाव इस सीमा तक है कि कवि इस भावावेग को स्वतः एक स्थिति के रूप में अपने से असम्पृक्त कर लेता है या अन्ततः वस्तु निष्ठ दृष्टि से प्रकृति में जीवन के व्यंग्य को उभारने में समर्थ होता है। कवि प्रकृति के सम्पर्क में रोमांटिक मनो-भावों से आन्दोलित *अवश्य होता है, पर वह उसकी यथार्थ दृष्टि को आविल नहीं* करता, वह युग की विषमता के प्रति जागरूक हो जाता है—

> हवा को फाड़ने जाते
> उड़न बम घर बड़े बमबार
> लगाने सभ्यता में आग
> कि जिनकी चील सी छाया
> किये है सब गगन काला
> खिंची है एशिया को हद्दा
> योरप शांत सागर पार।[३]

---

१. बावरा अहेरी, अज्ञेय, हवाई यात्रा।

२. बन पाखी सुनो, नरेश मेहता, बीमार साँझ के किनारे।

३. धूप के धान, गिरिजाकुमार माथुर, धूप के धान।

रोमांटिक मनोभाव प्रकृति के प्रति कवि को आकर्षित करता है, पर यह सारा सौन्दर्य-बोध द्विविधा तथा उदासी मे बदल जाता है। वह शुद्ध मन.स्थिति के स्तर पर प्रकृति और कवि का सहसवेदन मात्र रह जाता है जो प्रकृति के बिम्ब, प्रभाव तथा सकेत-चित्रों मे व्यंजित होता है। जिन कवियो मे प्रकृति के प्रति रोमाटिक मनोभाव अधिक है, उनमे प्रेम और मुक्ति के क्षणों की मनःस्थिति मे प्रकृति का सहचरण मिलता है।[1] पर युग के संदर्भ ने कवि को अधिकाधिक यथार्थ दृष्टि दी है और प्रकृति सौन्दर्य की माया के बीच यह भाव कवि व्यक्त करता है—

> आज इस वेला में
> 'दर्द ने मुझको और दुपहर ने तुमको
> तनिक और भी थका दिया
> शायद यही तिल तिल कर थकना रह जायगा
> साँझ हुए हंसों की दुपहर पाँखें फैला
> नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायगी।[2]

रोमाटिक कल्पनाशीलता और भावावेग नयी कविता से पूर्णतः बहिष्कृत नही है। प्रकृति के सहसवेदन सम्बन्धी प्रभाव-चित्रो मे यह मनोभाव तथा सौन्दर्य-बोध का आरोप बिखरे हुए अथवा प्रभाव रूप मे अंकित होता है। कवि 'सागर के किनारे' उसके 'रहस्य क्रोड से निकली हुई नीली रूपहली परियो की झिलमिलाती माया की जो विलासमयी रगरेलियाँ देखता है, उससे उसके मन मे सौन्दर्य-समर्पण की एक निष्काम स्मृति-जगमगाहट मीठे स्वप्न के बोझ की अनुभूति भर' रह जाती है। और वस्तुतः बाद मे (कल) उसकी मन स्थिति मे इस प्रकृति का आभास रह जायगा—

> जब ये मिचमिचाती लहरें चकित सी जायेंगी...
> जब इनके गुलाबी चेहरों की चटखती ताजगी में
> मुस्करायेंगी छिपी प्रेम लीलाएँ।[3]

आज कवि अपने सारे अस्तित्व के साथ जो उपलब्ध करता है उसीको सम्प्रेषित करता है, अतः उसके काव्य मे प्रेम और सौन्दर्य व्यापक सदर्भ मे प्रस्तुत होते हैं, जिससे उसमे रोमाटिक व्यक्तिगत सीमाओ का अतिक्रमण हो जाता है। इसके साथ ही मनः-स्थितियो के बदलते हुए रूपो के साथ भाव की क्रमिकता नही बनी रहती, अनेक विचार भूमियाँ तथा सवेदनाए एक दूसरे मे उलझ जाती हैं। व्यक्तित्व की समग्रता मे

---

१. वही, वहा; रात हेमन्त की। सात गीत वर्ष; धर्मवीर भारती; फागुन की शाम; बसन्ती दिन।

२. सात गीत वर्ष, भारती, नवम्बर की दोपहर।

३. चक्रव्यूह; कुँवर नारायण; सागर के किनारे।

प्रकृति प्रेम और सौन्दर्य के भिन्न स्तर ग्रहण कर लेती है, कवि की अस्तित्व को उपलब्ध करने की आकांक्षा में उसकी सारी व्यंजना बदल जाती है—

दो मुझे :
यह मंत्र
जिससे यह तुम्हारा सरस, पहला ज्वार
तल को काट दे,
गहरा बना दे,
और मुझको सोख ले।
यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर, निर्मल प्यार,
और मेरा डूब जाने को उमगता ज्वार।[1]

आज कवि प्रकृति का वर्णन नहीं करता, वह उसे अपने जीवन और संवेदन के साथ ग्रहण नहीं करता और न उससे प्रभावित मनःस्थितियों को उसके साथ अभिव्यक्त करता है। वह केवल जीवन अथवा अपने अस्तित्व के प्रसार में प्रत्येक अनुभूत क्षण की संवेदना को प्रेषणीय बनाता है। इसी कारण वह प्रभाव-चित्रों और बिम्ब-चित्रों का सर्जन करता है जिनमें उसकी संवेदना के साथ बाह्य प्रकृति एक रूप हो जाती है। इस प्रकृति परिकल्पना की सीमा व्यापक है। कहीं प्रकृति का यह अकन दृश्य-विधान मात्र प्रस्तुत करता है, उसका अनलंकरण या नयी अप्रस्तुत योजना इस नयी काव्य-रुचि के अनुकूल पड़ती है—

तालों के जाल
घने, कहीं लदे—छदे
कहीं ठूठ तने, केलों के कुंज
बने, सीसल की मेड़ बँधे।

इस प्रकार के दृश्य विधान में कवि की आंतरिक संवेदन की गहराई झलक भर जाती है। परन्तु नयी कविता की मौलिक प्रवृत्ति के अनुसार दृश्य विधान असपृक्त वस्तु-परक खण्ड चित्रों में उपस्थित होता है, साथ ही उसमें भावात्मक मनःस्थितियाँ व्यंजित होती हैं। विविधता के बावजूद कविता में प्रभाव की समग्रता बनी रहती है और अन्ततः जीवन की गहन व्यंजना अन्तर्निहित हो जाती है।[3]

कभी कवि प्रकृति और भावस्थितियों को एक ही बिम्ब-रूप में ग्रहण करता है। रोमांटिक काव्य में प्रकृति कवि के लिए कितनी ही व्यक्तिगत अनुभूति का विषय

---

१ तीसरा सप्तक, विजयदेव नारायण साही, दोपहर नदी स्नान।

२. बावरा अहेरी, अज्ञेय, मालाबार का एक दृश्य।

३ निकष (३), श्याममोहन श्रीवास्तव, दून, यमुना पर।

हो, वह उसके अस्तित्व का अभिन्न अंग नही हो पाती, यद्यपि प्रकृति के प्रति कवि मे गहरी सम्पृक्ति होती है। नयी कविता मे प्रभावात्मक बिम्ब तथा प्रतीक शैली मे प्रकृति का दृश्य-रूप और चेतना एक ही स्तर पर सवेदन के एक ही बिम्ब मे अन्त-र्भुक्त हो जाते हैं। दृश्य-बोध तथा मन.स्थितियो का सवेदन-बिम्ब एक ही अनुभूति-क्षण को संवेदित करते हैं। इस प्रकार के बिम्ब-चित्रो मे रूपात्मक अक्षन की पूर्णता रहती है, तथा निर्वैयक्तिक रूप से जीवन की व्यजना सन्निहित रहती है, निर्वैयक्तिक इसलिए कि कवि स्वय उपभोक्ता रूप मे प्रस्तुत न होकर अपने अनुभूत उपलब्ध को असम्पृक्त भाव से सप्रेषित करता है। 'भोर' के बिम्ब-चित्र मे कवि अपने अनुभूत कोमल भाव को अन्तर्निहित कर देता है—

> धरती पर,
> नदियों के जल मे,
> गिरि तरु के शिखरों से ढर ढर कर
> सब सेंदुर फैल गया।[1]

इस प्रकार रूपात्मक चित्रो मे कवि केवल दृश्य-विधान प्रस्तुत नही करता, वरन् अपने आपको कही किसी स्तर पर व्यक्त करना चाहता है।

सहज और परम्परागत अप्रस्तुतो के स्थान पर जब अपरिचित और नये उप-मान या रूपक प्रयुक्त होते हैं तो बिम्ब-विधान अपने वैचित्र्य मे अधिक व्यगपूर्ण हो जाता है।[2] जीवन के व्यापक संदर्भ मे बिम्ब तथा प्रभाव चित्रो मे अधिक गहराई तथा मार्मिकता आ जाती है। इस दृश्य-विधान के भावात्मक चित्रण मे विशेष अर्थ की व्यजना निहित होती है। अज्ञेय की 'सूर्यास्त' तथा 'दूर्वाचल' नामक कविताओ मे प्रकृति के साथ कवि की भावात्मक उपलब्धि का असम्पृक्त बिम्बाकन है—

> पार्श्व गिरि का नम्र, चीडो मे
> डगर चढती उमगों सी।
> बिछी पैरों मे नयी, ज्यों दर्द की रेखा।
> विहग-शिशु मौन नीडों मे
> मैंने आंख भर देखा।[3]

यहाँ कवि प्रकृति के सारे दृश्य-विधान को आत्मोपलब्धि के रूप मे स्वीकारता है, वह

---

१. काठ की घटियाँ ; सर्वेश्वर दयाल ; भोर।
२. धुएँ की लकीरें ; लक्ष्मीकान्त ; आइना।
३. इन्द्र धनु रौंदे हुए ; अज्ञेय ; दूर्वाचल।

दृश्यबोध के साथ कुछ क्षणों के लिए प्रकृति चेतना से जैसे अभिन्न हो गया हो। पर आज का कवि व्यापक रूप से न प्रकृति के साथ सहचरण कर पाया है और न उसके सौन्दर्य का उपभोग करता है। उसके अभिभूत करने वाले सौन्दर्य के सम्मुख कवि को, वेदनाशून्य मन की तर्कातीत स्वीकारने की मन.स्थिति से सिहरकर कहना होता है— 'नहीं, फिर आना नहीं होगा।'

प्रकृति के भावमय और आत्मलीन बिम्ब-चित्रों को प्रस्तुत कर कवि भावोद्रेक से अविभूत भी होता है तथा उसकी जो मन.स्थिति पहले प्रकृति-बिम्ब मे समाहित थी वही प्रत्यक्ष हो जाती है—

> कामना,
> कुछ व्यथा,
> भावों की, सुनहली उमस,
> चंचल कल्पना,
> यह रात और एकान्त……[1]

ऐसी कविताओं मे प्रारम्भिक बिम्ब निरपेक्ष जान पड़ते हैं, पर कवि की मन स्थिति अन्ततः चित्र मे प्रतिघटित हो जाती है। आज के कुछ कवियों मे बिम्ब-चित्रों की पूर्णता और शिल्प-विधान (अप्रस्तुत योजना) की ऐसी सजगता परिलक्षित होती है कि अपने कलात्मक कौशल के कारण ही उनके प्रयोग आधुनिक बिम्ब-विधान से अलग जान पड़ते हैं।[2] अनेक बार प्रभावात्मक बिम्ब ग्रहण मे चित्र-खडों के स्वतन्त्र सयोग, बदलती हुई मन.स्थिति और नवीन अप्रस्तुत योजना के कारण वैचित्र्य का आग्रह जान पड़ता है। यह वैचित्र्य नयी कविता की मौलिक प्रवृत्ति मे, अपनी प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना की विशिष्ट स्थिति के कारण है। इस वैचित्र्य के माध्यम से कवि अपनी मन.स्थिति की उलझन तथा जटिलता, युग-जीवन की विषमता और अपनी निर्वैयक्तिक अनुभूति को व्यजित करना चाहता है।[3]

क्रमश. आधुनिक कविता मे प्रकृति अपने प्रत्यक्ष-बोध और काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण की दृष्टि से महत्वहीन होती जा रही है। उसके रूप-रग, स्थिति-परिस्थिति, गति-सचरण अथवा क्रम-योजना की स श्लिष्टता का अर्थ नहीं रह गया है। प्रकृति के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि के विकास से प्रकृति का प्रत्यक्ष और उसकी भावसकुलता अयथार्थ हो गयी है। प्रकृति अपनी स्वतन्त्र स्थिति मे हमारे प्रत्यक्ष बोध के यथार्थ से

---

१. चक्रव्यूह ; कुँवरनारायण , ओस-न्हाई रात।
२. नदी के पाँव ; जगदीश , सिंदूरी सवेरा।
३. निकष (३) ; अनाम ; तिलमिलानी सध्या। धुएँ की लकीरें , लक्ष्मीकान्त , मूँज का चाँद।

भी भिन्न है। अतः आज का कवि और चित्रकार अपने सर्जन मे केवल रचना-विधान की प्रक्रिया मे उसकी संगतियाँ ढूँढने का उपक्रम करता है जिनमे उसके लिए अपनी कला-कृति से प्रकृति के यथार्थ की समता या भिन्नता महत्वहीन हो चुकी हो। इसी कारण कवि प्रकृति के नये रूपाकारो, रगो, स्थितियो की विचित्र योजनाएँ करता है और उसमे पाठक के सक्रिय सहभोग के लिए कुछ अनकहा छोड़ता है या under-statement करता है।[1]

१. विपिन के कुछ प्रकृति चित्रों को देखा जा सकता है।

# परिशिष्ट—४

## प्रमुख सहायक पुस्तकें

### प्रथम भाग


प्रथम प्रकरण

१. एन आउटलाइन ऑव इन्डियन फ़िलासफी; हिरियन्ना
२. इन्डियन फिलासफी; एस० राधाकृष्णन्
३. नेचुरलिज्म ऐन्ड एग्नास्टिसिज्म; जेम्स वार्ड (१८६६ ई०)
४. परसेप्शन ऑव फिजिक्स एन्ड रियल्टी; सी० डी० ब्राड (१६०५ ई०)
५. माइन्ड ऐन्ड इट्स प्लेस इन नेचर; सी० डी० ब्राड
६. माइन्ड एन्ड मैटर; स्टाउट (१६३१ ई०)
७. हिस्ट्री ऑव इन्डियन फिलासफ़ी; दास गुप्ता
८. हिस्ट्री ऑव यूरोपियन फिलासफ़ी, फाल्कन बर्ग
६. एवोल्यूशन ऑव रिलिजन, केयर्ड

द्वितीय प्रकरण

१. एक्सपीरियन्स ऑव नेचर; जे० डिवी (१६२६ ई०)
२. दि कलर सेंस; ग्रान्ट ऐलन (१८७६ ई०)
३. थियरी ऑव साइकालोजी; स्पेंस (१६२१ ई०)
४. नेचर, इन्डिविजुअल ऐन्ड दि वर्ल्ड; जे० रॉयस
५. दि प्ले ऑव मैन, कार्ल ग्रास (१६०१ ई०)।
६ मेटॅफ़िज़िक्स ऑव नेचर; सी० रीड (१६०५ ई०)
७. दि वर्ल्ड ऐन्ड दि इन्डिविजुअल, जे० रॉयस (१६१२ ई०)
८. स्पेस, टाइम एन्ड डिटी; अलेक्जेन्डर

तृतीय प्रकरण

१. दि एमोशन एन्ड दि विल; ए० बेन (१८६५)
२. एनालिटिक साइकोलजी; जी० एफ० स्टाउट

३. दि क्रिएटिव माइन्ड; हेन्री बर्गसाँ
४. जेनरल साइकॉलजी; गिलीलेन्ड, मार्गन, स्तौक्स (१६३० ई०)।
५. दि प्रिन्सपिल्स ऑव साइकॉलजी; डब्लू० जेम्स
६. ए मैनुअल ऑव साइकॉलजी; जी० एफ० स्टाउट (१६२६ ई०)
७. साइकॉलजी ऑव इमोशनस्; रिबोट (१६११ ई०)

## चतुर्थ प्रकरण

१. दि एसेन्स ऑव एस्थिटिक; क्रोचे (१६२१ ई०)
२. एस्थिटिक; क्रोचे (डुग्लोस एन्सली द्वारा अनुवादित, १६२६ ई०)
३. एस्थिटिक इक्सपीरियन्स ऐन्ड इट्स प्रीसपोजिशनस्; मिल्टन सी० नाहम (१६४२ ई०)।
४. एस्थिटिक प्रिन्सिपल; आर० मार्शल (१६२० ई०)
५. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव माडर्न एस्थिटिक्स; अर्ल ऑव लिस्टोवेल (१६३३ ई०)
६. टाइप्स ऑव एस्थिटिक् जजमेंट; ई० एम बर्टलेट (१६३७ ई०)
७. दि थियरी ऑव ब्यूटी; केरिट (१६२३ ई०)
८. दि फिलासफी ऑव फाइन आर्ट; हेगल (१६२० ई०)
६. दि फिलासफी ऑव दि ब्यूटीफुल; डब्लू० ए० नाइट (१६१६ ई०)
१०. फ़िलासफीज ऑव ब्यूटी, केरिट (१६३१ ई०)
११. ब्यूटी एन्ड अदर फार्म्स ऑव वैल्यू; एस० अलेकज़ेन्डर (१६२७ ई०)
१२. माडर्न पेंटर्स, रस्किन
१३. साइकॉलाजिकल एस्थिटिक्स, ग्रान्ट एलन (१८८७ ई०)
१४. दि सेन्स ऑव ब्यूटी, सन्टायन (१८६६ ई०)
१५. ए स्टडी इन कान्टस् एस्थिटिक्स; डन्हम (१६३४ ई०)
१६. ए हिस्ट्री ऑव एस्थिटिक्स, बोसाकेट (१६३४ ई०)

## पंचम प्रकरण

१. आक्सफर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री, ब्रेडले
२. ए डिफेन्स ऑव पोइट्री; पी० बी० शेली
३. ए प्रिफेस टु दि लिरिकल बैलेड्स; वर्डस्वर्थ
४. फ्रेंच प्ले इन लन्डन; मैथ्यू आर्नल्ड
५. लेक्चर्स ऑन इगलिश पोएट्स; डब्लू० हैज़लिट
६. दि हीरो ऐज़ ए पोएट; कार्लाइल

## द्वितीय भाग

१. दि आइडिया ऑव दि होली; रोडल्फ ओटो
२. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव दि हिन्दू डॉक्ट्रिन; रेना ग्यूनॉन (१९४५)
३. इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एन्ड एथिक्स (गॉड्स, हिन्दू)
४. ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी, आर० डी० रानाडे (१९२६)
५. ट्रान्सफारमेशन ऑव नेचर; कुमार स्वामी (१९२४)
६. दि निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री; पी० डी० बड़थ्वाल (१९३१)
७. नेचुरल ऐन्ड सुपरनेचुरल; जान ओमन (१९२७)
८. नेचुरलिज्म इन इंगलिश पोइट्री; स्टफ्फोर्ड ब्रोक (१९२४)
९. दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया; भागवत कुमार शास्त्री
१०. मिस्टीसिज्म; इवीलेन अन्डरहिल (१९२६)
११. वर्शिप ऑव नेचर; जे० जी० फ्रेजर
१२. दि सिक्स सिस्टम्स ऑव इन्डियन फिलासफी, मैक्स मूलर
१३. दि सोल इन नेचर; हान क्रिशचियन
१४. हिंदू गॉडस ऐन्ड हीरोज, लियोनल डी० बार्नेट (१९२२)
१५ हिंदू-मिस्टीसिज्म, महेन्द्रनाथ सरकार (१९३४)

संस्कृत काव्य-शास्त्र

१. संस्कृत पोइटिक्स; एस० के० डे
२. अलंकारसूत्र; वामन
३. काव्य प्रकाश; मम्मट (भ० ओ० सि०)
४. काव्य मीमांसा, राजशेखर (गायकवाड ओरि० सि०)
५. काव्यादर्श; दण्डी
६. काव्यानुशासन; हेमचन्द्र (काव्यमाला)
७. काव्यानुशासनवृत्ति; वाग्भट्ट (काव्य०)
८. काव्यालंकार; रुद्रट (काव्यमाला)
९. नाट्य-शास्त्र, भरत
१०. प्रतापरुद्रयशोभूषण; विद्यानाथ (बाम्बे संस्कृत प्राकृत सिरीज)
११. रसार्णव; श्रीसिङ्ग भूपाल (भ० स० अ०)
१२. वक्रोक्ति जीवित; कुन्तल (क० ओ० सि०)
१३. साहित्य दर्पण, विश्वनाथ (चै० थी०)

मध्ययुग के अध्ययन के आधारभूत प्रमुख ग्रन्थ—

१. इन्द्रावती, नूरमोहम्मद (ना० प्र० स०)
२. कबीर ग्रन्थावली; सं० श्यामसुन्दर दास (ना० प्र० स०)
३. कवित्त-रत्नाकर-सेनापति, स० उमाशंकर शुक्ल (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)
४. कीर्तन सग्रह, (अहमदाबाद, लल्लूभाई छगनलाल देसाई)
५. चित्रावली; उसमान, स० जगन्मोहन वर्मा (ना० प्र० स०)
६. जायसी ग्रन्थावली, स० रामचन्द्र शुक्ल (ना० प्र० स०)
७ ढोला मारूरा दूहा, (ना० प्र० स०)
८. तुलसी रचनावली, स० बजरग (बनारस; सीताराम प्रेस)
९. नददास ग्रथावली, स० उमाशंकर शुक्ल (प्रयाग, विश्व०)
१०. नलदमन काव्य, (पांडुलिपि, ना० प्र० स०)
११. पद्माकर-पचामृत, स० नददुलारे वाजपेयी (रामरतन पुस्तक भवन, काशी)
१२ पावस-शतक, स० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
१३. पुष्टिमार्गीय पद सग्रह (बम्बई, जगदीश्वर प्रेस)
१४. बिहारी सतसई, स० बेनीपुरी
१५. बीजक, कबीरदास, पाखड खडिनी टीका (खे० श्री०)
१६. मतिराम-ग्रन्थावली, स० कृष्णबिहारी मिश्र (गगा पुस्तक माला)
१७. मीरापदावली, स० विष्णुकुमारी
१८. रसिक प्रिया, केशव, सरदारकृत टीका (खे० श्री०)
१९. रामचन्द्रिका; केशव, स० लाला भगवानदीन (काशी, साहित्य-सेवा सदन) और टीका० जानकी प्रसाद (खे० श्री०)
२०. राम-चरितमानस (गीताप्रेस)
२१ विद्यापति पदावली, स० नगेन्द्रनाथ गुप्त (इ० प्रे०)
२२ वेलि क्रिसन रुकमणी री; पृथ्वीराज (हि० ए० प्रयाग)
२३. सुन्दर-ग्रन्थावली
२४. सुन्दरी-तिलक, स० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
२५. सूरसागर (बम्बई, खेमराज प्रेस)
२६. हजारा: हाफ़िज़ खाँ (लखनऊ; नवलकिशोर प्रेस)

# प्रमुख पारिभाषिक शब्द

| | |
|---|---|
| अध्यन्तरित | Transferred |
| अनुकरणात्मक | Imitative |
| अन्तर्वेदन | Organic ensiation |
| अन्त:सहानुभूति | Empathy |
| अभावात्मक तत्व | Non-Being |
| अभिव्यक्तिवाद | Expressionism |
| आइडिया | Platonic idea |
| आत्म-तल्लीनता | Rapture |
| आत्म-हीन भाव | Inferiority complex |
| आत्मानुकरण | Self-imitation |
| आह्लाद | Ecstasy |
| इन्द्रिय वेदन | *Sensation* |
| इन्द्रियातीत | Transcendental |
| कल्पन, कल्पना | Imagination |
| काल | Time |
| क्रीड़ात्मक अनुकरण | Playful imitation |
| केन्द्रीकरण | Centralization |
| गमन | Motion |
| चिकीर्षा | Volition |
| जीवन-यापन | Preservation |
| तत्ववाद | Metaphysics |
| तोष | Pleasure |
| दर्शन | Philosophy |
| दिक् | Space |
| नैसर्गिक वरण | *Natural selection* |
| परप्रत्यक्ष | Concept |
| परम तत्व | Ultimate reality |
| परम सत्य | Absolute reality |
| परावर | Transcendent |

| | |
|---|---|
| परिणामवाद | Principle of causality |
| पीडा | Pain |
| पोषण | Nutrition |
| प्रकृतिवाद | Naturalism |
| प्रतिबिंब | Reflection |
| प्रतिभास | Phenomenon |
| प्रत्यक्ष बोध, प्रत्यय | Percept |
| प्रभावात्मक | Impressive |
| प्रयोगवाद | Empericism |
| प्रयोजनात्मक | Purposive |
| प्राथमिक | Primary |
| बोध | Cognition |
| भौतिक तत्त्व | Matter |
| भौतिकवाद | Materialism |
| भौतिक विज्ञान | Physical science |
| मन, मानस | Human mind |
| मनस | Mind |
| माध्यमिक | Secondary |
| मानवीकरण | Anthropomorphism |
| युक्तिवाद | Rationalism |
| राग | Conation |
| रूपात्मक रूढिवाद | Formalism |
| वंश विकसन | Propagation of Species |
| विश्लेषण | Disintegration |
| विचार | Thought |
| विषमीकरण | Differentiation |
| विज्ञान | Idea |
| विज्ञानवाद | Idealism |
| शोषण | Absorption |
| संकलन | Integration |
| संवेदन | Feeling |
| संस्कारवाद | Classicism |

| | |
|---|---|
| सचेतन | Animated |
| सचेतन प्रक्रिया | Animated interaction |
| सर्जनात्मक विकास | Creative Evolution |
| सर्वेश्वरवाद | Pantheism |
| सहज बोध | Common Sense |
| सहज वृत्ति | Instinct |
| सहानुभूति (साहचर्य) भावना | Sympathy |
| स्वचेतन (आत्मचेतन) | Self-conscious |
| स्वच्छंदवाद | Romanticism |
| स्वानुभूति | Intuition |

# अनुक्रमणिका